दीनदयाल उपाध्याय

संपूर्ण वाङ्मय

खंड एक

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

क्या बाजारवाद (पूँजीवाद) तथा राज्यवाद (साम्यवाद) विचारधाराएँ आधुनिक मानव को भीतरी सुख दिला सकती हैं ? क्या इस देश के करोड़ों लोग पश्चिमी अवधारणाओं के अनुसार ही जीवन जीने को अभिशप्त हैं ? क्या भारत की प्रजा के पास इसका कोई समाधान नहीं है ? भारत के एक युगऋषि पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने इन सवालों, इन खतरों को दशकों पहले ही भाँप लिया था और भारतीय परंपराओं के खजाने में ही इनके उत्तर भी खोज लिये थे। उन्होंने व्यष्टि बनाम समष्टि के पाश्चात्य समीकरण को अमानवीय बताया था तथा व्यष्टि एवं समष्टि की एकात्मता से ही मानव की पहचान की थी। उन्होंने इस पहचान के लिए 'एकात्म मानवदर्शन' के रूप में एक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की थी।

पर विडंबना, उनकी यह खोज, उनका यह दर्शन आगे न बढ़ सका। प्रयास कुछ अधूरे रहे। दोष शायद परिस्थितियों का रहा। लेकिन इस शताब्दी के प्रारंभ में कुछ सामाजिक व अकादमिक कार्यकर्ताओं ने इस धारा को आगे बढ़ाने का संकल्प लिया। इस समूह का अनुभव रहा कि गहन अनुसंधान एवं व्यावहारिक परियोजनाओं का सूत्रपात करने से ही इसे आगे बढ़ाया जा सकता है। उसी विचार व अनुभव में से उत्पत्ति हुई 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान' की। इसके विभिन्न आयामों व पहलुओं पर नियमित परिचर्चाओं व प्रकाशनों के माध्यम से जो वातावरण बना, उसके परिणाम सामने आने लगे हैं। 'एकात्म मानवदर्शन' देश में वैचारिक बहस की मुख्यधारा का अहम हिस्सा बन गया है। प्रतिष्ठान के सामने अब लक्ष्य है, उसे वैश्विक स्तर पर ले जाने का।

दीनदयाल उपाध्याय
संपूर्ण वाङ्मय

संपादक मंडल

दीनदयाल उपाध्याय
संपूर्ण वाङ्मय

खंडएक

संपादक

डॉ. महेश चंद्र शर्मा

एकात्म
मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
ekatmrdvf@yahoo.co.in

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
4/19 आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–110002

संकलन व संपादन • **डॉ. महेश चंद्र शर्मा**
अध्यक्ष, एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान
एवं विकास प्रतिष्ठान, एकात्म भवन,
37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,
नई दिल्ली–110002

संस्करण • प्रथम, 2016
लेआउट व आवरण • दीपा सूद
मूल्य • चार सौ रुपए (प्रति खंड)
छह हजार रुपए
(पंद्रह खंडों का सैट)
मुद्रक • आर–टेक ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

DEENDAYAL UPADHYAYA SAMPOORNA VANGMAYA (VOL. I)
(Complete Works of Pandit Deendayal Upadhyaya)
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
e-mail: prabhatbooks@gmail.com
in association with
Research and Development Foundation for Integral Humanism,
Ekatm Bhawan, 37, Deendayal Upadhyaya Marg, New Delhi-2
Vol. I ₹ 400.00 ISBN 978-93-86231-16-1
Set of Fifteen Vols. ₹ 6000.00 ISBN 978-93-86231-31-4

समर्पण
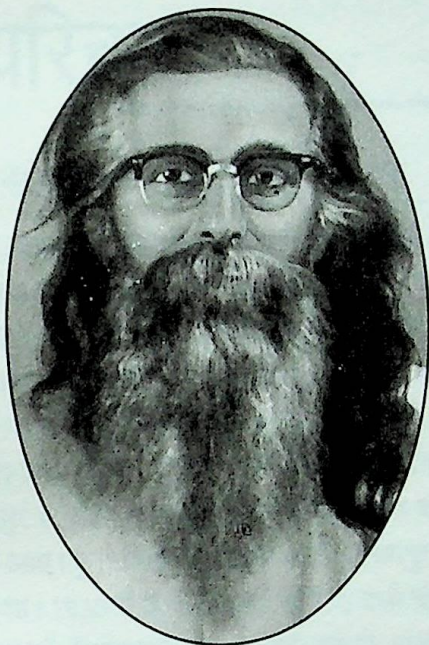
परम पूजनीय माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर 'श्रीगुरुजी'

(1906–1973)

द्वितीय सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

को समर्पित

परिचय

श्री गुरुजी मा.स. गोलवलकर

उनका जन्म 19 फरवरी, 1906 को नागपुर में हुआ। सदाशिवराव गोलवलकर के पुत्र माधवराव विद्वान् प्रपिता 'धर्म सिंधुसार' नामक विख्यात ग्रंथ रचयिता श्रीमान काशीनाथ पाध्ये के प्रपौत्र थे। मेधा संपन्न माधवराव ने प्राणिशास्त्र में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से अधिस्नातकीय उपाधि प्राप्त की तथा चेन्नै के मत्स्यालय में संशोधन के विद्यार्थी रहे। 1931 में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र के व्याख्याता बने। यहीं उन्हें 'गुरुजी' संबोधन प्राप्त हुआ। जीवन भर सार्वजनिक जीवन में भी वे इसी नाम से विख्यात रहे। यहीं नागपुर से आए विद्यार्थी श्री प्रभाकर बलवंत दाणी के संपर्क से वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में आए। पुनः विधि की पढ़ाई करने वे नागपुर गए। वहाँ रामकृष्ण आश्रम से उनका संपर्क हुआ। 1935 में वे अधिवक्ता हो गए, इसी दौरान वे श्रीराम कृष्ण परमहंस के शिष्य तथा स्वामी विवेकानंद के गुरुभाई स्वामी अखंडानंद के सारगाछी आश्रम में चले गए, संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। 1937 में स्वामीजी के देहावसान के बाद वे पुनः नागपुर में संघ संस्थापक डॉ. केशवराव बलीराम हेडगेवार के पास आ गए। 1939 में डॉ. हेडगेवार ने उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सरकार्यवाह बनाया। 1940 में उनकी भेंट डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी एवं नेताजी सुभाष चंद्र बोस से हुई। 1940 में ही डॉ. हेडगेवार के दिवंगत होने के पश्चात् वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक बनाए गए। वे अखंड परिव्राजक बन गए। उनकी जीवन-सरिता दो पाटों के बीच प्रवाहित होती रही। एक पाट था डॉ. हेडगेवार तथा दूसरा पाट था स्वामी अखंडानंद। डॉ. हेडगेवार से उन्हें मंत्र मिला 'इदं न मम् राष्ट्राय स्वाहा।' स्वामी अखंडानंद से उन्हें मंत्र मिला 'मैं नहीं, तू ही।'

1940 से 1973 तक वे सरसंघचालक रहे। अविभक्त एवं विभक्त भारत में काठमांडू से कन्याकुमारी तक और कराची से कामरूप तक 60-65 बार उन्होंने संपूर्ण देश की

परिक्रमा की। वे मिताहारी, नित्य प्रवासी एवं सतत स्वाध्यायी व्यक्तित्व थे। उनकी तपस्या चार प्रकार की थी—संचार तप, विचार तप, उच्चार तप तथा आचार तप। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उन्हें एक पौधे के रूप में प्राप्त हुआ और वटवृक्ष बन गया।

सन् 1947 के विभाजन की छाया में उन्होंने सिंध एवं पंजाब का सघन प्रवास किया। द्वि-राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ समाज अपनी समग्र चेतना से लड़ा। उन्होंने महात्मा गांधी एवं सरदार पटेल से भेंट की। कश्मीर के भारत विलय विषय में वे सक्रिय हुए, सरदार पटेल के आग्रह पर वे महाराजा हरिसिंह से मिलने श्रीनगर गए। इसी संदर्भ में वे पं.जवाहर लाल नेहरू से भी मिले।

विभाजन से ग्रस्त भारत पुनः महात्मा गांधी की हत्या से आहत हुआ। विद्वेषी राजनीति ने भारत विभाजन के विरोधी संघ को अपना विरोधी माना तथा संघ को प्रतिबंधित कर श्रीगुरुजी को बंदी बना लिया। पटेल-नेहरू-गोलवलकर का ऐतिहासिक एवं पठनीय पत्र-व्यवहार हुआ। अहंकारी सत्ता के ख़िलाफ़ गुरुजी ने सत्याग्रह का आह्वान किया—'हृदयाकाश से जगदाकाश तक भारतमाता की जय ध्वनि ललकारते हुए उठो।' राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह एवं न्यायप्रिय लोगों द्वारा संघ का समर्थन किया गया। हर जाँच में संघ व श्रीगुरुजी निर्दोष सिद्ध हुए। 13 जुलाई, 1949 को प्रतिबंध हटा, श्रीगुरुजी कारामुक्त हुए। उनका देशव्यापी प्रवास प्रारंभ हुआ, देवदुर्लभ स्वागत हुआ। बी.बी.सी. लंदन ने कहा, 'भारत में केवल पं. नेहरू इतने विराट् जनसमूह को आकर्षित कर सकते हैं। आज भारत में कोई भी श्री गोलवलकर के राजनीतिक महत्त्व तथा उनके संगठन की शक्ति को कम नहीं आँकता।'

लेकिन श्रीगुरुजी के मन में न कटुता थी न अहंकार। उन्होंने न तो शासकों की निंदा की, न द्वेषभाव रखा, बल्कि कहा, 'यदि दाँत कभी अपनी ही जिह्वा को काट ले तो दाँत तोड़े नहीं जाते।' प्रतिबंध हटने के दो माह पश्चात् ही वे प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू से मिले। प्रत्यक्ष राजनीति में श्री मा.स. गोलवलकर की रुचि नहीं थी, लेकिन 1951 में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के आग्रह पर उन्होंने अनेक श्रेष्ठ संघ प्रचारकों को राजनीतिक क्षेत्र में कार्य के लिए उन्हें सौंपा तथा 'भारतीय जनसंघ' की स्थापना हुई। पं. दीनदयाल उपाध्याय इन प्रचारकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे।

आज़ादी के बाद गो-रक्षा पर सर्वाधिक मुखर होने वाले नेताओं में श्रीगुरुजी थे, राष्ट्रव्यापी हस्ताक्षर अभियान चलाया गया तथा राष्ट्रपति श्री राजेंद्र प्रसाद को तीन करोड़ हस्ताक्षरों का ज्ञापन सौंपा गया। भाषा को राज्य निर्माण का आधार बनाने का भी उन्होंने मुखर विरोध किया। वे एकात्मक शासन के पक्षधर थे, जो ग्राम-पंचायत तक विकेंद्रित हो। राष्ट्र. की सुरक्षा के साथ उनका विशेष सरोकार था। 21 नवंबर, 1958 को वे थलसेनाध्यक्ष जनरल करिअप्पा से मिले। चीनी आक्रमण के संदर्भ में सरकारी उदासीनता

उन्हें परेशान करती थी। अक्तूबर 1962 में वे राजस्थान के प्रवास पर थे। उन्होंने कहा, चीन हमला कर रहा है, हमें सचेत होना चाहिए। 21 अक्तूबर को चीन ने हमला कर दिया। सरकार बोली, हमसे धोखा हुआ है।

वनवासी क्षेत्र में उपेक्षाग्रस्त स्थानीय समाज का ईसाई मिशनों द्वारा हो रहा शोषण एक दर्दनाक विषय था। 1963 में रामनवमी पर जशपुर में बनवासी कल्याण आश्रम के तत्त्वावधान में श्रीगुरुजी ने धर्म जागरण सम्मेलन को संबोधित किया। वे पवनार आश्रम में विनोबा भावे से मिले। तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री मोहम्मद करीम छागला से उनकी भेंट हुई।

भारतीय सम्प्रदायों में सामाजिक उदासीनता व बिखराव को समाप्त करना एक चुनौती थी। स्वामी चिन्मयानंद आश्रम में, प्रमुख संत-महंतों की उपस्थिति में कृष्ण जन्माष्टमी के दिन श्रीगुरुजी के सान्निध्य में विश्व हिंदू परिषद् की स्थापना हुई। 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, युद्ध के दौरान श्रीगुरुजी ने सरकार को अपना संपूर्ण सहयोग दिया। 6 सितंबर, 1965 को प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने उन्हें राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक में आमंत्रित किया। 1971 में बांग्लादेश मुक्ति संग्राम में राष्ट्र का आह्वान किया तथा युद्ध प्रयत्नों में शासन का सहयोग किया।

कन्याकुमारी में स्वामी विवेकानंद शिला स्मारक के लिए श्री एकनाथ रानाडे को प्रवृत्त कर भव्य स्मारक का निर्माण करवाया, जिसका लोकार्पण प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने किया। 1968 में दीनदयाल उपाध्याय नहीं रहे। 20 अगस्त, 1972 को श्री नानाजी देशमुख द्वारा सुकल्पित 'दीनदयाल शोध संस्थान' का उद्घाटन किया। कर्क रोगग्रस्त होकर 5 जून, 1973 को वे दिवंगत हो गए। धर्माधारित भारत के परम वैभव की अखंड साधना में उन्होंने लक्षावधि नौजवानों को अर्पित हो जाने की प्रेरणा दी। इस महापुरुष के प्रति बाबू जयप्रकाश नारायण ने यह सही ही कहा है, श्रीगुरुजी आध्यात्मिक विभूति थे। यह एक बड़ा बोध है कि हम भारतीय हैं, हमारी हजारों वर्ष पुरानी परंपरा है। भारत का निर्माण भारतीयता के आधार पर ही होगा।

—रंगा हरि

नाभिषेको न संस्कारः
सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमोर्जित राज्यस्य,
स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

की शाखा में नियमित बोली जाने वाली

प्रार्थना
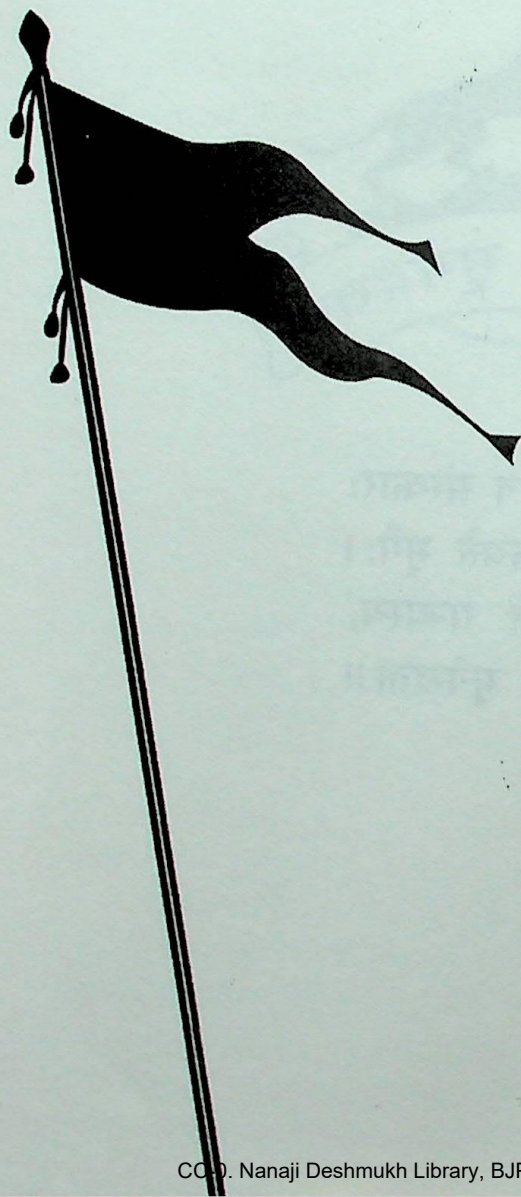
नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे
त्वया हिन्दुभूमे सुखं वर्धितोऽहम्।
महामङ्गले पुण्यभूमे त्वदर्थे
पतत्वेष कायो नमस्ते नमस्ते ॥ 1 ॥
प्रभो शक्तिमन् हिन्दुराष्ट्राङ्गभूता
इमे सादरं त्वां नमामो वयम्।
त्वदीयाय कार्याय बद्धा कटीयं
शुभामाशिषं देहि तत्पूर्तये।
अजय्यां च विश्वस्य देहीश शक्तिं
सुशीलं जगद् येन नम्रं भवेत्
श्रुतं चैव यत् कण्टकाकीर्णमार्गं
स्वयं स्वीकृतं नः सुगं कारयेत् ॥ 2 ॥
समुत्कर्ष निःश्रेयसस्यैकमुग्रं
परं साधनं नाम वीरव्रतम्
तदन्तः स्फुरत्वक्षया ध्येयनिष्ठा
हृदन्तः प्रजागर्तु तीव्रानिशम्।
विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिर्
विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्
परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रं
समर्था भवत्वाशिषाते भृशम् ॥ 3 ॥

भारतमाता की जय!

—हे वत्सला मातृभूमि! मैं तुझे निरंतर प्रणाम करता हूँ। हे हिंदूभूमि! तूने ही मुझे सुख में बढ़ाया है। हे महामंगलमय पुण्यभूमि! मेरी यह काया तेरे हित अर्पित हो। तुझे मैं अनंत बार प्रणाम करता हूँ।

हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! हम हिंदू राष्ट्र के अंगभूत घटक तुझे आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं। तेरे ही कार्य के लिए हमने अपनी कमर कसी है। उसकी पूर्ति के लिए हमें शुभ आशीर्वाद दे।

विश्व के लिए अजेय ऐसी शक्ति, सारा जगत् विनम्र हो, ऐसा विशुद्ध शील तथा बुद्धिपूर्वक स्वीकृत हमारे कंटकमय मार्ग को सुगम करे, ऐसा ज्ञान भी हमें दें।

अभ्युदय सहित निःश्रेयस की प्राप्ति का वीर-व्रत नामक जो एकमेव श्रेष्ठ व उग्र साधन है, उसका हम लोगों के अंतःकरण में स्फुरण हो। हमारे हृदय में अक्षय तथा तीव्र ध्येय-निष्ठा सदैव जाग्रत् रहे। हमारी विजयशालिनी संगठित कार्यशक्ति तेरे आशीर्वाद से स्वधर्म का रक्षण कर, अपने इस राष्ट्र को परम वैभव की स्थिति पर ले

1940 में स्वयंसेवकों द्वारा ली जाने वाली प्रतिज्ञा
(आद्य सरसंघचालक डॉ. केशवराव बलीराम हेडगेवार द्वारा मराठी में लिखी हुई)

श्री.

प्रतिज्ञा —

मी, सर्वशक्तिमान श्री परमेश्वराला व आपल्या पूर्वजांना स्मरून प्रतिज्ञा करितो की, मी आपल्या पवित्र हिंदुधर्म, हिंदु संस्कृती व हिंदु समाज यांचे संरक्षण करितां व हिंदुराष्ट्राला स्वतंत्र करण्याकरितां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघाचा घटक झालों आहे. संघाचें कार्य मी प्रामाणिकपणें निःस्वार्थ बुद्धीनें व तनमनधनें करीन. व हें व्रत मी आजन्म पाळीन.

॥ जय बजरंगबली हनुमानकी जय ॥

(हिंदी भाषांतर)

श्री

प्रतिज्ञा—

सर्वशक्तिमान् श्री परमेश्वर तथा अपने पूर्वजों का स्मरण कर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने पवित्र हिंदू धर्म, हिंदू संस्कृति तथा हिंदू समाज का संरक्षण कर हिंदू राष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिए मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का घटक बना हूँ। संघ का कार्य मैं प्रामाणिकता से, निस्स्वार्थ बुद्धि से तथा तन, मन, धनपूर्वक करूँगा और इस व्रत का मैं आजन्म पालन करूँगा।

॥ जय बजरंग बली, हनुमान की जय ॥

संपूर्ण वाङ्मय

संपादकीय

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय का प्रकाशन एक ऐतिहासिक आवश्यकता की संपूर्ति है, इस अहसास के साथ यह संपादकीय लिख रहा हूँ। उन बातों का वर्णन यहाँ जरूरी नहीं है कि इसमें क्या-क्या बाधाएँ आईं, उस महापुरुष के चले जाने के पाँच दशकों तक यह कार्य क्यों नहीं हो सका। ये सब बातें आज अविषय हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि यह वाङ्मय आने वाली पीढ़ी के हाथों में जा रहा है, इस उपक्रम की सफलता की क्या कहानी है।

हालाँकि 1999 में 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान' की स्थापना मा. नानाजी देशमुख के आशीर्वाद से हो चुकी थी। गतिविधियाँ प्रारंभ हुईं, 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के प्रकाशन का संकल्प भी व्यक्त किया गया। प्रतिष्ठान एक अनिकेत संस्थान था। संपादन का कार्य प्रारंभ नहीं हो सका। एक लंबी प्रक्रिया से गुजरकर प्रतिष्ठान को निकेत प्राप्त हुआ। 2013 में 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली में एक अस्थाई भवन का निर्माण हुआ। प्रतिष्ठान के तत्कालीन कोषाध्यक्ष एवं वर्तमान उपाध्यक्ष डॉ. अशोक कुमार गदिया की इसमें निर्णायक भूमिका रही। उनके प्रति आभार एक निपट औपचारिकता है, लेकिन इस संपादकीय के संदर्भ में यह आभाराभिव्यक्ति जरूरी लगती है।

अंदर एक स्वर गूँज रहा था। यह भवन 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के संपादन के लिए ही बना है। अब कार्य प्रारंभ होना चाहिए। 1988 में मैंने 'पं. दीनदयालजी के कर्तृत्व एवं विचार' पर मूर्धन्य राजनीति-शास्त्रविद् डॉ. इक़बाल नारायण के निर्देशन में अपना पी-एच.डी. का शोध ग्रंथ लिखा था। तब मैं पूरे देश में घूमा था तथा जहाँ-जहाँ दीनदयालजी का साहित्य उपलब्ध था, उसका अवगाहन भी किया था। इस कार्य में सुश्री

आरती (अब श्रीमती आरती उपाध्याय) ने मेरा बहुत सहयोग किया था। हम लोगों ने दुर्लभ साहित्य का संचय किया था। आरती ने उसे विधिवत् सँजोया था। इसे दीनदयाल शोध संस्थान में रखा गया था। कुछ-न-कुछ छीजत इस साहित्य में होती रही। किसी-न-किसी बहाने से पुस्तकें उसमें से इधर-उधर जाने लगीं। 1996 तक मैं दीनदयाल शोध संस्थान का सचिव था। थोड़ी चिंता हुई कि इस साहित्य को कहाँ रखा जाए, जिससे यह छीजत से बचे। मैं स्वयं भी उसकी रक्षा करने में अपने को समर्थ नहीं पाता था। 1996 में संस्थान से उठाकर इसे आरती के हवाले कर दिया। निर्देश दिया गया कि यदि मैं खुद भी माँगूँ तो मुझे यह साहित्य न दिया जाए। यह गट्ठर तभी खुलेगा, जब दीनदयाल संपूर्ण वाङ्मय का कार्य प्रारंभ होगा। 1996 से 2013 तक श्रीमती आरती उपाध्याय ने यह साहित्य बहुत सँभालकर रखा। यह एक ऐसा कार्य था, जिसके लिए प्रशंसा का कोई भी शब्द छोटा है। प्रिय श्री सतीश एवं आरती उपाध्याय का इस वाङ्मय के प्रकाशन में अतुलनीय योगदान है। मैं कृतज्ञ हूँ।

'एकात्म भवन' (37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग) में लाकर साहित्य की वे गठरियाँ खोली गईं। अनुसंधान के लिए आवश्यक कुछ क्रम तो उनमें पहले से बना हुआ था। 'पाञ्चजन्य' एवं 'ऑर्गनाइज़र' के आलेखों को टंकित करवाया गया था। संघ शिक्षा वर्गों की सामग्री थी, राष्ट्रधर्म की भी। कुछ फुटकर सामग्री थी, लेकिन सँजोई गई एक भी पुस्तक नहीं थी, एक फाइल भी नदारद थी। जब मैं संस्थान में था, तभी यह छीजत हो गई थी। उनकी पूरी भरपाई मैं अपने संपादन के अंतिम समय तक भी नहीं कर सका। पुनः सामग्री को कालक्रमेण सँजोना था। क्योंकि यह तय कर लिया था कि संपूर्ण वाङ्मय कालक्रमानुसार संपादित होगा। इस कार्य के लिए मुझे सहायक की आवश्यकता थी। भारतीय जनता पार्टी के कार्यालय में अवस्थित 'डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी शोध अधिष्ठान' में एक नौजवान शोधक थे—श्री देवेश खंडेलवाल। अधिष्ठान के न्यासी श्री श्याम जाजू से मैंने देवेश को माँग लिया, श्यामजी मान गए।

पाञ्चजन्य एवं ऑर्गनाइजर की पुरानी फाइलें हमारे सामग्री संकलन का सबसे बड़ा मूल स्रोत हैं। इनमें प्रकाशित समाचारों का वही हिस्सा हमने लिया है, जिनमें दीनदयालजी के विचार हैं। उनके विचारों के अतिरिक्त समाचार के पूरे हिस्से को इस वाङ्मय में सामान्यतः स्थान नहीं दिया गया है। आपवादिक रूप से संदर्भों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ समाचारों को ज्यों का त्यों 'परिशिष्टों' में समाहित किया गया है।

काल-क्रमानुसार पंजिकाएँ बनाने तथा उपलब्ध टंकित एवं हस्तलिखित सामग्री के प्रथम पाठन का कार्य श्री देवेश ने किया। बीच-बीच में बहुत अंतराल थे, नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी, झंडेवाला संघ कार्यालय एवं भारत प्रकाशन में जाकर उन्हें पूरा करने का प्रयत्न किया गया। वे 2015 तक इस कार्य में सहभागी हुए। इसके पश्चात् भी

यथावश्यक सहयोग के लिए वे तत्पर रहते हैं। साधुवाद।

श्री अतुल जैन प्रारंभ से ही साथ जुटे थे। उन्होंने नानाजी देशमुख वाङ्मय 6 खंडों में 'विराट् पुरुष नानाजी' के नाम से संपादित किया था। वे विमर्श एवं सहयोग के लिए निरंतर उपलब्ध रहे। इस बड़े काम के लिए सांगोपांग संपादक मंडल की आवश्यकता थी। इस संदर्भ में मैं नितांत भाग्यशाली रहा। सभी वरिष्ठ जनों ने समर्थन एवं सहकार दिया। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं श्री रामबहादुर राय। संपादक मंडल की औपचारिक बैठकों के अलावा संपादकीय कार्यालय में संपन्न होने वाली साप्ताहिक बैठकें भी उन्हीं के मार्गदर्शन में संपन्न होती थीं। श्री अच्युतानंद मिश्र लब्ध-प्रतिष्ठित संवाद निष्णात पत्रकार हैं। श्री जवाहरलाल कौल भी इसी पीढ़ी के पत्रकार हैं। ये भी सामान्यत: साप्ताहिक बैठक में समागत होते थे, संपादकीय कार्य को तराशने के लिए इन वरिष्ठों ने अद्‌भुत कार्य किया।

यह तय हुआ कि प्रत्येक खंड कालक्रम से जिस काल का है, उसका एक परिचयात्मक अध्याय 'वह काल' शीर्षक से प्रत्येक खंड में होना चाहिए। पहले खंड का 'वह काल' श्री रामबहादुर राय ने, द्वितीय खंड का 'वह काल' श्री जवाहर लाल कौल ने तथा श्री ब्रजकिशोर शर्मा, जो आजकल राजा राममोहन राय लाइब्रेरी के अध्यक्ष हैं, पहले नेशनल बुक ट्रस्ट के अध्यक्ष थे, उन्होंने भी तृतीय खंड का 'वह काल' लिखा। चतुर्थ खंड का 'वह काल' आ. अच्युतानंद मिश्र ने लिखा है। संपादक मंडल के सदस्य के रूप में श्री गोविंदाचार्यजी जुड़े। उन्होंने खंड 5 का 'वह काल' लिखा। नितांत वरिष्ठ पत्रकार डॉ. नंद किशोर त्रिखा अस्वस्थता के बावजूद हर बैठक में उपस्थित रहे तथा खंड सात के 'वह काल' का लेखन किया। खंड आठ का वह काल दीनदयाल शोध संस्थान के प्रधान सचिव श्री अतुल जैन तथा प्रख्यात पत्रकार एवं पूर्व सांसद श्री बलवीर पुंज ने नवम् खंड का 'वह काल' लिखा। वैश्विक संदर्भों में भारतीय ज्ञान एवं परंपरा के अध्येता श्री बनवारी ने दसवें खंड का 'वह काल' लिखा तथा अपनी विकट व्यस्तताओं के बावजूद इस कार्य के लिए वे उपलब्ध रहे। भारतीय जनता पार्टी के उपाध्यक्ष एवं रामभाऊ महालगी प्रबोधिनी के निदेशक डॉ. विनय सहस्त्रबुद्धे अपनी संपूर्ण सहभागिता के साथ खंड 11 के 'वह काल' लेखक बने। प्रखर भाषाविद् एवं साहित्यकार डॉ. सीतेश आलोक का संपादकीय कार्यों में अतुलनीय सहयोग रहा। उन्होंने खंड 12 का 'वह काल' भी लिखा। दृश्य-श्रव्य क्षेत्र के जाने-माने पत्रकार श्री राहुल देव की भी सार्थक उपलब्धता बनी रही, उन्होंने खंड 13 का 'वह काल' लिखा। 'इंडिया टुडे' के पूर्व संपादक तथा पाञ्चजन्य-ऑर्गनाइज़र के समूह संपादक श्री जगदीश उपासने संपादकीय कार्यों में सहकारी रहे तथा खंड 14 का 'वह काल' उन्होंने लिखा। 15वें खंड में वह काल के स्थान पर 'अवसान' अध्याय है, यह अध्याय पुन: श्री राम बहादुर राय ने लिखा।

हर खंड किसी न किसी महापुरुष को समर्पित है। उनका संक्षिप्त परिचय लिखा जाना चाहिए, यह तय हुआ। संपादक मंडल के वरिष्ठ सदस्य श्री बलवीर पुंज, आ. अच्युतानंद मिश्र, श्री ब्रजकिशोर शर्मा, श्री आलोक कुमार, श्री हितेश शंकर एवं श्री प्रफुल्ल केतकर की विशेष भूमिका रही। संपादक मंडल ने अन्य अनेक विद्वानों का भी इसमें सहकार प्राप्त किया, यथा मा. रंगा हरिजी, श्री अनिर्बाण गांगुली, डॉ. निर्मल सिंह, श्री राजकुमार भाटिया, डॉ. चंद्र प्रकाश, श्री इंदुशेखर 'तत्पुरुष', डॉ. राजीव रंजन, श्री ला. गणेशन तथा श्री जे.के. बजाज। इन सभी के सार्थक सहयोग से ये खंड सँवर सके।

प्रत्येक खंड की भूमिका किसी वरिष्ठ एवं सार्थक व्यक्तित्व से लिखवाना एक बड़ा काम था। दीनदयालजी के अधिकांश साथी इस संसार में नहीं हैं, जो हैं, वे बहुत वृद्ध या कार्यक्षम नहीं हैं। फिर भी भूमिका लेखकों की एक सांगोपांग मंडली इस संपूर्ण वाङ्मय को प्राप्त हो सकी। प्रथम खंड दीनदयालजी के संघ-प्रचारक के काल का है। अत: स्वाभाविक रूप से सरसंघचालक मा. डॉ. मोहनराव भागवत से इसका निवेदन किया। उन्होंने गरिमामय शालीनता के साथ आग्रह को स्वीकार कर प्रथम खंड की भूमिका लिखी। चूँकि उनके प्रचारक काल का यह खंड है, इसलिए इसमें स्वयंसेवकों द्वारा ली जाने वाली प्रतिज्ञा एवं संघ स्थान पर की जाने वाली प्रार्थना का भी समावेश किया है।

द्वितीय खंड दीनदयालजी के संक्रमण काल का है, जब वे राजनीतिक क्षेत्र में आए। स्वाभाविक तौर से यह इच्छा थी कि श्री लाल कृष्ण आडवाणी इसकी भूमिका लिखें। उनसे बहुत आग्रह किया गया, पर्याप्त प्रतीक्षा भी की, लेकिन अपनी विशिष्ट मन:स्थिति के कारण उन्होंने यह लिखना स्वीकार नहीं किया। मजबूरी थी। दीनदयालजी के उस काल में सहयोगी रहे श्री देवेंद्र स्वरूपजी, इन दिनों भयानक बीमारी के शिकार हुए। काफी संकोच के साथ उनसे भूमिका आलेखन का निवेदन किया। उन्होंने अपनी शारीरिक व्याधि के कारण असमर्थता जाहिर की, लेकिन अधिक आग्रह करने पर वे मान गए। उन्होंने टुकड़ों-टुकड़ों में भूमिका लिखी। उन्हें जोड़कर संपादित करके वाङ्मय के इस खंड के लिए हम भूमिका प्राप्त करने में सफल हुए। ईश्वर की कृपा रही।

दीनदयालजी के समय एक युवक कार्यकर्ता के नाते सक्रिय रहे, आज वरिष्ठ राजनेता डॉ. विजय कुमार मल्होत्रा को तीसरे खंड की भूमिका का निवेदन किया। यह वही काल था, जब विजयजी एक सक्रिय कार्यकर्ता के नाते दिल्ली में काम करते थे। बहुत आग्रह एवं मनुहारों के बाद संपादक मंडल के एक नौजवान सदस्य श्री सुशील पंडित को साथ लगाकर उनसे भूमिका प्राप्त की गई। कितना कठिन है विजयजी से काम लेना। खंड चार की भूमिका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ प्रचारक मा. रंगा हरिजी को लिखने का निवेदन किया। अपने स्वास्थ्य के कारण अब रंगा हरिजी केरल के कोच्चि में रहते हैं। फ़ोन से ही उनसे वार्त्तालाप होता रहा, नितांत युवकोचित उनका प्रतिसाद था।

उन्होंने खंड चार की विशद एवं सांगोपांग भूमिका लिखी। निहाल कर दिया।

दीनदयालजी के साथ जिनकी गहरी अंतरंगता रही, डॉ. मुरली मनोहर जोशी को पाँचवें खंड की भूमिका के लिए निवेदन किया। यह खंड 1958 का है। इसी वर्ष दीनदयालजी की आर्थिक विषय पर दो पुस्तकें आई थीं। डॉ. साहब ने आर्थिक विषय की अपनी रुचि व्यक्त की थी। व्यस्त तो वे रहते ही हैं। इस दौरान पहले उनके बाएँ घुटने का तथा बाद में दाहिने घुटने का ऑपरेशन हो गया। वे काफ़ी अस्वस्थ रहे, भूमिका नहीं लिख पाए। अत: भारतीय जनसंघ के समय के वरिष्ठ कार्यकर्ता तथा हिमाचल प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री शांता कुमार ने हमारे आग्रह को स्वीकार यथासमय भूमिका लिखकर दी। निश्चय ही हम कृतज्ञ हैं। 1958 एक मात्र वर्ष है, जिसके लिए दो खंडों की संरचना करनी पड़ी। छठे खंड में केवल दीनदयालजी की लिखी अंग्रेजी पुस्तक 'टू प्लांस : प्रॉमिसेज, परफॉर्मेंस एंड प्रॉस्पेक्ट्स' तथा डॉ. भाई महावीर द्वारा लिखी उसकी समीक्षा का समाहार किया गया है। इसकी भूमिका जाने-माने अर्थशास्त्री डॉ. बजरंग लाल गुप्त, जो उत्तरांचल राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ के मा. संघचालक भी हैं, से लिखने का निवेदन किया। वे नित्य प्रवासी व्यस्ततम जीवन जीते हैं, लेकिन यथासमय उन्होंने भूमिका लिखकर दी। मन को सुकून प्राप्त हुआ।

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि इसी दौरान विश्व हिंदू परिषद् के पुरोधा मा. अशोक सिंहलजी अस्वस्थ हुए तथा 'निजधाम' चले गए। उनसे मैंने खंड सात की भूमिका लिखने का निवेदन किया था। उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर स्नेहिल हाथों से पीठ थपथपाई थी, लेकिन खंड की पांडुलिपि का तैयार होना तथा उनका महाप्रस्थान करना लगभग साथ-साथ हुआ। अब इस भूमिका के लिए किससे कहें? श्री चंपत राय का नाम ध्यान में आया, उनसे निवेदन किया। वे नितांत विनम्र एवं अशोकजी के प्रति श्रद्धावनत थे। उन्होंने स्वीकार कर लिया। संपूर्ण खंड का सांगोपांग अध्ययन कर भूमिका लिखी, मैं नितांत आभारी हूँ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ प्रचारक, जो दशकों तक परिव्राजक रहकर अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् को गढ़ते रहे, संघ के सहसरकार्यवाह रहे, अभी लंबे समय से अस्वस्थ हैं। चलना, बोलना, लिखना सभी कुछ बहुत कठिन है। उन्होंने भी खंड आठ की भूमिका लिखना स्वीकार किया। श्री अतुल जैन को बंगलौर में अपने पास बुलाया तथा दो दिन में भूमिका पूरी लिखवाई। बहुत कुछ सीखा है मदनजी से, उन्हें कैसे व क्या कृतज्ञता ज्ञापित करूँ। नितांत आत्मीय संबंधों में यह महज औपचारिकता लगती है।

संघ के माननीय सरकार्यवाह श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी नौवें खंड की भूमिका के लेखक हैं। उन्हें जिस प्रकार का राष्ट्रीय दायित्व है, उसमें समय निकाल पाना बड़ा कठिन कार्य है। मैं आग्रहपूर्वक पीछे लगा, सरलेचित्त भय्याजी को थोड़ा मैंने परेशान ही कर

लिया। उन्होंने विनम्रतापूर्वक लेकिन एक सांगोपांग भूमिका लिखी। उनके प्रति सम्मान का अहोभाव मुझमें है, प्रणाम।

दशम खंड की भूमिका प्रखर अध्येता संघ के सह सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपालजी को लिखने का निवेदन किया। शोधपरक अध्ययनशीलता उनका स्वभाव है। उनसे हर मुलाक़ात ज्ञानवर्धक होती है। उन्होंने भी भूमिका लिखना सहजता से स्वीकार किया तथा अपना वचन निभाया। बेहद सार्थक है यह भूमिका आलेख।

भूमिका के संदर्भ में ग्यारहवाँ खंड फँस गया। भारतमाता मंदिर के अधिष्ठाता एवं निवर्तमान जगद्‌गुरु शंकराचार्य स्वामी सत्यमित्रानंदजी महाराज संघ परिवार के पुराने जानकार हैं। दीनदयालजी को भी जानते हैं। अत: उनसे खंड की भूमिका लिखने का निवेदन किया। वे तो आध्यात्मिक विभूति हैं। एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के मार्गदर्शक भी हैं। नितांत गरिमासंपन्न विनम्रता से उन्होंने कहा कि खंड का विषय राजनीतिक है, राजनीति में मेरी कोई गति ही नहीं है, अत: मैं नहीं लिख पाऊँगा। मैंने आग्रह किया, दीनदयालजी भी तो 'राजनीति में संस्कृति के राजदूत थे,' कृपया लिखें, तब उन्होंने अपनी आयु एवं स्वास्थ्य का हवाला दिया, नौ दशक पार कर चुका हूँ। मैंने दुराग्रह की सीमा तक आग्रह किया, वे मान गए। उन्होंने लिखा, पर वह तो भूमिका नहीं थी। मुझको दिया गया आशीर्वाद तथा दीनदयालजी के प्रति श्रद्धांजलि थी। अब क्या करें?

मान्यवर दत्तोपंत ठेंगड़ी के आजीवन सहकारी रहे, संघ के प्रचारक श्री रामदास से बातचीत हुई। उन्होंने सलाह दी कि स्वामी सत्यमित्रानंदजी के ही शिष्य हैं स्वामी गोविंद गिरीजी महाराज, उनका ठेंगड़ीजी से भी संपर्क रहा है। वे इस कार्य को सार्थकतापूर्वक कर सकेंगे। संपर्क किया, उन्होंने आशीर्वाद दिया तथा बहुत लंबी चर्चा की। वे अद्‌भुत कथावाचक भी हैं, अत: व्यस्त थे। पर्याप्त समय की माँग करते हुए उन्होंने भूमिका लिखना स्वीकार किया। अपने गुरु स्वामी सत्यमित्रानंदजी द्वारा लिखी भूमिका का अनुपूरक भूमिका-आलेख उन्होंने लिखा। आध्यात्मिक त्वरा के साथ लिखी गई यह भूमिका संपूर्ण वाङ्मय की निधि बन गई। हरि ॐ।

खंड 12, 13 व 14 की भूमिकाएँ, सद्य: राजनीतिक परिवर्तन के बाद बने राज्यपाल त्रय ने लिखी हैं। खंड 12 की भूमिका के लेखक बिहार के राज्यपाल श्री रामनाथ कोविंद तुलनात्मक रूप से कम आयु के हैं। उन्होंने दीनदयालजी को नहीं देखा। उन्होंने खंड का समुचित अध्ययन कर एक अकादमिक भूमिका लिखी। गुजरात के राज्यपाल श्री ओम प्रकाश कोहली तथा उत्तर प्रदेश के राज्यपाल राम भाऊ नाइक तो पुराने स्वयंसेवक हैं। दीनदयालजी का संक्षिप्त सानिध्य इनको प्राप्त हुआ था। रामभाऊ तो दीनदयालजी द्वारा मुंबई में 23, 24 व 25 अप्रैल, 1965 के 'एकात्म मानववाद' पर दिए गए ऐतिहासिक

भाषण के श्रोता भी रहे हैं। उन्होंने अपने सहज स्वयंसेवकत्व के साथ भूमिका लिखना स्वीकार किया तथा यथासमय वह प्राप्त हो सकी। मैं कृतज्ञ हूँ।

संघ के वरिष्ठतम कार्यकर्ता एवं पत्रकार श्री मा.गो. वैद्यजी आयु के नौ दशक पार कर चुके हैं। 15वाँ खंड अंतिम तथा विशेष है, इसकी विशेषता को ध्यान में रखते हुए माननीय वैद्यजी से इस खंड की भूमिका का आग्रह किया। अपने स्वभाव के अनुसार मुझसे बहुत सी जानकारियाँ प्राप्त कर उन्होंने भूमिका लिखना स्वीकार किया। वे नागपुर में रहते हैं। इ-मेल से ही पत्रालाप हुआ। उन्होंने संपादकीय दृष्टि से बहुत सार्थक मार्गदर्शन किया। निर्धारित समय पर पूरे खंड को लगभग संपादित करते हुए उन्होंने इस खंड की रेखांकनीय भूमिका लिखी। डॉ. हेडगेवार कुलोत्पन्न लोगों का यह स्वभाव है। सादर नमन!

जिन नामों का उल्लेख अभी तक हुआ है, उनके अलावा भी संपादक मंडल के सदस्य हैं। डॉ. भारत दहिया (बैंकॉक) हिंदी से अंग्रेजी में ये अद्भुत अनुवाद करते हैं। अनुवाद के ही कार्य में शिमला के वरिष्ठ कार्यकर्ता प्रो. चमन लाल गुप्ताजी का सर्वाधिक अवदान रहा। अहमदाबाद के श्री भरत भाई पांड्या अनेक दिनों तक यहाँ कार्यालय में आकर रहे, संपादन-शुद्धि के काम में सहकारी हुए। डॉ. रामप्रकाश 'सरस' ने सभी 15 खंडों में आए संस्कृत उद्धरणों की शुद्धता सुनिश्चित करने के लिए उन्हें पढ़ा। संपादक मंडल की बैठकों में डॉ. अशोक टंडन तथा पद्मश्री मुजफ्फर हुसैन ने भी अपनी सहभागिता निभाई। आ. देवेंद्र स्वरूपजी संपादक मंडल में थे, किंतु ख़राब स्वास्थ्य के कारण वे कभी बैठक में नहीं आ सके, उनके घर जाकर मैं निरंतर मार्गदर्शन लेता रहा, उन्होंने भूमिका तो लिखी ही।

सर्वप्रथम दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय का संपादन कन्नड़ भाषा में हुआ। डॉ. प्रधान गुरुदत्त के संपादन में पं. दीनदयाल उपाध्याय कर समग्र लेखन शीर्षक से अभी इसके चार खंड प्रकाशित हुए हैं। कुवेम्पु भाषा भारतीय प्राधिकार ने इसका सुंदर व सार्थक प्रकाशन किया है। मैं प्रारंभ से ही इस कार्य के साथ जुड़ा रहा। संपूर्ण वाङ्मय के इन खंडों की सामग्री संकलन में कन्नड़ समग्र के लिए संकलित सामग्री का मैंने उपयोग किया है। डॉ. प्रधान गुरुदत्तजी ने इसकी अनुमति दी, अतः आभारी हूँ।

प्रतिष्ठान के सभी पदाधिकारी संपादक मंडल की बैठक में रहते थे एवं यथोचित कर्तव्यों का पालन करते थे। प्रतिष्ठान के सचिव श्री लक्ष्मी नारायण डाड तो महीने में लगभग 10-15 दिन भीलवाड़ा से आकर यहीं रहते थे। टंकित सामग्री को पढ़ने एवं प्रूफ शोधन में उनका बड़ा योगदान है। अधिशासी परिषद् की सदस्य श्रीमती सुमीता शर्मा सभी व्यवस्थाओं को सँभालती रहीं। उपाध्यक्ष डॉ. अशोक गदिया तथा श्रीमती भावना बेन दवे भी निरंतर बैठकों में रहे।

संपादकीय कार्यालय में कार्य करने वाले मेरे सहकारियों ने तपस्यापूर्वक यह कार्य किया, उनके नामों का यहाँ उल्लेख न करते हुए उनके प्रति भावपूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। दीनदयालजी विचारों की गरिमा के अनुकूल इन खंडों को सँवार कर प्रस्तुत करने में दीनदयाल शोध संस्थान के प्रधान सचिव श्री अतुल जैन ने अप्रतिम मेहनत की। प्रभात प्रकाशन के संस्थापक मा. श्याम सुंदरजी का निरंतर आशीर्वाद व मार्गदर्शन बना रहा तथा श्री प्रभात कुमारजी के जीवट के साथ इस प्रकाशन कार्य को संपन्न किया। कृतज्ञता का हर शब्द छोटा पड़ता है। मैं उन सब आहुतियों को प्रणाम करता हूँ जिनके कारण यह महायज्ञ सार्थक हुआ।

शुभम्।

—डॉ. महेश चंद्र शर्मा

संपादकीय

10 फरवरी, 1968 को मध्यरात्रि में दीनदयाल उपाध्याय की रहस्यमय हत्या हो गई। भारतीयता के अधिष्ठान पर राजनीति करने वालों पर यह वज्रपात जैसा था। अकल्पनीय एवं स्तब्धकारी था। अपनी आयु के छठे दशक में अभी उन्होंने प्रवेश ही किया था। प्रसिद्धि पराङ्मुखता उनका सांगठनिक संस्कार था। वे 1940 में ही सार्वजनिक जीवन में आ गए थे, लेकिन संगठन के बाहर के सार्वजनिक जीवन में लोग उन्हें बहुत जानते नहीं थे। लोग तो भारतीय जनसंघ को बढ़ता हुआ देखते थे और आश्चर्य करते थे कि यह दल आख़िर बढ़ क्यों रहा है? कोई ख्याति प्राप्त नेता तो दिखता नहीं। उस काल के प्रभावी वामपंथ के नेता भारतीय जनसंघ की विचारधारा के प्रखर आलोचक ही नहीं वरन् दुश्मन थे। भारतीय राजनीति में यह जवाहरलाल नेहरू का युग था। नेहरू भारतीय जनसंघ को 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अवैध संतान' कहा करते थे। संसद् में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को उन्होंने कहा था, ''मैं जनसंघ को कुचल दूँगा।'' डॉ. मुखर्जी का कालजयी जवाब था, ''मैं कुचलने वाली इस मनोवृत्ति को कुचल दूँगा।'' डॉ. मुखर्जी को स्वतंत्र भारत की सेवा करने का ज़्यादा समय नहीं मिला। देश की अखंडता के लिए जम्मू-कश्मीर आंदोलन में उनकी रहस्यमय मृत्यु हो गई। भारतीय जनसंघ के नेतृत्व का भार दीनदयाल उपाध्याय के युवा कंधों पर आ गया। उपाध्याय तब केवल 37 साल के युवक थे। 1952 से 1967 तक उन्होंने भारतीय जनसंघ का महामंत्री होने के नाते दायित्व सँभाला। नेता के नाते लोग उन्हें जानें, इसमें उनकी किंचित् भी रुचि नहीं थी, भारतीय जनसंघ और उसकी विचारधारा को लोग जानें तथा जनसंघ के कार्यकर्ताओं की निष्ठा और ईमानदारी का लोगों में प्रभाव हो, यही उनकी आकांक्षा थी।

उन्होंने स्वयं अपने बारे में कहा, ''मैं राजनीति में संस्कृति का राजदूत हूँ।'' वे जीवन भर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के नाते व्रती जीवन के वाहक रहे।

राजनीति का उन पर असर नहीं हुआ, उनका राजनीति पर असर हुआ। सभी उपहासों व विरोधों को उन्होंने जनसंघ का विस्तार करके करारा जवाब दिया। साम्यवादियों व समाजवादियों के जमावड़े को बहुत पीछे छोड़कर जनसंघ आगे बढ़ गया। पूँजीवाद की पुरस्कर्ता 'स्वतंत्र पार्टी' भी कुछ नहीं कर सकी; 1967 के आम चुनाव में कांग्रेस के बाद भारतीय जनसंघ दूसरे नंबर की पार्टी बन गई। इसी वर्ष जनसंघ ने भी उन्हें अपना अध्यक्ष चुन लिया। अनाम रहकर काम करने वाले दीनदयाल नामवर हो गए। लोगों ने उन्हें जनसंघ की अद्भुत सफलता का कारण माना। शायद नजर लग गई। वे केवल 44 दिन भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष रहे, 11 फरवरी का दिन रात्रि की घटना के घटाटोप में डूब गया। दीनदयाल नहीं रहे।

दीनदयाल उपाध्याय में कर्तृत्व और विचार एकात्मता के साथ मूर्तिमत थे। उनकी कर्मशक्ति बड़ी थी या बौद्धिकता, इसका फ़ैसला आसान नहीं है। वे वैचारिक निष्ठा एवं व्यावहारिक कर्मशीलता के अप्रतिम उदाहरण थे। वे राजनीति में भारतीय तत्त्व के विवेचक एवं प्रवक्ता थे। उन्होंने ख़ूब लिखा एवं उससे अधिक बोला। उनके विचार सर्वांगीण थे। आने वाली अनंत पीढ़ियों की अनमोल विरासत थे ये विचार। लेकिन पाँच दशक बाद भी ये विचार नई पीढ़ी तक नहीं पहुँच सके। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है। इसकी एक छोटी सी कहानी भी है। उसका उल्लेख यहाँ बहुत जरूरी नहीं है।

सन् 1964-65 में दीनदयाल उपाध्याय ने अपने विचारों को 'एकात्म मानववाद' नाम से परिपक्वन दिया। वर्ष 2014-15 'एकात्म मानववाद' का पचासवाँ वर्ष था। यह वर्ष अर्थात् 2015-16 दीनदयालजी का सौवाँ वर्ष है। 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान' ने उनके संपूर्ण वाङ्मय के संकलन एवं संपादन का दायित्व स्वीकार कर लिया है। यह कार्य प्रारंभ हो गया। प्रभात प्रकाशन ने इसे प्रकाशित करने का दायित्व स्वीकार कर लिया है। हमारा प्रयत्न है कि दीनदयाल उपाध्याय के शताब्दी वर्ष 2016 में में यह 'संपूर्ण वाङ्मय' लोकार्पित हो जाए।

प्रथम खंड के संपादन का कार्य पूर्णता की तरफ़ है। यह प्रथम खंड उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के नाते व्यक्त विचारों के पत्रों, पुस्तकों व आलेखों का संकलन है। पचास वर्ष के लंबे कालखंड तथा प्रसिद्धिपराङ्मुखी प्रवृत्ति का ऐसा मेल हुआ कि जितना हमने संकलित किया है, उससे ज़्यादा सामग्री अनुपलब्ध है। आगे कोई अनुसंधानपूर्वक उसे खोजेगा या खोज पाएगा कि नहीं, यह तो नहीं मालूम, लेकिन जितना संकलित करना संभव हुआ, वह तो समष्टि को लोकार्पित हो जाए, इसी आकांक्षा के साथ अधूरेपन से ही क्यों न हो, इस खंड की सामग्री सँजोई गई है।

यह काल दीनदयालजी के संघ प्रचारक जीवन का काल है। अतः इसकी भूमिका लिखने के लिए वर्तमान सरसंघचालक माननीय मोहन राव भागवत से निवेदन किया,

उन्होंने इसे कृपापूर्वक स्वीकार किया तथा यथासमय भूमिका लिखकर दी, आभारी हूँ। इससे इस खंड की गरिमा बढ़ी है। उनके विचारों के साथ ही उस काल (1934-1950) के बारे में भी संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। आलेखों में आए संदर्भों को समझने एवं दीनदयालजी की वैचारिक प्राथमिकताओं को समझने में इस जानकारी से सुविधा प्राप्त होगी। लब्ध-प्रतिष्ठित पत्रकार श्री रामबहादुर राय से निवेदन किया, उन्होंने सांगोपांग 'वह काल' अध्याय लिखा। मैं कृतज्ञ हूँ।

सामान्यत: किसी भी लेखक की मूल पुस्तक के पुनर्प्रकाशन पर उसमें पाद टिप्पणियाँ नहीं जोड़ी जातीं। इस संपूर्ण वाङ्मय में भी इसी नियम का पालन किया गया है, किंतु प्रथम खंड इसका अपवाद है। 'सम्राट् चंद्रगुप्त' एवं 'जगद्‍गुरु शंकराचार्य' उपन्यासों में पाद टिप्पणियाँ जोड़ी गई हैं। गलती से ही क्यों न हो, जब एक बार पाद टिप्पणियाँ लग गईं, तो उन्हें न हटाने का निर्णय लिया गया। अत: इसे अपवाद ही मानना चाहिए।

सन् 1916 से 1940 तक का संक्षिप्त जीवन परिचय भी इस खंड का हिस्सा है। प्रयत्न है कि पाठक संदर्भों के लिए कहीं अटके नहीं। अत: कोशिश की गई है कि 'फुटनोट्स' एवं परिशिष्टों के माध्यम से इस ज़रूरत को पूरा किया जाए। इस प्रथम खंड में संस्कृत के उद्धरण ज़्यादा हैं, उनको शुद्धतापूर्वक प्रस्तुत करने में डॉ. श्री रामप्रकाश 'सरस' ने अप्रतिम मेहनत की, उन्होंने संपूर्ण वाङ्मय के सभी खंडों का इस संदर्भ में परिशोधन किया। निश्चय ही वे साधुवाद के पात्र हैं।

—डॉ. महेश चंद्र शर्मा
संपादक

भूमिका

चराचर विश्व सुख के लिए जीवनयापन करता है। विश्व के ज्ञात प्राणियों में मनुष्य सर्वाधिक विकसित वैचारिक क्षमता प्राप्त प्राणी है। अत: मानव के जीवन, विकास व उनके परिणामों को ही विश्व की इस सुखलक्षी यात्रा के फलित का मानक व परिणाम माना जाता है। विश्व के विकास अथवा विनाश, दोनों की कुंजी आज मानव समूह के ही हाथ में है। मनुष्य की बुद्धि में संस्कार तथा विकार दोनों हैं। अपना स्वयं का, जिस जगत् में हम हैं उसका तथा इन दोनों के परस्पर संबंधों का ज्ञान मनुष्य को सार व असार, उचित व अनुचित तथा कर्तव्य व अकर्तव्य का विवेक प्रदान करता है। उसी के आधार पर मनुष्य संस्कारों व विकारों की अलग-अलग पहचान करता आया है, अपने क्रियाकलापों से सृष्टि के साथ जीवन-चक्र की दिशा व गति निर्धारित करता रहा है। जीव, जीवन व जगत् को देखने की दृष्टि ही समकालीन मानव जीवन की व्यवस्थाओं तथा उनके अच्छे-बुरे परिणामों को निर्धारित करती है। वही उसे उसके शाश्वत संपूर्ण तथा अमिश्रित शुद्ध सुख की प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुँचाती है अथवा उससे दूर भटकाती है।

आज के जगत् की दशा-दिशा और उसमें स्वयं अपनी स्थिति से मनुष्य संतुष्ट नहीं है। अब वह किसी नई राह की प्रतीक्षा कर रहा है। यह बात विश्व भर के प्रमुख व्यक्तियों के समय-समय पर व्यक्त होने वाले चिंतन से समझ में आती है। विज्ञान व तकनीक के अभूतपूर्व विकास के बाद भी जिन संकीर्णताओं के कारण समय-समय पर मानव जाति विनाश के कगार पर जाकर खड़ी हुई, उन संकीर्णताओं का वही विनाशकारी खेल हम आज भी देख रहे हैं। सुख-सुविधाओं की भरमार होने के बाद भी समाधान व शांति तो दूर असंतुष्टि, अशांति व विनाश के नए-नए कारकों का जन्म उन्हीं सुविधाओं व व्यवस्थाओं से होता हुआ देखकर मानव समाज किंकर्तव्यविमूढ़ है। सृष्टि का स्वामी बनने की राह पर चलने का दम भरने वाला मानव समाज अब उन्हीं सुविधाओं, व्यवस्थाओं

व संकीर्णताओं का असहाय दास बनकर चलने को विवश है। इसलिए विश्व भर के चिंतक अंतर्मुख होकर इस खोज में लगे दिख रहे हैं कि संपूर्ण प्रचलित व्यवस्था तथा मनुष्यों के विकास की सद्य:कालीन दिशा को जन्म देने वाली आधुनिक दृष्टि में कहाँ-कहाँ त्रुटियाँ रह गईं।

प्रचलित दृष्टि जीव, जीवन व जगत् को पृथकात्मता व पृथकता की पद्धति से समझने का प्रयास करती है। समय की तात्कालिकता के धरातल पर उससे कुछ आंशिक लाभ भले ही मिले, परंतु विश्व की वास्तविकता के धरातल से यह दृष्टि अभी बहुत दूर है। इस दूरी के चलते सारी व्यवस्था में तथा जीवन में भी कुछ ऐसा अधूरापन व्याप्त है, जो अंतत: सुख को मरीचिका ही बनाए रखता है। क्या शाश्वत, संपूर्ण, निर्मिश्र व शुद्ध सुख मात्र एक स्वप्न है? अधूरी, एकांगी तथा जगत् को टुकड़ों में विभाजित करने वाली दृष्टि के आधार पर वह सुख वास्तविक जीवन में कभी नहीं आएगा?

भारत की सनातन परंपरा ने तर्क, अनुभव व प्रयोग—तीनों कसौटियों पर परखकर इस प्रश्न का उत्तर दिया है। संपूर्ण अस्तित्व की एकता व जीवन की समग्रता के सत्य को जानना और उसको निरंतर मन, वचन, कर्म में प्रतिष्ठित करके, जीवन की सारी व्यवस्थाओं व शैलियों को उस सत्य पर ही अधिष्ठित करके विकसित करने से सभी को अमिश्रित, संपूर्ण व शाश्वत सुख की प्राप्ति होना संभव है। इस दृष्टि पर आधारित जीवन व्यवस्था से उत्पन्न सर्वसंपन्न, स्थिर व शांतिपूर्ण, सामूहिक जीवन हमने पूर्व काल में युगों तक चलाकर दिखाया है। परंतु वर्तमान जगत् को उसी दृष्टि के आधार पर नई राह दिखलानी है तो उस सनातन दृष्टि की युगानुकूल परिभाषा क्या होगी? विज्ञान व तकनीकी की प्रगति संपन्न आधुनिक अवस्था में, उस एकात्म व समग्र दृष्टि की दिशा क्या होगी? व्यवस्था कैसी बनेगी? मनुष्य के जीवन की सुसंगतता व सामंजस्य मानव समूह तथा सृष्टि के साथ कैसे स्थापित होगा और जीवन से दुख, अभाव, शोषण व विषमता को हटाकर सुख, समृद्धि, सामरस्य व सेवा भाव लाने वाली नीतियाँ क्या होंगी? इन सारे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास है—एकात्म मानवदर्शन!

एकात्म मानवदर्शन के प्रादुर्भाव का 50वाँ वर्ष तथा उसके उद्गात ऋषि स्व. पंडित दीनदयाल उपाध्याय की जन्मशती का वर्ष, सन् 2015 में साथ-साथ चल रहे हैं। सद्य: जगत् में आधुनिक जीवन संबंधी समस्या परिहार और व्यवस्था निर्माण के लिए सनातन भारतीय दृष्टि पर आधारित युगानुकूल चिंतन, जो स्व. पंडित दीनदयालजी द्वारा रूपायित हुआ, वह केवल कागजी कल्पना-अभिलाषी नहीं था। भारत के कण-कण व जन-जन के सुख-दुख के साथ एकाकार मानवीय संवेदना उसमें बोलती है। व्यक्तिगत चेतना को वैश्विक चेतना तक विस्तारित करने वाले, सनातन मूल्याधारित आचरण का तपस-तेज उसमें से प्रस्फुटित होता है। सरल, निश्छल, आत्मीय भावना से किए गए निस्स्वार्थ,

निरंतर परिश्रम का प्रभाव उसके प्रत्येक शब्द को मंत्र-भारित करता है, इसलिए वह कोई मतवाद या उत्पत्ति नहीं, दर्शन है। उसको समझकर, उसके विस्तार और उस पर आधारित नीतियों तथा व्यवस्थाओं का उपयोग होना आवश्यक है, इसलिए उसको समग्रता से, सूक्ष्मता से जानना भी समय की आवश्यकता है। 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान' के द्वारा स्व. दीनदयालजी के संपूर्ण वाङ्मय के प्रकाशन का कार्य सब दृष्टि से समय की इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

'एकात्म मानवदर्शन' को ठीक से समझने के लिए उसके द्रष्टा स्व. दीनदयालजी को समझना भी उपयोगी होगा। जिन परिस्थितियों में उन्होंने जीवन अनुभव प्राप्त किया, जिन संस्कारों ने उन परिस्थितियों को देखने, समझने व झेलने की दृष्टि दी तथा उससे जनमे स्वानुभूत चिंतन का विकास-क्रम जिन अनेकानेक लेखों व वक्तव्यों में प्रकट हुआ, उनको समझने से ही एकात्म मानवदर्शन को समझना भी संभव होगा। स्व. दीनदयालजी के समग्र वाङ्मय का प्रथम खंड इसी पृष्ठभूमि की जानकारी देता है।

स्व. दीनदयालजी के जीवन का बहुत थोड़ा अंश सार्वदेशिक दृष्टि में आया है। सन् 1952 के पूर्व तक वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के व्यक्ति-निर्माण के कार्य में ही संलग्न थे। उस काल के संस्थागत अनुशासन व स्वयं उनके आत्म-विलोपी स्वभाव के कारण उनके प्रारंभिक जीवन काल से संबंधित सामग्री का प्राप्त होना अत्यंत दुष्कर हो गया। दुष्कर होते हुए भी प्रतिष्ठान द्वारा निर्मित इस प्रथम खंड में जितनी सामग्री प्रस्तुत की जा सकी, वह भी कम नहीं है। सुधी पाठक इसमें से स्व. दीनदयालजी की ऋजुता, शील संपन्नता, कुशाग्र एवं मर्मग्राही दृष्टि, विचारों की स्पष्टता तथा समर्पण का दर्शन कर सकते हैं।

इस अत्यावश्यक व समयोचित कार्य के लिए प्रतिष्ठान को हार्दिक साधुवाद। यह प्रकाशन संपूर्ण रूप में शीघ्रतापूर्वक संपन्न हो तथा व्यापक प्रचार-प्रसार के द्वारा सभी के मन-मस्तिष्क को प्रकाशित करता रहे, यह शुभकामना।

—मोहन भागवत

वह काल

(1934–1950)

आशाओं का अंधकार में लोप

भविष्य का रास्ता खोजने में इतिहास से मदद मिलती है, अगर वह सचमुच वस्तुनिष्ठ इतिहास हो। हर वर्तमान एक कड़ी का काम करता है। वह अतीत से जहाँ जुड़ता है, वहीं से भविष्य प्रारंभ होता है। यही है इतिहास-चक्र, जिसे समझने-समझाने के लिए इतिहास लेखन, उसका पुनरावलोकन और पुनर्लेखन की ज़रूरत बनी रहती है। यह एक अविभाज्य प्रक्रिया है। अतीत के तथ्यों की खोज से इतिहास लिखा जाता है। वे तथ्य प्रामाणिक होने चाहिए। उनका प्रसंग और संदर्भ सही और सटीक होना चाहिए। उसका विश्लेषण सम्यक् होना चाहिए। इतिहास ऐसे ही सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों की कथा होता है, जो उस समय की तमाम शक्तियों-समूहों की चेतनायुक्त गतिविधियों से आकार लेता है। उसमें घटनाओं के दबाव, तनाव और संघर्ष की विविध धाराएँ अपनी भूमिका निभाती हैं। इतिहास की गुफा में प्रवेश का लक्ष्य उन्हें प्रत्यक्ष देखने और पहचानने का होता है। इतिहास में कुछ ज्ञात होता है तो अज्ञात पक्ष उससे ज़्यादा हमेशा बना रहता है। लिखित इतिहास को फिर से लिखने की ज़रूरत तब ही पड़ती है, जब कोई नया तथ्य खोज लिया जाए। उसकी नई व्याख्या से भी पुनर्लेखन की ज़रूरत पैदा होती है। यह क्रम चलता रहता है।

एक नया प्रामाणिक तथ्य स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ में उद्घाटित हुआ है। वह

है—ब्रिटिश संविधानवाद, जो विभेदक था। यह महासागर है। उसमें मोती तो बहुत दूर की बात है, भयानक जीव-जंतु डूबते-उतराते अवश्य मिल जाते हैं। उस महासागर की एक महामाया है। जितना उसमें गहरे जाए तो हर पल हैरानी होती है। यह कि ब्रिटिश संविधानवाद की माया ने स्वाधीनता संग्राम के आख़िरी चरण में हमारे राष्ट्रीय नेताओं में किसे-किसे नहीं ठगा। वह समय शुरू होता है 1934 में। स्वाधीनता आंदोलन के दो चरणों का वह मिलन बिंदु है। उस समय वैसी ही परिस्थिति बन गई थी, जैसी 1922 में थी। आंदोलन की वापसी और उसके बाद की निराशा से उबरने के लिए नेताओं में सोच-विचार शुरू हुआ तो 1928 में नेहरू कमेटी बनी। इस बार भी संवैधानिक राजनीति का विकल्प पहले की भाँति ही उपलब्ध था। फर्क इस बार एक ख़ास था। महात्मा गांधी विरोध में नहीं, बल्कि सहयोग में खड़े हुए। इस बार कांग्रेस में स्वराज्य पार्टी बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। महात्मा गांधी ने पूरी कांग्रेस पार्टी को ही संविधानवाद के रास्ते पर बढ़ने के लिए प्रेरित किया। हिंद स्वराज्य की पोथी को भविष्य की खूँटी पर टाँग दिया। कांग्रेस कार्यसमिति में संवैधानिक राजनीति का प्रस्ताव उन्होंने ही रखा। याद करना चाहिए कि 1922 में आंदोलन स्थगित करने की प्रतिक्रिया में जो विचार पैदा हुआ, उससे तीन साल बाद कम्युनिस्ट पार्टी बनी। 1934 में भी प्रतिक्रिया हुई। 1931 से 1934 तक सविनय अवज्ञा आंदोलन चला। महात्मा गांधी ने उसे 1934 में रोक दिया। कांग्रेस ने तो अपनी राह ले ली, पर जो उससे सहमत नहीं थे और बहुत ही खिन्न थे, वे क्या करें? इस सोच-विचार में कई तरह के लोग थे। कुछ क्रांतिकारी भी थे। वे भी थे, जो रूस की क्रांति से प्रभावित और प्रेरित थे। पर कम्युनिस्ट पार्टी में नहीं थे। सरकार के दमनकारी कठोर क़दमों से क्रांतिकारी आंदोलन कमजोर पड़ गया था। बड़े क्रांतिकारी नेता मारे जा चुके थे। जो बचे थे, उन्हें नए रास्ते की खोज थी। उसमें से ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी निकली। जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्र देव, राममनोहर लोहिया, मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, ई.एम.एस. नंबूदरीपाद, मेहर अली और चार्ल्स मस्करिहॉन्स आदि इसके नेता थे। इस समूह का अस्तित्व आज़ादी के समय तक बना रहा। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी एक दबाव समूह तो रही, परंतु वह कांग्रेस की नीतियों में बदलाव न ला सकी। महात्मा गांधी का कांग्रेस पर प्रभाव इसका बड़ा कारण था। 1934-1950 के समय को तीन हिस्सों में देखा जा सकता है। पहला हिस्सा है—1934 से 1939 तक। दूसरा हिस्सा है—1940 से 1947 तक। तीसरा हिस्सा 1950 में पूरा होता है। इस अवधि की अज्ञात घटनाओं और नेताओं की भूमिका को फिर से देखने और समझने की ज़रूरत है।

पहले यह जानना जरूरी है कि अंग्रेज़ों का वह विभेदक संविधानवाद क्या था? अंग्रेज़ों ने अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए संविधानवाद की अवधारणा

प्रचलित की। उसकी पद्धति अत्यंत लुभावनी थी, जिसे ज़्यादातर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे नेतृत्व वर्ग ने हर समस्या के लिए रामबाण समझा। अंग्रेज़ों के तीन लक्ष्य बताए जा सकते हैं—एक, उपनिवेशों को अंग्रेज़ी स्वशासन के जाल में फँसाते जाना, इससे अंग्रेज़ आज़ादी की लड़ाई को अपने हित के घेरे में बनाए रख सके। इसका एक परिणाम यह हुआ कि स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य धारा अपनी जड़ों से कटती गई, आदर्श बदल गए, सपने दूसरे हो गए। दो, अगर भारत आज़ाद भी हो जाए तो वह ब्रिटेन के प्रभाव में ही बना रहे। तीन, वह विचारधारात्मक लक्ष्य था। इसमें औद्योगिक क्रांति से उपजी विचारधाराओं को बहस के बीच बनाए रखने का प्रयास था। यह धारणा बनाई गई कि मुक्ति का मार्ग इन्हीं विचारधाराओं से होकर गुजरता है। यह वैचारिक आंदोलन स्वाधीनता संग्राम पर छाया रहा। जो इन विचारों की छाया में पले, बढ़े और बौद्धिक रूप से विकसित हुए, उनके नेतृत्व में ही उस समय स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया। स्वाभाविक था कि आज़ादी के बाद सत्ता का हस्तांतरण उनके हाथों में ही होता, जो हुआ भी। उस नेतृत्व ने जो संविधान बनाया, वह पश्चिम का आदर्श ही स्थापित करता है।

स्वाधीनता संग्राम के तप:पूत उन नेताओं ने विचारों की एक परिधि बनाई। इसी दौर में एक ऐसा व्यक्ति भी है, जो उस परिधि से बाहर है। वह भारतीयता का नया वर्तुल बनाता हुआ पाया जाता है। आप जानना चाहेंगे, वह कौन है? सीधा सा उत्तर है—पंडित दीनदयाल उपाध्याय। वे उस दौर में प्रत्यक्ष राजनीति में नहीं हैं। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि वे परंपरागत, घिसी-पिटी और नकलची राजनीति के सामने दीर्घकालिक राजनीति की बड़ी लकीर खींची जाने के प्रयास में सम्मिलित हो जाते हैं। वह प्रयास तब एक क्षीण सी धारा थी, जिसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में डॉ. केशव बलीराम हेडगेवार ने शुरू किया था। महत्तर अर्थों में वह प्रखर राष्ट्रीयता की धारा थी। उसी से जुड़े दीनदयाल उपाध्याय। 1935 में वे सीकर (राजस्थान) में दसवीं के छात्र थे। बोर्ड की परीक्षा में पहले स्थान पर रहे। सन् 1935 का हमारे इतिहास में विशेष महत्त्व है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपनी उम्र का दसवाँ साल पूरा करता है। अंग्रेज़ भारत के लिए संविधान को स्वीकृति देते हैं, जो साम्राज्यवाद को मज़बूत बनाने के लिए रचा गया था। इस संविधान से भारत हिंदू और मुसलिम में बँट गया, जो भारत के बँटवारे का एक प्रमुख कारण बना। संविधान का वैसे तो कांग्रेस विरोध करती रही, परंतु वह 1937 के चुनावों में उतरी। उसे अनपेक्षित विजय मिली। लेकिन उसे मुसलमानों का व्यापक समर्थन नहीं मिला। हिंदू-मुसलिम की खाई चौड़ी होनी शुरू हो गई। दीनदयाल उपाध्याय तब बी.ए. की पढ़ाई कर रहे थे। उत्तर प्रदेश के एक राजनीतिक गढ़ कानपुर में थे। वहाँ तीन रास्ते थे—पहला कि वे कांग्रेस के एक कार्यकर्ता हो जाएँ। दूसरा कि राष्ट्रीयता के बड़े प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए स्वाध्यायी

परिव्राजक हो जाएँ। तीसरा, हिंदू महासभा में सक्रिय हों। उन्होंने दूसरा रास्ता चुना। 'तीन सरसंघचालक' पुस्तक में यह वर्णन आया है, ''इंग्लैंड में कैंब्रिज विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी रहमत अली ने एक पत्रक निकालकर पाकिस्तान की माँग की थी। इस पत्रक की राजनीतिक क्षेत्र में उन दिनों काफी चर्चा थी। उसका उल्लेख भाऊ राव देवरस ने अपने बोलने में किया। बैठक में दीनदयाल ने कई प्रश्न पूछे। भाऊ राव देवरस ने उनके समाधानकारक उत्तर दिए।'' कोई घटना अचानक नहीं होती, उसका एक संदर्भ होता है। वह अतीत से जुड़ा रहता है। इतिहास में उसके बीज होते हैं।

याद करें, 1905 में लॉर्ड कर्जन ने मुसलमानों से कहा था, ''मैं आप लोगों को एक मुसलिम प्रांत दे रहा हूँ।'' मजहब को राजनीतिक रंग देने की वह शुरुआत थी। बंग-भंग से उपजी राष्ट्रीयता को अंग्रेज़ों ने अपने लिए ख़तरे की घंटी माना। तब से ही मुसलिम प्रश्न को हवा दी जाने लगी। मुसलिम लीग का बनाया जाना तो शुरुआत थी। अंग्रेज़ों के सक्रिय सहयोग से 1906 में मुसलिम लीग का जन्म हुआ। पाकिस्तान का विचार उसी का प्रतिफलन था, जो पहले सिर्फ़ विचार ही दिखता था। रहमत अली के विचार पर इतिहासकार डॉ. ताराचंद ने लिखा है, ''यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यह सुझाव बाहर से आया हो।'' पाकिस्तान का वैचारिक जनक कौन था? दो नाम हैं— मुहम्मद इक़बाल और चौधरी रहमत अली। सर सैयद अहमद को इसका आदिपुरुष भी कह सकते हैं। 1930 में इक़बाल ने मुसलिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण करते हुए जो सुझाव दिया, वह मुसलिम राष्ट्र का विचार था। रहमत अली ने उसे एक प्रारूप दिया। एक परचा जारी किया, उसमें पाकिस्तान की पूरी रूपरेखा थी। रहमत अली तब कैंब्रिज विश्वविद्यालय का एक अंडर ग्रेजुएट छात्र था। उसने अपना परचा 28 फरवरी, 1933 को जारी किया। 1935 में उसने 'पाकिस्तान राष्ट्रीय आंदोलन' मंच बनाया। लाहौर प्रस्ताव तो कई साल बाद आया।

यह जानने की ज़रूरत हमेशा बनी रहेगी कि उन कुछ वर्षों में क्या हुआ। वे हैं, 1934 से 1940 के वर्ष। इन छह वर्षों में क्या-क्या घटित हुआ, जिससे मुसलिम लीग ने कांग्रेस के साथ मिलकर राजनीतिक और संवैधानिक समाधान की उम्मीद छोड़ दी। क्या हुआ कि मरियल मुसलिम लीग ज़िंदा हो गई। क्या हुआ कि जिन्ना ने अपनी राह बदल ली। 1 मार्च, 1934 को जिन्ना लंदन से भारत वापस आए। मुसलिम लीग के अलग-अलग धड़ों ने उनका नेतृत्व स्वीकार किया। उन्हें केंद्रीय एसेंबली में चुनकर भेजा। मुसलिम लीग की राजनीतिक ताक़त को बढ़ाने में वे लग गए। मुसलमानों के अनेक संगठन थे, जो मुसलिम लीग से दूर रहते थे। पंजाब में फ़ज़ली हुसैन की यूनियनिस्ट पार्टी, बंगाल में फ़ज़लुल हक की कृषक प्रजा पार्टी, उत्तर प्रदेश में नवाब छतारी की नेशनलिस्ट एग्रीकल्चरिस्ट पार्टी, सिंध में अब्दुल्ला हारून की इंडिपेंडेंट पार्टी

थी। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ ने मुसलमानों को कांग्रेस से जोड़े रखा था। इन्हें एकजुट कर मुसलिम लीग को कांग्रेस के बराबर लाने के लिए जिन्ना ने मुसलमानों की एकता का नारा दिया।

चुनाव होने वाले थे। 1935 के अधिनियम के अधीन 1937 में चुनाव हुए। उसकी तैयारी में जिन्ना ने हर मुसलिम धड़े को जोड़ा। एक घोषणापत्र बना। उसमें मुसलिम प्रश्न को उभारा गया था। इसके अलावा वह कांग्रेस के घोषणापत्र सरीखा ही था। दो राष्ट्र के सिद्धांत का विकास 1937 के चुनावों के बाद हुआ। परंतु इसका संबंध ब्रिटिश नीति से भी है, जितना कि चुनाव परिणाम से संबंध जोड़ा जाता है। अंग्रेज़ों ने हमेशा मुसलिम प्रश्न को उभारा। मुसलिम लीग को अपना उपकरण बनाया। अंग्रेज़ों के उकसावे पर मुसलिम लीग राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करती थी। इस विरोध के कई चरण हैं। पहले चरण में मुसलिम नेता भारत को मिश्रित राष्ट्रीयता, धर्म, संस्कृति का देश बताते रहे। इसी आधार पर वे ब्रिटिश सरकार से अधिकारों और समानता की माँग करते रहे। ख़िलाफ़त आंदोलन से दूसरा चरण प्रारंभ होता है। इसमें मुसलमानों ने दोहरी वफ़ादारी का सिद्धांत अपनाया। पहली वफ़ादारी इसलाम के प्रति थी तो दूसरी भारत की विविधता को विभिन्नता के रूप में देखने की थी। 1935 से तीसरा चरण प्रारंभ हुआ, जिसमें सत्ता में बराबरी की माँग प्रमुख हो गई, जिसे जिन्ना ने आख़िरकार सामने रखा। तर्क दिया कि मुसलिम लीग भी मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है। इससे उन्होंने कांग्रेस के उस दावे को चुनौती दी, जिसमें वह पूरे भारत के प्रतिनिधित्व का मज़बूत दावा करती थी। जिन्ना के तर्क को कांग्रेस ने कभी नहीं माना। वह भारत की एकता और आम आदमी में राष्ट्रीयता की भावना के प्रति बहुत आश्वस्त थी।

राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा से भारत की राजनीतिक एकता की संभावनाएँ जैसे ही स्पष्ट होने लगीं कि उसे विखंडित करने की प्रवृत्तियों को ब्रिटिश सरकार ने बढ़ावा देना शुरू किया। उन प्रवृत्तियों को मदद दी। वह मदद और बातों के अलावा बौद्धिक और राजनयिक भी थी। अंग्रेज़ भारत के तीन नक्शे बनाना चाहते थे। पहला हिंदुस्तान, दूसरा मुसलिमस्तान एवं तीसरा प्रिंसिस्तान। इन नक्शों में अंग्रेज़ हिंदुओं, मुसलमानों और राजाओं-महाराजाओं के तीन देश बनाना चाहते थे। उनकी मंशा भारत को स्थायी रूप से इन नक्शों में विभाजित कर देने की थी। अंग्रेज़ एक-दूसरे का अपने लिए इस्तेमाल भी करते थे। दूसरी तरफ़ जब इक़बाल, रहमत अली और अंत में जिन्ना ने भारत विभाजन का विचार अपनाया, तब ऐसा नहीं था कि अचानक मुसलमान एकजुट हो गए। इसके उलट हुआ। मुसलमानों ने विभाजन के विचार की आलोचना की। मुसलिम नेता और धर्मगुरुओं ने विरोध जताए। उन्हें जिन्ना ने सँभाला। कैसे? इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि परिस्थितियों को अनुकूल बनाने में जिन्ना सफल

कैसे हुए? उस समय आम मुसलमान जिन्ना को अपना नेता नहीं मानता था। तीसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद निराश होकर जिन्ना ने लंदन में बस जाने का फ़ैसला किया। 1933 में वे लंदन चले गए। अपने मुक़दमों के लिए भारत आते रहे। पर कई मुसलिम नेता जिन्ना के संपर्क में थे। ऑक्सफोर्ड से ग्रेजुएट ज़मींदार लियाकत अली ख़ान ने 1933 में लंदन जाकर जिन्ना से भेंट की। तब उनकी बेगम भी साथ में थीं। तीन साल बाद जिन्ना भारत लौटे। 1937 के चुनावों में उन्होंने मुसलिम लीग का नेतृत्व सँभाला। उन चुनावों में मुसलिम लीग का सफाया हो गया। उनको इससे बहुत चोट लगी। एक बार फिर अपमानित अनुभव किया। मुसलमानों के लिए आरक्षित 485 में से 108 सीट ही मुसलिम लीग जीत सकी। उस चुनाव परिणाम का मतलब था कि देश के मुसलमानों में एक-चौथाई का भी वह प्रतिनिधित्व नहीं करती। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में मुसलिम लीग एक सीट भी नहीं जीत पाई। पंजाब की आरक्षित 84 सीटों में से उसे सिर्फ़ 2 सीटें मिलीं। कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन के 11 राज्यों में से 8 में सरकार बनाई।

इन चुनाव परिणामों से देश का राजनीतिक परिदृश्य बदल गया। हाशिए पर पहुँची मुसलिम लीग को परिस्थितियों ने हताशा से उबारा। वह मज़बूत होती गई। ऐसा क्या हुआ कि मुसलिम लीग से मुसलमान जुड़ते चले गए? यह जानने के लिए चुनाव से पहले की राजनीति को ध्यान में लेना होगा। चुनावों से पहले जिन्ना सक्रिय हुए। मुसलिम लीग और कांग्रेस में सहमति के प्रयास किए। उत्तर प्रदेश (तब का संयुक्त प्रांत) में राजनीतिक स्थिति जटिल थी। चुनाव से पहले कांग्रेस और मुसलिम लीग में तालमेल हुआ। उत्तर प्रदेश में मुसलिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था बनकर उभरी। कांग्रेस अकेले सरकार बनाने की स्थिति में आ गई थी। मुसलिम लीग के प्रदेश नेता खलीकुज्जमा का तर्क था कि उनको मंत्रिमंडल में दो जगह चाहिए। कांग्रेस इस पर सहमत नहीं हुई। जवाहरलाल नेहरू ने मुसलिम लीग के प्रस्तावों को ठुकरा दिया। मुसलिम लीग सरकार में शामिल नहीं हो सकी। इस पर कांग्रेस नेताओं के अलग-अलग दृष्टिकोण थे। जैसे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद मानते थे कि उस राजनीतिक घटना से जिन्ना और मुसलिम लीग को संजीवनी मिल गई। जिन्ना ने इसी के बाद अपना रुख़ बदला। कांग्रेस को हिंदू पार्टी और हिंदू हितरक्षक के रूप में प्रचारित करना शुरू किया।

दूसरी तरफ़ मुसलिम बहुल प्रांतों के मुसलिम नेताओं ने अपना रुख़ बदला। वे जिन्ना के प्रचार और प्रभाव में आ गए। मुसलिम लीग के समर्थन में अपने हाथ बढ़ाए। ख़ासकर पंजाब और बंगाल में यह बदलाव दिखाई पड़ा। तीसरी तरफ़ जिन्ना और कांग्रेस नेताओं में वार्त्ता, पत्र-व्यवहार और एक-दूसरे पर आरोप भी चलते रहे। महात्मा गांधी और नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने जिन्ना को सही रास्ते पर लाने के प्रयास तो किए, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। जिन्ना के नेतृत्व में लीग आक्रामक होती गई। कांग्रेस

शासित राज्यों में मुसलमानों पर जुर्म हो रहा है। उन पर हिंदुत्व थोपा जा रहा है। इस तरह के निराधार आरोप जिन्ना ने लगाए। अपने आरोपों को प्रामाणिक बनाने के लिए एक जाँच कमेटी भी बनाई। उसकी रिपोर्ट ने आरोपों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया। आज जो-जो आरोप सेकुलर जमात और कांग्रेसी केंद्र की भाजपा सरकार पर लगा रहे हैं, उनके नमूने 1938 के मुसलिम लीग के आरोपों में देखे जा सकते हैं। यह जानना रोचक होगा कि वे आरोप थे क्या? आरोप थे कि हिंदू शिक्षा केंद्र, कांग्रेसी झंडे को सलामी, वंदे मातरम् का गायन, सरस्वती पूजा, महात्मा गांधी के चित्रों की पूजा, गो रक्षा, हिंदी का संवर्धन आदि। ये स्वाधीनता आंदोलन के नित्य और नैमित्तिक कर्म थे, जिन्हें मुसलिम लीग ने अपने निशाने पर ले रखा था। इसका एक बड़ा कारण बिल्कुल साफ़ था। कांग्रेस शासित राज्यों की विधानसभाओं की शुरुआत वंदे मातरम् के गायन से हुई। उसके भवनों पर राष्ट्रीय झंडा फहराया गया।

एक धारणा यह भी है कि अगर मुसलिम लीग को पंडित नेहरू ने अपमानित नहीं किया होता तो देश का विभाजन नहीं होता। हमारे देश के इतिहास में ऐसे अगर-मगर बहुत हैं। इस धारणा के विपरीत भी एक तथ्य है। वह यह है कि दूसरे विश्वयुद्ध ने ज़बरदस्त हस्तक्षेप किया, जिससे भारत की राजनीतिक परिस्थिति पूरी तरह बदल गई, जो अंग्रेज़ अगले 50 साल भारत में टिके रहने के लिए संवैधानिक व्यवस्थाएँ बना रहे थे, उन्हें भारत छोड़ने का निर्णय मजबूरन लेना पड़ा। सितंबर 1939 में युद्ध छिड़ा। वह 1945 तक चलता रहा। भारत की स्वाधीनता के लिए युद्ध एक अवसर था। स्वाधीनता संग्राम के ज़्यादातर नेताओं ने युद्ध को इसी रूप में देखा। हालाँकि हर नेता का नज़रिया अलग था। उस समय मोटे तौर पर तीन पक्ष ही प्रमुख थे। अंग्रेज़ सरकार, कांग्रेस और मुसलिम लीग। इनके अलावा भी कई पक्ष थे, हालाँकि उनको ज़्यादा महत्त्व नहीं मिला। ब्रिटिश शासन के रुख़ पर ही महत्त्व निर्भर करता था। ये जो तीन पक्ष थे, वे इस बात पर करीब-करीब सहमत थे कि भारत को स्वाधीन होना चाहिए। यह एक सैद्धांतिक सहमति थी, जिसका व्यवहार से ज़्यादा संबंध नहीं था। कह सकते हैं कि ब्रिटिश शासन और मुसलिम लीग का व्यवहार तो स्वाधीनता के विरुद्ध ही था। भारत की स्वाधीनता का निर्णय ब्रिटिश सरकार अपने हाथ में ही रखना चाहती थी। कांग्रेस का तर्क था कि यह निर्णय भारतीय ही करेंगे। सवाल तब यह भी था कि विश्वयुद्ध में भारत किस रूप में शामिल हो? एक आश्रित और पराधीन देश के रूप में? अंग्रेज़ दो-अर्थी भाषा बोलने में पारंगत थे। भारत की स्वाधीनता का पक्का आश्वासन वे देना नहीं चाहते थे। अंग्रेज़ों की चिंता अपने साम्राज्यवाद को लेकर थी। उन्हें इसीलिए हिंदू-मुसलिम प्रश्न को उभारने में अपना हित दिखता था। ब्रिटिश सरकार और जिन्ना में एक बात पर सहमति थी कि कांग्रेस पूरे भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह सिर्फ़ हिंदुओं

का ही प्रतिनिधित्व करती है। इसी तरह अंग्रेज़ मानते थे कि मुसलिम लीग ही मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है।

3 सितंबर, 1939 को चैंबरलेन ने संसद् में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इससे भारतीय राजनीति में नए तत्त्वों का उदय हो गया। अंग्रेज़ों की भारत नीति बदली। इसी के साथ स्वाधीनता संग्राम की रणनीति भी बदलने लगी। वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने भारत को युद्ध में शामिल करने की इकतरफा घोषणा कर दी। इस बारे में किसी पक्ष से बात नहीं की। कांग्रेस में इससे उफान आ गया। कांग्रेस ने दो माँगें रखीं। एक, ब्रिटिश सरकार युद्ध के उद्देश्य घोषित करे। दो, भारत की स्वाधीनता के बारे में स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करे। सरकार का रुख़ नकारात्मक था। इस कारण विरोधस्वरूप कांग्रेस की आठों राज्य सरकारों ने नवंबर 1939 में इस्तीफ़े दे दिए। पंजाब, बंगाल और सिंध के ग़ैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने ब्रिटेन को युद्ध में पूरा समर्थन देने का वचन दिया। राजाओं-महाराजाओं ने भी यही किया। मुसलिम लीग ने एक शर्त पर समर्थन दिया। उसकी शर्त यह थी कि संवैधानिक प्रश्न पर सरकार उसकी मंजूरी ले, जिसे सरकार ने मान लिया। वाइसराय ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के इस्तीफ़े से राहत की साँस ली। उसने मुसलिम लीग को पक्ष में करने के लिए उपाय शुरू कर दिए। महर्षि अरविंद का मत था कि कांग्रेस ने सबकुछ बिगाड़ दिया। कांग्रेस की प्रतिक्रिया में जिन्ना ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। कहा कि हिंदू आतंकवाद, दमन और अन्याय से मुक्ति मिली। रफीक जकारिया ने लिखा है—"मुझे याद है कि मुक्ति दिवस मनाने के लिए बंबई (मुंबई) में एक विशाल रैली हुई, जिसमें मैं शामिल हुआ था। ...इसी के बाद हिंदू और मुसलमानों को स्थायी रूप से बाँटने वाला साँचा ढल गया। इसे बौद्धिक आधार और औचित्य देने के लिए जिन्ना ने अपना विनाशक 'दो राष्ट्रों का सिद्धांत' प्रतिपादित किया। दूसरी तरफ़ कांग्रेस ने रामगढ़ अधिवेशन में घोषणा की कि वह युद्ध के प्रयासों में हिस्सेदारी नहीं करेगी। कांग्रेस ने अपनी कमान महात्मा गांधी के हाथों में सौंप दी। प्रतिक्रियास्वरूप मुसलिम लीग ने लाहौर में अपना अधिवेशन किया, जहाँ 23 मार्च, 1940 को जो लाहौर प्रस्ताव पारित हुआ, वह पाकिस्तान की माँग का था। हालाँकि उसमें पाकिस्तान का नाम नहीं था।"

कांग्रेस ने आंदोलन के नए चरण की योजना पर बातचीत शुरू की। यह स्पष्ट नहीं था कि नए आंदोलन का स्वरूप क्या होगा। कांग्रेस ने यह जिम्मा महात्मा गांधी पर छोड़ दिया। नेतृत्व ने माना कि 'कांग्रेस संगठन के इस योग्य होते ही' सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ा जाएगा। वह कांग्रेस और गांधी की ऊहापोह में फँसी मनोदशा का परिचायक है। वह आंदोलन व्यक्तिगत सत्याग्रह से शुरू हुआ और सामूहिक सत्याग्रह में बदला। विनोबा पहले सत्याग्रही बनाए गए। गांधी ने नेहरू को दूसरा स्थान दिया।

उसके बाद सामूहिक सत्याग्रह का क्रम चला। वह अत्यंत प्रभावहीन आंदोलन था। उसके दो लक्ष्य दिखते हैं, जो परस्पर विरोधी थे। कांग्रेस ब्रिटिश शासन को तब ज़्यादा परेशानी में नहीं डालना चाहती थी, लेकिन कांग्रेस को अपनी उपस्थिति भी दर्ज करानी थी। अंग्रेज़ों ने अपने हित में दोहरी नीति अपनाई। मुसलिम लीग को महत्त्व दिया। कांग्रेस को संविधानवाद में उलझाया। 1940 से ही अंग्रेज़ों ने संविधान की प्रक्रिया संबंधी बात शुरू कर दी। इसमें महात्मा गांधी भी सम्मिलित हो गए। उन्होंने 1939 में 'हरिजन' में लिखा कि भारत की समस्याओं का एकमात्र हल यही है। वयस्क मताधिकार से चुनी गई संविधान सभा जब बनेगी, तभी सांप्रदायिक प्रश्न को हल किया जा सकेगा। कांग्रेस में उन दिनों रणनीति पर अंतर्कलह था। सुभाष चंद्र बोस ने अपनी यूरोप यात्रा में ही स्वाधीनता संग्राम के इस दौर को निर्णायक बनाने के लिए मन बना लिया था। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि युद्ध होने वाला है। वे मानते थे कि यही वह समय है, जब भारत लड़कर अपनी स्वाधीनता ले सकता है। फैजपुर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने पर उन्होंने कांग्रेस को उसी दिशा में बढ़ाना शुरू किया, तब महात्मा गांधी से उनका विरोध प्रारंभ हुआ। आख़िरकार त्रिपुरी कांग्रेस के बाद कांग्रेस के अध्यक्ष पद से उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। फिर उन्होंने अपनी अलग राह चुनी। ब्रिटिश सरकार सुभाष चंद्र बोस को सबसे ख़तरनाक मानती थी। कांग्रेस से अलग होते ही उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। लेकिन अंग्रेज़ सरकार को चकमा देकर वे पहले जेल से मुक्त हुए और फिर देश से फरार हो गए।

इससे पहले सुभाष चंद्र बोस और गांधी की टक्कर हो चुकी थी। युद्धकालीन नीति के बारे में सुभाष चंद्र बोस का दृष्टिकोण महात्मा गांधी से बिल्कुल भिन्न था। इस अर्थ में वे एक-दूसरे के विरोधी थे। कांग्रेस की परेशानी दोहरी थी। एक तरफ़ वह ब्रिटेन की पराजय नहीं चाहती थी तो दूसरी तरफ़ ब्रिटिश साम्राज्य को तोड़ने का प्रयास भी कर रही थी। उसके परिणाम की उसे प्रतीक्षा थी। तभी आज़ादी का रास्ता साफ़ होता। सुभाष चंद्र बोस चाहते थे कि कांग्रेस ब्रिटिश सरकार को अल्टीमेटम दे। उसमें वह माँग करे कि भारत को स्वतंत्र कर दे। अगर नहीं तो भीषण आंदोलन का सामना करने के लिए तैयार रहे। कांग्रेस को यह रणनीति स्वीकार नहीं थी। वे कांग्रेस से बाहर निकले। फारवर्ड ब्लॉक बनाया। उन्होंने देश के समानधर्मी सोच के नेताओं से मिलने का सिलसिला शुरू किया। उसी क्रम में वे नागपुर पहुँचे। डॉ. केशव बलीराम हेडगेवार से मिलकर भविष्य की योजना बनाना चाहते थे। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अपनी योजना में सहयोगी की भूमिका में देख रहे थे। डॉ. हेडगेवार भी समझते थे और यह अपने सहयोगियों को समझाते भी थे कि 1942 वह साल हो सकता है, जो भारत की स्वतंत्रता के बंद कपाट को खोल सकेगा। वे कहा करते थे कि ''1942 में भारत में

विशाल क्रांति होगी। हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। तब ही हम स्वराज्य पाने की दिशा में निर्णायक क़दम उठा सकेंगे।'' आज़ादी के आंदोलनों का वह साल अगस्त क्रांति के लिए हमेशा याद किया जाएगा। अगस्त क्रांति की दो भुजाएँ थीं। पहली ने नारा दिया—'करेंगे या मरेंगे।' दूसरी भुजा के नेता सुभाष चंद्र बोस ने नारा दिया—'दिल्ली चलो'।

स्वाधीनता संग्राम की इन दो महती धाराओं को क्षीण करने के लिए अंग्रेज़ों ने मुसलिम लीग को यह पक्का आश्वासन दिया कि भारत के भविष्य पर उसके बिना कोई निर्णय नहीं होगा। ब्रिटिश शासन ने मुसलिम लीग को आश्वस्त करने के लिए कांग्रेस, उदार फेडरेशन, निर्दलीय नेताओं, हिंदू महासभा, सिक्खों, ईसाइयों, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के मुसलमानों, जमीयतुल इलमा, राष्ट्रीय मुसलमानों की सलाह मानने से बिल्कुल इनकार कर दिया। सरकार मुसलिम लीग और जिन्ना से चिपकी रही। इस तरह अंग्रेज़ों ने मुसलिम लीग और जिन्ना की प्रतिष्ठा को सातवें आसमान पर पहुँचा दिया। मुसलमानों ने मध्यकालीन प्रवृत्ति को ओढ़ लिया, जो प्रांतीय मुसलिम नेता थे, उनसे अंग्रेज़ सरकार ने कहा कि वे जिन्ना का विरोध न करें। जिनसे यह कहा गया, वे थे— सिकंदर हयात खान, फ़जलुल हक और सादुल्ला खान। उन्होंने बात मानी, क्योंकि वे ब्रिटिश सरकार के कृपा पात्र जो थे। इससे जिन्ना सबसे बड़े मुसलिम नेता बन गए। जिन्ना की पाकिस्तान योजना परवान चढ़ने लगी। उस समय कांग्रेस के नेता भारत की एकता को स्वयंसिद्ध मानते थे। वे अंग्रेज़ों की चाल और जिन्ना की चुनौतियों को कम ही आँक पाए। जवाहर लाल नेहरू तो पाकिस्तान के निर्माण की कल्पना को मूर्खतापूर्ण कहकर उसका मज़ाक उड़ाते थे। वहीं महात्मा गांधी भारत विभाजन को असंभव समझते थे।

विश्वयुद्ध के दूसरे चरण में मित्र राष्ट्रों की हालत पतली होती जा रही थी। यूरोप में ब्रिटिश सेनाएँ मुश्किलों में फँसी थीं। जर्मनी ब्रिटेन की धरती पर चढ़ गया था। पूर्वी यूरोप के ज़्यादातर देशों को हराकर जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। दिसंबर 1941 में जापान युद्ध में कूद पड़ा। इससे विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। युद्ध का नक्शा बदल गया। जापान ने जल्दी ही मलाया, सिंगापुर और म्याँमार (बर्मा) पर अधिकार कर लिया। विश्वयुद्ध की आग भारत के दरवाज़े पर आ खड़ी हुई। उसने पर्ल हार्बर पर अचानक आक्रमण कर दिया। इस तरह विश्वयुद्ध ने सारी दुनिया को अपनी आग में लपेट लिया। अमरीका और रूस भी युद्ध में शामिल हो गए थे। भारत का पूर्वी छोर ख़तरे के दायरे में आ गया था। ब्रिटेन पर पराजय के बादल मँडरा रहे थे। अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने ब्रिटेन पर दबाव बनाया कि वह भारत का सहयोग प्राप्त करे। वह इसलिए जरूरी था क्योंकि तभी जापान को आगे बढ़ने से रोका जा सकता था। इन

कारणों से ब्रिटेन के युद्धकालीन मंत्रिमंडल के एक सदस्य सर स्टेफर्ड क्रिप्स को एक प्रस्ताव के साथ भारत भेजा गया। वे 23 मार्च, 1942 को भारत पहुँचे। ब्रिटेन की सरकार ने कई कारणों से उनका चयन किया था। वे तेज-तर्रार वकील थे। जवाहर लाल नेहरू के मित्र माने जाते थे। लेकिन जो मसौदा वे लेकर आए थे, उसमें कुछ ख़ास नहीं था। उसे गांधी ने तुरंत खारिज कर दिया। कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता से कम पर कोई बात मानने के लिए तैयार नहीं थी। उनके मसौदे में संविधान सभा के गठन का आश्वासन था। क्रिप्स के व्यवहार पर खिन्न होकर जवाहर लाल नेहरू ने उन्हें 'शैतान का वकील' कहा। क्रिप्स के प्रस्ताव को अपने-अपने कारणों से हर राजनीतिक दल ने नामंजूर कर दिया। मुसलिम लीग का कारण अलग था और हिंदू महासभा के कारण अलग थे। हिंदू महासभा को क्रिप्स के प्रस्ताव में भारत विभाजन का ख़तरा दिखा। सिक्ख संगठनों, अंबेडकर और एम.सी. राजा ने भी मसौदे पर असंतोष जताया। लंदन पहुँचकर क्रिप्स ने जो स्पष्टीकरण दिए, उससे साफ़ हुआ कि ब्रिटेन की सरकार ने उन्हें भारत को भरमाने के लिए भेजा था। ब्रिटेन की सरकार अधिक-से-अधिक वायसराय की कार्यकारी समिति का विस्तार करना चाहती थी। इससे साफ़ हुआ कि ब्रिटिश नीति खोखली है। ब्रिटिश सरकार किसी राजनीतिक समाधान के लिए तत्पर नहीं थी। आख़िरकार क्रिप्स मिशन विफल हो गया।

क्रिप्स मिशन की विफलता ने देश को चौराहे पर खड़ा कर दिया। देश में आक्रोश की लहर दौड़ गई। इसके अपवाद थोड़े ही थे। मुसलिम लीग और वे लोग अपवाद थे, जिन्हें युद्ध में मुनाफ़ा कमाने का अवसर मिला था। उस समय दक्षिण-पूर्व एशिया की हालत चिंताजनक थी। ब्रिटेन को पीछे हटना पड़ा था। जापान के लिए कोई रुकावट नहीं थी। युद्ध भारत के दरवाज़े पर खड़ा था। यह सोचकर कि अगर भारत की सीमा पर आक्रमण हुआ तो बंगाल में हज़ारों नावें, जो नदियों में पड़ी थीं, वे दुश्मन के हाथ लग जाएँगी, इसलिए ब्रिटेन की सरकार ने उन्हें नष्ट कर दिया था। उससे बंगाल में बड़ी विपत्ति आ गई थी। देश में लोग आशंकित थे। गांधी उन परिस्थितियों में किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले सोच-विचार में पड़े थे। वे एक नतीजे पर पहुँचे। लोगों को निर्भय बनाने की ज़रूरत थी। उनमें यह आत्मविश्वास पैदा करना था कि वे अपने भाग्य विधाता स्वयं हैं। देश की उन्हें ही रक्षा करनी है। देश को ब्रिटेन के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। गांधी का अंग्रेज़ों के बारे में दृष्टिकोण पूरी तरह बदल गया था। वे समझ चुके थे कि अंग्रेज़ों की भारत में उपस्थिति से जापान हमलावर होगा। वह भारत पर हमला करेगा। उनका मानना था कि ब्रिटेन और भारत के हित में यही है कि अंग्रेज़ यहाँ से चले जाएँ। उससे जापान के आक्रमण का ख़तरा टल जाएगा। जहाँ गांधी यह सोच रहे थे, वहीं कांग्रेस के दूसरे नेता गहरे ऊहापोह में थे। उनकी उलझन परिस्थितिजन्य थी।

कांग्रेस का हर बड़ा नेता अपना पाला तय नहीं कर पा रहा था। उस समय नेहरू और गांधी में गहरा अंतर्विरोध उत्पन्न हो गया था। वह सामने भी आया। नेहरू मानते थे कि भारत को अंग्रेज़ों के साथ मिलकर नाजीवाद के विरुद्ध अवश्य लड़ना चाहिए। गांधी दूसरे धरातल पर खड़े थे। वे अंग्रेजों से किसी भी प्रकार के सद्भावपूर्ण संबंध को पूरी तरह तोड़ देना चाहते थे। कांग्रेस में महीनों बहसें होती रहीं। वह गहरे अंतर्द्वंद्व में थी। उससे उबरने के लिए उसने गांधी का सहारा लिया। आख़िरकार गांधी के पीछे कांग्रेस का नेतृत्व विवश होकर खड़ा हुआ। गांधी की सलाह पर कांग्रेस की कार्यसमिति ने एक राष्ट्रीय माँग का मसौदा बनाया। उसमें माँग थी कि ब्रिटेन भारत को सत्ता सौंप दे। अगर इसे नहीं माना गया तो कांग्रेस सीधी कार्रवाई करेगी। इसीलिए बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक बुलाई गई। एक बार फिर चीन के जनरल चांग काई शेक और अमरीका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने ब्रिटेन को समझाने की कोशिश की। लेकिन चर्चिल सुनने के लिए तैयार नहीं थे।

कांग्रेस का बंबई अधिवेशन हुआ। वह ऐतिहासिक हो गया। वहाँ गांधी ने नारा दिया—'करेंगे या मरेंगे'। कांग्रेस ने 8 अगस्त, 1942 को प्रस्ताव पारित किया—'भारत छोड़ो'। प्रस्ताव पारित होने के बाद गांधी ने अपने भाषण में कहा, ''वास्तविक संघर्ष इसी क्षण नहीं हो रहा है। आपने महज मेरे हाथ में कुछ अधिकार दे दिए हैं। मेरा पहला काम वायसराय से मिलना और उनसे कांग्रेस की माँग मानने के लिए आग्रह करना होगा। इसमें कुछ समय लगेगा। इस बीच आपको स्वतंत्र महसूस करना चाहिए। मानो साम्राज्यवाद के जुए को कंधे से हटा दिया है।'' प्रस्ताव के कुछ ही घंटे बाद गांधी सहित कांग्रेस के उन नेताओं को ब्रिटिश शासन ने क़ैद कर लिया, जो बंबई में थे। गांधी को पुणे के आगा ख़ाँ महल में बंदी बनाकर रखा गया। दूसरे नेताओं को अहमदनगर क़िले में पहुँचाया गया, जहाँ वे तीन साल बंदी रहे। उनमें से एक नेता ने अंग्रेज़ों से हाथ मिला लिया। वे नेहरू के सहयोगी थे। कांग्रेस के बड़े नेताओं की गिरफ़्तारी की खबर जंगल की आग की तरह दावानल बनकर देश में फैल गई। किसी को अगले क़दम की स्पष्ट सूचना नहीं थी। इस कारण भी आक्रोश में जिसे जो समझ में आया, वह करता रहा। हालात बेकाबू होते गए। ब्रिटिश सरकार ने हमले की पहले से ही तैयारी कर रखी थी। उसने हर प्रांत, जिले, शहर और गाँव के नेताओं को जेलों में डाल दिया। नागरिकों पर जुल्म ढाए गए। सारे देश में पुलिस को ज़बरदस्त विरोध का सामना करना पड़ा। जनक्रांति का विस्फोट हुआ। बड़े पैमाने पर जिस तरह नेताओं को बंदी बनाया गया, उसका तुरंत असर तो यह हुआ कि आंदोलन नेतृत्वविहीन हो गया। युवा नेतृत्व ने स्वतः कमान सँभाली। तब आंदोलन उग्र हुआ। प्रदर्शन और पुलिस की हिंसा में हज़ारों लोग मारे गए, वही अगस्त क्रांति कहलाया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने संस्था के रूप में स्वयं

को अलग रखा, लेकिन स्वयंसेवकों और कार्यकर्ताओं को अगस्त क्रांति में पूरी ताक़त से शामिल हो जाने की प्रेरणा दी। उसी साल दीनदयाल उपाध्याय संघ के प्रचारक बने। उस क्रांति में हर वर्ग और हर समूह ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। थाने, डाकखाने और रेलवे स्टेशन को लोगों ने ब्रिटेन की सरकार का प्रतीक समझकर लूटा या आग लगा दी। टेलीफ़ोन के तार काट दिए गए। रेल पटरियाँ जगह-जगह उखाड़ दी गईं। किसानों ने मालगुजारी देना बंद कर दिया। अनेक क्षेत्रों में लोगों ने अपनी सरकार बना ली। उस इलाके को आज़ाद घोषित कर दिया। देश के तीन स्थान इसके लिए जाने जाते हैं—बलिया, मिदनापुर और सतारा। इन स्थानों को अपने क़ब्ज़े में लेने के लिए अंग्रेज़ों को सेना की टुकड़ी भेजनी पड़ी। सुतहटा और कर्नाटक में किसानों ने गुरिल्ला लड़ाई लड़ी, जो 1944 तक चलती रही। अगस्त क्रांति की लपटें सिर्फ़ ब्रिटिश भारत तक सीमित नहीं रहीं, रियासतों में भी उसका प्रभाव पड़ा। अगस्त क्रांति के दो स्पष्ट संदेश थे—एक, भारत अब ग़ुलाम नहीं रहेगा। दो, अंग्रेज़ों ने भी माना कि उनके दिन लद गए हैं। ब्रिटिश सरकार ने वास्तविकता को समझा। वह क्रांति टिकी नहीं, लेकिन उसे विफल भी नहीं कह सकते। वह देश को सार्थक संघर्ष का बोध करा गई। उसका संदेश बहुत स्पष्ट था। उसने भारत की आज़ादी को करीब ला दिया। विश्वयुद्ध ख़त्म होने वाला ही था कि अंग्रेज़ों ने मई, 1944 में गांधी को जेल से रिहा कर दिया। जेल से छूटने के बाद गांधी ने जिन्ना से लंबी बात की। 9 से 27 सितंबर, 1944 में मुलाक़ात और बातचीत होती रही। वह बातचीत राजगोपालाचारी फॉर्मूले पर थी। गांधी ने देख लिया था कि आज़ादी तो आ रही है, पर उससे भी बड़ा सवाल है—हिंदू-मुसलिम संबंधों का। इसे हल करने के लिए उन्होंने जिन्ना से बात की, जो विफल रही।

विश्वयुद्ध के ख़त्म होने तक सैनिक शक्ति के बल पर ब्रिटिश सत्ता क़ायम रही। लेकिन अंग्रेज़ शासक तब तक असलियत से दो-चार हो चुके थे। हवा का रुख़ बदल गया था। उसमें बड़ा योगदान आज़ाद हिंद फ़ौज का भी था। 1942 में सुभाष चंद्र बोस ने अपने पहले रेडियो भाषण में देशवासियों से कहा कि "भारत की मुक्ति का समय आ पहुँचा है। भारत उठेगा और ग़ुलामी की उन जंजीरों को काट फेंकेगा, जो एक जमाने से उसे जकड़े हुए हैं। भारत की मुक्ति के रास्ते ही एशिया और विश्व के अन्य देश मानव मुक्ति के वृहत्तर लक्ष्य की ओर आगे बढ़ेंगे।" उनके प्रति भारत में अपार उत्साह और युद्ध के बाद सहानुभूति की लहर थी। आज़ाद हिंद फ़ौज को 1942 में बनाया था मोहन सिंह ने। साल भर बाद नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने उसे सिंगापुर में संगठित किया। उनके लक्ष्य स्पष्ट थे। इसीलिए उन्होंने स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार वहाँ बनाई। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। आज़ाद हिंद फ़ौज की एक टुकड़ी इंफाल पर क़ब्ज़े के लिए बढ़ी, लेकिन 1945 आते-आते विश्वयुद्ध की लहर मित्र देशों के पक्ष में

लौट गई थी। ब्रिटिश सेना का बर्मा, सिंगापुर, मलाया पर फिर से कब्जा हो गया। इस कारण आज़ाद हिंद फ़ौज के बीस हज़ार से ज़्यादा सैनिकों और अफ़सरों ने ब्रिटिश सेना के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इससे एक नई परिस्थिति पैदा हुई। अगस्त क्रांति और आज़ाद हिंद फ़ौज की विफलता ने देश को अवसाद में पहुँचा दिया। राष्ट्रवादी शक्तियों के कुंठित हो जाने का वह क्षणिक ही सही, पर एक अवसर उपस्थित हो गया था। उसी समय आज़ाद हिंद फ़ौज को अंग्रेज़ों ने राजद्रोही करार दिया। वह घटना एक वरदान बन गई। नेताजी सुभाष चंद्र बोस के 'दिल्ली चलो' नारे ने अपनी अनुगूँज से देश को नई ऊर्जा से भर दिया। अंग्रेज़ तो आज़ाद हिंद फ़ौज के हर सैनिक को राजद्रोही बताकर दंडित करना चाहते थे, जबकि हर भारतवासी उन्हें अपना मुक्ति-दूत मानता था। इससे पूरे देश में राष्ट्रीयता की ऐसी लहर उठी कि कांग्रेस के नेताओं को सक्रिय होना पड़ा। उन्हें आज़ाद हिंद फ़ौज के साथ खड़े होने में ही हित दिखा। वह लहर ऐसी प्रबल थी कि ब्रिटिश सरकार को सितंबर 1945 में अपना इरादा बदलना पड़ा। पर उसने आज़ाद हिंद फ़ौज के तीन नेताओं शाहनवाज खान, प्रेमकृष्ण सहगल और गुरुबक्स सिंह ढिल्लो पर लाल क़िले में राजद्रोह का मुक़दमा शुरू किया। उससे पूरे देश में रोष की तेज लहर पैदा हुई। अंग्रेज़ डरे, इस बात से कि कहीं सैनिक विद्रोह न हो जाए। परिणामस्वरूप वह मुक़दमा ख़त्म किया गया और आज़ाद हिंद फ़ौज के नेताओं को मुक्त कर दिया गया। जनभावना की वह बड़ी सफलता थी। कुछ ही दिनों बाद फरवरी 1946 में भारतीय नौसैनिकों ने बंबई, कलकत्ता, कराची और अन्य बंदरगाहों में विद्रोह़ कर दिया। विद्रोह के तीन चरण थे। पहले चरण में नौसैनिकों ने प्रतीकात्मक विद्रोह किया। दूसरे में जनता ने उनको समर्थन दिया। तीसरे में वह विद्रोह बढ़ता ही चला गया। वह इस बात का स्पष्ट संकेत था कि आज़ादी की जनचेतना हिलोरें ले रही है। उसे अब छला नहीं जा सकता।

ब्रिटिश सरकार ने स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम चरण को फिर विभेदक संविधानवाद के कुचक्र में फँसाने का जाल फैलाया। उसी रणनीति के तहत युद्ध समाप्ति के दौर में ही लिनलिथगो की जगह लॉर्ड वेवल वायसराय बनाए गए। उससे पहले वे भारत के मुख्य सेनापति थे। उन्होंने एक योजना प्रस्तुत की, जिसमें कहा गया था कि जब तक भारतीय अपना संविधान नहीं बना लेते, तब तक अंतरिम व्यवस्था के रूप में अधिशासी परिषद् का भारतीयकरण कर दिया जाएगा। वायसराय युद्ध के दौरान कमांडर-इन-चीफ भी रहेंगे। वायसराय ने शिमला में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन लंबा चला, 25 जून से 14 जुलाई, 1945 तक। शिमला सम्मेलन विफल रहा, क्योंकि कांग्रेस अखंड भारत पर अड़ी थी और मुसलिम लीग पाकिस्तान की माँग कर रही थी। ब्रिटिश शासक यह तो समझ गए थे कि भारत को स्वतंत्र होने से वंचित नहीं रखा जा सकता। सवाल यह था कि सत्ता किसे सौंपी जाए। अगर कांग्रेस को

सौंपी जाती तो संभव था कि देश की एकता बनी रहती। अंग्रेज़ों ने कांग्रेस और मुसलिम लीग को एक ही तराजू पर तौला।

केंद्रीय विधानसभा के चुनाव के जरिए सत्ता का संतुलन अपने हाथ में रखने की अंग्रेज़ों ने चाल चली। वे चुनाव सन् 1945 के अंत में कराए गए। उसी कड़ी में राज्य विधानसभाओं के चुनाव अप्रैल, सन् 1946 में पूरे हुए। चुनावों के दौरान ही 19 फवरी, 1946 को लॉर्ड पैथिक लारेंस ने ब्रिटिश संसद् में घोषणा की कि कैबिनेट मंत्रियों के एक विशेष मिशन को भारत भेजा जाएगा। इस घोषणा का तात्कालिक कारण भारतीय नौसेना में विद्रोह था। उसके समर्थन में सारा देश खड़ा हो गया। छात्र बंबई में भूख हड़ताल पर बैठ गए थे। यह घटना 18 फरवरी, 1946 की है। उसके अगले दिन कैबिनेट मिशन को भेजने की घोषणा की गई। मिशन मार्च 1946 में भारत आया। वह तीन सदस्यीय था। उसे हम 'कैबिनेट मिशन योजना' के नाम से जानते हैं। उसने 16 मई, 1946 को अपनी योजना का प्रारूप घोषित किया। उसमें संविधान का भी एक प्रारूप था। कैबिनेट मिशन ने अपनी जो योजना घोषित की, उस पर कांग्रेस और मुसलिम लीग, दोनों में दुविधा थी। वे उसे पूरी तरह न तो स्वीकार करना चाहते थे और न अस्वीकार। योजना के भाष्य पर बाद में मतभेद हुए। मुसलिम लीग ने उसे इस उम्मीद से स्वीकार किया कि आख़िरकार पाकिस्तान उसी से बनेगा। लेकिन कांग्रेस नेतृत्व इस भ्रम में था कि अब पाकिस्तान नहीं बन सकेगा। कारण यह था कि कैबिनेट मिशन ने पाकिस्तान की माँग को अव्यावहारिक बताकर नामंजूर कर दिया था। कांग्रेस ने संविधान सभा की प्रक्रिया में शामिल होने का निर्णय किया। यह निर्णय भी उसकी घोषित माँगों के विपरीत था। क्योंकि जो संविधान सभा बनने वाली थी, वह बालिग मताधिकार के आधार पर नहीं थी, जिसकी माँग कांग्रेस करती रही थी। कैबिनेट मिशन में मतभेद भी थे। लेकिन कैबिनेट मिशन योजना में ही अंतरिम सरकार बनी और संविधान निर्माण की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई। इसे जिन्ना ने इसलिए स्वीकार किया कि उसे उस प्रक्रिया में पाकिस्तान का सपना साकार होता दिख रहा था। यह सब जब चल रहा था, तब भारत की ब्रिटिश नौकरशाही और वायसराय अपनी भारत विभाजन की कुटिल योजना से चिपके रहे। मुसलिम लीग को बढ़ाते रहे। पाकिस्तान के निर्माण में हर संभव सहायता दी।

उसी दौरान एक घटना घटित हुई। उसे भी पाकिस्तान के निर्माण का बड़ा कारण माना जाता है। जवाहर लाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष हो गए थे। उन्होंने 10 जुलाई, 1946 को एक संवाददाता सम्मेलन बुलाया। उसमें उन्होंने एक ऐसा बयान दिया, जिसे भड़काऊ माना गया। उनका बयान था कि सत्ता पाने के बाद कांग्रेस अपने बहुमत का उपयोग कर कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव को जैसा उचित समझेगी वैसा बदल देगी। वह

बयान एक चिनगारी साबित हुआ। उसी तरह का, जैसा 1937 में उनके विरोध से मुसलिम लीग भड़क उठी थी। जिन्ना इसका इंतज़ार ही कर रहे थे। जिन्ना ने बयान दिया कि यह नेहरू का कथन कांग्रेस की असली मंशा को प्रकट करता है। मुसलिम लीग ने अपना रुख़ बदला और सीधे पाकिस्तान की स्थापना की माँग की। उस पर मुसलमानों को एकजुट करने के इरादे से जिन्ना ने सीधी कार्रवाई की अपील की। अपने बयान में जिन्ना ने समझाया कि संविधान सभा में हिस्सा लेना ख़तरे से भरा हुआ है। उनका तर्क था कि ब्रिटेन अपनी बात सेना के बल पर मनवा लेता है। कांग्रेस के पास बहुमत है और आंदोलन का अस्त्र है। मुसलमान अकेले हैं। उनके पास कोई अधिकार नहीं है। अपने अधिकार के लिए लड़ना है, यही सीधी कार्रवाई होगी।

उस समय चुनाव चल रहे थे। कैबिनेट मिशन योजना के तहत ही राज्य विधानसभाओं ने अप्रत्यक्ष पद्धति से संविधान सभा के सदस्यों को चुना। संविधान सभा के लिए हर राज्य को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था—सामान्य, सिख और मुसलिम। राज्य विधानसभा में हर समुदाय के प्रतिनिधियों ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से अपने समुदाय से संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया। रियासतों ने अपने प्रतिनिधि मनोनीत किए। कैबिनेट मिशन योजना में जुलाई-अगस्त 1946 में संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव हआ। हमें यह याद रखना चाहिए कि भारत शासन अधिनियम, 1935 और कैबिनेट मिशन योजना को अंग्रेज़ों ने ही बनाया था। इसी आधार पर कह सकते हैं कि संविधान सभा को भी भारतीयों ने नहीं, अंग्रेज़ों ने ही बनाया। जब चुनाव चल रहे थे तो उसी समय जिन्ना ने जो बयान दिया, उसमें सीधी कार्रवाई का मतलब तो इतना ही था कि मुसलमानों की माँग का प्रचार करने के लिए सभाएँ की जाएँगी। 16 अगस्त को सीधी कार्रवाई का दिन तय किया गया था। तनाव बढ़ता जा रहा था। सीधी कार्रवाई से कलकत्ता में दंगे हुए। उसे सोहरावर्दी की सरकार ने बढ़ाया। एक अनुमान है कि उस दंगे में 5000 से ज़्यादा लोग मारे गए। उसके बाद आरोप-प्रत्यारोप के दौर चले। एक तरफ़ अंतरिम सरकार बन रही थी तो दूसरी तरफ़ मुसलिम लीग ने दंगे का माहौल बना दिया था। अंतरिम सरकार पर दवाब बनाने की वह रणनीति थी। मुसलिम लीग यह साबित करने पर तुली हुई थी कि वही मुसलमानों की अकेली प्रतिनिधि है। मुसलिम लीग अंतरिम सरकार में शामिल हुई। लेकिन दूसरी तरफ़ उसने मुसलिम भावनाओं को भड़काने का खेल जारी रखा। कलकत्ते की आग बुझी ही नहीं थी कि नोआखाली और अन्य स्थानों पर बड़े दंगे तथा लूट-पाट की घटनाएँ होने लगीं। बड़े पैमाने पर हिंदुओं को जबरन मुसलमान बनाने की घटनाएँ हुईं। बिहार में भी तनाव पहले से ही था, जो इन घटनाओं से बढ़ने लगा। बिहार और उत्तर प्रदेश में भयानक दंगे शुरू हो गए। उन दंगों के कारण समाज और राजनीतिक दलों में

भी कटुता अपनी चरम सीमा पर पहुँची। कांग्रेस ने आरोप लगाया कि ब्रिटिश सरकार मुसलिम लीग की मदद कर रही है। वेवेल ने कोशिश कर मुसलिम लीग को सरकार में शामिल करवाया था। उनका अगला प्रयत्न था कि मुसलिम लीग संविधान सभा में शामिल हो जाए, जिसे मुसलिम लीग टालती रही।

वायसराय वेवल उत्सुक थे कि जितना जल्दी हो सके अंतरिम सरकार बन जाए। इसलिए सितंबर 1946 में जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार बनी। मुसलिम लीग ने उसमें शामिल होने से मना कर दिया। 13 अक्तूबर को जिन्ना मान गए। उन्होंने 5 मंत्रियों की सूची भेजी। उसमें से ही लियाकत अली ख़ान वित्त मंत्री बनाए गए। सरकार में रहकर उसे उन्होंने पंगु बना दिया। मुसलिम लीग संविधान सभा का बहिष्कार कर रही थी। इस कारण कांग्रेस और मुसलिम लीग का टकराव बढ़ा। कांग्रेस ने शर्त रखी कि मुसलिम लीग संविधान सभा में शामिल हो या फिर अंतरिम सरकार छोड़े। जिन्ना ने भाँप लिया था कि संविधान सभा के बहिष्कार से पाकिस्तान के लिए मोल-तोल आसान होगा। उन्होंने गृहयुद्ध की चेतावनी दे डाली। लीग ने संविधान सभा को भंग करने की माँग की।

बात बिगड़ते देख ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली ने एक व्यक्तिगत अपील नेहरू से की। लंदन में बैठक बुलाई। उसमें वेवेल, नेहरू, जिन्ना, लियाकत अली ख़ान और सरदार बलदेव सिंह शामिल हुए। वह बैठक तीन दिन चली। लेकिन कोई फ़ैसला नहीं हुआ। 6 दिसंबर, 1946 को बातचीत टूटने का बयान जारी हुआ। मूल समस्या यह थी कि भारत एक रहे या उसका बँटवारा हो। मुसलिम लीग बँटवारे पर अड़ी रही। ब्रिटेन की सरकार भी उसके साथ थी। नेहरू और बलदेव सिंह भारत लौट आए। लेकिन जिन्ना और लियाकत अली ख़ान वहीं ठहरे। वहाँ उन दिनों क्या-क्या हुआ, यह अभी भी रहस्य बना हुआ है। इतना ही ज्ञात है कि वायसराय ने 9 दिसंबर को संविधान सभा की बैठक बुला ली।

उस परिस्थिति के दबाव में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि 15 जून, 1948 से पहले सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाएगा। उनकी दूसरी घोषणा थी कि यह काम लॉर्ड माउंटबेटन वायसराय के रूप में करेंगे। लॉड माउंटबेटन 22 मार्च, 1947 को भारत पहुँचे। वे महामुग़ल की तरह दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठे। सत्ता का हस्तांतरण करने के लिए उन्हें भेजा गया था। इसके लिए उन्हें पूरे अधिकार दिए गए थे। उन्होंने पहुँचते ही सभी पक्षों से बात शुरू की। वार्त्ताओं के क्रम में संविधान के आधारभूत सिद्धांत और सत्ता हस्तांतरण की विधि का निर्णय हुआ। स्वाधीनता की लंबी लड़ाई को लॉर्ड माउंटबेटन ने दो दलों कांग्रेस और मुसलिम लीग में सीमित कर दिया। भारतीयों के अंग्रेजों से संघर्ष की कहानी पीछे छूट गई। इससे मंजिल पर पहुँचकर आज़ादी की

लड़ाई का स्वरूप बदल गया। वह कांग्रेस और मुसलिम लीग के झगड़े में परिवर्तित हो गया। नेताओं के अहंकार और महत्त्वाकांक्षा की टकराहट में वह प्रकट हुआ। भारत की आकांक्षा उपेक्षित हो गई। ऐसा दिखा मानो भारत की ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कोई लड़ाई ही नहीं थी। अंग्रेज़ों का एक दुलारा हमारा मध्यस्थ बन गया। वह लॉर्ड माउंटबेटन इस नतीजे पर पहुँचा कि भारत का विभाजन टाला नहीं जा सकता। विडंबना देखिए कि कांग्रेस के नेतृत्व ने अंग्रेज़ों की दोनों शर्तें स्वीकार कर लीं। पहली शर्त थी कि विभाजन पर कांग्रेस और लीग सहमत हों। दूसरी शर्त थी कि वे डोमिनियन स्टेटस स्वीकार करें। इसका मतलब था कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र मंडल के अधीन स्वशासी राष्ट्र माना जाएगा। नेहरू और सरदार पटेल ने विभाजन को स्वीकार कर लिया। जिन्ना की तो माँग ही यही थी। वे पाकिस्तान की माँग करते चले आ रहे थे। हालाँकि उन्हें इसकी क़तई उम्मीद नहीं थी। इस सहमति से लैस होकर लॉर्ड माउंटबेटन लंदन पहुँचे। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली की मंजूरी ली।

विभाजन की बात जब शुरू हुई तो गांधी ने एक सुझाव दिया कि जिन्ना को पहला प्रधानमंत्री बना देना चाहिए, अगर इससे बँटवारा रुकता हो। जिसे कांग्रेस ने मंज़ूर नहीं किया। 3 जून, 1947 को लॉर्ड एटली ने ब्रिटिश संसद् में उसकी घोषणा की। उसी रात में माउंटबेटन, नेहरू, जिन्ना और बलदेव सिंह ने रेडियो पर अपने बयान दिए। नेहरू ने योजना को मानने की घोषणा की। बलदेव सिंह ने उसे स्वीकार करने योग्य माना। जिन्ना ने तटस्थ रूप अपनाया। गांधीजी ने माउंटबेटन से मिलकर अपनी सहमति प्रकट की। 4 जून को अपनी प्रार्थना सभा में बोले। उन्होंने भारत विभाजन पर खेद प्रकट किया। लेकिन उसके लिए माउंटबेटन को दोषी नहीं माना। कहा, ''यदि हिंदू और मुसलमान किसी और बात पर सहमत नहीं हो सकते थे तो फिर वायसराय और क्या करता! इसलिए ये कांग्रेस और मुसलिम लीग का ही काम है।'' 9 जून को मुसलिम लीग की काउंसिल ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें उसने जिन्ना को पूरा अधिकार दे दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने 14 जून के अपने अधिवेशन में 3 जून की घोषणा को स्वीकार कर लिया।

भारत विभाजन की घोषणा होते ही पंजाब और बंगाल में हिंदू और सिक्खों में गहरा असंतोष पैदा हुआ। बंगाल में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में हिंदू महासभा ने विभाजन की निंदा की। अंग्रेजों की योजना पूरे बंगाल को पाकिस्तान में मिलाने की थी। उसे डॉ. मुखर्जी ने विधायकों के समर्थन से विफल कर दिया। पंजाब में मुसलिम लीग ने नफ़रत की आग फैला रखी थी। पाकिस्तान बनने की घोषणा से वह भड़क उठी। वहाँ गवर्नर का शासन था। सरकार ने गृहयुद्ध को बढ़ाया। रावलपिंडी, मुलतान, लाहौर और अमृतसर में दंगे भड़क उठे। सबसे अधिक नुक़सान हिंदू और सिक्खों का

हुआ। उसी उथल-पुथल के दौर में कुछ दिनों बाद 15 अगस्त, 1947 की तारीख़ घोषित की गई। कांग्रेस ने विभाजन माना। 3 जून की घोषणा को स्वीकार कर लेने का यही निहितार्थ था। गांधी ने भी उसे माना। लेकिन कांग्रेस में ऐसे नेता भी थे, जो उस प्रस्ताव के विरोध में थे। वह प्रस्ताव भारत विभाजन का था। उन नेताओं में एक पुरुषोत्तम दास टंडन भी थे। उन्होंने कहा कि विभाजन के प्रस्ताव को मानना अंग्रेज़ों और मुसलिम लीग के सामने आत्मसमर्पण करना है। भारत का विभाजन किसी भी समुदाय के लिए लाभकारी नहीं होगा। लेकिन प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया गया था। उसके तहत भारत का विभाजन हुआ। परिणामस्वरूप छह लाख लोग मारे गए। डेढ़ करोड़ लोग बेघर हुए। एक लाख महिलाओं के साथ अनाचार हुआ। सत्ता हस्तांतरण की विधिसम्मत प्रक्रिया को ब्रिटिश पार्लियामेंट ने पूरा किया। भारत स्वतंत्रता अधिनियम पारित हुआ, जिससे 14 अगस्त को पाकिस्तान बना और 15 अगस्त, 1947 को भारत। भारत स्वतंत्र हुआ, विभाजन की विपदा के साथ। श्रीअरविंद ने टिप्पणी की—पाकिस्तान झूठ, फ़रेब और पाशविक ताक़त के बल से जनमा है। कराची पहुँचकर जिन्ना ने अपने अंगरक्षक से कहा कि ''मुझे कभी यह ख़याल भी नहीं था कि ऐसा हो जाएगा। मुझे आशा नहीं थी कि मैं अपने जीवनकाल में पाकिस्तान देख सकूँगा।'' जिन्ना ने सच ही कहा। जिन्ना की सेहत साल भर पहले से बहुत ख़राब थी। उसी के चलते सितंबर 1948 में जिन्ना की मृत्यु हो गई। इतिहास का एक रहस्य यह भी है कि क्या कांग्रेस के नेताओं को उनकी ख़राब सेहत का पता नहीं था? यह सवाल अलग है कि जिन्ना जो पाकिस्तान हासिल करना चाहते थे, क्या वह उन्हें मिला? भारत विभाजन के कई प्रारूप बने और रद्द हुए, जिसे स्वीकार किया गया, उसे वी.पी. मेनन ने बनाया था। विडंबना देखिए कि जिन्ना के जाने के तीन साल बाद पाकिस्तान के सबसे बड़े नेता और निर्माता लियाकत अली ख़ाँ की रावलपिंडी में हत्या कर दी गई।

स्वाधीनता के समय जहाँ भारत विभाजन की विभीषिका सामने थी, वहीं यह सवाल भी था कि देशी रियासतों का क्या होगा। ब्रिटिश भारत स्वाधीन हुआ था और रियासतों को अपना फ़ैसला करने का अधिकार प्राप्त था। रियासतें 562 थीं। सरदार पटेल और वी.पी. मेनन की रणनीतिक कुशलता का परिणाम था कि ज़्यादातर रियासतों का भारत में विलय संभव हो सका। इसके लिए वे दो साल रात-दिन एक करते रहे। लॉर्ड माउंटबेटन ने तो जूनागढ़ को पाकिस्तान में मिलवा दिया था, जिसे सरदार पटेल ने पलटवाया। हैदराबाद और कश्मीर का मामला उलझा हुआ छोड़कर जून 1948 में लॉर्ड माउंटबेटन वापस चले गए। गवर्नर जनरल के उनके कार्यकाल में ही महात्मा गांधी की हत्या हुई। अंग्रेजों के विभेदक संविधानवाद से जो जहर देश में फैला, उससे भारत के विभाजन के बाद यह सबसे बड़ी त्रासदी थी। स्वाधीनता आंदोलन का वह ऐसा दुखांत

है, जो हमेशा गहरे घाव की तरह तकलीफ देता रहेगा। उसी राजनीति में नेहरू ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को निशाना बनाया। नेहरू के अलावा कम्युनिस्टों और मार्क्सवादी समाजवादियों ने अफवाह फैलाई कि गांधी की हत्या में संघ का हाथ है। असल में महात्मा गांधी की हत्या से पहले ही कम्युनिस्ट, मार्क्सवादी समाजवादी और नेहरूवादी कांग्रेसियों ने संघ पर बेबुनियाद आरोप लगाने शुरू कर दिए थे। वे समाज में संघ की बढ़ती लोकप्रियता को अपनी राजनीति के लिए बड़ी चुनौती मानने लगे थे। वे संघ पर पाबंदी की माँग कर रहे थे। महात्मा गांधी की हत्या ने उन्हें एक बहाना दे दिया। नेहरू सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर (गुरुजी) की पहले निराधार आरोपों में गिरफ़्तारी कराई। फिर 4 फरवरी, 1948 को संघ पर पाबंदी लगाई गई। वह सब नेहरू के निर्देश पर हुआ। 6 महीने बाद जेल से रिहा होने पर गुरुजी ने सरकार को आरोप साबित करने की 'चुनौती दी। नेहरू सरकार ने उसे अनसुना किया तो संघ ने सत्याग्रह का रास्ता चुना। सरदार पटेल ने तब तक समझ लिया था कि गांधी की हत्या से संघ का कोई संबंध नहीं है। इसीलिए बातचीत के एक दौर के बाद 12 जुलाई, 1949 को संघ से पाबंदी हटा ली गई। यही वह समय है जब जनसंघ के बनने की पृष्ठभूमि तैयार हुई। सरदार पटेल चाहते थे और इसके लिए उन्होंने बातचीत चलाई कि संघ कांग्रेस में शामिल हो जाए। जिसे श्री गुरुजी गोलवलकर ने नामंज़ूर कर दिया। उसके कुछ दिनों बाद मार्च 1950 में सरदार पटेल ने अपने निवास पर 60 सांसदों की बैठक बुलाई, जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों की प्रशंसा की। वहाँ एक बात और उन्होंने कही। वह यह कि देश में एक ही राष्ट्रवादी मुसलमान है, जिसका नाम है—मौलाना नेहरू। यह बात नेहरू तक पहुँची और उन्होंने पटेल से इस पर अपनी नाराज़गी प्रगट की। लेकिन पटेल ने इसकी परवाह नहीं की। असल में उन दिनों पूर्वी पाकिस्तान में हिंदुओं पर जो जुल्म ढाया जा रहा था, उससे पटेल चिंतित थे। ऐसी अनेक घटनाएँ थीं, जिसके कारण पटेल और नेहरू में टकराव बढ़ रहा था। जो कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में शक्ति परीक्षण में बदल गया। पटेल के उम्मीदवार पुरुषोत्तम दास टंडन जीते। दिसंबर 1950 में पटेल का निधन हुआ। अगर वे कुछ साल और रहते तो भारत की राजनीति उस राह पर नहीं चलती, जिसे नेहरू ने बढ़ाया।

उस समय संविधान निर्माण की प्रक्रिया चल ही रही थी, जो 1946 के आख़िरी महीने में शुरू हुई थी। हमें यह जानना चाहिए कि संविधान सभा ने तीन चरणों में काम पूरा किया। पहला चरण है—9 दिसंबर, 1946 से 2 जून, 1947। दूसरा है—3 जून, 1947 से 14 अगस्त, 1947। तीसरा है—15 अगस्त, 1947 से 26 नवंबर, 1949। इन तीन चरणों में भारी उथल-पुथल चलती रही। उसका अपना एक इतिहास है।

पाकिस्तान बन जाने के कारण मुसलिम लीग से जो जगहें खाली हुईं, उन पर कांग्रेस के प्रतिनिधि चुनकर आए। इस तरह संविधान सभा में 15 अगस्त, 1947 से कांग्रेस का प्रतिनिधित्व बढ़कर 82 फीसद हो गया था, जो पहले 62 फीसद ही था। मुसलिम लीग ने अपनी दबाव की रणनीति में संविधान सभा का बहिष्कार कर रखा था। सिर्फ़ 14 अगस्त, 1947 को उसके प्रतिनिधि संविधान सभा में आए थे। संविधान निर्माण की प्रक्रिया पर पं. दीनदयाल उपाध्याय ने नजर रखी। यह उनके लेखों से स्पष्ट है। इस पुस्तक में संविधान पर उनके तीन लेख हैं। संविधान के तीनों चरणों पर उनकी टिप्पणी है। पहले लेख में उन्होंने मौलिक सवाल उठाया है कि संविधान भारत के स्वभाव के अनुरूप बने। चेतावनी दी है कि कांग्रेस संविधान का दलगत दुरुपयोग कर सकती है। जो-जो सवाल उन्होंने उठाए, वे आज भी अपनी जगह क़ायम हैं, जैसे भारतीयता का अभाव और ग्राम पंचायतों की अवहेलना आदि। जब संविधान बन गया तो उन्होंने लिखा कि इस संविधान का क्या करें। संविधान की कमियों को उन्होंने गिनाया और फिर उपाय सुझाए कि संविधान का आमूल परिष्कार होना चाहिए। 1997 में अटल बिहारी वाजपेयी ने एक स्मारक बयान दिया था। और यह सवाल उठाया था कि ''क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जब भारत के संविधान का निर्माण हो रहा था तो शासन की विविध पद्धतियों का सांगोपांग अध्ययन और विवेचन करके हमने किसी एक पद्धति का चुनाव करने की ज़रूरत नहीं समझी। यहाँ तक कि संविधान के निर्माताओं में इस बात को लेकर भी कोई गंभीर बहस नहीं छिड़ी कि स्वतंत्र देश ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का अनुकरण करे या अमरीका की राष्ट्रपतीय प्रणाली का अवलंबन करे या किसी तीसरी प्रणाली का अनुसंधान कर भारत की अपेक्षाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप अपने संविधान का गठन करे।'' इसका संबंध मूलतः पं. दीनदयाल उपाध्याय की संवैधानिक चिंता से ही है। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने मुसलिम समस्या, राष्ट्रवाद की परिकल्पना, इतिहास दृष्टि, संविधान और उस समय के प्रश्नों को उठाया और एक वैकल्पिक दृष्टि दी। उन्होंने जो प्रश्न उठाए, वे देश की पहचान, परंपरा और सभ्यतामूलक थे। भारत के संविधान में इन बातों की अनदेखी की गई है। इस कारण राष्ट्र की आकांक्षा और सपने धरे रह गए हैं। सवाल यह है कि पं. दीनदयाल उपाध्याय ने संविधान के परिष्कार का जो अमूल्य सुझाव दिया, उस पर अमल कैसे हो?. यह युग का यक्ष प्रश्न है।

—रामबहादुर राय

प्रारंभिक जीवन

दीनदयाल उपाध्याय का बचपन एक सामान्य उत्तर भारतीय निम्न-मध्यम वर्गीय सनातनी हिंदू वातावरण में बीता। 'ब्रजभूमि' के मथुरा जिले के नगला चंद्रभान ग्राम में दीनदयाल उपाध्याय के प्रपितामह विख्यात ज्योतिषी पंडित हरीराम उपाध्याय रहा करते थे। झंडू राम उनके सहोदर अनुज थे। पंडित हरीराम उपाध्याय के तीन पुत्र थे—भूदेव, रामप्रसाद और राम प्यारे। झंडू राम के भी दो पुत्र थे—शंकरलाल और बंशी लाल।

रामप्रसाद के पुत्र थे—भगवती प्रसाद। भगवती प्रसाद का विवाह रामप्यारी से हुआ था। वे बहुत धर्मपरायण महिला थीं। आश्विन कृष्णा त्रयोदशी संवत् 1973, (25 सितंबर, 1916) को भगवती प्रसाद के घर में पुत्रजन्म हुआ, तब रामप्यारी अपने पिता श्री चुन्नी लाल शुक्ल के यहाँ धनकिया में आई हुई थीं। वहाँ उनके पिता स्टेशन मास्टर थे। नवजात शिशु का नाम दीनदयाल व पुकारने का नाम 'दीना' रखा गया। दो वर्ष बाद रामप्यारी की गोद में दूसरा बच्चा आया, जिसका नाम शिवदयाल व पुकारने का नाम 'शिबू' रखा गया।

संयुक्त परिवार परंपरा

पंडित हरीराम के परिवार की संयुक्त परिवार परंपरा अभी तक अबाध चल रही थी। अतः परिवार बड़ा था। स्वाभाविक रूप से महिलाओं में कलह रहती थी। दीनदयाल अभी ढाई वर्ष के ही थे। इनके पिता भगवती प्रसाद उन दिनों जलेसर (एटा, उत्तर प्रदेश) रेलवे स्टेशन पर सहायक स्टेशन मास्टर थे। उन्होंने गृहकलह को शांत करने के लिए अपनी चाची तथा विमाता को अपने पास जलेसर बुलवा लिया तथा 'दीना', 'शिबू' व रामप्यारी को उनके पिता चुन्नी लाल के पास राजस्थान में धनकिया (जयपुर) ग्राम में भेज दिया। चुन्नीलाल का गाँव अर्थात् रामप्यारी का मायका तथा

दीनदयाल का ननिहाल आगरा में फतेहपुर सीकरी के पास गुड़ की मढ़ई ग्राम में था।

ढाई साल की अवस्था में पितृगृह छूटने के बाद दीनदयाल वापस वहाँ रहने के लिए कभी नहीं लौटे। उनका पालन-पोषण व विकास एक प्रकार से असामान्य स्थितियों में हुआ। वे स्थितियाँ ऐसी थीं, जिनमें व्यक्ति का व्यक्तित्व बुझ जाए, लेकिन दीनदयाल ने उसी परिवेश से ऊर्जा ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व का विकास किया। निश्चय ही उनके जीवन पर उनकी बाल्यावस्था के भरपूर संस्कार थे।

परिवारजनों की मृत्यु

मृत्यु का दर्शन जीवित जनों में वैराग्य उत्पन्न करता है। दीनदयाल उपाध्याय को बचपन से ही प्रियजनों की मृत्यु का घनीभूत अनुभव प्राप्त हुआ। ढाई साल की अवस्था में दीनदयाल अपने नाना के पास आए ही थे कि कुछ ही दिनों में समाचार आया, उनके पिता भगवती प्रसाद का देहांत हो गया है। दीनदयाल पितृहीन हो गए और रामप्यारी विधवा हो गईं। दीनदयाल की शिशु आँखों ने अपनी विधवा माँ की गोद व आँसुओं को तथा दामादविहीन नाना के बेबस और उदास चेहरे को देखा। निश्चय ही उनके बालमन ने एक अबोध पर संवेदनशील अनुभव ग्रहण किया होगा। पितृहीन शिशु दीनदयाल माँ की गोद में बाल्यावस्था को प्राप्त हुआ। पर विधवा, शोकाकुल व चिंताकुल रामप्यारी पीड़ा और अपोषण की शिकार होकर क्षयरोग ग्रस्त हो गईं। उन दिनों क्षयरोग का अर्थ था—निश्चित मृत्यु। अभी दीनदयाल सात वर्ष के तथा शिवदयाल पाँच वर्ष के ही हुए थे कि दोनों बच्चों को नाना की गोद में छोड़कर माँ रामप्यारी भी 'राम को प्यारी' हो गईं। दीनदयाल पिता और माता, दोनों की स्नेह-छाया से वंचित हो गए।

शायद नियति इस बालक को मृत्यु का सर्वांगतः दर्शन करवाने पर तुली हुई थी। माँ के देहांत को अभी दो ही वर्ष हुए थे, वृद्ध व स्नेही पालक, जो अपनी बेटी की अमानत को पाल रहे थे, नाना चुन्नीलाल भी स्वर्ग सिधार गए। यह 1926 का सितंबर माह था। दीनदयाल अपनी आयु के दसवें वर्ष में थे। पिता-माता व नाना के वात्सल्य से वंचित होकर वे अब अपने मामा के आश्रय पर पलने लगे। मामी नितांत उदार, स्नेहिल व मातृवत् थीं। दीनदयाल बहुत गंभीर रहते थे। दस वर्ष का दीनदयाल अपने छोटे भाई शिवदयाल की भी चिंता करता था, उसे स्नेह भी देता था।

सन् 1931 में दीनदयाल सातवीं की पढ़ाई राजस्थान के कोटा में कर रहे थे। लेकिन जल्दी ही उन्हें कोटा से राजगढ़ (अलवर, राजस्थान) आना पड़ा, क्योंकि उनकी मामी का देहांत हो गया था। अपने पालकों की मृत्यु को निहारते दीनदयाल का यह पंद्रहवाँ वर्ष था।

इसी छोटी आयु में दीनदयाल अपने सहोदर अनुज शिवदयाल के पालक भी थे।

विधाता की प्रताड़नाओं ने इनका परस्पर स्नेह अधिक संवेदनशील और स्निग्ध कर दिया था। अभी तक दीनदयाल ने अपने पालकों की मृत्यु का ही अनुभव किया था। शायद मृत्यु अपने को सर्वांगत: दीनदयाल के सामने साक्षात् करने पर तुली थी। जब दीनदयाल नवीं कक्षा में पढ़ रहे थे, वे अठारहवें वर्ष में थे कि छोटा भाई शिवदयाल रोगग्रस्त हो गया। उसे टाइफाइड हो गया था। दीनदयाल ने अपने छोटे भाई को बचाने की बहुत कोशिश की, सब प्रकार के उपचार करवाए, पर 18 नवंबर, 1934 को शिवदयाल अपने बड़े भाई दीनदयाल को अकेला छोड़ संसार से विदा हो गया।

अभी भी दीनदयाल पर एक झुर्रियों भरा स्नेहिल आशीर्वाद का हाथ था। वृद्धा नानी दीनदयाल को बहुत प्यार करती थीं, हालाँकि अपनी पढ़ाई और अन्य पारिवारिक कारणों से वे नानी के पास अधिक नहीं रह सके थे, तो भी नानी-दुहिते में अनन्य स्नेह था। यह 1935 का वर्ष था। दीनदयाल ने दसवीं पास की थी। वे उन्नीस साल के हो गए थे। इसी सर्दी के दिनों में नानी बीमार हुईं और संसार से चल बसीं।

पिता, माता, नाना, मामी, अनुज और अब नानी की मृत्यु ने दीनदयाल को अनुभव सिद्ध किया। उनकी चेतना मौत के प्रहारों से कुम्हलाई तो नहीं, पर युवक दीनदयाल एक सतेज उदासी का धनी बनता जा रहा था। दीनदयाल की एक ममेरी बहन रामा देवी थी। बहन-भाई के स्नेह स्निग्ध रिश्ते की सभी तरलताएँ इन दोनों के मध्य पूरे तौर पर सुविकसित हुई थीं।

अब दीनदयाल आगरा में एम.ए. (अंग्रेज़ी) की पढ़ाई कर रहे थे। तभी बहन रामा देवी बहुत बीमार हो गई थी। दीनदयाल ने अपनी पढ़ाई छोड़कर रामा देवी की सेवा तथा उपचार के सब साधन जुटाए। पर नियति को यही मंजूर था कि अपनी बहन की मौत का साक्षात्कार भी दीनदयाल को होना चाहिए। बचाने की सब कोशिशों के बावजूद 1940 में रामादेवी का भी निधन हो गया। अब दीनदयाल चौबीस वर्ष के हो गए थे। मृत्यु ने उनके शिशु, किशोर, बाल व युवा मन पर निरंतर आघात किए। न मालूम उनके चिर प्रशंसित वैरागी जीवन में नियति के इस तथाकथित क्रूर निदर्शन का कितना हाथ था?

अक्षरशः अनिकेत

दीनदयाल शिशु अवस्था के ढाई वर्ष तक अपने पिता के घर रहे, उसके बाद उनका प्रवासी जीवन प्रारंभ हो गया। वे कभी लौटकर रहने के लिए अपने घर नहीं आए। पारिवारिक कारणों से उन्हें अपने नाना चुन्नीलाल के साथ रहने के लिए धनकिया जाना पड़ा। चुन्नीलाल अपने दो पुत्रों नत्थीलाल और हरिनारायण तथा बाद में दामाद भगवती प्रसाद की मृत्यु से बहुत आहत हुए। उन्होंने नौकरी छोड़ दी और अपने घर गुड़ की मढ़ई आ गए। दीनदयाल भी धनकिया से गुड़ की मढ़ई आ गए। दीनदयाल नौ वर्ष

के हो गए, पर अभी उनके अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं हुई थी। अब वे अपने मामा राधारमण के पास आ गए, जो गंगापुर (सवाई माधोपुर, राजस्थान) में सहायक स्टेशन मास्टर थे। यहाँ वे चार वर्ष रहे। गंगापुर में इससे आगे पढ़ाई की व्यवस्था नहीं थी, अतः 12 जून, 1929 को कोटा के एक स्कूल में उनका प्रवेश हुआ। वे वहाँ 'सेल्फ सपोर्टिंग हाउस' में रहते थे। तीन साल वहीं रहे। तत्पश्चात् उन्हें राजगढ़ आना पड़ा। मामा राधारमण के चचेरे भाई नारायण शुक्ल यहाँ स्टेशन मास्टर थे, दीनदयाल उनके पास दो साल रहे। 1934 में नारायण शुक्ल का स्थानांतरण सीकर हो गया। एक साल सीकर में रहकर दसवीं कक्षा उत्तीर्ण की। वहाँ से उच्च शिक्षा के लिए पिलानी गए और दो वर्ष रहकर 1936 में इंटरमीडिएट किया। इसी वर्ष बी.ए. की पढ़ाई के लिए कानपुर गए। यहाँ भी दो वर्ष रहकर आगे एम.ए. की पढ़ाई के लिए आगरा आ गए। यहाँ स्थानीय राजामंडी में किराए के मकान में रहे। यहाँ भी दो वर्ष रहकर 1941 में 25 वर्ष की अवस्था में बी.टी. करने के लिए प्रयाग (अब इलाहाबाद) चले गए। इसके साथ ही उनका प्रवेश सार्वजनिक जीवन में हो गया, वे अखंड प्रवासी हो गए।

25 वर्ष की अवस्था तक दीनदयाल उपाध्याय राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कम-से-कम ग्यारह स्थानों पर कुछ-कुछ समय रहे। अपना घर, सुविधा व स्थायित्व का जीवन शायद लोगों में मोह उत्पन्न करता है। दीनदयाल का बचपन कुछ यों बीता कि ऐसे किसी मोहजाल की कोई संभावना न थी। सार्वजनिक जीवन में आकर आजीवन बेघर व घुमंतू रहने में प्रारंभिक काल का यह अनिकेती जीवन निश्चय ही उनकी मानस रचना में सहायक हुआ होगा। नए-नए स्थान, अपरिचित लोगों से मिलना, उनमें पारिवारिकता उत्पन्न करना, उन्होंने बचपन की इस अनिकेत अवस्था में ही सीखा होगा शायद।

मेधावी छात्र

स्थितियाँ जिस प्रकार की रहीं, तदनुसार नौ वर्ष की अवस्था तक उनकी पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी थी। 1925 में गंगापुर में अपने मामा राधारमण के यहाँ आने पर उनकी शिक्षा प्रारंभ हुई। घर में कोई अन्य विद्यार्थी न था, पढ़ाई का वातावरण नहीं था। गृह दशा पारिवारिक आपदाओं के कारण बहुत क्लांत व तनाव भरी थी। कुछ भी सुविधाएँ नहीं थीं। जब दीनदयाल दूसरी कक्षा के छात्र थे, उनके मामा राधारमण बहुत बीमार पड़ गए। दीनदयाल मामा की सेवा के लिए, उनके उपचारार्थ उनके साथ आगरा गए। परीक्षा के कुछ ही दिन पूर्व राधारमण वापस गंगापुर आए। दीनदयाल ने परीक्षा दी, वे कक्षा में प्रथम आए। मामा की सेवा करते हुए उन्होंने तीसरी व चौथी की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उसी काल में उनके मेधावी विद्यार्थी होने का परिवार व विद्यालय के लोगों को अहसास हुआ।

कक्षा 5 से 7 तक की पढ़ाई कोटा में करने के बाद वे आठवीं कक्षा के लिए राजगढ़ चले आए। अंकगणित में उनकी अद्‌भुत क्षमता का यहाँ परिचय मिला। कहते हैं, जब वे नवीं में थे, तो दसवीं के विद्यार्थी भी उनसे गणित के सवाल हल करवाया करते थे। अगले ही वर्ष उन्हें अपने मामाजी के स्थानांतरण के कारण सीकर (राजस्थान) जाना पड़ा। उन्होंने दसवीं की परीक्षा स्थानीय कल्याण हाई स्कूल से दी। वे न केवल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए वरन् समस्त बोर्ड की परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। तत्कालीन सीकर के महाराजा कल्याण सिंह[1] ने उन्हें तद्‌निमित्त स्वर्ण पदक प्रदान किया, 10 रुपए माहवार छात्रवृत्ति व पुस्तकों आदि के लिए 250 रुपए की राशि पारितोषिक के रूप में दी।

उन दिनों पिलानी (राजस्थान) उच्च शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र था। दीनदयाल इंटरमीडिएट की पढ़ाई के लिए 1935 में पिलानी चले गए। 1937 में इंटरमीडिएट बोर्ड की परीक्षा में बैठे और न केवल समस्त बोर्ड में सर्वप्रथम रहे वरन् सब विषयों में विशेष योग्यता के अंक प्राप्त किए। बिड़ला कॉलेज का यह प्रथम छात्र था, जिसने इतने सम्मानजनक अंकों से परीक्षा पास की थी। सीकर महाराजा के समान ही घनश्याम दास बिड़ला ने एक स्वर्ण पदक, 10 रुपए मासिक छात्रवृत्ति तथा पुस्तकों आदि के खर्च के लिए 250 रुपए उनको प्रदान किए।

सन् 1939 में सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर से प्रथम श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। एम.ए. (अंग्रेज़ी) में करने के लिए सेंट जॉन्स कॉलेज, आगरा में प्रवेश लिया। एम.ए. प्रथम वर्ष में उन्हें प्रथम श्रेणी के अंक मिले। बहन की बीमारी के कारण वे एम.ए. उत्तरार्द्ध की परीक्षा नहीं दे सके। मामा के बहुत आग्रह पर वे प्रशासनिक परीक्षा में बैठे, उत्तीर्ण हुए, साक्षात्कार में भी चुन लिए गए, पर उन्हें प्रशासनिक नौकरी में रुचि नहीं थी, अत: बी.टी. करने के लिए प्रयाग चले गए।

उनकी यह अध्ययन ऊर्जस्विता सार्वजनिक जीवन में जाने के बाद प्रखरतम होती चली गई। प्रभूत सामाजिक एवं दार्शनिक साहित्य की सृजन क्षमता के बीज हमें उनके विद्यार्थी काल में ही दिखाई देते हैं।

साहसी, सेवाव्रती व ईमानदार

बाल्यावस्था में ही जब दीनदयाल केवल सात-आठ वर्ष के थे, उनके घर पर डाकुओं ने आक्रमण कर दिया। एक डाकू ने उनकी मामी को धकेलते हुए तथा दीनदयाल को गिराकर उनकी छाती पर पाँव रखकर घर के आभूषण माँगे। दीनदयाल ने डाकू के पाँव के नीचे दबे-दबे ही कहा, *''हमने सुना था कि डाकू गरीबों की रक्षा*

1. महाराजा कल्याण सिंह (1886-1967) सीकर (ब्रिटिश भारत में रियासत एवं वर्तमान राजस्थान का जिला) के 11वें राजा (1922-1967) थे।

के लिए अमीरों का धन लूटते हैं, किंतु तुम तो मुझ गरीब को भी मार रहे हो।'' डाकू सरदार पर अबोध बालक की निर्भयता का असर हुआ, वह अपने गिरोह को लेकर वहाँ से चला गया।

जिस प्रकार के वातावरण में दीनदयाल पले थे, संभावनाएँ थीं कि या तो वे कुंठाग्रस्त होकर विद्रोही बन जाते अथवा संयमी व सेवाभावी। दीनदयाल पर मनोविज्ञान के दूसरे प्रकार के नियम का असर हुआ। 1927 में जब दीनदयाल ग्यारह वर्ष के थे, उनके मामा राधारमण बीमार हुए। उनके उपचार व सेवा के लिए कोई नहीं था। उन्हें आगरा जाना था। दीनदयाल ने आगरा साथ जाकर, आगे होकर सेवा की ज़िम्मेदारी ली। माता-पिता, नाना-नानी, सभी के अभाव के बावजूद मामाओं के परिवार में दीनदयाल ससम्मान अपना स्थान बनाए रख सके, इसके पीछे उनकी सेवा भावना व विनम्रता का महत्त्वपूर्ण हाथ था। राजगढ़ में मामा नारायण शुक्ल के यहाँ रहते हुए उनके चार बच्चों को उन्होंने अग्रजतुल्य स्नेह व सेवाभाव प्रदान किया। जब वे पिलानी में पढ़ते थे, तो मामा राधारमण के पुत्र प्रभुदयाल शुक्ल व तीसरे चचेरे मामा बाबूलाल के पुत्र कामेश्वरनाथ और रामेश्वरनाथ को भी उन्होंने अपने साथ पिलानी में रखकर पढ़ाया और उनकी सब प्रकार की व्यवस्थाएँ कीं।

छोटे भाई शिवदयाल को वे लंबे दौर तक पालते, इसका अवसर तो उन्हें न मिला, लेकिन छोटे भाई के प्रति सेवा स्नेह का दायित्व उन्हें सदा स्मरण रहता था। बीमारी में दीनदयाल ने उसकी अथक सेवा की। इसी प्रकार 1940 में ममेरी बहन रामा के बीमार होने पर, उसकी सेवा के लिए न केवल अपनी एम.ए. की पढ़ाई छोड़ दी वरन् जब डॉक्टर व वैद्यों के उपचार से कोई लाभ न हुआ, तो स्वयं अध्ययन कर उसको निसर्गोपचार दिया, पर उसे भी बचा न सके।

राजगढ़ व सीकर में उनकी अध्ययन क्षमता की धाक तो जम ही गई थी, लेकिन दीनदयाल में इस कारण अहं नहीं, वरन् कमजोर छात्रों के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न हुआ। पिलानी में कमजोर छात्रों को पढ़ाने के लिए उन्होंने 'जीरो एसोसिएशन' का निर्माण किया, जिसमें कमजोर विद्यार्थियों को पढ़ाने की व्यवस्था थी।

स्थितियाँ ऐसी थीं ही नहीं कि दीनदयाल कोई शरारत करते या उनकी शरारतों को कोई सहता। तो भी बाल सुलभ चांचल्य तो उनमें था ही। लेकिन एक बार यदि किसी ने उनको टोक दिया, तो फिर वे किसी ऐसी घटना की पुनरावृत्ति नहीं होने देते थे। स्वाभाविक है, जिस प्रकार की स्थितियाँ थीं, उसमें उनका चांचल्य शरारती बने, इसकी कोई संभावना नहीं थी।

विद्यार्थी काल में आगरा में नानाजी देशमुख और दीनदयाल उपाध्याय साथ-साथ रहते थे। उनकी सहज ईमानदारी को अभिव्यक्त करने वाली एक घटना नानाजी इस प्रकार सुनाते हैं—

"एक दिन प्रातः हम दोनों मिलकर सब्ज़ी खरीदने बाजार गए। दो पैसे की सब्ज़ी खरीदी। लौटकर घर पहुँचने को ही थे कि दीनदयालजी एकाएक रुक गए, वे बोले, 'नाना, बड़ी गड़बड़ हो गई।' मेरे पूछने पर उन्होंने कहा, 'मेरी ज़ेब में चार पैसे थे। उनमें से एक पैसा खोटा था। वह पैसा ही उस सब्ज़ी वाली को दे आया हूँ। मेरी ज़ेब में बचे दोनों पैसे अच्छे हैं। वह क्या कह रही होगी, चलो उसे ठीक पैसे दे आएँ।' उनके चेहरे पर अपराधी जैसा भाव उभर आया था। हम लोग वापस सब्ज़ी वाली के पास पहुँचे। उसे वास्तविकता बताई तो वह कहने लगी, 'कौन ढूँढ़ेगा तुम्हारा खोटा पैसा? जाओ, ठीक है जो दे दिया।' किंतु दीनदयालजी नहीं माने। उन्होंने उस बुढ़िया के पैसों के ढेर में से अपना चिकना-काला और खोटा पैसा ढूँढ़ निकाला। उसके बदले में अपनी ज़ेब से दूसरा अच्छा पैसा उस बुढ़िया को दे दिया, तब कहीं उनके चेहरे पर संतोष का भाव उभरा। बुढ़िया की भी आँख डबडबा आई। वह कहने लगी, 'बेटा! कितने अच्छे हो तुम। भगवान् तुम्हारा भला करे।'"[2]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संपर्क

दीनदयाल उपाध्याय जब 1937 में बी.ए. की पढ़ाई के लिए कानपुर गए, तब अपने सहपाठी, बालूजी महाशब्दे[3] के माध्यम से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संपर्क में आए। कानपुर में संघ संस्थापक डॉक्टर हेडगेवार से उनकी भेंट हुई। श्री बाबा साहब आपटे और दादा राव परमार्थ[4] इनके छात्रावास में ही ठहरते थे। दीनदयाल ने उन्हें शाखा पर आमंत्रित कर बौद्धिक वर्ग करवाया। कानपुर में सुंदर सिंह

---

2. कमल किशोर गोयनका (सं.), पंडित दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति दर्शन, नई दिल्ली : दीनदयाल शोध संस्थान, 1972, प्रस्तावना से साभार।
3. बालूजी महाशब्दे मुंबई निवासी थे। अब दिवंगत।
4. गोविंद सीताराम 'दादा' परमार्थ (1904-1963) मैट्रिक में पढ़ते समय क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। साइमन कमीशन के विरुद्ध आंदोलन के समय पुलिस इन्हें पकड़ने आई, पर ये फरार हो गए। पिताजी ने इन्हें परीक्षा देने के लिए पंजाब भेजा, पर परीक्षा पुस्तिका इन्होंने अंग्रेज़ों की आलोचना से भर दी। दादाराव का संबंध भगत सिंह तथा राजगुरु से भी था। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की फाँसी के बाद हुई तोड़फोड़ में पुलिस इन्हें पकड़कर ले गई थी। जब इनका संबंध डॉ. हेडगेवार से अधिक हुआ, तो ये संघ के लिए पूरी तरह समर्पित हो गए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रारंभ में डॉ. हेडगेवार के साथ काम करने वालों में बाबासाहब आपटे तथा दादाराव परमार्थ प्रमुख थे। 1930 में जब डॉ. साहब ने जंगल सत्याग्रह में भाग लिया, तो दादाराव भी उनके साथ गए तथा अकोला जेल में रहे।

भंडारी[5] भी उनके सहपाठी थे। कानपुर के इस विद्यार्थी जीवन से ही दीनदयाल उपाध्याय का सार्वजनिक जीवन प्रारंभ हो जाता है।

सन् 1937 के बाद 1941 तक वे छात्र रहे। 1941 में प्रयाग से बी.टी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। लेकिन उन्होंने नौकरी नहीं की, गृहस्थी भी नहीं बसाई। कानपुर व प्रयाग के अध्ययन के दौरान उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नागपुर में ग्रीष्मावकाश में 40 दिन लगने वाला संघ शिक्षा वर्ग का प्रशिक्षण[6] प्रथम वर्ष 1939 में और द्वितीय वर्ष 1942 में प्राप्त किया।

संघ के शारीरिक कार्यक्रमों को दीनदयाल उपाध्याय बहुत ठीक प्रकार नहीं कर पाते थे, लेकिन बौद्धिक परीक्षा में वे प्रथम आए। इस संदर्भ में बाबा साहब आपटे लिखते हैं—

> *"पंडित दीनदयालजी ने उत्तर पुस्तिका में कई हिस्से पद्यबद्ध लिखे थे, किंतु वह केवल तुकबंदी नहीं थी अथवा केवल कल्पना का विचार भी नहीं था। गद्य के स्थान पर पद्य का माध्यम अपनाया गया था। विवेचन नपे-तुले शब्दों में था और तर्कशुद्ध था। मैं प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।"* [7]

---

5. भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य सुंदर सिंह भंडारी (1921-2005) राजस्थान में भारतीय जनसंघ की स्थापना करने वाले प्रथम व्यक्तियों में से एक थे। साथ ही वे भारतीय जनता पार्टी के उपाध्यक्ष (1980) भी रहे। भंडारी दो बार राज्यसभा (I) राजस्थान (1966-1972); (II) उत्तर प्रदेश (1976-1982) से संसद् सदस्य और दो बार राज्यपाल (I) बिहार (1995-1998); (II) गुजरात (1999-2003) रहे।
6. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में स्वयंसेवकों के वैचारिक एवं कार्यपद्धति संबंधी प्रशिक्षण के लिए संघ शिक्षा वर्गों की व्यवस्था होती है, जो प्रतिवर्ष देश भर में सभी प्रदेशों में आयोजित होते हैं। इन वर्गों का व्यय भार शिक्षार्थी शुल्क देकर स्वयं वहन करते हैं। पहले इन वर्गों को O.T.C. (Officer's Training Course) अर्थात् अधिकारी शिक्षण वर्ग कहा जाता था। लेकिन वर्तमान में वर्गों का नामकरण 'संघ शिक्षा वर्ग' कर दिया गया है। डॉ. हेडगेवार के समय ये वर्ग ग्रीष्मावकाश में 40 दिनों के होते थे। द्वितीय सरसंघचालक माधवराव गोलवलकर के समय में 30 दिन के होने लगे। प्रथम व द्वितीय वर्ष का शिक्षण प्रदेशानुसार होता था और तृतीय वर्ष का शिक्षण नागपुर में होता है। अब इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हो गया है। अब प्रथम वर्ष के शिक्षा वर्ग प्रांत के एक से अधिक केंद्रों पर संभागानुसार होते हैं, जो केवल 15 दिन के लिए लगाए जाते हैं। द्वितीय वर्ष के शिक्षण वर्ग क्षेत्रानुसार होते हैं। (संघ ने देश को अपने कार्य की दृष्टि से तीन-तीन, चार-चार प्रांतों को मिलाकर छह क्षेत्रों में बाँट रखा है), तृतीय वर्ष का शिक्षण अभी भी नागपुर में होता है, जिसका पाठ्यक्रम 30 दिन का रहता है। द्वितीय वर्ष का पाठ्यक्रम अब 25 दिनों का कर दिया गया है। ये सभी परिवर्तन तृतीय सरसंघचालक बाला साहेब देवरस के कार्यकाल में हुए थे।
7. पुत्तीलाल यादव, *युगपुरुष दीनदयाल*, कानपुर : राष्ट्रभाषा प्रकाशन, पृ. 201।

अपनी पढ़ाई पूर्ण करने तथा संघ का द्वितीय वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद दीनदयाल उपाध्याय 1942 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जीवन व्रती प्रचारक बन गए तथा आजीवन संघ के प्रचारक[8] रहे। वे लखीमपुर (उत्तर प्रदेश) में जिला प्रचारक नियुक्त हुए। संघ के माध्यम से ही वे राजनीति में गए भारतीय जनसंघ के महामंत्री बने। भारतीय जनसंघ के प्रथम वार्षिक राष्ट्रीय अधिवेशन, कानपुर (29-31 दिसंबर, 1952) में वे पार्टी के राष्ट्रीय महामंत्री (जनसंघ में इस पद को प्रधानमंत्री भी कहा जाता था) नियुक्त किए गए। वे 15 सालों (1952-1967) तक पार्टी के राष्ट्रीय महामंत्री रहे। दिसंबर 1967 में जनसंघ के दसवें राष्ट्रीय अध्यक्ष निर्वाचित हुए तथा एक संपूर्ण राजनीतिक विचार के प्रणेता बने।

---

8. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में प्रचारक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ता इकाई है। यह बौद्ध भिक्षुओं एवं श्रीशंकराचार्य के युवा वैदिक संन्यासियों जैसी ही परंपरा है। संघ के प्रचारकों का पहनावा साधारण होता है। ये सामान्य रूप से अगृहस्थ होते हैं। कोई निजी व्यवसाय नहीं करते हैं। संघकार्य के लिए ही अपना जीवन दान कर देते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संविधान में अधिकरण 26 के तहत प्रचारक व्यवस्था का निम्न प्रकार वर्णन है :

(क) अपना संपूर्ण समय लगाकर कार्य करने वाले कार्यकर्ता प्रचारक रहेंगे। ये उन निष्ठावान तथा चरित्रवान कार्यकर्ताओं में से चुने जाएंगे, जिनका ध्येय संघ कार्य के माध्यम से समाज-सेवा करना है और जो स्वेच्छा से अपने आपको समाज-सेवा के लिए अर्पित करते हैं।

(ख) वे अवैतनिक रहेंगे।

(ग) 1. संबंधित प्रांत संघचालक के परामर्श तथा सरकार्यवाह की स्वीकृति से अखिल भारतीय प्रचारक प्रमुख प्रांत प्रचारक की नियुक्ति करेगा;
2. प्रांत के विभिन्न अंगों के लिए प्रचारकों की नियुक्ति प्रांत संघचालक से परामर्श करके प्रांत प्रचारक करेगा।

(घ) प्रचारकों की नियुक्ति, स्थानांतरण तथा उनकी सेवाओं को समाप्त करने का अंतिम अधिकार सरकार्यवाह को

वाङ्मय संरचना

'एकात्म मानवदर्शन' के प्रणेता पं. दीनदयाल उपाध्याय के आलेखों, भाषणों, बौद्धिक वर्गों, वक्तव्यों एवं विविध संवादों ने भारतीयता के अधिष्ठान पर तात्कालिक समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण एवं समाधान प्रस्तुत किया। इन सबसे भी कालजयी साहित्य का निर्माण हुआ। उनके जाने के पाँच दशकों बाद उनका संपूर्ण वाङ्मय प्रकाशित हुआ है। विलंब से ही सही, लेकिन उनके शताब्दी वर्ष पर उसका प्रकाशन एक ऐतिहासिक अवसर है। 15 खंडों में संपादित हुए उनके संपूर्ण साहित्य का यथासंभव संकलन हुआ है। आइए, हम उनका परिचय प्राप्त करें।

खंड एक : वर्ष 1940 से 1950 की सामग्री इस खंड में है। संघ प्रचारक के रूप में एक दशक में उनके द्वारा सृजित साहित्य का इसमें संकलन है। यह 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' के द्वितीय सरसंघचालक श्री मा.स. गोलवलकर परमपूजनीय श्रीगुरुजी को समर्पित है। श्रीगुरुजी का परिचय संघ के वरिष्ठ प्रचारक श्री रंगाहरि ने लिखा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के ही वर्तमान सरसंघचालक श्री मोहन भागवत इस खंड के भूमिका-लेखक हैं। सभी खंडों में उस काल के संदर्भ में एक अध्याय है 'वह काल'। इस खंड में इसका लेखन वरिष्ठ पत्रकार पद्‌मश्री श्री रामबहादुर राय ने किया है।

खंड दो : यह दो वर्षों का है—1951 तथा 1952। यह 'भारतीय जनसंघ' की स्थापना, प्रथम आम चुनाव तथा पंचवर्षीय योजना का काल है। यह डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को समर्पित है। 'डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी शोध अधिष्ठान' के निदेशक श्री अनिर्बान गांगुली ने डॉ. मुखर्जी का परिचय लिखा है। इस खंड की भूमिका विख्यात इतिहासवेत्ता श्री देवेंद्र स्वरूप ने लिखी है। 'वह काल' अध्याय का आलेखन पद्‌मश्री श्री जवाहरलाल कौल ने किया है।

खंड तीन : वर्ष 1954-1955 का है। यह 'गोवा मुक्ति-संग्राम' का काल है। यह गोवा मुक्ति के लिए सत्याग्रह का नेतृत्व करनेवाले श्री जगन्नाथ राव जोशी को समर्पित है; उनका परिचय भाजपा के पूर्व राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री बलवीर पुंज ने लिखा है तथा इसकी भूमिका के लेखक जनसंघ के जन्मकाल से कार्यकर्ता रहे वरिष्ठ नेता डॉ. विजय कुमार मल्होत्रा हैं। 'वह काल' के लेखक हैं—राजा राम मोहनराय पुस्तक़ालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री ब्रजकिशोर शर्मा।

खंड चार : वर्ष 1956-1957 का है। यह संघात्मक संविधान के अनुसार राज्य पुनर्गठन का काल है। यह 'भारतीय जनसंघ' के अध्यक्ष एवं जम्मू-कश्मीर में 'प्रजापरिषद्' के संस्थापक पं. प्रेमनाथ डोगरा को समर्पित है। उनका परिचय जम्मू-कश्मीर के उपमुख्यमंत्री श्री निर्मल सिंह ने लिखा है, भूमिका श्री रंगाहरि ने। 'वह काल' का आलेखन माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति श्री अच्युतानंद मिश्र ने किया है।

खंड पाँच : एक ही वर्ष सन् 1958 के दो खंड हैं पाँच व छह। दीनदयालजी के आर्थिक विचारों के परिपक्व होने का यह काल है। महान् गणितज्ञ एवं भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष रहे आचार्य देवा प्रसाद घोष को खंड पाँच समर्पित है। ऑर्गनाइजर के संपादक श्री प्रफुल्ल केतकर ने उनका परिचय लिखा है। हिमाचल प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री शांता कुमार ने भूमिका-आलेखन किया है। प्रसिद्ध विचारक श्री के.एन. गोविंदाचार्य ने 'वह काल' लिखा है।

खंड छह : इसमें दीनदयालजी की पुस्तक 'टू प्लांस : प्रोमिसेज : परफोर्मेंस : परस्पेक्टिव' संयोजित है तथा डॉ. भाई महावीर के द्वारा लिखी पुस्तक की समीक्षा का समाहन किया गया है। रा.स्व. संघ के उत्तर क्षेत्र के संघचालक एवं अर्थवेत्ता डॉ. बजरंगलाल गुप्त ने भूमिका लिखी है। इस खंड में 'वह काल' अध्याय नहीं है। यह खंड महान् अर्थचिंतक श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी को समर्पित किया गया है। उनका परिचय अ.भा. विद्यार्थी परिषद् के पूर्व अध्यक्ष श्री राजकुमार भाटिया ने लिखा है।

खंड सात : वर्ष 1959 का है। चीन द्वारा तिब्बत का अधिग्रहण कर भारत की सीमा का अतिक्रमण किया गया। यह दीनदयालजी को संघ प्रचारक बनानेवाले रा.स्व. संघ के पूर्व सह-सरकार्यवाह श्री भाऊराव देवरस को समर्पित है। उनका परिचय श्री अच्युतानंद मिश्र ने लिखा है। भूमिका-लेखन का कार्य 'विश्व हिंदू परिषद्' के राष्ट्रीय महामंत्री श्री चंपतराय ने किया है। वरिष्ठ पत्रकार डॉ. नंद किशोर त्रिखा ने 'वह काल' का आलेखन किया है।

खंड आठ : वर्ष 1960 का है। 'हमार ध्येय दर्शन' लेखमाला एवं 'जनसंघ ही क्यों' आलेख इसमें शामिल हैं। उत्तर प्रदेश की पहली महिला उपाध्यक्ष एवं जम्मू-कश्मीर सत्याग्रही श्रीमती हीराबाई अय्यर को यह खंड समर्पित है। श्री ब्रजकिशोर शर्मा ने उनका परिचय लिखा है। रा.स्व. संघ के पूर्व सह-सरकार्यवाह श्री मदनदास इसके भूमिका-लेखक तथा 'दीनदयाल शोध संस्थान' के प्रधान सचिव श्री अतुल जैन 'वह काल' के लेखक हैं।

खंड नौ : वर्ष 1961 का है। लोकमत परिष्कार का आलेखन, दलों की आचार संहिता के मुद्दे इसमें प्रमुख हैं। दीनदयालजी के साथी रहे तथा उनके बाद महामंत्री बने श्री सुंदर सिंह भंडारी को यह खंड समर्पित है। जयपुर के श्री इंदुशेखर 'तत्पुरुष' ने उनका परिचय लिखा है। रा.स्व. संघ के वर्तमान सरकार्यवाह श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी ने इसकी भूमिका लिखी है तथा 'वह काल' का आलेखन श्री बलबीर पुंज ने किया है।

खंड दस : वर्ष 1962 का है। भारत चीन के आक्रमण से आक्रांत हुआ था। यह खंड लब्धप्रतिष्ठ राजनेता डॉ. संपूर्णानंद को समर्पित है, उन्होंने दीनदयालजी की 'पोलिटिकल डायरी' की भूमिका लिखी थी। इनका परिचय 'पाञ्चजन्य' के संपादक श्री हितेश शंकर ने लिखा है। भूमिका आलेखन का कार्य सह-सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल ने किया है। लब्धप्रतिष्ठ भारतविद् श्री बनवारी ने 'वह काल' लिखा है।

खंड ग्यारह : वर्ष 1963-64 का है। यह वही काल है, जब दीनदयालजी ने 'एकात्म मानववाद' का व्याख्यान किया था। यह खंड महान् भाषा एवं भारतविद् आचार्य रघुवीर को समर्पित है। उनका परिचय दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी प्राध्यापक डॉ. राजीव रंजन गिरि ने लिखा है। भारतमाता मंदिर के संस्थापक स्वामी सत्यमित्रानंद गिरि के विद्वान् शिष्य गोविंद गिरि महाराज ने इसकी भूमिका लिखी है। भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं राज्यसभा सांसद डॉ. विनय सहस्रबुद्धे ने 'वह काल' का आलेखन किया है।

खंड बारह : वर्ष 1965 का है। कच्छ समझौता, पाकिस्तान से युद्ध, भारत की विजय एवं ताशकंद समझौते का यह काल है। संघ के तत्कालीन सरकार्यवाह श्री प्रभाकर बलवंत (भैयाजी) दाणी को यह खंड समर्पित है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दिल्ली प्रांत सहसंघचालक अधिवक्ता श्री आलोक कुमार ने इनका परिचय लिखा है। बिहार राज्य के राज्यपाल श्री रामनाथ कोविंद ने इसकी भूमिका तथा प्रतिष्ठित साहित्यकार डॉ. सीतेश आलोक ने 'वह काल' का आलेखन किया है।

खंड तेरह : वर्ष 1966 का है। स्वातंत्र्य वीर सावरकर का निधन, गोहत्या के

ख़िलाफ आंदोलन। दीनदयालजी के सहयोगी तथा ग्रामोदय प्रकल्पों के नियोजक दीनदयाल शोध संस्थान के संस्थापक श्री नानाजी देशमुख को यह खंड समर्पित है। उनका परिचय श्री देवेंद्र स्वरूप ने लिखा है। इस खंड की भूमिका उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री राम नाईक ने लिखी है। वरिष्ठ पत्रकार श्री राहुल देव 'वह काल' के लेखक हैं।

खंड चौदह : वर्ष 1967-68 का है। भारतीय राजनीति में एकदलीय एकाधिकार टूटने का यह काल है। दीनदयालजी अध्यक्ष चुने गए तथा जघन्य हत्या के शिकार हुए। इस खंड की भूमिका गुजरात के राज्यपाल प्रो. ओमप्रकाश कोहली ने लिखी है। 'वह काल' का आलेखन श्री जगदीश उपासने ने किया है। यह खंड दक्षिण भारत में 'जनसंघ' के कार्य को प्रारंभ करनेवाले तथा 'भारतीय जनता पार्टी' के राष्ट्रीय अध्यक्ष रहे श्री जना कृष्णमूर्ति को समर्पित है। उनका परिचय श्री ला. गणेशन ने लिखा है।

खंड पंद्रह : यह अंतिम खंड है। जिसकी तिथि ज्ञात नहीं, ऐसा साहित्य, इसमें संकलित है। महान् गांधीवादी एवं भारतविद् श्री धर्मपाल को यह खंड समर्पित है। डॉ. जितेंद्र कुमार बजार्ज ने उनका परिचय लिखा है। संघ के वरिष्ठ कार्यकर्ता तथा प्रख्यात पत्रकार श्री मा.गो. वैद्य ने इसकी भूमिका लिखी है। इस खंड में 'वह काल' नहीं है। दीनदयालजी संदर्भित 'अवसान' अध्याय का इसमें संयोजन किया गया है, जिसका आलेखन श्री रामबहादुर राय ने किया है।

—डॉ. महेश चंद्र शर्मा

नगला चंद्रभान गाँव में पं. दीनदयाल उपाध्यायजी का पैतृक आवास

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट—

1

पत्र : मामा के नाम

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रचारक बनने के बाद दीनदयालजी ने अपने मामा श्री नारायण शुक्ल को यह पत्र लिखा। यह पत्र पाञ्चजन्य में 'क्या अपना एक बेटा समाज को नहीं दे सकते?' शीर्षक के साथ 29 अप्रैल, 1968 को प्रकाशित हुआ था।

लखीमपुर खीरी,
जुलाई 21, 1942

श्रीमान मामाजी,

सादर प्रणाम! आपका पत्र मिला। देवी की बीमारी का हाल जानकर दुःख हुआ। आपने अपने पत्र में जो कुछ भी लिखा है, सो ठीक ही लिखा है। उसका क्या उत्तर दूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। परसों आपका पत्र मिला, तभी से विचारों एवं कर्तव्यों का तुमुल युद्ध चल रहा है। एक ओर तो भावना और मोह खींचते हैं तो दूसरी ओर प्राचीन ऋषियों, हुतात्माओं और पुरखों की अतृप्त आत्माएँ पुकारती हैं।

आपके लिखे अनुसार पहले तो मेरा भी यही विचार था कि मैं किसी स्कूल में नौकरी कर लूँ तथा साथ ही वहाँ का संघ कार्य भी करता रहूँगा। यही विचार लेकर मैं लखनऊ आया था। परंतु लखनऊ में आजकल की परिस्थिति तथा आगे कार्य का असीम क्षेत्र देखकर मुझे यही आज्ञा मिली कि बजाय एक नगर में कार्य करने के एक जिले में कार्य करना होगा। इस प्रकार सोते हुए हिंदू समाज से मिलने वाले कार्यकर्ताओं की कमी को पूरा करना होता है। सारे जिले में काम करने के कारण न तो एक स्थान पर दो-चार दिन से अधिक ठहराव संभव है और न किसी भी प्रकार की नौकरी। संघ के

स्वयंसेवक के लिए पहला स्थान समाज और देशकार्य का ही रहता है और फिर अपने व्यक्तिगत कार्य का। अतः मुझे अपने समाज कार्य के लिए जो आज्ञा मिली थी, उसका पालन करना पड़ा।

मैं यह मानता हूँ कि मेरे इस कार्य से आपको कष्ट हुआ होगा। परंतु आप जैसे विचारवान एवं गंभीर पुरुषों को भी समाज कार्य में संलग्न रहते देखकर कष्ट हो तो फिर समाज कार्य करने के लिए कौन आगे आएगा। शायद संघ के विषय में आपको अधिक मालूम न होने के कारण आप डर गए हैं। इसका कांग्रेस से किसी प्रकार का संबंध नहीं है और न किसी राजनीतिक संस्था से। यह आजकल की किसी राजनीति में भाग भी नहीं लेता है, न यह सत्याग्रह करता है और न जेल जाने में ही विश्वास रखता है। न यह अहिंसावादी है और न हिंसावादी ही। इसका तो एकमात्र कार्य हिंदुओं में संगठन करना है। इसी कार्य को यह लगातार सत्रह सालों से करता आ रहा है। इसकी सारे भारतवर्ष में एक हज़ार से ऊपर शाखाएँ तथा दो लाख से अधिक स्वयंसेवक हैं। मैं अकेला ही नहीं, परंतु इसी प्रकार तीन सौ से ऊपर कार्यकर्ता हैं, जो एकमात्र संघकार्य ही करते हैं। सब शिक्षित और अच्छे घर के हैं। बहुत से बी.ए., एम.ए. और एल-एल.बी. पास हैं। ऐसा तो कोई शायद ही होगा जो कम-से-कम हाई स्कूल न हो और वह भी इने-गिने लोग। इतने लोगों ने अपना जीवन केवल समाज कार्य के लिए क्यों दे दिया, इसका एकमात्र कारण यही है कि बिना समाज की उन्नति हुए व्यक्ति की उन्नति संभव नहीं है।

व्यक्ति कितना भी क्यों न बढ़ जाए, जब तक उसका समाज उन्नत नहीं होता, तब तक उसकी उन्नति का कोई अर्थ नहीं है। यही कारण है कि हमारे यहाँ के बड़े-बड़े नेताओं का दूसरे देशों में जाकर अपमान होता है। हरीसिंह गौड़[1] जो कि हमारे यहाँ के इतने बड़े व्यक्ति हैं, वे जब इंग्लैंड के एक होटल में गए तो वहाँ उन्हें ठहरने का स्थान नहीं दिया गया, क्योंकि वे भारतीय थे। हिंदुस्तान में ही आप हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को ले लीजिए। क्या उसकी वास्तविक उन्नति है? मुसलमान गुंडे बड़े-से-बड़े आदमी की इज़्ज़त को पल भर में खाक में मिला देते हैं, क्योंकि वे स्वयं बड़े हो सकते हैं, पर जिस समाज के वे अंग हैं, वह तो दुर्बल है, अधःपतित है, शक्तिहीन और स्वार्थी है।

हमारे यहाँ हर एक व्यक्तिगत स्वार्थों में लीन है तथा अपनी ही अपनी सोचता है।

---

1. हरीसिंह गौड़ (1870-1949) केंद्रीय विधानसभा के 1921 से 1935 तक सदस्य रहे। दिल्ली विश्वविद्यालय के पहले उप-कुलपति रहे और 1924 में दूसरे कार्यकाल के लिए फिर से उप-कुलपति नियुक्त हुए। बाद में वे नागपुर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति रहे। गौड़ ने 1946 में अपने जन्मस्थान सागर (मध्य प्रदेश) में सागर विश्वविद्यालय (अब डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय) की स्थापना की, जिसके वे अपने निधन तक उप-कुलपति रहे।

नाव में छेद हो जाने पर अपने अँगोछे को आप कितना भी ऊँचा क्यों न उठाइए, वह तो आपके साथ डूबेगा ही। आज हिंदू समाज की यही हालत है। घर में आग लग रही है, परंतु हरेक अपने-अपने घर की परवाह कर रहा है। उस आग को बुझाने का किसी को भी ख़याल नहीं है। क्या आप अपनी स्थिति को सुरक्षित समझते हैं? क्या आपको विश्वास है कि मौका पड़ने पर समाज आपका साथ देगा? नहीं, इसलिए नहीं कि हमारा समाज संगठित नहीं है। हम दुर्बल हैं, इसलिए हमारे आरती और बाजों पर लड़ाइयाँ होती हैं। इसलिए हमारी माँ-बहनों को मुसलमान भगाकर ले जाते हैं, अंग्रेज़ सिपाही उन पर निशंक होकर दिन-दहाड़े अत्याचार करते हैं और हम अपनी बड़ी भारी इज्जत का दम भरने वाले समाज में ऊँची नाक रखने वाले अपनी फूटी आँखों से देखते रहते हैं। हम उसका प्रतिकार नहीं कर सकते हैं।

अधिक हुआ तो इस सनसनीखेज मामले की खबर अखबारों में दे दी या महात्माजी ने 'हरिजन' में एक लेख लिख दिया। क्यों? क्या हिंदुओं में ऐसे ताकतवर आदमियों की कमी है, जो उन दुष्टों का मुक़ाबला कर सकें? नहीं, कमी तो इस बात की है कि किसी को विश्वास नहीं है कि वह कुछ करे तो समाज उसका साथ देगा। सच तो यह है कि किसी के हृदय में इन सब कांडों को देखकर टीस ही नहीं उठती है। जब किसी मनुष्य के किसी अंग को लकवा मार जाता है तो वह चेतनाशून्य हो जाता है। इसी भाँति हमारे समाज को लकवा मार गया है। उसको कोई कितना भी कष्ट क्यों न दे, पर महसूस ही नहीं होता। हरेक तभी महसूस करता है जब चोट उसके सिर पर आकर पड़ती है। आज मुसलमानों के आक्रमण सिंध में हैं। हमको उनकी परवाह नहीं, परंतु यदि वे ही हमारे घर में होने लग जाएँ, तब तो खलबली मचेगी और होश तो तब आएगा जब हमारी बहू-बेटियों में से किसी को वे उठाकर ले जाएँ। फिर व्यक्तिगत रूप से यदि कोई बड़ा हो भी गया तो उसका क्या महत्त्व? वह तो हानिकर ही है। हमारा सारा शरीर ही मोटा होता जाए तो ठीक है, परंतु यदि खाली पैर ही सूजकर कुप्पा हो गया और बाक़ी शरीर वैसा ही रहा तो वह तो फ़ील पाँव रोग (Elephantiasis-एलीफेंटाइसिस) हो जाएगा। यही कारण है कि इतने कार्यकर्ताओं ने व्यक्तिगत आकांक्षाओं को छोड़कर अपने आपको समाज की उन्नति में ही लगा दिया है।

हमारे पतन का कारण हममें संगठन की कमी ही है। बाक़ी बुराइयाँ अशिक्षा आदि तो पतित अवस्था के लक्षण मात्र ही हैं। इसलिए संगठन करना ही संघ का ध्येय है। इसके अतिरिक्त और यह कुछ भी नहीं करना चाहता है। संघ का क्या व्यावहारिक रूप है, आप यदि कभी आगरा आएँ तो देख सकते हैं। मेरा ख़याल है कि एक बार संघ के रूप को देखकर तथा उसकी उपयोगिता समझने के बाद आपको हर्ष ही होगा कि आपके एक पुत्र ने भी इसी कार्य को अपना जीवन कार्य बनाया है।

परमात्मा ने हम लोगों को सब प्रकार समर्थ बनाया है, क्या फिर हम अपने में से एक को भी देश के लिए नहीं दे सकते हैं? उस कार्य के लिए, जिसमें न मरने का सवाल है, न जेल की यातनाएँ सहन करने का, न भूखों मरना है और न नंगा रहना है। सवाल है केवल चंद रुपए के न कमाने का। वे रुपए, जिनमें निजी खर्च के बाद शायद ही कुछ बचा रहता। रही व्यक्तिगत नाम और यश की बात, सो तो आप जानते ही हैं कि ग़ुलामों का कैसा नाम और क्या यश? फिर मास्टरों की तो इज़्ज़त ही क्या है? आपने मुझे शिक्षा-दीक्षा देकर सब प्रकार से योग्य बनाया, क्या अब मुझे समाज के लिए नहीं दे सकते हैं? जिस समाज के हम उतने ही ऋणी हैं। यह तो एक प्रकार से त्याग भी नहीं है, विनियोग है। समाजरूपी भूमि में खाद देना है।

आज हम केवल फसल काटना जानते हैं, पर खेत में खाद देना भूल गए हैं, अत: हमारा खेत जल्द ही अनुपजाऊ हो जाएगा। जिस समाज और धर्म की रक्षा के लिए राम ने वनवास सहा, कृष्ण ने अनेक कष्ट उठाए, राणा प्रताप जंगल-जंगल मारे फिरे, शिवाजी ने सर्वस्वार्पण कर दिया, गुरु गोबिंद सिंह के छोटे-छोटे बच्चे जीते जी क़िले की दीवारों में चुने गए, क्या उसके खातिर हम अपने जीवन की आकांक्षाओं का, झूठी आकांक्षाओं का त्याग भी नहीं कर सकते हैं? आज समाज हाथ पसारकर भीख माँगता है और यदि हम समाज की ओर से ऐसे ही उदासीन रहे तो एक दिन वह आएगा, जब हमको वे चीजें, जिन्हें हम प्यार करते हैं, ज़बरदस्ती छोड़नी पड़ेंगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि आप संघ की कार्यप्रणाली से पहले से परिचित होते तो आपके हृदय में किसी भी प्रकार की आशंका नहीं उठती। आप यकीन रखिए कि मैं कोई ऐसा कार्य नहीं करूँगा, जिससे कोई भी आपकी ओर अंगुली उठाकर देख भी सके। उलटा आपको गर्व होगा कि आपने देश और समाज के लिए अपने एक पुत्र को दे दिया है। बिना किसी दबाव के केवल कर्तव्य के ख़याल से आपने मेरा लालन-पालन किया, अब क्या अंत में भावना कर्तव्य को धर दबाएगी। अब तक आपका कर्तव्य अपने परिवार तक सीमित था, अब वही कर्तव्य सारे हिंदू समाज के प्रति हो गया है। यह तो केवल समय की प्रगति के साथ-साथ आपके कर्तव्य का विकास मात्र ही है। भावना से कर्तव्य सदैव ऊँचा रहता है। लोगों ने अपने इकलौते बेटों को सहर्ष सौंप दिया है, फिर आपके पास एक के स्थान पर तीन-तीन पुत्र हैं। क्या उनमें आप एक को भी समाज के लिए नहीं दे सकते हैं? मैं जानता हूँ कि आप 'नहीं' नहीं कहेंगे।

आप शायद सोचते होंगे कि यह क्या उपदेश लिख दिया है। न मेरी इच्छा है, न मेरा उद्देश्य ही यह है। इतना सब इसलिए लिखना पड़ा कि आप संघ से ठीक-ठीक परिचित हो जाएँ। किसी भी कार्य की भलाई-बुराई का निर्णय उसकी परिस्थितियाँ और

उद्देश्य को देखकर ही तो किया जाता है। पं. श्यामनारायण मिश्र, जिनके पास मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ, वे स्वयं यहाँ के प्रमुख एडवोकेट हैं तथा बहुत ही माननीय (जेल जाने वाले नहीं) तथा ज़िम्मेदार व्यक्तियों में हैं, उनकी संरक्षता में रहते हुए मैं कोई भी ग़ैर ज़िम्मेदारी का कार्य कर सकूँ, यह कैसे मुमकिन है।

शेष कुशल है। कृपापत्र दीजिएगा। मेरा तो ख़याल है कि देवी का एलोपैथिक इलाज बंद करवाकर होमियोपैथिक इलाज करवाइए। यदि आप देवी का पूरा वृत्त और बीमारी तथा संपूर्ण लक्षण भेजें तो यहाँ पर बहुत ही मशहूर होमियोपैथ हैं, उनसे पूछकर दवा लिख भेजूंगा। होमियोपैथ इलाज की यदि दवा लग गई तो बिना ख़तरे के इस प्रकार ठीक हो सकता है। भाई साहब व भाभीजी को नमस्ते, देवी व महादेवी को स्नेह। पत्रोत्तर दीजिएगा। भाईसाहब तो कभी पत्र लिखते ही नहीं।

आपका भानजा
दीना
—जुलाई 21, 1942

□

2

पत्र : ममेरे भाई श्री बनवारी के नाम

सन् 1942 से 1945 तक दीनदयालजी लखीमपुर (उत्तर प्रदेश) में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक थे। वे अपने बीमार मामा की सेवार्थ भुवाली (संभवतः नैनीताल, उत्तराखंड) आए थे। उनके ममेरे भाई बनवारी लाल शुक्ल को यहाँ आकर सेवाकार्य सँभालना था, तब ही वे फिर से अपने कार्यक्षेत्र में जाते। लेकिन उनके ममेरे भाई यथासमय नहीं आए, इसलिए उन्होंने यह पत्र लिखा। यह पत्र पाञ्चजन्य में 'रात को जब आँख खुलती है' शीर्षक के साथ 29 अप्रैल, 1968 को प्रकाशित हुआ था।

भुवाली
मार्च 10, 1944

प्रिय बनवारी,

आज शायद जितने विक्षुब्ध हृदय से पत्र लिख रहा हूँ, इस प्रकार शायद अपने जीवन में मैंने कभी नहीं किया होगा। मैं चाहता तो था कि अपने हृदय के इस क्षोभ को अपने ही तक सीमित रखूँ, परंतु अब तक का अनुभव बतलाता है कि यह क्रिया अत्यंत वेदनोत्पादक एवं व्यथाकारी है। तुम विचारवान हो एवं संवेदनात्मक रूप से सोचने की तुममें शक्ति है, इसलिए तुमको ही लिख रहा हूँ।

8 तारीख़ से ही मैं तुम्हारी सतत बाट देख रहा था, वैसे तो मैं जानता था कि तुम नहीं आओगे, परंतु एक यों ही आशा लगी हुई थी कि शायद तुम मेरे कार्य की महत्ता का अनुभव कर सको और आ जाओ, परंतु तुम शायद न समझ पाए कि मेरा जाना भी मेरी

दृष्टि से कितना आवश्यक है। एक स्वयंसेवक के जीवन में संघकार्य का कितना महत्त्व है, काश! तुम इसको समझते होते।

तुम जानते हो कि साधारण रूप से जीवनयापन के अनुकूल योग्यता एवं साधन होते हुए भी, उस मार्ग को छोड़कर भिन्न मार्ग ही मैंने स्वीकार किया है। मैं भी सुख-चैन से रहने की इच्छा करता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि इस प्रकार कार्य करने में कुटुंब का कोई भी व्यक्ति और मामाजी विशेषकर प्रसन्न नहीं हैं, मामाजी ने मुझको पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बनाया और अब उनकी इच्छा के विपरीत कार्य करके उनके हृदय को दु:ख देकर, उनकी आशाओं को ठेस पहुँचाकर जो कृतघ्नता का एक पातकीय कृत्य मैंने किया है, उसका मैंने पूर्णरूपेण विचार किया है एवं इस बुराई के टीके को अपने माथे पर लेकर भी तथा अन्य समस्त बुराई-भलाई का विचार करने के बाद जिस मार्ग को ग्रहण किया है और फिर वह मार्ग भी काँटों से परिपूर्ण है, सदैव इधर-उधर घूमते फिरना, न रहने का ठिकाना, न खाने का ठिकाना, जिसने कहा, उसके यहाँ खाया, जहाँ मिला वहाँ रहा आदि अनेक कठिनाइयों को पहले भी और बाद में अनुभव से जानने पर भी जिस कार्य के लिए अपना समस्त जीवन लगाने का विचार किया है। उसका मेरे लिए कितना महत्त्व है, इसको शायद तुम तब ही अनुभव कर पाते, जबकि मैं मामाजी को इसी प्रकार छोड़कर यहाँ से चला जाता।

मैं जानता हूँ कि यदि मैं दस रुपए का भी कहीं नौकर होता तो इस प्रकार का कार्य करने की हरेक सलाह देता, फिर यह कोई भी नहीं कहता कि नौकरी छोड़कर इस प्रकार पड़े रहो—तब तो शायद मामाजी भी और तुम भी और प्रत्येक इस बात की पूरी चिंता रखता कि यदि मैं एक दिन की छुट्टी लेकर आया होता तो ठीक समय पर नौकरी पर पहुँच जाऊँ। इस बात को मैं तुम्हारे और भाई साहब के विषय में देखता हूँ, इसलिए नहीं कि वे तुम दोनों को कोई अधिक प्यार करते हैं वरन् केवल इसलिए कि तुम नौकर हो। तो क्या समाज का कार्य एक नौकरी के बराबर भी महत्त्व नहीं रखता? मैं सोचता हूँ कि यदि मैं कहीं नौकर होता तो आज नौकरी छोड़कर मैं सहर्ष यहाँ पड़ा रहता, उसमें मुझे शांति मिलती। मामाजी का मेरे जीवन पर एक विशेष स्थान है और उनके लिए इस प्रकार नौकरी छोड़ना मुझे किसी भी प्रकार नहीं अखरता।

जीजी की बीमारी में मैंने अपनी पढ़ाई छोड़ी, छात्रवृत्ति छोड़ी, वह केवल इसलिए कि जीजी के आराम होने से मामाजी को शांति मिलेगी। परंतु आज मेरी शांति नष्ट हो चुकी है। मेरा कर्तव्य मुझे बार-बार पुकारकर कहता है कि मुझे लौटकर जाना चाहिए। रात-दिन मेरे मस्तिष्क में यही चक्कर मन लगाता रहता है और इस मानसिक संघर्ष एवं उथल-पुथल का ही परिणाम है कि आज मैं छोटी-छोटी बातों को भी भूल जाता हूँ। दवा तक देने का समय पर ध्यान नहीं रहता है, परिचर्या के लिए जितनी सतर्कता

चाहिए, उतनी इच्छा होते हुए भी नहीं रख पा रहा हूँ, मेरी आत्मा मेरी दुर्बलता पर मुझको सदैव धिक्कारती रहती है, रात्रि को जब भी आँख खुल जाती है तो निस्तब्ध वातावरण में आत्मा की प्रतारणा स्पष्ट अनुभव होती है, मेरी कर्तव्यबुद्धि मुझको अपने कार्यक्षेत्र की ओर प्रेरित करती है, पर हृदय की दुर्बलता मुझे अशक्त बना देती है।

यह बुद्धि और हृदय का संघर्ष निरंतर चल रहा है, मैं नहीं जानता कि किस दिन मेरा कर्तव्य मेरी दुर्बलता को नष्ट कर देगा और फिर उस दिन शायद प्रत्येक मुझको कोसेगा, मुझे कृतघ्न, धोखेबाज आदि-आदि अनेक विशेषणों से संबोधित किया जाएगा। परंतु क्या हुआ, एक स्वयंसेवक तो संघकार्य के निमित्त प्रत्येक कलंक को सह सकता है। संघकार्य के निमित्त यदि उसे ऐसे पापकर्म में लीन होना पड़े, जिसके लिए कि उसे जन्म-जन्मांतर तक घोर नरक-यातनाएँ भी भुगतनी पड़ें तो उसे भी वह सहर्ष कर जाएगा। समाज का कार्य ही उसके सम्मुख एकमेव कार्य होता है। तुम कहोगे कि ये बड़ी-बड़ी बातें और इतना ओछा व्यवहार! और यही मैं कहता हूँ कि यह मेरे हृदय की दुर्बलता है, वह भी केवल मामाजी के लिए। परंतु मैं यह भी जानता हूँ कि मेरी यह दुर्बलता भी अधिक नहीं टिक पाएगी। अपनी ओर से यद्यपि मेरा यही प्रयत्न है कि कम-से-कम मामाजी की बीमारी तक तो मेरा कर्तव्य मेरे ऊपर हावी न हो।

इसलिए गीता जो कि मेरे लिए अत्यंत प्रिय पुस्तक है, जिसके एक अध्याय का मैं नित्य पाठ करता था, उसी गीता को तुम्हारे कहने पर भी और मामाजी की इच्छा होने पर भी नहीं सुनाता हूँ वरन् टालमटोल करता रहता हूँ। क्योंकि जब-जब मैंने गीता मामाजी को सुनाई है, मुझे अनुभव होता है कि उसका एक-एक श्लोक मुझे अपने कर्तव्य की याद दिलाता है। फलत: गीता पाठ के पश्चात् सदैव ही ग्लानि और चिंता से आवृत्त हो जाता हूँ। परंतु मेरे प्रयत्नों के बावजूद आत्मा की प्रतारणा तो दिन-रात सदैव ही रहती है, जमीन में जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा पानी रिसता जाता है और वही पानी एक बड़े भारी ज्वालामुखी के रूप में फूट पड़ता है, उस रिसते हुए पानी को कोई नहीं रोक सकता है और ज्वालामुखी के उभाड़ को भी; उसी भाँति मैं चाहता हुआ भी अपने कर्तव्य के आकर्षण को रोक नहीं सकता हूँ।

इसलिए मैं चाहता हूँ कि कर्तव्य की मैंने जो इतनी बड़ी उपेक्षा की है, उसके लिए थोड़ा सा तो शांति का कार्य कर लूँ। तुम जानते हो कि मुझे 11 बजे तुम्हारी चिट्ठी पीलीभीत में मिली और 3 बजे की गाड़ी से मैं चल दिया, न किसी से कुछ कह पाया और न सुन पाया और न शाखा का प्रबंध ही कर पाया। अब मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने यह मूर्खता की, परंतु मैं यह कभी सोचकर नहीं चला था कि मैं इस प्रकार अनिश्चित काल के लिए रहूँगा—मैं तो अधिक-से-अधिक 15/20 दिन रहने के विचार से आया था। अब तुम ही सोचो कि इस प्रकार एकाएक चले आने पर, क्या तुम करोगे?

मैं जानता हूँ कि पहले तो तुम एकाएक इस प्रकार आओगे ही नहीं और आ भी गए तो शीघ्र से शीघ्र लौट जाने का प्रयत्न करोगे, हाँ ठीक-ठाक प्रबंध होने पर एवं उच्च अधिकारियों की आज्ञा मिलने पर फिर शायद निश्चित काल तक रह सकते। मैं नहीं समझता कि मैं क्यों इस प्रकार भाग खड़ा हुआ। एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता के नाते तो मुझे कुटुंब का इस प्रकार मोह नहीं होना चाहिए था। परंतु हृदय खींच लाया, तुम जानते हो कि 'भावना से कर्तव्य ऊँचा है'। मैं केवल इसलिए पीलीभीत और लखीमपुर जाना चाहता था कि अब तक जैसे-तैसे भी जो कुछ हुआ सो हुआ, अब वहाँ का कुछ स्थायी प्रबंध कर दूँगा तथा इस प्रकार कर्तव्य की क्षति की कुछ पूर्ति करके अगले जितने दिनों भी यहाँ रहूँ, शायद कुछ शांति से रह सकूँ। इसलिए मैंने तुमसे प्रार्थना की थी, भिक्षा माँगी थी, परंतु तुमने उसको ठुकरा दिया और अब मेरा हृदय रो रहा है, जी में आता है कि अब तुम्हारी ओर से इस प्रकार निराश होकर अपने हृदय की भावनाओं को एक ओर फेरकर अपने कर्तव्य क्षेत्र में एकदम लौट जाऊँ। परंतु अभी तो शायद मैं विवश हूँ। मुझको यह अवश्य अनुभव हो रहा है कि समाज की दृष्टि से मैंने एक जघन्य कृत्य किया है और उसके लिए पश्चात्ताप की ओर से मुझको दग्ध होना पड़ेगा।

तुम शायद सोचते होगे कि आज मेरे ऊपर मुसीबत आई है और उसी मुसीबत में दीनदयाल बजाय सहायक होने के रोड़े अटका रहा है। परंतु मेरी केवल एक ही प्रार्थना है कि तुम जरा इस दृष्टिकोण से सोचो, मेरे कार्य को अधिक नहीं तो कम से कम इतना महत्त्व तो दो, जितना कि तुम मेरी नौकरी को देते हो।

मुझे याद है कि जिस समय जयपुर में जीजी बीमार थी, जीजाजी छुट्टी लेकर निरंतर उनके पास थे, परंतु गरमी की छुट्टी होने के पहले दो दिन के लिए स्कूल अटैंड (उपस्थित) करने वे भी चले गए थे, केवल इसलिए कि यदि ऐसा न किया गया तो सारी की सारी महीने की छुट्टियाँ उनकी लीव (ग्रीष्मावकाश) में शामिल कर ली जाएँगी और उनको उसकी तनख्वाह नहीं मिलेगी। मरणासन्न रोगी को छोड़कर एक व्यक्ति केवल इतनी थोड़ी सी बात के लिए चला जाए और उसको तुम सब ठीक समझो और यहाँ एक शाखा नष्ट हो रही है, पिछले सारे किए-धरे पर पानी फिर रहा है और उसके प्रबंध के हेतु दो दिन को भी जाने की फुरसत नहीं। तुमको अपने एरियर्स (बकाया वेतन) का ख़याल है, सी.ई. की प्रसन्नता-अप्रसन्नता का ख़याल है, अपने इन्क्रीमेंट्स (वेतन वृद्धि) का ख़याल है, आदि-आदि पचासों बातों का ख़याल है, परंतु राष्ट्र के इस कार्य का ख़याल नहीं है।

मेरी व्यथा को तुम नहीं जानते हो और न उसकी तुम्हें चिंता ही है। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी आपत्तियों को बढ़ाऊँ, बल्कि मेरा हृदय कहता है कि मैं उसमें सहायक ही होऊँ (यद्यपि कर्तव्य तो मेरा अन्यत्र निश्चित ही है), परंतु मैं नहीं चाहता कि इस प्रकार

सहायक होने से अपने जीवन के ध्येय-मार्ग पर जितने क़दम आगे बढ़ चुके हैं, उनको भी लौटा लूँ। अपने ध्येय के भव्य भवन को मैं अभी न बना पाऊँ, उसको कुछ रुककर बना लूँ, यह हो सकता है, इसमें जो आत्मा को कष्ट होगा, उसको सहा जा सकता है, परंतु यह मैं कदापि सहन नहीं कर सकता कि इस भवन को जितना बनाया है, उसको भी गिरा दूँ। किसी भी दृष्टि से देखो यह तो मैं अवश्य समझता हूँ कि तुम मेरे इस अधिकार से मुझे वंचित नहीं कर सकते कि मैं कम-से-कम दो-चार दिन के लिए जाकर अपने कार्य का निश्चित प्रबंध कर आऊँ।

तुम नौकरी कर रहे हो, तुमको जितने दिन की छुट्टी मिलती है, उससे अधिक रहने में तुम अपने को विवश समझते हो। भाई साहब का भी यही हाल है और मेरा भी यही होता, यदि मैं नौकर होता, तब यहाँ कौन रहता? मैं निश्चित रूप से कह सक्ता हूँ, आज चाहे करने को तुम या कोई कुछ भी कह दे कि हममें से कोई भी नौकरी छोड़कर नहीं रहता और न मामाजी भी इस बात को पसंद ही करते। क्या तुम समझते हो कि रुपए का बंधन ही सबकुछ है? अनुशासन का भी तो बंधन है, आत्मा का भी तो बंधन है। आज प्रत्येक को अपने कार्य की चिंता है और मुझसे आशा की जाती है, मैं अपने कार्य को बिल्कुल ही भूल जाऊँ, उसका कुछ प्रबंध भी न कर सकूँ। यह कहाँ का न्याय है, मेरी समझ में नहीं आता।

खैर, पत्र बहुत बड़ा हो गया है और इस समय तो विक्षुब्ध हृदय में भाव इतने भरे हैं कि मैं कितना ही लिखता जाऊँ, समाप्त न होंगे। इतना अवश्य लिखे देता हूँ कि इस पत्र का एक-एक शब्द मेरी आत्मा से निकला है और मैंने सोच-विचारकर लिखा है। यों ही जोश में आकर नहीं लिखा है। प्रत्येक शब्द सार्थक है और उसके पीछे विचार एवं मेरी कार्यशक्ति का सामर्थ्य है। आज मामाजी ने भी तुम्हारी बहुत बाट देखी, तुम्हारे अथवा तुम्हारे किसी पत्र के न आने से वे बहुत चिंतित रहे। फलतः आज उनका तापमान फिर 100.6° सेंटीग्रेड हो गया, यद्यपि कल 100 ° सेंटीग्रेड तक ही रहा था। पत्र तो जल्दी-जल्दी डालते रहा करो, इससे उनको सांत्वना ही मिलती है।

पुनश्च

तुम इतवार को कुछ मिनटों के लिए आए। तुमने अपने न आ सकने का कारण बताया। उस पर अविश्वास करने का मुझे कोई भी न्यायसंगत कारण दृष्टिगत नहीं होता है। परंतु तुम्हारे जाने के पश्चात् भाग्य के इस क्रूर कुठाराघात पर हृदय ख़ूब ही रोया। तुम शायद विश्वास न करो कि अपने प्रिय बंधु-बांधवों की मृत्यु पर भी जिन आँखों में आँसू न आए, वे आँखें भी अश्रु जलपूरित थीं। तुमने कहा कि अप्रैल में छुट्टी लूँगा,

उस समय आवेश के कारण मैं तुमसे कुछ कह न पाया, परंतु अप्रैल की छुट्टी मेरे किस काम की 'का वर्षा जब कृषि सुखानी'। तुम समझते होगे कि मैंने होली की छुट्टियों में जाने का विचार आकस्मिक ही लिया था या केवल इसीलिए कि तुम्हारी छुट्टियाँ होंगी, चलो इन दिनों हो ही आऊँ। नहीं! 5 तारीख़ को प्रांतीय प्रचारक गोला में आए थे, उनके आगमन एवं आदेश का पूर्वाभास होने के कारण ही मैंने ये दिन निश्चित किए थे और अब तुम कहते हो कि अप्रैल तक जाकर क्या मैं अपना सिर फोड़ूंगा। और अब भी मैं निश्चित करता हूँ कि तुमको छुट्टी नहीं मिलेगी।

खैर, आत्मा का संघर्ष मेरे भाग्य में है—भुगतूंगा जब तक कि उसका कोई एकपक्षीय निर्णय न हो जाए। एक बात अवश्य है, वह मैं भाई साहब से भी कह चुका था कि 15 मई से हमारा ओ.टी.सी. कैंप (संघ शिक्षा वर्ग) होता है, अत: 15 मई के बाद मेरा किसी भी दशा में रुकना असंभव हो जाएगा। वैसे तो मेरा ख़याल है कि भगवत्कृपा से उस समय तक मामाजी ऐसे हो जाएँगे कि केवल नौकर के साथ अकेले रह सकें, परंतु यदि भाग्य ने तब भी धोखा दिया तो उस समय निश्चित ही मैं भाग्यहीन न रह पाऊँगा, मुझको जाना ही होगा। विचार कर लेना। हाँ, एक ओर हाथ से पत्र लिख रहा रहूँ, फिर एक तरफ़ से आवाज़ आ रही है, इस विषय में तुम क्या कहोगे? उपेक्षा ही न, पर क्या यह उचित है? जरा शांत हृदय से सोचो।

अच्छा मामाजी की तबीयत अभी वैसी ही है। उस दिन जल्दी-जल्दी में तुम से घी के बारे में कहना भूल गया। घी आज समाप्त हो गया है। यहाँ पहाड़ी घी साढ़े चार छटाँक का मिलता है, वह भी विश्वास के योग्य नहीं, देसी साढ़े तीन छटाँक। अत: किसी प्रकार हो सके तो वहीं 6 रुपया, 8 रुपया का, या ज़्यादा घी भेज देना, तुम्हारा बरतन खाली है, लौट जाएगा। फलों में सेब, अनार भेजने की ज़रूरत नहीं है। डॉ. शर्मा छुट्टी पर हैं, दो-एक दिन में आएँगे। डॉ. श्री खंडे आगरा में हैं, अभी राउंड नहीं लगाया है। प्रह्लाद भाई साहब का पत्र आया हो तो लिखना, यहाँ तो कोई पत्र आया नहीं है।

हस्ताक्षर

(दीनदयाल उपाध्याय)

—मार्च 10, 1944

□

3

सम्राट् चंद्रगुप्त
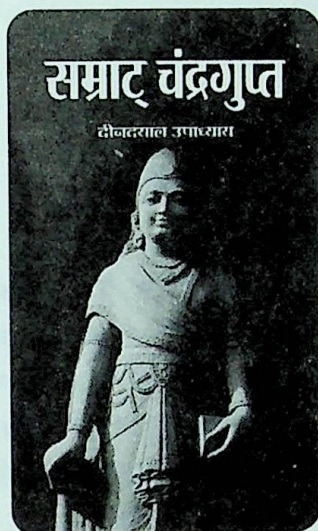
अप्रैल 1946 की बात है, तब दीनदयालजी उत्तर प्रदेश के सह-प्रांत प्रचारक थे। एक प्रांतीय बैठक में तत्कालीन प्रांत प्रचारक भाऊराव देवरस ने चिंता व्यक्त की कि शाखाओं में बाल स्वयंसेवक आते हैं, लेकिन हमारे विचार बाल-सुलभ भाषा में उपलब्ध नहीं हैं। वास्तव में बाल साहित्य की बहुत आवश्यकता है। दीनदयाल उपाध्याय ने यह बात सुनी और रात भर लिखते रहे, अगले दिन सुबह भाऊराव को पांडुलिपि सौंपते हुए बोले, "देखिए, बाल स्वयंसेवकों के लिए यह पुस्तक कैसी रहेगी?" एक रात में उन्होंने एक बाल उपन्यास लिख डाला। उनकी यह पहली पुस्तक 'सम्राट् चंद्रगुप्त' के नाम से वर्ष प्रतिपदा 2003 (1946) को प्रकाशित हुई।

भारत नीति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली ने सितंबर 2014 में इस उपन्यास का पुनर्प्रकाशन किया है। तदनुसार इसका मूल प्रकाशन 'भारत प्रकाशन', नागपुर है, लेकिन संभवतः इसका 1946 में प्रथम प्रकाशन 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' द्वारा हुआ है तथा पुनर्प्रकाशन 'लोकहित प्रकाशन', लखनऊ द्वारा हुआ है।

दीनदयालजी ने इसमें एलेग्जेंडर (Alexander) को अलिक्सुंदर, मेगस्थनीज (Megasthenes) को मेगस्थने, सेलुकस (Seleucus Nicator) को सेलेउक् और पोरस (Porus) को पर्वतक नाम से संबोधित किया है।

अनुक्रमणिका

मनोगत

प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक तथ्यों के ढाँचे पर अपनी भाषा का रंग चढ़ाकर चंद्रगुप्त का चरित्र लिखा गया है। नायक की एक ध्येय निष्ठा ने स्वयं ही उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की है। कुछ घटनाओं का वर्णन पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे हुए इतिहास से मेल नहीं खाता है। प्रस्तुत यह वर्णन कल्पना के आधार पर न होते हुए अपने प्राचीन तथ्यों तथा भारतीय विद्वानों द्वारा दी हुई आधुनिक खोजों के आधार पर है। जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गई है, उन्हें सब प्रकार के ऐतिहासिक तथ्यों के वन में भ्रमण कराने की आवश्यकता नहीं है। इतना जानना पर्याप्त है कि यूरोपियन विद्वानों द्वारा प्रयत्नपूर्वक एवं उनका अंधानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों द्वारा अनजाने में फैलाए हुए अंधकार को नष्ट करने वाले ऐतिहासिक शोध के सूर्यप्रकाश में देखी हुई ये सत्य घटनाएँ हैं।

—दीनदयाल उपाध्याय

वर्ष प्रतिपदा, 2003 (1946)

उपोद्घात

पुण्यमयी भारतभूमि की विशाल ऐतिहासिक परंपरा में वैभव और पराभव, उत्कर्ष और अपकर्ष के अनेक कालखंड मिलते हैं। उन्नति और अवनति दोनों ही में उसने अपनी राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत् रखा है, दोनों ही स्थितियों में अपनी आत्मा को बलवती बनाया है। पराभव प्राप्त होने पर उसने काल-चक्र की गति को भी बदलने वाले उन कर्मठ वीरों को जन्म दिया, जिन्होंने अपनी मनस्विता, स्वाभिमान एवं नीति-निपुणता के द्वारा राष्ट्रीय आत्मा की सुप्त शक्ति को जगाया। यह शक्ति अन्याय और अत्याचार की भीषण आँधी में भी अपने स्थान पर शांत मुद्रा से डटी रही और अगस्त्य के समान कठिनाइयों के अलंघ्य विंध्याचल का अतिक्रमण करके समुद्र जैसी उद्दंड एवं विशाल शक्ति को भी तीन ही चुल्लू में पान करने में समर्थ हुई। इसी प्रकार इसके वैभव और शांति के काल में वे तत्त्वज्ञ हुए, जिन्होंने आत्मा की ईश्वरीय शक्ति का साक्षात्कार करके मानव के कल्याण के लिए सत्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, ऐसा ही एक कालखंड आज से 2400 वर्ष पूर्व हमको मिलता है। इसमें चंद्रगुप्त और चाणक्य के सम्मिलित प्रयत्नों ने समाज की उस रचनात्मक शक्ति का सृजन किया, जिसने न केवल अलिक्सुंदर को ही भारत से निकाल बाहर किया, अपितु एक विशाल साम्राज्य का भी निर्माण किया।

चंद्रगुप्त और चाणक्य ने कल्पना के मनोराज्य में जिस विशाल साम्राज्य का मानचित्र खींचा था, उसे एक ने अपनी अजेय शक्ति तथा दूसरे ने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर प्रत्यक्ष जगत् में प्रकट कर दिखाया। अलिक्सुंदर के आक्रमण का भारत में प्रत्येक स्थान पर विरोध हुआ और देश में इतनी शक्ति थी कि वह पश्चिम के महान् विजेता (?) को पराभूत कर सकी; परंतु फिर भी भारत पूर्णत: शक्तिशाली नहीं था। समाज असंगठित, विशृंखल तथा व्यक्तिनिष्ठ था। इन अवगुणों के कारण देश की बढ़ती हुई दुर्बलता चंद्रगुप्त और चाणक्य से न छिप सकी, क्योंकि वे थे देश की नाड़ी

पहचानने वाले चतुर वैद्य। देश की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को समरस करने के कारण दुर्बलता की वेदना को उन्होंने अनुभव किया। पर्वतक की विशाल शक्ति, जिसने अलिक्सुंदर के छक्के छुड़ा दिए और उसे मैत्री का हाथ बढ़ाने को विवश किया तथा मगध का अजेय सैन्यबल, जिसकी वीरता और शूरता की कहानियाँ सुनकर ही अलिक्सुंदर की सेना हिम्मत हार बैठी, ये दोनों ही वास्तव में राष्ट्रीय दृष्टि से कितनी खोखली थीं, यह चंद्रगुप्त और चाणक्य जानते थे। इसीलिए उन्होंने भारत के दौर्बल्य को दूर करके इसे शक्तिशाली बनाने का बीड़ा उठाया। भारत के संपूर्ण छोटे-बड़े राज्यों की विजय तथा भारत की सीमा से उसके शत्रुओं को पर्याप्त दूर रखने के लिए गांधार (अफगानिस्तान), पारस (ईरान), चीनी तुर्किस्तान (पूर्वी तुर्किस्तान), कुस्तान (खोतान) आदि की विजय भारत को वैभव के शिखर पर पहुँचाने वाले शक्ति-सोपान की पहली सीढ़ी थी। विजय के पश्चात् साम्राज्य में शांति एवं सुव्यवस्था निर्माण करना इस मार्ग की दूसरी सीढ़ी थी।

चंद्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य इतना सुसंगठित तथा शासन इतना सुदृढ था कि विदेशी यवनों को भी उसकी प्रशंसा करनी पड़ी। उसके शासन-काल की शांति, व्यवस्था और संपन्नता का चित्र सेलेउक् के दूत मेगस्थने के वर्णन के जो अंश उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर खींचा जा सकता है। यथार्थ स्वरूप कितना भव्य होगा, इसकी तो केवल कल्पना कर सकते हैं। चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसका विस्तार गंगा के किनारे व पाँच मील था। राजधानी की विशालता, स्वच्छता एवं वैभव को देखकर ही साम्राज्य के वैभव का अनुमान लगाया जा सकता था। नगर में 450 तो रत्नखचित अट्टालिकाएँ ही थीं। फिर राज प्रासाद की शोभा और रत्नभंडार का तो कहना ही क्या! पण्यवीथिकाओं की स्वच्छता और सजावट अत्यंत ही चित्ताकर्षक थी। छोटी-छोटी गलियों में भी स्वच्छता का समुचित प्रबंध था। पाटलिपुत्र उस समय के संसार का प्रमुख नगर था। वहाँ न केवल दूर के व्यापारी ही वाणिज्य व्यवसाय के लिए आते थे, परंतु संसार के सभी राज्यों के राजदूत भी चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में उपस्थित रहते थे।

अपने विशाल साम्राज्य का शासन करने के निमित्त चंद्रगुप्त मौर्य ने उसे पाँच भागों में विभक्त कर रखा था। पूर्वीय भाग का शासन तो राजधानी पाटलिपुत्र से ही होता था, परंतु उत्तर में तक्षशिला और कौशांबी, मध्य भारत में उज्जयिनी (उज्जैन) तथा दक्षिण में महिशर (मैसूर) प्रतिनिधि-शासन के केंद्र थे। प्रत्येक प्रांत तथा केंद्र में शासन मंत्रियों की एक परिषद् के द्वारा होता था। सम्राट् स्वयं समय-समय पर साम्राज्य भर में दौरा करते थे। देश भर में स्थानीय शासन का भार ग्राम पंचायतों के ऊपर था। नगर में आज की भाँति ही स्थानीय शासन-संस्थाएँ (म्युनिसपैलिटियाँ) कार्य करती थीं। स्वच्छता पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता था कि सड़कों पर गंदा पानी फेंकने वालों के लिए बड़े

कठिन दंड देने की व्यवस्था थी। नगर के समस्त गृह योजनानुसार बनवाए जाते थे तथा घर बनवाने के पहले स्वास्थ्य-अधिकारी की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक था। आज के बड़े-बड़े नगरों की भाँति पाटलिपुत्र घिचपिच नहीं बसा हुआ था।

भारत में कई बड़ी-बड़ी सड़कें मौर्य शासन में बनीं। उनके दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाए गए थे तथा थोड़ी-थोड़ी दूर पर यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ और कुएँ बने थे। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक वणिकगण निर्भय होकर अपना सामान ले जाते थे। चोरी और डाके का भय पूर्णतः जाता रहा था। नगर में लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। इतना ही नहीं, किसी की चोरी होने पर राजकर्मचारी उसका पता न लगा सकें तो राज्य-कोष से उसकी क्षति पूरी कर दी जाती थी। सत्य तो यह है कि जब सब प्रकार की सुव्यवस्था और संपन्नता थी, तब कोई चोरी जैसे गर्हित, शास्त्रनिषिद्ध, लोकविघातक एवं लोकनिंद्य कर्म की ओर प्रवृत्त ही क्यों होता? राज्य में न्याय का समुचित प्रबंध था। न्याय और शासन-विभाग का कार्य अलग-अलग अधिकारी देखते थे। न्याय के सामने सब समान थे। यहाँ तक कि राजपुत्र को भी, यदि वह दोषी हो तो दंड दिया जाता था। समाज-विघातक कार्यों के लिए तो बहुत ही कठिन दंड दिया जाता था। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य स्वयं न्याय करता था। इसके लिए प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति सम्राट् तक पहुँच सकता था।

ज्ञान और विद्या के प्रसार की ओर भी सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य ने विशेष ध्यान दिया था। तक्षशिला और नालंदा के विश्वविद्यालय तो चलते ही थे, परंतु समाज और राष्ट्र के हित के प्रश्नों का निर्णय करने के लिए स्थान-स्थान पर परिषदें होती थीं, उनमें विद्वानों को यथेष्ट रूप से पुरस्कृत किया जाता था। समाज में समष्टि जीवन की भावना राष्ट्र के जीवन का मूल है, यह सम्राट् चंद्रगुप्त को विदित था। इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रचार-साधनों का उपयोग तो होता ही था, परंतु कई बातों के लिए तो राज्य की ओर से विशेष नियम बने हुए थे। पड़ोस में आग लगने पर यह समष्टिगत कर्तव्य है कि उसको बुझाने में सहायता दी जाए। इस कर्तव्य की अवहेलना करने वाले को राज्य की ओर से कठिन दंड दिया जाता था। नहर, तालाब आदि के सार्वजनिक उपयोग के कार्यों में भी सबको सहायता करनी ही होती थी। देश में इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध था कि लोग व्यक्तिगत हितों के स्थान पर समाज के हितों को ही महत्त्व देते थे।

सम्राट् चंद्रगुप्त की शासन-व्यवस्था इतनी निर्दोष एवं पूर्ण थी कि पश्चिमी विद्वानों को भी उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करनी पड़ी है। प्रत्येक अच्छी बात का उद्‌गम यूरोप से मानने वालों को आश्चर्य होता है कि आज से चौबीस सौ वर्ष पूर्व मौर्य शासन इतना विकसित स्वरूप कैसे उपस्थित कर सका। आज के विज्ञान के आविष्कारों के न होते हुए भी सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य ने शासन की आधुनिकतम प्रणालियों का उपयोग किया।

यदि हम इसका पूर्ण विवरण जानना चाहते हैं तो हमको सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री, सहयोगी एवं गुरु विष्णुगुप्त कौटिल्य के अपूर्व ग्रंथ अर्थशास्त्र को पढ़ना चाहिए। इसमें उन सब विषयों का वर्णन है, जिनसे कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली हो सकता है। इसमें किसी तत्त्ववेत्ता की मन:सृष्टि के काल्पनिक सिद्धांत नहीं हैं, किंतु एक सूक्ष्मदर्शी, यथार्थवादी विचारक तथा क्रांतिकारी कर्मयोगी के विचार हैं; राष्ट्र के उत्थान-पतन के कारणों की विवेचना करके स्वयं राष्ट्र-निर्माण करने वाले कूटनीतिज्ञ तपस्वी के अनुभूत प्रयोग हैं; मनोविज्ञान, राजनीति और अर्थनीति के वे सिद्धांत हैं, जो व्यवहार की कसौटी पर कसे जा चुके हैं। एक विद्वान् के अनुसार यह ग्रंथ उनकी ओर से देश को दिया हुआ अधिकार-पत्र है, हमारे लिए उपयोगी ज्ञान का भंडार है।

वैसे तो भारतभूमि सदा ही सोना उगलती रही है, परंतु सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के काल की शांति और व्यवस्था के कारण तो यह भूमि सचमुच रत्नगर्भा हो गई थी। चारों ओर सुख और संपन्नता का राज्य था। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य के राष्ट्रीय प्रयत्नों के फलस्वरूप ही भारत महती शक्ति का संपादन कर सका, जिसके भरोसे सम्राट् अशोक ने राष्ट्रीयता से आगे बढ़कर विश्वकल्याण के मार्ग पर पग बढ़ाया। इस राष्ट्रशक्ति के निर्माता चंद्रगुप्त और चाणक्य में से अपने भुजबल का आश्रय लेकर प्रत्यक्ष पराक्रम करने वाले तथा अंत में इस शक्ति के केंद्र-स्वरूप संसार के सामने प्रकट होने वाले सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य का यह पावन चरित्र है।

1

वैभवशाली राज्य तथा विलासी राजा

जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं, तब से अब तक पृथ्वी सूर्य के चारों ओर लगभग ढाई हज़ार चक्कर लगा चुकी है और इसी की भाँति भारत का भाग्यचक्र भी न मालूम कितनी बार घूम चुका है। उस समय मगध में महापद्म नंदों[1] का राज्य था। भारत स्वतंत्र था, यहाँ का व्यापार ख़ूब बढ़ा-चढ़ा था। यहाँ के बने हुए माल से देश-विदेश के बाजार पटे पड़े थे। हिंदू शिल्पियों के हाथ में कुछ ऐसी सफाई थी, कुछ ऐसा जादू था कि जिस चीज को वे बनाते थे, वही सबका मन मोह लेती थी। राजा भी यहाँ के कला-कौशल तथा व्यापार को ख़ूब प्रोत्साहन देता था। क्यों न देता? इससे लाभ तो उसके राज्य और देशवासियों का ही होता था। इस बढ़े हुए व्यापार के कारण देश में ख़ूब धन था। राजकोष भी भरा पड़ा था। राजा के पास दस पद्म[2] रुपया होने के कारण ही उसका नाम 'महापद्म नंद' पड़ा था। अपनी उँगली पर इकाई गिनकर देखो तो और सोचो कि कितना था वह महापद्म रुपया! आज अगर दुनिया के सब आदमियों को यह रुपया बाँटा जाए तो एक-एक आदमी के पास 50 लाख रुपया होगा और अकेले हिंदुस्थान में ही बाँटा जाए तो हममें से हर एक को 2.5 करोड़ रुपया मिले। ओह! कितना होगा वह धन! और कितने सुखी थे, उस समय के स्वतंत्र हिंदुस्थान के लोग।

आज तो हिंदुस्थान में लखपति ही गिनती के हैं, फिर करोड़पतियों का तो पूछना ही क्या! बाक़ी तो हमारी साल भर की आमदनी कुल 56 रुपया ही है। इस वैभवशाली मगध राज्य की राजधानी थी कुसुमपुर। यह वही है, जो आज पटना कहलाता है। उस

1. नंद साम्राज्य की स्थापना महापद्मनंद ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में उत्तर भारत में की थी। इस राजवंश में कुल नौ राजा हुए। इस राजवंश की कुल अवधि को लेकर कई मत हैं। पुराणों के अनुसार वह एक शताब्दी का था। जैन मत के अनुसार यह 155 साल का और बौद्ध कालक्रम के अभिलेखन के अनुसार यह 22 साल का था। महापद्म ने कश्मीर, पंजाब और सिंध को छोड़कर उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर राज किया।

2. दस पदम = 10,00,00,00,00,00,00,000 (Ten Quadrillion)।

समय इसका नाम कुसुमपुर था, बाद में यहीं पाटलिपुत्र बसाया गया, जो बाद में बिगड़कर पटना हो गया।[3] कुसुमपुर वास्तव में कुसुमपुर ही था। जैसे भौंरे पुष्प की सुगंध से आकर्षित होकर उसके चारों ओर मँडराते रहते हैं, उसके गुणगान का गुंजन करते हैं, उसके गौरव के गीत गाते हैं तथा कुसुम के रस का पान करके अपनी इच्छा को तृप्त करते हैं; उसी प्रकार कुसुमपुर के वैभव तथा व्यापार के कारण दूर-दूर के यात्री और व्यापारी वहाँ आते थे, उनका सदा ही जमघट लगा रहता था। वहाँ के सौंदर्य को देखकर अपनी आँखों को तृप्त करते, वहाँ के व्यापार से अपनी अभिवृद्धि करके अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते तथा जहाँ भी जाते, कुसुमपुर की कला और उसके धन की कहानी अपने साथ ले जाते। देश-विदेश के राजदूत भी इस राजा के दरबार में उपस्थित होना अपना सौभाग्य समझते थे।

महापद्मनंद के वंशज बड़ी अच्छी तरह से राज्य करते रहे। राजा होते हुए भी वे अपने आपको प्रजा का स्वामी न समझकर उनका सेवक समझते थे। हमारे यहाँ राजा का यही आदर्श है। राजा प्रजा की भलाई करना और सेवा करना अपना कर्तव्य मानता था, तो छोटे-छोटे कर्मचारी भी सदा प्रजा के हितों का ध्यान रखते थे। परंतु यह दशा अधिक दिनों नहीं रही। नंद वंश का अंतिम राजा धनानंद बड़ा ही विलासी हो गया। राजकाज में उसका मन बिल्कुल नहीं लगता था। वह अपना सारा समय नाच-गान, आमोद-प्रमोद तथा रँगरलियों में व्यतीत करता। कभी वसंतोत्सव धूमधाम से मनाने में रुपया पानी की तरह बहाया जाता तो कभी होलिकोत्सव पर प्रजा का धन बुरी तरह फूँका जाता। राजा अपने को प्रजा के धन का मालिक समझने लगा था। ऐसे व्यसनी राजा को किसी की नेक सलाह भी अच्छी नहीं लगती है। वह तो केवल अपने खुशामदियों के ही वश में रहता है, जो उसकी जी-हुजूरी करते रहते हैं।

सौभाग्य से इस राजा का मंत्री कात्यायन बहुत ही योग्य था। उसका उपनाम था, अमात्य 'राक्षस'। वह केवल नाम से 'राक्षस' था। वैसे वह ब्राह्मण था, बड़ा ही विद्वान्

---

3. मगध प्राचीनतम भारतीय राज्य था, जो अब वर्तमान दक्षिण बिहार है। मगध का इतिहास व्यापक और वैभवशाली रहा है। मगध का उल्लेख महाभारत काल अथवा द्वापर युग के अंतिम वर्षों में व्यापक रूप में मिलता है। राजा कुरु द्वारा स्थापित कुरु राजवंश के वंशज वसु ने चेदि (यमुना नदी और नर्मदा नदी के मध्य) राज्य को जीता और पूर्व में मगध और उत्तर-पश्चिम में मत्स्य (वर्तमान जयपुर) राज्यों को अपने राज्य का हिस्सा बनाया। इन्होंने अपने बड़े बेटे बृहद्रथ को मगध का राजा बनाया और उसने बाह्यद्रथ राजवंश की स्थापना की। राजा जरासंध (इन्होंने भगवान् कृष्ण द्वारा मथुरा के राजा कंस को मारे जाने के विरोध में कई बार मथुरा पर आक्रमण किया), जिसने मगध पर राज किया, इसी वंश के थे। इस काल में मगध की राजधानी (गिरिव्रज) राजगृह थी, जिसके अवशेष वर्तमान पटना के समीप राजगीर में मिलते हैं। छठी शताब्दी ईसा पूर्व बाह्यद्रथ राजवंश के बाद बिंबिसार ने हर्यक राजवंश की स्थापना की। बिंबिसार के पौत्र दर्शक (लगभग 475 ईसा पूर्व शासक बना) ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र को बसाया।

था, नीतिनिपुण था तथा नंद के राज्य को बड़ी कुशलता से सँभाले हुए था। साथ ही वह अत्यंत स्वामिभक्त एवं राजभक्त था। राजा नंद के हाल देखकर उसको बड़ा दुःख होता था। वह चाहता था कि राजा राजकाज में ध्यान दे, परंतु राजा नंद तो अपने महलों से ही नहीं निकलता था। यहाँ तक कि मंत्री 'राक्षस' भी उससे बड़ी कठिनता से मिल पाता था।

मंत्री की इतनी योग्यता होते हुए भी राजा के राजकाज में ध्यान न देने के कारण राज्य में चारों ओर गड़बड़ मच गई। प्रजा दुःखी रहने लगी। प्रजारंजन के कारण ही राजा का राजा नाम पड़ा है। राजा धनानंद तो प्रजारंजन के स्थान पर अपना ही मनोरंजन करता था। भगवान् राम ने राजा का जो आदर्श रखा था तथा जिसको सभी भारतीय नरेश और राजा धनानंद के पूर्वज पालन करते आए थे, उसको वह भूल गया। राम का आदर्श था— लोकाराधन, न कि लोकशासन। हाँ, इस प्रकार प्रजा की सेवा करने वाले राजा राम को प्रजा ने अपना स्वामी माना था, उनकी भक्ति करना अपना सौभाग्य समझा। राजा धनानंद ही जब प्रजा के लिए अच्छी भावना नहीं रखता था तो प्रजा में भी स्वभावतः उसके प्रति निष्ठा रखने वालों की कमी हो गई। उनके दुःखों को कोई भी सुनने वाला नहीं था। राजा धनानंद तक न तो किसी की पहुँच थी और न उसको इतना अवकाश ही था कि वह अपना राग-रंग छोड़कर दुःख और दर्द की कहानियाँ सुने। इससे पूर्व नंदों के शासन-काल में प्रजा जिन अधिकारों का उपभोग कर चुकी थी, उनका अपहरण उसको खलने लगा। वह तो सुख, शांति और सम्मानपूर्ण जीवन बिताने की आदी थी, परंतु नंद-राज्य के दिन उसको दूभर होते जा रहे थे। अपने चारों ओर नंद के विलासपूर्ण कृत्यों को देखकर प्रजा की नैतिक भावना को ठेस लगती थी और उसके अत्याचार देखकर उसकी आत्मा विक्षुब्ध हो उठती थी। आत्मसम्मान की रक्षा करने वाले और उसको मिटाने वालों में स्वाभाविक ही संघर्ष छिड़ गया। जगह-जगह आकाश की ओर उठने वाले धुएँ ने बताया कि अंदर आग सुलग रही है। लोगों ने इसी धूम्रपुंज में उठते हुए एक भव्य मूर्ति को देखा। यही है हमारा शासक चंद्रगुप्त मौर्य।

2

देशप्रेम

चंद्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय था। प्रारंभ में यह जाति मोर पर्वत[4] के आसपास रहती थी। चंद्रगुप्त राजा नंद के यहाँ एक साधारण सैनिक था, परंतु वह था अत्यंत शूर एवं धीर। उसमें देशप्रेम कूट-कूटकर भरा था। अपने आसपास के लोगों में उसका बड़ा आदर था। उसके साथी उसको बड़ी श्रद्धा से देखते थे। उसने अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में बड़ी निपुणता प्राप्त कर ली थी। विशेषकर धनुष-बाण और शूल में तो कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। उसके साथी उसके अचूक निशाने को देखकर उसे अर्जुन का अवतार कहते थे। परंतु इन शस्त्रास्त्रों से भी बढ़कर उसके पास एक और बड़ी चीज थी, वह थी उसके हृदय की दृढता, उसकी निर्भीकता, उसका आत्मविश्वास। जब अपने साथियों का ध्यान वह मगध राज्य के अत्याचारों की ओर खींचता तथा उनसे उसका विरोध करने को कहता तो वे—"भैया चंद्रगुप्त, तुम तो उनका विरोध कर सकते हो, क्योंकि तुम्हारा शूल शत्रु के पेट की अँतड़ियों को भी खींचकर बाहर ला सकता है, तुम्हारा बाण छिपे-से-छिपे शत्रु का भी सिर धड़ से अलग कर सकता है, परंतु हम क्या खाकर उनका विरोध करें? हममें कहाँ है इतनी कुशलता?" तब चंद्रगुप्त उनको यही बतलाता कि शस्त्रों की ताक़त से दिल की ताक़त ज़्यादा है, जिसमें आत्मविश्वास है,

---

4. चंद्रगुप्त मौर्य के जन्मस्थान को लेकर कई मान्यताएँ प्रचलित हैं। यहाँ जिस मोर पर्वत का उल्लेख है, इस मान्यता के अनुसार चंद्रगुप्त के पूर्वज संभवत: शाक्य (महात्मा बुद्ध का जन्म इस वंश में हुआ) वंश की किसी शाखा से संबद्ध थे। चंद्रगुप्त के पिता की मृत्यु उसके बचपन अथवा गर्भ में होने के दौरान किसी युद्ध में हो गई थी। ईसा पूर्व किसी समय कोसल (वर्तमान अवध, उत्तर प्रदेश) के राजा विडूडभ ने शाक्य राजा को अचिरावती नदी (राप्ती नदी) के किनारे युद्ध में हरा दिया। उसके बाद इस वंश के कुछ लोग या तो युद्ध में हार जाने या फिर नदी में बाढ़ आने के कारण हिमालय में किसी सुरक्षित स्थान पर चले गए। वे जिस स्थान पर गए, वह मोर पक्षी के लिए जाना जाता था, इसलिए उन्हें मरियर अथवा मोरिय के नाम से जाना गया। मोरिय शब्द मोर से बना है, जो संस्कृत के मयूर का पालि-पर्याय है।

वह दुनिया में सबसे अधिक शक्तिशाली है। हम अन्याय और अत्याचार सहन नहीं करेंगे, बस यही भावना हमारे हृदय में होनी चाहिए और यही सबसे बड़ी शक्ति है। मनुष्य निर्भीक हो तो, फिर उसे कौन सी शक्ति झुका सकेगी?

एक दिन चंद्रगुप्त और उसके साथी बैठे हुए बातचीत कर रहे थे। कोई आठ-दस तरुण एक वृद्ध को घेरे हुए थे। उनके गठे हुए शरीर और चौड़ी छाती को देखने से पता चलता था कि वे नित्य प्रति व्यायाम करते थे। राजा नंद के विलास और अत्याचारों का परिणाम अभी तक प्रजा के आहार-विहार पर नहीं पड़ा था। उनका नैतिक आदर्श अभी भी ऊँचा था। दुर्बलता एक पाप समझी जाती थी, इसलिए हर एक आदमी शक्तिशाली बनने की प्राणपण से कोशिश करता था। खाने-पीने की न तो किसी भी भाँति की कमी थी और न कोई इसमें लोभ करता था। इन सब तरुणों के बीच बैठा हुआ वृद्ध उनको पिछले राजाओं के समय का हाल बता रहा था। उसने उन्हें रघु की दिग्विजय का हाल बताया और फिर राम के द्वारा राक्षसों के वध और रावण के विरुद्ध युद्ध का रहस्य बतलाया।

''तो क्या दादा, आप समझते हैं कि यदि रावण सीता का हरण नहीं करता तो भी राम रावण से युद्ध करते?'' उनमें से एक ने पूछा।

''अवश्य करते बेटा! उनका तो उद्देश्य ही भारतवर्ष से सब राक्षसों को, जो कि भारत की सभ्यता और धर्म को मिटाकर नष्ट कर देना चाहते थे, समूल उखाड़ फेंकना था। अगर रावण सीता को लौटा देता तो युद्ध का कोई और कारण ढूँढ़ना पड़ता। उन्हें तो चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करना था। बिना उसके देश कैसे सुख और शांति से रह सकता है।''

''आज तो कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं है, दादा?''

''नहीं बेटा! आज कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं है; इसीलिए तो सुना है कि अलिक्सुंदर ने भारत पर चढ़ाई करने की सोची है। आज तक भारत पर आक्रमण करना तो दूर, कोई मन में इस बात का विचार भी न ला सकता था।'' यह कहते-कहते उस वृद्ध का गला रुँध गया और सूखी आँखों से भी दो अश्रु-बिंदु गिर गए।

''दादा! आज भारत में कई छोटे-छोटे राजा हैं, क्या वे आपस में मिलकर अलिक्सुंदर से नहीं लड़ेंगे?'' विजयगुप्त ने पूछा।

''क्यों, मिलेंगे क्यों नहीं!'' विनयमित्र बोला, ''शत्रु के विरुद्ध तो सबको मिलकर ही लड़ना चाहिए।''

''अरे नहीं विनयमित्र! शत्रु उनसे एक साथ कहाँ लड़ेगा, वह तो एक-एक से लड़ेगा, और यहाँ के राजा लोग यह कहाँ समझते हैं कि पड़ोसी के राज्य पर हमला है

तो हम भी वहीं जाकर शत्रु का सामना करें। जो दुष्ट प्रकृति के हैं, वे तो पड़ोसी पर आपत्ति आई देखकर प्रसन्न होंगे और जो जरा सज्जन हैं, वे अपने राज्य को बचाने की फिक्र करेंगे, परंतु जाकर दूसरे की सहायता नहीं करेंगे।'' चंद्रगुप्त ने कहा।

''एक और भी तो कठिनाई है, चंद्रगुप्त,'' वृद्ध बोला, ''ये छोटे-छोटे राजा हैं तो एक-दूसरे के बराबर, यदि वे मिले तो नेता किसे बनाएँ। इतनी समझ उनमें कहाँ है कि ऐसे अवसर पर छोटे-बड़े का ख़याल नहीं किया जाता। आज मगध का राज्य ही भारत में सब से बड़ा राज्य है। वह यदि चाहे तो सब राजा उसके मांडलिक बन जाएँ और फिर भारत में एकच्छत्र राज्य हो जाए। ऐसा राज्य ही अलिक्सुंदर जैसे शत्रु का सामना कर सकता है, और कोई नहीं।''

''फिर तो भारत की रक्षा की ज़िम्मेदारी मगध की है।'' विश्वगुप्त बोला।

''हाँ, मगध की ही,'' वृद्ध ने दृढता से कहा, ''पर हमारे महाराज को इतनी फुरसत कहाँ है!'' वृद्ध ने एक क्षण बाद ही ठंडी साँस लेते हुए कहा।

''तब तो हम यूनानियों के ग़ुलाम हो जाएँगे।'' वसुमित्र ने व्यग्रता से कहा। यह सुनते ही सब के चेहरे फक पड़ गए; हृदय धड़कने लगा और एकाएक सबके मुँह से निकल पड़ा, ''ग़ुलाम—यूनानियों के!''

''और इसलिए कि मगध के सिंहासन पर एक अकर्मण्य और विलासी राजा बैठा है।'' वृद्ध ने ज़ोर देकर कहा।

चंद्रगुप्त का हाथ एकदम तलवार की मूँठ पर गया, मानो सामने ही यूनानी उनको ग़ुलाम बनाने आ रहे हों, और वह उनसे लड़ने को उद्यत है। उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं। ''भारतवर्ष ग़ुलाम? नहीं, कभी नहीं!'' उसने सरोष पर दृढता से कहा।

''कभी नहीं!'' एक साथ आठ आवाज़ें गूँज गईं।

''कभी नहीं! पर कैसे?'' वृद्ध ने स्मित हास्य के साथ पूछा। एक क्षण को सब चुप हो गए, मानो किसी गहरे विचार में पड़ गए हों। भारत के स्वातंत्र्य के महान् उत्तरदायित्व का पहाड़ सा बोझ! और धनानंद के निर्बल कंधे! उन्होंने देखा कि वह उस बोझ को नहीं सँभाल पा रहा है।

''हम मगध का राजा ही बदल देंगे।'' अरिमर्दन ने एक ऐसे विजयगर्वित स्वर में कहा, मानो उसने समस्या को हल ही कर दिया हो। सबने अरिमर्दन की ओर देखा। और फिर एक बार चारों ओर देखा। सबकी दृष्टि चंद्रगुप्त पर ठहर गई।

''भैया चंद्रगुप्त हमारे महाराज होंगे।'' सब एकदम चिल्ला उठे। और दूसरे ही क्षण वह स्थान 'महाराज चंद्रगुप्त की जय!', 'मगधेश चंद्रगुप्त की जय!' के घोष से गूँज उठा। उस छोटे से दल ने एक ही क्षण में सैनिक चंद्रगुप्त को महाराज चंद्रगुप्त बना दिया। परंतु वे यह नहीं जानते थे कि चंद्रगुप्त को महाराज बनाना इतना सरल नहीं था।

एकाएक अमात्य 'राक्षस' अपने चार सहचरों के साथ जब वहाँ आ धमका, तब उनको मालूम हुआ कि जयघोष के द्वारा अपने निश्चय की डौंड़ी पीटना उनके जीवन की सबसे बड़ी भूल हुई।

''यह मगधेश चंद्रगुप्त कौन है सैनिकों?'' अमात्य 'राक्षस' ने अधिकार एवं रोष भरे स्वर में पूछा, ''म-हा-राज-चंद्र-गु-प्त?'' घृणा के स्वर में उसने दूसरे ही क्षण कहा।

सब सैनिक एकदम भौंचक्के से रह गए। वे क्या उत्तर दें, उनकी समझ में नहीं आता था। शायद स्वयं महाराज नंद उस समय आते तो वे उनका सामना करते; उनको आनंद ही होता कि उनके निश्चय की पूर्ति इतनी जल्दी हो सकी। आज ही, अभी चंद्रगुप्त सच में महाराज चंद्रगुप्त होते। पर यहाँ तो थे अमात्य 'राक्षस'। उनसे वे क्या कहें। उनसे कहने की न तो उनकी हिम्मत ही थी और न बुद्धि ही सलाह देती थी कि उनका बाल भी बाँका किया जाए। क्योंकि यूनानियों को हराने को जहाँ चंद्रगुप्त जैसे वीर एवं शूर राजा की आवश्यकता थी; वहाँ अमात्य 'राक्षस' जैसे राज्यकार्य कुशल, लोकप्रिय एवं नीतिपटु मंत्री की भी तो आवश्यकता थी। एक के बिना दूसरा अपूर्ण था।

''अमात्यवर! यूनानी भारत पर आक्रमण कर रहे हैं!'' अरिमर्दन ने बड़ी हिम्मत करके कहा।

''मुझे ज्ञात है, सैनिक!'' 'राक्षस' ने एकदम, पर रोष भरे शब्दों में कहा, ''परंतु इससे तो सैनिक चंद्रगुप्त महाराज चंद्रगुप्त नहीं हो सकता।''

वे दसों सैनिक बंदी बना लिए गए। उन पर राजविद्रोह का अभियोग चला। राजा धनानंद यह सुनकर कि सैनिक चंद्रगुप्त ने राजविद्रोह किया है, आग-बबूला हो गया। उसने आज्ञा दी कि चंद्रगुप्त को फाँसी लगा दी जाए। चंद्रगुप्त को मृत्यु का डर नहीं था। वह वीर था, वह जानता था कि देश के लिए मरने का सौभाग्य थोड़ों को ही मिलता है। वह कोई अपने लिए सम्राट् थोड़े ही बनना चाहता था। वह तो भारत को यूनानियों से बचाने के लिए तथा भारत में फिर से शांति स्थापित करने के लिए इस काँटों के मुकुट को ग्रहण कर रहा था। परंतु उसको इस बात का दुःख अवश्य था कि वह इस अन्यायी राजा के हाथ से मारा जाएगा, पर देश की रक्षा न कर सकेगा। यदि युद्ध में लड़ते-लड़ते मारा जाता, तब तो वह वीरगति प्राप्त करता।

परंतु चंद्रगुप्त को इस प्रकार मरना नहीं था। राज्य की जनता नंद से प्रसन्न नहीं थी, वरन् वह तो उसके अत्याचारों से पीड़ित थी। फिर जो स्वयं वीर हैं, स्वदेश प्रेमी हैं, वे ऐसे आलसी और विषयी राजा को कब पसंद करेंगे। हर एक चाहता तो यही था कि नंद राजा न रहे; परंतु वह सोचता कि केवल मैं अकेला ही तो यह चाहता हूँ और मैं अकेला कर ही क्या सकता हूँ। इस तरह उन सबमें अकेलेपन की भावना थी। सब लोग चंद्रगुप्त

को अपना रक्षक एवं अगुआ मानने लगे; परंतु वह भी मन-मन में। चंद्रगुप्त ने अभी तक ऐसी कोई योजना तो बनाई नहीं थी कि सबका उसके साथ संबंध आए। सब एक सी भावना रखने वाले लोग एकत्र होकर अपने सामूहिक बल का अनुभव करें तथा उस एक के नेतृत्व में रहकर कार्य करें। इसीलिए नंद के विरुद्ध जनमत कितना भी क्यों न हो, वह इस प्रकार के असंगठित समूह के भरोसे राजा नहीं बन सकता था। परंतु हाँ, उसको इतना लाभ अवश्य हुआ कि बंदीगृह की दीवारें उसको अधिक दिनों तक न रोक पाईं। रात्रि के घने अंधकार में वह एक दिन भाग निकला। सोता हुआ नंद स्वप्न में चीख उठा और उधर उसकी पहुँच से परे चंद्रगुप्त के रूप में उसकी मृत्यु अट्टहास कर रही थी।

3

चाणक्य की चिंता

आज हम काशी (बनारस), प्रयाग (इलाहाबाद) आदि जैसे बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के नाम सुनते हैं। उसी प्रकार से एक विद्यालय प्राचीन काल में तक्षशिला में था। तक्षशिला पंजाब में है। यह विश्वविद्यालय बहुत बड़ा था, आज के विश्वविद्यालयों से बहुत बड़ा। इसमें दस हज़ार से भी अधिक विद्यार्थी पढ़ते थे; आज लखनऊ, काशी, प्रयाग तीनों विश्वविद्यालयों को मिलाकर भी इतने विद्यार्थी नहीं हैं।[5] अमात्य 'राक्षस' ने यहाँ शिक्षा पाई थी। जब वे यहाँ पढ़ते थे, तब उनके साथ ही एक और ब्राह्मण बालक पढ़ता था, उसका नाम था—विष्णुगुप्त। विष्णुगुप्त अत्यंत मेधावी एवं प्रखर बुद्धि का था। परंतु विधाता ने जहाँ उसको मेधा शक्ति खुले हाथों दी थी, वहाँ शरीर-सौंदर्य देते समय अपना हाथ खींच लिया था। उसका रंग काला था, मानो हृदय और मस्तिष्क में स्थान न पा सकने के कारण अज्ञानांधकार बाहर निकलने का प्रयास कर रहा हो। इस सौंदर्यहीन विष्णुगुप्त तथा 'राक्षस' में बड़ी घनिष्ठता थी, शायद इसलिए कि वे दोनों ही राजनीति और समाजशास्त्र में विशेष रुचि रखते थे। राष्ट्रशक्ति की कारण-मीमांसा पर उनमें खूब चर्चा होती थी। यह विष्णुगुप्त बाद में 'चाणक्य' व 'कौटिल्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

शिक्षा प्राप्त करके 'राक्षस' मगध जैसे बड़े राज्य का अमात्य बना। परंतु चाणक्य

---

5. तक्षशिला (वर्तमान रावलपिंडी, पाकिस्तान में) की स्थापना रामायण काल (त्रेतायुग) में राजा भरत ने राजकुमार तक्ष के नाम पर की और उन्हें यहाँ का शासक नियुक्त किया। महाभारत एवं रामायण में इसके विद्याकेंद्र होने का वर्णन नहीं है। लेकिन ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक तक्षशिला विद्याकेंद्र में स्थापित हो चुका था। फाहियान (पाँचवीं शताब्दी), ह्वेनसांग (सातवीं शताब्दी) दोनों चीनी बौद्ध संतों ने अपनी भारत भ्रमण यात्रा में तक्षशिला के शैक्षणिक महत्त्व की बात नहीं की है। इसका कारण था कि सिकंदर के भारत पर आक्रमण के बाद से इस ओर से विदेशी आक्रमण होने लगे। ईसवी की शुरुआती शताब्दियों में इसका शैक्षणिक प्रभाव समाप्त होना शुरू हो गया। अंततः आक्रमणकारियों द्वारा यह पूरी तरह नष्ट कर दिया गया।

इन झगड़ों से दूर कुटी बनाकर रहता था तथा अपना समस्त समय ज्ञानार्जन में लगाते हुए जो विद्यार्थी उसके पास पढ़ने आते, उन्हें पढ़ा देता था।

एक दिन एक शिष्य ने आकर बताया, ''आर्य! यवनों[6] ने भारत में प्रवेश कर लिया है।''

आर्य चाणक्य के माथे पर सिकुड़न पड़ गई; विस्फारित नेत्रों से उन्होंने अपने शिष्य की ओर देखा तथा धीरे-धीरे 'यवनों ने भारत में प्रवेश कर लिया है' वाक्य को दुहराया, मानो साथ ही वे किसी गहन विचार में भी पड़े हों।

''क्या भारत का प्रवेश-द्वार किसी ने रोका नहीं?'' उन्होंने पूछा।

''सीमांत पर अवश्य जी-जान से लड़े गुरुदेव! परंतु उनका किला अलिक्सुंदर ने बुरी तरह घेर रखा था। इधर तक्षशिला का राजा आंभिक तो शत्रु से पहले ही मिल गया था। ऐसी दशा में अश्वकों ने अलिक्सुंदर से संधि की प्रार्थना की। उसने उनसे इस शर्त पर संधि की कि वे देशी राजाओं के विरुद्ध उसकी सहायता करें। क़िले के फाटक खुल गए। अश्वक बाहर निकल आए। कुछ दूर उन्होंने अपना पड़ाव डाल दिया। उनकी इच्छा थी कि जन्मभूमि भारत में जाकर यवनों के विरुद्ध लोगों को भड़का दें।''

''ठीक ही सोचा उन्होंने, यही नीति है।'' आर्य चाणक्य बीच ही में बोल उठे।

''पर आर्य! वे ऐसा न कर पाए। अलिक्सुंदर को इसकी टोह लग गई। एक रात जब वे सो रहे थे तो अचानक उसने उन पर आक्रमण कर दिया, विश्वासघात किया। वीर अश्वकों ने झट से अपनी व्यूह रचना की। स्त्री और बालकों को बीच में किया तथा शेष घेरकर यवनों से लड़ने लगे। परंतु अलिक्सुंदर की सेना विशाल थी। पुरुष वर्ग काम आया; फिर स्त्रियाँ लड़ीं और अंत में छोटे-छोटे बालक भी,'' कहते-कहते शीलभद्र का सीना तन गया तथा गर्व से मस्तक ऊँचा उठ गया।

''और क्या हुआ शीलभद्र?'' आर्य चाणक्य ने पूछा।

''गुरुदेव! आगे तो उसका मार्ग निरापद रहा, परंतु वितस्ता[7] के तट पर राजा पर्वतक से घोर युद्ध हुआ। अलिक्सुंदर ने अपना युद्ध-कौशल तो बहुत दिखाया, परंतु कुछ चली नहीं। जब झेलम के किनारों पर दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं, तब अलिक्सुंदर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि बरसात में वह नदी पार नहीं करेगा तथा रसद इकट्ठा करना शुरू कर दिया। परंतु एक अँधेरी रात में बीस मील ऊपर चलकर उसने झेलम पार की तथा रात में ही आक्रमण कर दिया। पर्वतक की सेना कोई अचेत नहीं थी। आक्रमण का करारा जवाब दिया गया। घोर युद्ध हुआ। अभी तक यवन सेना को कहीं गजसेना का सामना नहीं करना पड़ा था। पर्वतक के हाथियों ने यवन सेना

6. भारतीय साहित्य में ग्रीक / मेक्डोनियंस को यवन कहा गया है।

7. झेलम नदी का संस्कृत नाम वितस्ता नदी है।

को बुरी तरह कुचला। अपनी सूँड़ से लपेट-लपेटकर अश्वारोहियों को पृथ्वी पर पछाड़ दिया। बहुतों को सूँड़ में लपेटकर ऊँचा उठा देते थे तथा महावत झट से उनका सिर काट देते थे। पृथ्वी पर पटक पैर से रौंद पाताल लोक पहुँचाना तो मानो उनका खेल ही था। अलिक्सुंदर ने जब सेना में यह त्राहि-त्राहि देखी तो वह बहुत ही घबड़ाया, उसने अपनी बची-खुची सेना को भी दूसरे किनारे से बुलवा लिया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। हारकर अंत में उसने पर्वतक के सामने मित्रता का हाथ बढ़ाया।''

''तो अलिक्सुंदर पराजित हुआ?'' आर्य चाणक्य ने प्रसन्न होकर कहा।

''हाँ आर्य! पराजित तो हुआ, परंतु उसकी पराजय से भारत को कोई लाभ नहीं हुआ। उसकी गति अभी तक नहीं रुकी है। उसने देखा कि पर्वतक एक महत्त्वाकांक्षी राजा है; अत: उसने प्रस्ताव किया कि चलो, हम दानों आगे चलकर भारत को जीतें, तुम भारत के सम्राट् बनना और मैं विश्व का सम्राट्।''

''कितना अबोध है पर्वतक! राजनीति में कोरा!'' आर्य चाणक्य विक्षुब्ध होकर बोले।

''अब अलिक्सुंदर आगे बढ़ रहा है, आर्य! उसकी सेना ने गाँव-गाँव में अत्याचार करना प्रारंभ कर दिया है; कई गाँव जला डाले हैं। जो जरा भी सिर उठाता है, उसका वध कर दिया जाता है। गाँव लूटे जा रहे हैं, ज़बरदस्ती लोगों से धन और सेवा ली जा रही है। यवन नन्हे-नन्हे बछड़ों की बलि देकर अपने उत्सव मना रहे हैं। गोवंश का ह्रास हो रहा है। आर्य! ऐसे अत्याचार तो आज तक कभी नहीं सुने।'' शीलभद्र ने जरा तेज होकर कहा।

आर्य चाणक्य मौन थे। कुछ देर वे इसी प्रकार बैठे रहे। उनकी मुखमुद्रा और भावभंगिमा से यह मालूम पड़ता था, जैसे उनके मस्तिष्क में कोई विचार बड़ी तेजी से चल रहा है। अंत में वे बोले, ''वत्स शीलभद्र! महाराज पर्वतक द्वारा अलिक्सुंदर का हराया जाना तो अच्छा ही रहा। यवनपति अलिक्सुंदर को भी पता लग गया होगा कि हिंदुओं से लोहा लेना कितना कठिन है। इससे उसकी सेना की यह धारणा तो निर्मूल हो गई कि वह अजेय है। उनका आत्मविश्वास अवश्य ही हिल गया होगा। परंतु इसको बिल्कुल उखाड़कर फेंकना है, यह काम तुमको करना होगा। तुम पर्वतक की सेना में प्रवेश करो। सैनिकों द्वारा अलिक्सुंदर की सेना में यह प्रचार करो कि मगध की सेना अत्यंत विशाल एवं शक्तिशाली है। दुनिया में उसका कोई सामना नहीं कर सकता, और फिर वहाँ के हाथी तो पर्वतक के हाथियों से चौगुने अधिक हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनके लिए एक अलग नगर बसाया गया है। वहाँ के मंत्री 'राक्षस' की एक अलग ही सेना है, जिसमें राक्षस-ही-राक्षस हैं, जोकि मनुष्यों को ज़िंदा ही खा जाते हैं। पानी तो इतना बरसता है कि महीनों बंद नहीं होता। मगध तक पहुँचने में अभी 180

नदियाँ और पार करनी पड़ेंगी, जिनमें बहुत सी तो ऐसी हैं कि जिनमें डूबते देर नहीं लगती, आदि-आदि। इससे उसकी सेना में भय का संचार होगा।''

''यह असत्य भाषण मैं कैसे करूँगा, आर्य?'' शीलभद्र ने कहा।

''यह समय सत्य-असत्य के विचारने का नहीं है, वत्स! अपने राष्ट्र का कल्याण और उसकी स्वतंत्रता ही सबसे बड़ा सत्य है। आज तो इस झूठे सत्य को लेकर अकर्मण्य बनकर बैठ जाओगे, कल समस्त देश पर विदेशी यवन मलेच्छों का राज्य हो जाएगा; उनके अत्याचार और उनका गोवध, क्या यह सत्य होगा। जाओ, यही सत्य है और इसे करो। मैं तब तक मगध जाता हूँ और अलिक्सुंदर के स्वागत की तैयारी करवाता हूँ। ऐसा स्वागत होगा, जैसा कहीं नहीं हुआ होगा।'' आर्य चाणक्य ने कहा।

''आर्य मगध से एक सैनिक आया हुआ है। वह भी लोगों को समझाता रहता है कि उनको यवनों का विरोध करना चाहिए और एकदम भारत से बाहर निकाल देना चाहिए। पर्वतक को वह बहुत बुरा-भला कह रहा था। कहता था कि वे यवनों के चंगुल में फँस गए हैं। उन्हें भारत का सम्राट् बनना था तो स्वयं अपनी शक्ति से बनते। यवनों की सहायता करके उनके द्वारा भारत को पराधीन करवाना एक हिंदू को शोभा नहीं देता।'' शीलभद्र ने कहा।

आर्य चाणक्य की आँखों में एकदम उत्सुकता की चमक आ गई। ''वत्स! एक बार उसको मुझसे मिला दो। अवश्य ही वह हमारे लिए उपयोगी होगा।'' आर्य चाणक्य ने कहा।

''आर्य! अभी जाता हूँ, वह यहीं-कहीं लोगों से बातचीत कर रहा होगा। उसमें कुछ ऐसा जादू है कि जिससे एक बार बात करता है, उसे अपनी ओर खींच लेता है।'' शीलभद्र ने कहा।

''निस्स्वार्थ देशप्रेम ही वह जादू है, शीलभद्र! अच्छा, लाओ तो उस जादूगर को। देखूँ तो कैसा जादू है उसका!'' आर्य चाणक्य ने कहा।

4

गुरु तथा शिष्य की पहली मुलाक़ात

गुरु को प्रणाम करके शीलभद्र चला गया। आर्य चाणक्य के मन में आज विचारों का तूफान मचा हुआ था। भारत में एक विदेशी राजा का प्रवेश, और वह भी यहाँ के राजा से हारने के बाद। उनको मन-ही-मन क्षोभ एवं क्रोध हो रहा था पर्वतक की मूर्खता पर। शत्रु को तो मूल से उखाड़ फेंकना चाहिए, यह नीति कहती है। उसका घर में घुसना, फिर चाहे वह अपने को कितना ही हितू क्यों न सिद्ध करे, हानिकारक ही है। खैर, अब पिछली भूल पर रोने से क्या लाभ, उन्होंने मन-ही-मन कहा, 'हाँ, आगे का प्रबंध करना चाहिए।' उन्होंने निश्चय किया कि मगध जाकर वहाँ के जनमत एवं सेना को अलिक्सुंदर के विरुद्ध करेंगे ही, परंतु उसके जीते हुए प्रदेशों में भी विद्रोहाग्नि को भड़काकर उसे दोनों ओर से घेरकर पीस देंगे। इसी प्रकार की बहुत सी योजनाएँ उनके मस्तिष्क में घूमती रहीं।

लगभग दोपहर होने पर शीलभद्र ने चंद्रगुप्त के साथ कुटी में प्रवेश किया। उसने देखा कि गुरु चाणक्य को वह जिस स्थिति में छोड़ गया था, उसी में अभी तक बैठे हैं तथा किसी गहन विचार में मग्न हैं। शीलभद्र और चंद्रगुप्त दोनों ने प्रणाम किया और बैठ गए। चंद्रगुप्त मन-ही-मन यह सोचने लगा कि इस काले-कलूटे ब्राह्मण ने जाने क्यों मुझे बुलवाया है। कहीं 'राक्षस' ने इसको मेरी खबर लाने तथा पकड़ लाने को तो नहीं भेजा है अथवा यवनों का कोई गुप्तचर तो नहीं है, यह विचार उसके मन में आते ही उसने अपनी तलवार की ओर देखा और फिर निश्चिंतता से बैठ गया। कितना अधिक था उसका आत्मविश्वास।

आर्य चाणक्य ने बड़ी गंभीर वाणी में कहा, ''सैनिक! आज अलिक्सुंदर मगध जीतने की लालसा से उस पर आक्रमण कर रहा है और तुम मगध छोड़कर यहाँ विचरण कर रहे हो। क्या तुमको अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है? क्या तुम यह नहीं समझते कि मगध के हारने से समस्त भारत परतंत्र हो जाएगा?''

''मुझे अपने कर्तव्य का भी ज्ञान है और मैंने भारत की स्वतंत्रता-परतंत्रता के प्रश्न पर भी विचार किया है, विप्रवर!'' चंद्रगुप्त ने उसी प्रकार गंभीरता से उत्तर दिया।

''फिर यहाँ क्यों आए हो? यदि हर एक सैनिक अपनी इच्छा से इधर-उधर घूमता रहेगा तो क्या मगध की रक्षा हो सकेगी?''

''क्यों नहीं होगी। मगध कोई पारस या मिस्र थोड़े ही है, जो इस गर्व से फूले स्वयं ही अपने को विश्व विजेता कहने वाले अलिक्सुंदर की एक ही चोट में अवनत हो जाए।'' चंद्रगुप्त ने बहुत ही सोच-समझकर कहा। चंद्रगुप्त ने सोचा कि यदि इस ब्राह्मण के सम्मुख मगध की दुर्बलता का वर्णन किया और यदि यह कहीं यवन सेना का गुप्तचर हुआ तो अलिक्सुंदर का हौसला और बढ़ जाएगा। चंद्रगुप्त को धनानंद ने फाँसी की सजा दी थी, परंतु फिर भी वह नहीं चाहता था कि यवनेश अलिक्सुंदर मगध पर आक्रमण करे। कितना उत्कृष्ट तथा सुलझा हुआ था उसका देशप्रेम। और यही देशप्रेम है किसी भी व्यक्ति की बहुमूल्य निधि।

आर्य चाणक्य चंद्रगुप्त से बातचीत करते-करते उसे बड़ी पैनी दृष्टि से देख रहे थे। उसका देशप्रेम उनसे छिप न सका और इसलिए इधर-उधर की बातचीत करने की अपेक्षा उसके सम्मुख उन्होंने अपना हृदय खोलकर रख देना उचित समझा। वे बोले, ''सैनिक! अलिक्सुंदर के विरुद्ध मगध की सेना भली-भाँति लड़ सके, इतना ही नहीं, उसको वह मगध पहुँचने के पहले ही रोक दे तथा खदेड़कर देश के बाहर निकाल दे, इसके लिए मैं मगध जाऊँगा। क्या तुम मेरी कुछ सहायता कर सकते हो?''

यह सुनकर चंद्रगुप्त को भी आर्य चाणक्य की सत्यता पर विश्वास हो गया, क्योंकि शब्दों से भी अधिक आर्य चाणक्य के स्वर से पता चलता था कि वे यवनों को भारत से बाहर निकाल देने के लिए कितने तुले बैठे हैं। चंद्रगुप्त ने उनको अपना परिचय दिया तथा महाराज धनानंद के समस्त अत्याचारों का पूरा वर्णन किया; वह क्यों भागकर आया है, यह सब बताया।

यह सुनकर आर्य चाणक्य ने चंद्रगुप्त को बड़े ध्यान से देखा और फिर ऐसे सिर हिलाया, मानो उन्होंने कोई दृढ निश्चय किया हो। उन्होंने देखा कि चंद्रगुप्त अवश्य ही मगध का सम्राट् बनने के योग्य है। परंतु फिर भी आज तो मगध के सम्राट् पद से अधिक महत्त्व का कार्य है यवनों को देश से निकालना। चंद्रगुप्त ने उनको बताया था कि मगध का राजा तो इतना विलासी है कि वह इस बात की कोई चिंता ही न करेगा। ''पर उसका मंत्री 'राक्षस' तो है। वह जैसे और सब काम देखता है, वैसे यह कार्य भी करेगा।'' आर्य चाणक्य ने कहा।

''हाँ आर्य! अमात्य राक्षस तो हैं, परंतु वे तो इतने स्वामिभक्त हैं कि बिना नंद की आज्ञा के कछ करेंगे ही नहीं, और नंद आज्ञा देगा नहीं।'' चंद्रगुप्त ने बतलाया।

''फिर भी जाना तो चाहिए ही। 'राक्षस' मेरा सहपाठी है। देशभक्त भी है। अवश्य ही वह मेरा कहना मानेगा।'' ऐसा कहकर आर्य चाणक्य ने यह निश्चय किया कि चंद्रगुप्त यहीं रहकर अलिक्सुंदर के मार्ग में जितनी बाधाएँ डाल सके, डाले तथा वे मगध जाकर वहाँ सहायता प्राप्त करके यमुना से आगे तो अलिक्सुंदर को किसी भी प्रकार न बढ़ने दें तथा शीघ्र ही देश से निकाल बाहर करें।

5

आचार्य चाणक्य मगध में

उसी क्षण आर्य चाणक्य कुसुमपुर के मार्ग पर दिखाई दिए। वे निरंतर बढ़ते जाते थे। मार्ग की वर्षा और धूप उनको नहीं रोक पाती थी। उनको तो बस यही धुन थी कि कब मगध पहुँचें। यदि कहीं एक क़दम भी रुक जाते तो मालूम होता कि बस अब यवन आगे बढ़ गए हैं। एक-एक क्षण, जो विदेशी एवं अत्याचारी यवन इस देश में बिता रहे थे, वह उनको एक-एक युग के बराबर मालूम होता था। और फिर उसकी पीड़ा तो उनको असह्य थी। अपने ध्येय के प्रति आवश्यकता है इतनी लगन एवं तन्मयता की। थके-माँदे वे बराबर डग बढ़ाए चले जाते थे। उनके क़दम रुके जाकर मगध के राज्य-कार्यालय के द्वार पर ही।

अमात्य 'राक्षस' को तक्षशिला के उस ब्राह्मण के आगमन की सूचना दी गई। अमात्य ने एकदम उनको अंदर बुलवाया; देखते ही दोनों का पिछला प्रेम उमड़ आया। राक्षस ने दौड़कर चाणक्य को बाहुपाश से जकड़ लिया। दोनों बड़े प्रेम से मिले। परंतु चाणक्य तो अपनी बात कहने के लिए अधीर हो रहे थे। ''कुछ देश की भी खबर है, अमात्य राक्षस?'' चाणक्य ने पूछा।

राक्षस प्रश्न को समझ गया। बोला, ''हाँ, अलिक्सुंदर ने भारत में प्रवेश कर लिया है। पर्वतक से हारकर फिर उसी की सहायता से पंचनद[8] के राजाओं को हरा रहा है।''

''वह मगध पर भी तो आक्रमण करेगा, अमात्य श्रेष्ठ!''

''उसके लिए मगध की सेना तैयार है। मगध की प्राणपण से रक्षा की जाएगी।''

''परंतु कब? कब वह कुसुमपुर को आकर घेर लेगा? आज पंचनद के छोटे राज्यों की रक्षा भी मगध की ही रक्षा है, और फिर देश से यवनों को बाहर करने का

---

8. पंचनद वर्तमान पंजाब (अब भारत और पाकिस्तान दोनों देशों में) का प्राचीन नाम था। इसका यह नाम इस राज्य से होकर बहने वाली पाँच नदियों—झेलम, चिनाब, रावी, सतलज और व्यास के कारण हुआ।

कार्य भी तो मगध का ही है!''

''इस सबके लिए तो महाराज से सलाह करनी होगी, विष्णुगुप्त!''

अंत में यह तय हुआ कि दूसरे दिन महाराज से सलाह ली जाए। चाणक्य का भी अमात्य राक्षस के साथ चलना तय हुआ। चाणक्य तो चाहते ही थे कि आज ही तथा अभी महाराज के पास चला जाए, परंतु राक्षस ने बतलाया कि कल से पहले तो महाराज से भेंट हो ही नहीं सकती। यह सुनकर चाणक्य को चंद्रगुप्त की बात याद आ गई। उनके माथे पर बल पड़ गए। सोचने लगे कि जिस राजा से उसका मंत्री भी इतने महत्त्व के कार्य के लिए समय पर नहीं मिल सकता, वह राजा भारत के इस महान् राज्य के योग्य कदापि नहीं है।

6

संघर्ष का संकल्प

दूसरे दिन प्रातःकाल ही अमात्य राक्षस तथा चाणक्य राजमहल के द्वार पर पहुँच गए। महाराज को सूचना भेजी गई। बड़ी देर बाद उत्तर आया कि बुला लाओ। दोनों अंदर गए। महाराज उस समय अपने प्रेमोद्यान में झूला झूल रहे थे। नर्तकियों का झुंड-का-झुंड उन्हें घेरे खड़ा था। मदिरा-पात्र पास ही रखा था। अमात्य को देखते ही महाराज कहने लगे, ''अमात्य, आप हमको व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। आप ही क्यों नहीं सब काम कर लेते? ऐसा क्या बड़ा काम आ पड़ा? क्या होलिकोत्सव का अभी से प्रबंध करना है? ओह! अरे (चाणक्य की ओर जरा तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखकर) यह ब्राह्मण कौन है? साक्षात् काल ही मालूम होता है।''

आर्य चाणक्य इस अपमानपूर्ण वाक्य को सुनकर एकदम क्रोध से लाल हो गए। उनकी आँखों में खून उतरने लगा, परंतु अत्यंत सावधानी से उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपने क्रोध को दबाकर वही शांत-मुद्रा बनाए रखी। वे जानते थे कि इस समय यवनों को भारत से खदेड़ने के लिए मगध की सहायता चाहिए और उसके लिए राजाज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक है। यह एक राष्ट्रकार्य है। राष्ट्रकार्य में इस प्रकार के मानापमान की चिंता नहीं की जाती। उनके स्वाभिमान को ठेस अवश्य लगी। परंतु उससे भी बढ़कर प्रश्न था राष्ट्र के स्वाभिमान का।

''महाराज! यह मेरे एक सहपाठी हैं; तक्षशिला से आए हैं। अलिक्सुंदर ने पर्वतक की सहायता से पंचनद के राजाओं से युद्ध प्रारंभ कर दिया है तथा वह मगध आने वाला है।''

''मगध की सेना तो तैयार है, अमात्य! नई सेना की भरती शुरू कर दो और देखो, हमारे लिए कुसुमपुर से दूर पूर्व में एक महल झटपट बनवा दो, हम तो वहीं रहेंगे। लड़ाई से दूर, एकदम दूर, क्यों नर्तकियो! ठीक है न?''

''मगध की रक्षा के पहले तो पंचनद के राज्यों की रक्षा आवश्यक है, महाराज!'' आर्य चाणक्य ने बीच ही में कहा।

''पंचनद के राज्यों की रक्षा हमारी सेना क्यों करे, ब्राह्मण! तू चाहता है कि हमारी सेना तो सब वहाँ चली जाए और हम मगध में अकेले रह जाएँ।'' नंद ने कहा।

''महाराज, अलिक्सुंदर का आगे बढ़ना भारत और मगध के लिए घातक होगा और फिर उसको भारत के बाहर निकालना भी तो मगध राज्य का कर्तव्य है।'' आर्य चाणक्य ने कहा।

''हा! हा! हा! यह ब्राह्मण हमको कर्तव्य सिखाने आया है। नर्तकियों! जरा हमारे गुरुजी को देखना तो सही। काल भैरव के अवतार को जरा नमस्कार तो करो—हा! हा! हा!'' महाराज नंद ने व्यंग्य एवं तिरस्कार युक्त शब्दों में कहा।

आर्य चाणक्य फिर एक बार लहू का घूँट पीकर रह गए। उन्होंने शांतिपूर्वक कहा, ''ब्राह्मण का तो यह कार्य ही है, महाराज! आप यदि अब भी चुप बैठे रहे तो यवन अवश्य एक दिन मगध को नष्ट कर देंगे। फिर न तो मगध राज्य रहेगा और न मगध का राजा।''

विवेकहीन व्यक्ति की भाँति नंद यह नहीं समझ पाया कि उसका हित भी राष्ट्र के हित में है। आर्य चाणक्य की यह चेतावनी भी उसे बुरी लगी। वह बोला, ''तू हमको शाप देकर डराना चाहता है, ब्राह्मण! नर्तकियों! इस ब्राह्मण को धक्के मारकर निकाल तो दो! धृष्ट कहीं का!''

नर्तकियाँ आगे बढ़ीं। राजा के शब्दों ने आर्य चाणक्य की आशा को भग्न कर दिया। अपमान भरे इन शब्दों से उनका हृदय बिंध गया। उनका सात्त्विक क्रोध भड़क उठा। उन्होंने अपनी चोटी खोलकर प्रतिज्ञा की कि जब तक नंद राजा का उच्छेद करके राष्ट्रहितैषी एवं कर्तव्यनिष्ठ राजा गद्दी पर नहीं बैठा दूँगा, तब तक चोटी नहीं बाँधूँगा।

नंद ने इसको ब्राह्मण का प्रलाप समझा और फिर एक बार नर्तकियों के साथ उच्च अट्टहास कर उठा।

आर्य चाणक्य एकदम राजमहल से बाहर हो गए। अमात्य राक्षस हतप्रभ सा यह सब कृत्य देखता रहा। वह क्या करे, उसकी समझ में नहीं आया। चुपचाप वह भी राजमहल से निकल आया। बाहर आकर आर्य चाणक्य से बोला, ''मित्र चाणक्य! व्यसनाधीन व्यक्ति की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, उसे क्षमा कर दो।''

''परंतु राजा का व्यसनी होना तो देश के लिए घातक है, अमात्यवर! नंद का उच्छेद अपने लिए नहीं, राष्ट्र के लिए करना होगा। देखते नहीं, अलिक्सुंदर एक के बाद एक छोटे-छोटे राज्यों को हराता जा रहा है। प्रत्येक राज्य का बच्चा-बच्चा अपनी स्वतंत्रता के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील है, परंतु उनसे लड़ाई अलग-अलग हो रही है।

एक छोटे से राज्य की सेना हो ही कितनी सकती है? अलिक्सुंदर के विशाल सैन्यबल के सागर में वह तरंग सी विलीन हो जाती है। आज देश में वीरता है, शूरता है, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए सबकुछ अर्पण करने की शक्ति है, परंतु यदि कमी है तो एक सूत्र की, जो सबको एक साथ बाँध सके। अखिल भारतीय एकछत्र सम्राट् की आवश्यकता है। यदि यह नहीं हुआ तो भारतवर्ष में यवनों का आधिपत्य सदा के लिए हो जाएगा, और यदि इस बार अलिक्सुंदर लौट भी गया तो फिर कोई और आक्रमण कर देगा। क्या नंद इस योग्य है? बोलो राक्षस! तुम ही बोलो।''

राक्षस चुप था। फिर चाणक्य ने कहना प्रारंभ किया, ''राक्षस! तुम्हारे हृदय में देशभक्ति है, मैं जानता हूँ। जब हम-तुम साथ पढ़ते थे तो तुम सदैव देशभक्ति की बातें किया करते थे। आज यवनों का आक्रमण देश पर सबसे बड़ी विपत्ति है। देश के भाग्य का निबटारा वर्षों के लिए हो रहा है। तुम इस मगध राज्य के अमात्य हो। राजा व्यसनी है। परंतु तुम्हें तो अपने कर्तव्य का ज्ञान है। शक्ति तुम्हारे ही हाथ में है। आओ, अपनी सेना को लेकर शत्रुओं को भारत सीमा से बाहर निकाल दें।''

''परंतु मित्र! क्या यह राजद्रोह नहीं होगा?'' अमात्य ने दबी जबान से कहा।

''अमात्यवर! राजा राष्ट्र के लिए है, न कि राष्ट्र राजा के लिए। यदि अलिक्सुंदर आज तुम्हारा राजा हो जाए, तो उसकी भक्ति भी तुम राजभक्ति मानकर करोगे? राजभक्ति वहीं गुण है, जहाँ वह राष्ट्र और देशभक्ति की पोषक हो, अन्यथा वह पाप है, सर्वथा त्याज्य है।''

''परंतु मैंने राजा का इतने दिनों तक अन्न खाया है, चाणक्य!''

''छिह-छिह! तुम कैसी अबोध बालक जैसी बातें करते हो। अन्न तो तुमने खाया है भारतभूमि का। आज उस पर विपत्ति है। आओ, अपने अन्न का भार चुकाओ।''

''मैं असमर्थ हूँ, चाणक्य!'' अंत में अमात्य ने कहा।

आर्य चाणक्य की सब आशाओं पर पानी फिर गया। फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। हाँ, चुपचाप एक ओर चल दिए। अमात्य उनको रोके, इतना उसका साहस नहीं हुआ।

7

भारतीय पराक्रम तथा अलिक्सुंदर का अंत

आर्य चाणक्य लौटकर पंचनद गए। उन्होंने निश्चय किया कि वहीं जाकर वहाँ के समस्त छोटे राज्यों को संगठित करके अलिक्सुंदर का एक साथ सामना किया जाए। परंतु वहाँ पहुँचने पर उनको पता चला कि उनके लिए इन सबकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। चंद्रगुप्त ने पहले ही इस साधन का सफल उपयोग कर लिया था। उसने समस्त पंचनद में घूम-घूमकर राजाओं से, उनके सेनापतियों से, गणराज्यों के प्रतिनिधियों से बातचीत की। उनको असली स्थिति समझाई। स्वयं राजा पर्वतक से मिला। उसके हृदय में दबे हुए देशप्रेम को उभारा। उसने उनसे कहा, ''महाराज, आप जैसे वीरों को जन्म देकर भारतभूमि अपने को धन्य समझती है। जिस अलिक्सुंदर को गर्व था कि दुनिया में उसको कोई नहीं हरा पाया, उसका गर्व आपने ही चूर किया। परंतु महाराज! वह आस्तीन का साँप बनकर अपने घर में आ घुसा है। आप क्या सोचते हैं कि मगध-विजय करने के बाद वह आपको राज्य करने देगा? अवश्य ही वह किसी-न-किसी प्रकार छलछिद्र से आपका वध कराएगा। वैसे भी यह कहाँ तक उचित है कि आपने जिसको पराजित किया हो, वह तो बने विश्वसम्राट् और आप उसके अधीन रहें भारतसम्राट?''

ये बातें सुनकर पर्वतक की आँखें खुल गईं। उन्होंने अपनी सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया। पंचनद के छोटे-छोटे राज्य भी मिलकर अलिक्सुंदर की सेना को त्रस्त करने लगे। शीलभद्र ने भी चाणक्य की आज्ञानुसार अपना कार्य किया। अलिक्सुंदर के सिपाहियों की हिम्मत टूट गई। मगध नाम सुनते ही उनको जूड़ी चढ़ती थी। बस, एक दिन सबने निश्चय किया कि हम अब आगे नहीं बढ़ेंगे, वरन् अपने घर पर लौट चलेंगे। अलिक्सुंदर ने बहुत कुछ समझाया-बुझाया। मदिरा छोड़ दी, तीन दिन तक भोजन नहीं किया, परंतु कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में हारकर उसने निश्चय किया कि अब घर

लौट चलेंगे तथा कुछ दिन रहकर फिर भारत के बचे हुए प्रदेश को जीतेंगे।

आर्य चाणक्य चंद्रगुप्त के प्रयत्नों से अत्यधिक प्रसन्न हुए, अब उन्होंने निश्चय किया कि अलिक्सुंदर को जीवित वापस नहीं जाने देना चाहिए। अतएव वे सिंधु और मकरान के प्रदेशों में गए। वहाँ के गणराज्यों को पहले से ही उसके विरुद्ध उभार दिया। पश्चिमोत्तर का मार्ग, जिस ओर से वह भारत में आया था, उन्होंने पहले ही से बंद कर दिया था, क्योंकि वहाँ अश्वकों ने विद्रोह कर रखा था। उस ओर से जाने की अलिक्सुंदर की हिम्मत नहीं थी। सिंधु और मकरान के मार्ग को भी, वहाँ के निवासियों को इस आक्रमण के विरुद्ध उभारकर उसके लिए और भी कठिन बना दिया।

अलिक्सुंदर ने अपनी सेना के दो भाग किए। एक तो समुद्री मार्ग से नियारकस की अध्यक्षता में तथा दूसरा स्वयं उसके साथ मकरान के रेगिस्तान से होकर गया। मल्लियों ने उसको बड़ा तंग किया। यहाँ तक कि एक तीर उसके वक्ष:स्थल पर इतंनी ज़ोर का लगा कि अत्यंत घातक घाव हो गया। जिसके फलस्वरूप वह बेबिलोन जाकर मर गया। पारियात्र पारवर्ती (बलूची) जातियों ने भी उसको बहुत तंग किया। सैकड़ों सिपाही बिना पानी के मर गए, कई बालू में झुलस गए तथा युद्ध में तो अनेक मारे गए। अंत में एक दिन वह कह उठा, "भारतवर्ष में मैं हर जगह भारतवासियों के आक्रमण तथा कोप का भाजन बना। उन्होंने मेरे कंधे को घायल किया। गांधारियों ने मेरे पैर को निशाना बनाया। मल्लियों से युद्ध करते हुए एक तीर की नोक से मेरा वक्ष:स्थल छिद गया और गरदन पर भी गदा का एक तगड़ा हाथ पड़ा। भारत का आक्रमण मेरे जीवन की सबसे बड़ी भूल है।"[9]

इस प्रकार आर्य चाणक्य और चंद्रगुप्त ने मिलकर अलिक्सुंदर को न केवल भारत से ही निकाला, परंतु निकालते-निकालते भी उसके सैन्य का संहार किया तथा स्वयं उसको मारने का प्रयत्न किया। बेबिलोन जाकर वह मर गया। परंतु उसने अपने सेनापति सेलेउक् से अपनी भारत विजय की अभिलाषा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करवा ली।

---

9. भारतीय प्रतिकार को सिकंदर सह न सका। व्यास नदी के किनारे पहुँचकर उसने वहाँ से वापस मकदून लौटने का निर्णय किया। वह जिस रास्ते से आया था, उसी रास्ते से झेलम नदी तक वापस आया। यहाँ आकर उसे अपना मार्ग बदलना पड़ा और सिंधु नदी के जलमार्ग से अपने देश लौटने का फ़ैसला लिया। उसने अपनी सेना का एक भाग नदी के बहाव के साथ नावों में भेजा। सेना का शेष भाग नदी के दोनों ओर चलता रहा। झेलम और चेनाब के संगम पर मल्लियों अथवा मालव की एक बड़ी सेना ने उस पर हमला किया। इस हमले से वह घायल हुआ। बहाव की ओर आगे की यात्रा में वह कई भारतीय राज्यों से होकर गुजरा, लेकिन उनसे उसका बड़े पैमाने पर युद्ध नहीं हुआ। छिटपुट लड़ाइयों के साथ आगे बढ़ते हुए वह सिंधु नदी के डेल्टा क्षेत्र में पत्तल स्थान पर जा पहुँचा। यहाँ के बाद से उन दिनों सिंधु नदी दो धाराओं में विभाजित होकर समुद्र में गिरती थी। यहाँ उसने अपने सेना अधिकारी नियारकस के नेतृत्व में सेना की एक टुकड़ी समुद्री मार्ग से भेजी और स्वयं मकरान के रेगिस्तान से होते हुए स्थल मार्ग से भागा।

8

भविष्य की योजना

संध्या समय लाल-लाल सूर्य अस्ताचल की ओर भागा जा रहा था, मानो पश्चिम की ओर पीठ दिखाकर भागते हुए शत्रु की पीठ पर लगा हुआ विशाल रक्तव्रण हो। चहकते हुए पक्षी शत्रु के इस प्रयाण पर आनंदगान कर रहे थे। अचानक आए हुए इस बवंडर से एक दिन विपाशा[10] का जलप्रवाह क्षुब्ध हो उठा था। आज वह भी शांत कलकल ध्वनि से बह रहा था और उसके साथ ही संपूर्ण देश भी एक संतोष की साँस ले रहा था। परंतु विपाशा के तट पर बैठे हुए दो व्यक्तियों के मन में अभी शांति और समाधान नहीं था। उनकी मुखमुद्रा से मालूम होता था कि उनका मस्तिष्क किसी उलझी हुई गुत्थी को सुलझाने में लगा हुआ है।

''अलिक्सुंदर को अंत में अपने प्राणों से हाथ धोने ही पड़े, आर्य!'' चंद्रगुप्त ने शांति भंग करते हुए कहा।

''हाँ वत्स! अलिक्सुंदर तो भारत आक्रमण के फल को भुगत चुका। संक्रामक रोग का रोगी खुद तो मर जाता है, पर अपना रोग दुनिया में छोड़ ही जाता है। उसके कीटाणु हवा में फैलकर दूसरों को अपना शिकार बनाते हैं। आज सेलेउक् भी तो भारत विजय करना चाहता है।''

''विश्व विजय की इच्छा रखने वाले अलिक्सुंदर की जब यहाँ दाल न गली तो सेलेउक् क्या खाकर भारत विजय का विचार करेगा?'' चंद्रगुप्त ने मुँह बनाकर कहा, ''और सुना है आर्य, कि अलिक्सुंदर के सेनापति सेलेउक् और टालेमी में भी आपस में उसके साम्राज्य के लिए युद्ध हो रहा है।''[11]

---

10. व्यास नदी का संस्कृत नाम विपाशा नदी है।

11. टालेमी और सेल्यूकस दोनों सिकंदर के कई सेनापतियों में से एक थे। सिकंदर की मृत्यु के बाद उसके जीते हुए साम्राज्य के उत्तराधिकारी को लेकर हमेशा विवाद बना रहा। ईसा पूर्व 323 में सिकंदर की मृत्यु से लेकर ईसा पूर्व 31 में रोमन साम्राज्य की शुरुआत तक सिकंदर का परिवार और उसके सभी सेनापतियों के अलावा उनकी अगली पीढ़ियाँ भी आपस में लड़ती रहीं।

''यह सब सत्य है, वत्स! परंतु भारत का कल्याण तो भारत की ही शक्ति से होगा। दूसरों की दुर्बलताओं के सहारे हम कब तक जीवित रहेंगे? भारत में शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने के अपने ध्येय को क्या तुम इतनी जल्दी भूल गए?'' आर्य चाणक्य ने कहा।

''नहीं आर्य! नहीं; इस महान् ध्येय को कैसे भुलाया जा सकता है? हाँ, अलिक्सुंदर को भारत से निकालकर जरा साँस लेने का समय अवश्य मिला है।''

''अभी तो सेर में पूनी भी नहीं कती है, चंद्रगुप्त!'' आर्य चाणक्य ने व्याकुलता से कहा, ''भारत की इस अजेय शक्ति का उषःकाल तो उस समय होगा, जब तुम मगध के सिंहासन पर आरूढ़ होओगे। असली कार्य तो अभी आगे पड़ा है।''

आर्य चाणक्य और चंद्रगुप्त दोनों ही अपने भावी कार्यक्रम पर विचार करने लगे। पश्चिमोत्तर, सिंधु एवं आधुनिक राजस्थान के छोटे-छोटे राज्यों पर चंद्रगुप्त का सिक्का जम चुका था। उन्होंने उसको अपने नेता के रूप में देखा तथा उसी के दृढ नेतृत्व में अलिक्सुंदर को भारत से खदेड़ा था। परंतु एकच्छत्र साम्राज्य निर्माण करने में पर्वतक और नंद दो बड़ी बाधाएँ थीं। भारत में सबसे बड़ा राज्य मगध का ही था, पर पर्वतक का राज्य भी कोई छोटा-मोटा राज्य नहीं था; और फिर अलिक्सुंदर की सहायता से पंचनद के छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर पर्वतक ने अपने राज्य को और भी बढ़ा लिया था। राजा नंद विलासी था। उसके जीवन में किसी भी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा नहीं। परंतु पर्वतक महत्त्वाकांक्षी राजा था, उसकी आकांक्षा थी कि वह भारत का सम्राट् बने। चंद्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही उसकी इस महत्त्वाकांक्षा को जानते थे।

''पर्वतक भारत का सम्राट् बनना चाहता है, जानते हो चंद्रगुप्त?'' आर्य चाणक्य ने पूछा।

''हाँ आर्य! जानता हूँ, इसीलिए तो उसने अलिक्सुंदर को पराजित करके भी उससे मैत्री की थी। परंतु अब क्या है, अब तो अलिक्सुंदर इस दुनिया में नहीं रहा।'' चंद्रगुप्त ने कहा।

''अलिक्सुंदर नहीं रहा तो क्या हुआ, उसका सेनापति सेलेउक् तो है। पर्वतक है भी इतना महत्त्वाकांक्षी कि अपनी इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए सेलेउक् से सहायता लेने में संकोच नहीं करेगा। विदेशी को सहायता के लिए बुलाना तो शत्रु को घर का मार्ग दिखाना ही है।''

''तब तो पहले पर्वतक से ही युद्ध किया जाए, आर्य!'' चंद्रगुप्त ने उत्तेजित होकर कहा।

''नहीं वत्स!'' आर्य चाणक्य मुसकराते हुए बोले, ''पर्वतक से अभी युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। नंद और पर्वतक ये दो काँटे हैं। काँटे को काँटे से ही उखाड़ना

बुद्धिमानी का काम है। नंद तो विलासी, आलसी और कायर है। उसमें किसी भी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा नहीं है। परंतु पर्वतक वीर एवं महत्त्वाकांक्षी है। उसको मगध पर आक्रमण करने के लिए उकसाया जाए; वह तैयार हो जाएगा। नंद को वह अवश्य ही पराजित करेगा। परंतु इसके पहले कि वह मगध पर अधिकार जमाए, तुम मगध के रक्षक के रूप में प्रकट होकर पर्वतक से युद्ध करना। उस युद्ध में अथवा अन्य किसी षड्यंत्र के द्वारा पर्वतक का वध करना होगा। मगध की जनता तुमको त्राता पाकर अवश्य ही तुम्हारा अभिषेक करेगी। इसके लिए मैं नंद के विरुद्ध अभी जाकर जन-समाज को उभारकर संगठित करता हूँ और तुम पर्वतक से मिलकर आक्रमण की तैयारी करो।''

''पर्वतक के साथ इस प्रकार विश्वासघात कहाँ तक ठीक होगा, आर्य! मेरे स्थान पर उसी को भारत सम्राट् बनने दीजिए। एकछत्र साम्राज्य ही तो चाहिए। सम्राट् फिर कोई भी क्यों न हो।''

''चंद्रगुप्त तुम भूल रहे हो। तुम्हारा व्यक्तित्व अभी मिटा नहीं है। तुम अपने लिए नहीं, भारत के लिए सम्राट् बनोगे। चंद्रगुप्त सम्राट् नहीं होगा, परंतु भारत सम्राट् चंद्रगुप्त होगा। पर्वतक जैसा स्वार्थी तथा महत्त्वाकांक्षी, फिर वह कितना ही वीर क्यों न हो, सम्राट् बनने के योग्य नहीं है। भारत का सम्राट् तो निस्स्वार्थ वृत्ति से संयम एवं दृढतापूर्वक जनता की सेवा करने वाला व्यक्ति चाहिए। भगवान् ने तुमको ये गुण दिए हैं, पर तुम भूल से उन्हें अपना समझ बैठे हो। वे देश के हैं, और देश का अधिकार है कि तुम उनका उचित उपयोग करो। तुम सम्राट् बनने, न बनने वाले कौन होते हो? आज देश को आवश्यकता है तो तुम उसकी पूर्ति के लिए सम्राट् बनोगे, कल आवश्यकता होगी तो उसी के लिए तुम्हें भिक्षुक भी बनना पड़ेगा।''

आर्य चाणक्य बोलते-बोलते आवेश में आ गए। चंद्रगुप्त एकदम सहम गया। वह धीरे से क्षमा-याचना करता हुआ बोला, ''क्षमा कीजिए आर्य! मैंने देश के सामने अपने स्वार्थों को कोई महत्त्व नहीं दिया है। पर हाँ, सर्वांगपूर्ण देशभक्ति की कल्पना अभी तक मेरे सम्मुख नहीं आई थी। आज अवश्य ही मैंने एक नया पाठ पढ़ा है।''

''हाँ वत्स! इस पुण्यभूमि भारत के लिए एक पर्वतक नहीं, कितने ही पर्वतकों की बलि देनी होगी। अच्छा, उठो, सबसे पूर्व तो जाकर वाहिकों[12] को जगाओ। अलिक्सुंदर के राज्य में भारत का यह भाग अभी तक है। विद्रोह का यह उपयुक्त समय है। उनकी तथा अन्य छोटे-छोटे राज्यों की सेना को संगठित करके पर्वतक के साथ नंद पर आक्रमण की तैयारी करो।''

---

12. वाहिक अथवा बाह्लिक वर्तमान बल्ख, अफगानिस्तान है।

9

अभिषेक की तैयारी

आर्य चाणक्य ने चंद्रगुप्त को विदा कर मगध की ओर प्रस्थान किया। आज से छ वर्ष पूर्व भी वे वहाँ भारत से अलिक्सुंदर को निकालने के लिए मगधराज नंद को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराने एवं उससे सहायता की याचना करने गए थे, और आज जा रहे थे, भविष्य में कोई अलिक्सुंदर भारत की ओर मुख भी न कर सके, इसीलिए मगध में एक शक्तिशाली साम्राज्य के निर्माण हेतु नंद वंश को नष्ट करने। आज वे याचक बनकर नहीं, संहारक बनकर जा रहे थे, पर याचना और संहार दोनों ही के पीछे था सात्त्विक देश-प्रेम। रात्रि के निबिड़ अंधकार में आर्य चाणक्य ने वेष बदले चुपके से कुसुमपुर में प्रवेश किया। राजा नंद बेखबर अपने राजमहल में पड़ा हुआ था। सर्वनाश इसी प्रकार वेष बदलकर चुपचाप प्रवेश करता है।

कुसुमपुर में उनका निवास नंद राज्य के लिए घुन का काम करता था। उनका एक-एक क्षण उसके राज्य की जड़ें खोखली बनाने में व्यतीत होता था। नंद की सत्ता उनको असह्य हो गई थी। राज्य में आकर नंद के दुराचारों का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण उनको और भी तीव्र वेदना होती थी। ज्यों-ज्यों यह वेदना तीव्र होती, त्यों-त्यों वे अपने कार्य की गति को भी तीव्र करते। जनता में फैली हुई नंद विरोधी भावनाओं का उन्होंने पूर्ण लाभ उठाया। मंत्री राक्षस तथा सेनापति भागुरायण के मनमुटाव को अधिक उत्तेजित करके भागुरायण को अपनी ओर मिला लिया। सामंत शकटार, जिसके कि छह पुत्रों का राजा नंद ने वध करवा दिया था, वह भी इनकी ओर आ मिला।

कुसुमपुर में आर्य चाणक्य सब तैयारी कर चुके थे। चंद्रगुप्त को आक्रमण के लिए कब बुलाया जाए, इसी विचार में बैठे हुए थे कि चंद्रगुप्त का दूत भी आ पहुँचा। वह अभिवादन करके एक ओर खड़ा हो गया। आर्य चाणक्य ने कुशलक्षेम के उपरांत समाचार पूछे। दूत बोला, "आर्य वाहिक गण आज स्वतंत्र हैं। महाराज चंद्रगुप्त ने

उनको स्वातंत्र्य संदेश सुनाया, उन्होंने उनमें नवजीवन का संचार कर दिया। उनकी विद्रोहाग्नि भभक उठी और उसमें उनकी दासता तथा यूनानी क्षत्रप दोनों ही भस्मीभूत हो गए। अब महाराज ही उनके अधिपति हैं।''

''यह तो ठीक ही हुआ दूत; पर शेष राज्यों का क्या हाल है?''

''आर्य! महाराज ने कुलूत[13] के चित्रवर्मा, मलय[14] के सिंहनाद, कश्मीर के पुष्कराक्ष, सिंधु के सिंधुसेन तथा अन्य छोटे-छोटे गणराज्यों को अपनी ओर मिला लिया है। वे सब अपनी सेना लेकर महाराज चंद्रगुप्त की आज्ञा पर कूच करने को तैयार हैं।''

''और पर्वतक से भी कुछ बातचीत हुई है या नहीं?''

''हाँ आर्य! मगध के आक्रमण के प्रत्यक्ष नेता तो वे ही हैं। भारत के भावी सम्राट् बनने की लालसा से वे भी दलबल सहित आ रहे हैं। आक्रमण के लिए कौन सा समय उपयुक्त होगा तथा आपका आदेश क्या है, इसीलिए मुझे यहाँ भेजा है।''

आर्य चाणक्य यह सुनकर फिर विचारों में लीन हो गए। कौन सा दिन इसके लिए उपयुक्त होगा? यही था, उनके सामने मुख्य प्रश्न।

एकाएक जयघोष की तुमुल ध्वनि से उनकी शांति भंग हुई। दूत को उन्होंने जयघोष का कारण जानने के लिए भेजा। थोड़ी देर में दूत ने बताया कि अगले मास में इसी तिथि को राजकुमार सुमाल्य के यौवराज्याभिषेक की घोषणा की जा रही है। आर्य चाणक्य की आँखों में एकदम चमक आ गई। क्रूर मुसकान उनके होंठों पर खेलने लगी। फिर दृढता के साथ बोले, ''दूत! अभिषेक की घोषणा हो चुकी है। अभिषेक होना ही चाहिए, जाओ। चंद्रगुप्त से कहो कि अभियान का यही दिन उपयुक्त है। कुसुमपुर पहुँचने तक अपनी सेना की गतिविधि का पता न लगने पाए।''

अभिवादन करके दूत चला गया। आर्य चाणक्य भी अभिषेक की तैयारी में जुट गए।

---

13. कुलूत वर्तमान कुल्लू, हिमाचल प्रदेश है।
14. मलय राज्य की सीमा उत्तर-पश्चिम हिमालय के सिरे से दक्षिण-पश्चिम की ओर फैली थी।

10

सम्राट् चंद्रगुप्त की जय

मगध के राजभवन में आज चहल-पहल मची हुई है। परिचारक एवं परिचारिकाएँ इधर से उधर दौड़-धूप कर रहे हैं। राजमहिषी स्वयं आज बड़ी व्यस्त हैं। राजमहल की सब सजावट अपनी ही देखरेख में करवा रही हैं। कभी इस बेलि को यहाँ से हटवाकर वहाँ लगवाती हैं तो कभी चित्रों को इधर से उधर हटाती हैं। यौवराज्याभिषेक के पश्चात् राजमहिषी के पास आशीर्वाद के लिए आने को राजकुमार सुमाल्य के लिए प्रवेश-द्वार विशेष रूप से बनाया गया है। राजमहिषी ने विज्ञ कलाकार की भाँति उनका सुरुचिपूर्ण निर्माण करवाया है। महाराज नंद के लिए आज विशेष सुरा ढाली गई है। राज्य भर की नर्तकियाँ आज कुसुमपुर में एकत्र हैं। प्रत्येक के लिए अपनी-अपनी रुचि के वस्त्राभूषण दिए गए हैं। उनसे अपेक्षा है कि अपनी नृत्यकला का अनूठा प्रदर्शन करके आज महाराज, राजकुमार तथा दरबारियों के चित्त को लुभाकर मनमाना पुरस्कार पाएँ।

यह साज-सजावट राजमहल तक ही सीमित नहीं है, बल्कि आज पूरा कुसुमपुर सजाया जा रहा है। जनता के हाथ-पैर तो सजावट में लगे हैं, परंतु उसका हृदय उसमें नहीं है। वह तो हृदय में अत्याचार की वेदना लिए हुए अंतस्तल में विद्रोहाग्नि की चिनगारी को उत्तप्त श्वास से प्रज्वलित करते हुए मुख पर हास्य एवं प्रसन्नता का दिखावा कर रही है। वह दीप-प्रकाश की तैयारी अभिषेक का आनंद प्रकट करने के लिए नहीं कर रही, पर इसलिए कि एक दीप से दूसरा दीप जलकर प्रलयंकारी ज्वाला प्रकट हो, जिसमें समस्त नंद वंश भस्मीभूत हो जाए।

चारों ओर की इस चहल-पहल में आर्य चाणक्य भी सम्मिलित हैं। परंतु वे दूसरे ही अभिषेक की तैयारी में हैं। वे तो क्रांति के अग्रदूत की भाँति व्यस्त हैं। अपने दूतों को उन्होंने चारों ओर लगा रखा है। सेनापति भागुरायण को, जिन्हें उन्होंने अपनी ओर फोड़ लिया था, आज सचेत कर दिया गया है। सेना को आज्ञा मिल चुकी है कि

सेनापति के सिवाय और किसी की भी आज्ञा पालन न करें। सुमाल्य की विमाताएँ भी आज उसके प्राणों की गाहक हैं। कौटिल्य की कूटनीति ने मगध राज्य को चारों ओर से जकड़ रखा है।

महारानी तथा राजकुमार सुमाल्य बड़ी उत्सुकता से राजतिलक की घड़ी की बाट जोह रहे थे। काम में लगे हुए मनुष्य का समय घोड़े की चाल से दौड़ता है, परंतु आज एक क्षण का अवकाश न रहने पर भी इन दोनों का समय बहुत धीरे-धीरे रेंगता सा जा रहा था। सुमाल्य भविष्य के सुनहले स्वप्नों के झूलों में झूल रहा था, यदि कहीं उसे अपने भविष्य का सच्चा ज्ञान होता तो? परमात्मा ने भविष्य इसीलिए अंधकार में रखा है, ताकि वर्तमान के क्षणिक सुख में उस सुख का आनंद लूटने से अथवा वर्तमान के क्षणिक दुःख में अपनी शक्तियों का उपयोग करने से मनुष्य वंचित न रह जाए। जैसे-तैसे वह घड़ी उपस्थित हुई, राजमहल से महाराज, युवराज, अमात्य तथा समस्त सभासदों की सवारी चल दी। बंदीगण जयगान करते जाते थे। जयघोष से गगन-मंडल गूँज उठा।

एकाएक अमात्य राक्षस को दूसरा ही जयघोष सुनाई पड़ा, उनके कान अनिष्ट की आशंका से खड़े हो गए। सेनापति ने कहा कि महाराज के जयघोष की सुदूर हिमाचल से टकराकर लौटने वाली प्रतिध्वनि होगी। परंतु यह तो विलासी नंद के अत्याचारों से क्षुब्ध प्रजा की आहों की प्रतिध्वनि थी, जिसकी गूँज विनाशकारी तूफान की भाँति प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती थी। अमात्य 'राक्षस' को संतोष नहीं हुआ। उसके हृदय में व्याकुलता थी। उसके कान आस-पास के तुमुलनाद को न सुनकर दूर के ही जयघोष को सुन रहे थे। इतने में ही दूत दौड़ता हुआ आया। माथा ठोंककर अमात्य राक्षस के सम्मुख खड़ा हो गया। अमात्य राक्षस ने व्याकुलता के साथ कुछ क्रुद्ध होकर पूछा, "बोलो दूत, क्या है? यह अपशकुन कैसा? बोलो, शीघ्र बोलो!"

"प्रलय हो गया, अमात्यवर! कुसुमपुर को शत्रुओं ने घेर लिया, यदि शीघ्र ही उनको न रोका गया तो राजमहल तक पहुँच जाएँगे!" अमात्य राक्षस को एकदम धक्का लगा। उनकी शंका निर्मूल न रही। परंतु उन्होंने अपने को सँभाला। सवारी को एकदम रोक देने की आज्ञा दी गई। महाराज नंद कुछ समझ न पाए। अमात्य राक्षस ने जाकर कहा, "महाराज! अभिषेक किसी अन्य दिन कीजिएगा। आज तो रण करना होगा। शत्रुओं ने नगर को घेर लिया है।"

कायरता का पुतला नंद एक बार काँप गया। परंतु दूसरे ही क्षण बोला, "अमात्य! हमारे शत्रु तो हमको सताते ही हैं, परंतु तुम भी रंग में भंग कर देते हो। आज अभिषेक का दिन है। राज्य के कोने-कोने से नर्तकियाँ आई हैं और तुम कहते हो, रण को चलो। जाओ, तुम और सेनापति, सेना लेकर रण करो। तुम लोगों को और सेना को इसलिए तो वेतन मिलता है। तुम अपना काम करो और हमको अपना काम करने दो। सवारी को आगे बढ़ने दो।"

अमात्य क्रोध से दाँत पीसकर रह गया। उसको विश्वास हो गया कि सर्वनाश निश्चित ही है। जैसे ही उन्होंने अपने घोड़े की बाग मोड़ी कि भीड़ में से एक चमचमाती हुई कटार आती हुई दिखी। विद्युत् के प्रकाश की भाँति उसका प्रकाश भी आकाश में खेल गया तथा दूसरे ही क्षण वह नंद के वक्षस्थल पर खून से सनी हुई ग्रहण के चंद्र की भाँति चमक उठी। नंद एक क्षण चीत्कार करके इस लोक को छोड़ गया।

चारों ओर कोलाहल मच गया। राजकर्मचारीगण घबरा गए। उनको समझ में नहीं आता था कि क्या किया जाए। वे नंद की लाश उठाकर राजमहल की ओर भागने लगे। एकाएक 'महाराज चंद्रगुप्त की जय' से आकाश-मंडल गूँज उठा। अमात्य राक्षस समझ गए कि इस विद्रोह का नेता चंद्रगुप्त ही है। आज से पाँच वर्ष पूर्व का दृश्य उनकी आँखों के सामने इस अशांत वातावरण में भी एक साथ उपस्थित हो गया। उन्होंने सेनापति को पुकारा। परंतु सेनापति वहाँ नहीं थे। वे सीधे सेनास्थल पर पहुँचे तथा रणभेरी बजाने की आज्ञा दी। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जबकि उनकी आज्ञा की अवहेलना की गई।

"सेना तो सेनापति की ही आज्ञा मानती है, अमात्यवर!" एक सैनिक ने अभिवादन करके नम्रतापूर्वक कहा।

"यदि सेनापति अनुपस्थित हो तो उच्च अधिकारियों की आज्ञा मानना तुम्हारा कर्तव्य है, सैनिक!" अमात्य ने कुछ रोष तथा प्रार्थना मिश्रित स्वर में कहा। परंतु उनका तर्क निष्फल रहा। सैनिक निश्चेष्ट खड़े रहे।

राक्षस समझ गए कि सेना उनका साथ नहीं देगी! उनकी आँखों के सामने अंधकार छा गया। परंतु भीषण अंधकार में भी हाथ पर हाथ रखकर वे बैठने वाले नहीं थे। राजमहल के रक्षक आदि थोड़ा-बहुत सैन्य एकत्र करके सुमाल्य की अध्यक्षता में उन्होंने पर्वतक का सामना किया, परंतु उनकी थोड़ी सी सेना पर्वतक एवं चंद्रगुप्त की विशाल सेना के सामने कहाँ टिक सकती थी? प्रचंड ज्योति-पुंज को बुझाने की इच्छा रखने वाले पतिंगों की भाँति वह भी नष्ट हो गई। सुमाल्य युद्ध में मारा गया।

पर्वतक मगध का सम्राट् बनने की इच्छा से आया था, परंतु जब विजय के बाद उसने चंद्रगुप्त का जयघोष सुना तो वह आश्चर्यचकित रह गया। उसके सहकारी सिंधु, मलय, काश्मीर, कुलूत, बाह्लीक, अश्वक, क्षुद्रक, मालव,[15] कंबोज,[16] गांधार,[17] सबके

---

15. मालव सोलह भारतीय महाजनपदों में शामिल था। यह झेलम और चिनाब के संगम पर स्थित था।
16. कंबोज पश्चिम हिमालय में स्थित राज्य था।
17. गांधार सोलह भारतीय महाजनपदों में शामिल था। इस राज्य में पूर्वी पंजाब और उत्तरी अफगानिस्तान के क्षेत्र शामिल थे। इस राज्य की सबसे प्राचीन राजधानी पुष्करवती को भगवान् राम के भतीजे और राजा भरत के बेटे पुष्कर ने बसाया था।

सब चंद्रगुप्त के साथ थे। और उससे भी बढ़कर मगध की सेना तथा जनता चंद्रगुप्त का स्वागत कर रही थी। राजा नहुष की भाँति पर्वतक स्वर्ग से ढकेला जा रहा था। वह अपना सहायक खोजने लगा, जो उसको फिर स्वर्ग के सिंहासन पर बैठाए। उसे अपने पुराने मित्र अलिक्सुंदर की याद आई। इस तरह अपनी बाजी जाती देखकर पर्वतक ने अंत में देश को ही दाँव पर लगा दिया। स्वार्थी व्यक्ति स्वार्थ-सिद्धि के लिए देश तक को बेचने को तैयार रहता है। यही पर्वतक ने किया। उसने सेलेउक् को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया। परंतु उसके विपक्षी खिलाड़ी चाणक्य और चंद्रगुप्त थे। उनसे बाजी जीतना आसान नहीं था।

आचार्य चाणक्य को ज्ञात हो गया कि पर्वतक ने अपना दूत सेलेउक् के पास सहायता के लिए भेजा है। पर्वतक को मार्ग से वैसे ही हटाना था, अब तो वह देशद्रोही था। उसको दूर करने में विलंब करना भी पाप था। पर्वतक वीर होते हुए भी विलासी है, यह आर्य चाणक्य को विदित था। उसकी यह दुर्बलता उसकी मृत्यु का कारण बनी। एक दिन आर्य चाणक्य ने एक सुंदर विषकन्या उसके पास भेजी। दूसरे दिन जब पर्वतक के शिविर से उसकी अरथी निकली तो दुनिया ने जाना कि पर्वतक भी उसी लोक को गया, जहाँ सब को जाना है।

समस्त उत्तर भारत के राजा अथवा गणराज्यों के अधिकारी मगध में उपस्थित थे। बड़े समारोह के साथ चंद्रगुप्त का अभिषेक हुआ। 'महाराज चंद्रगुप्त की जय' समस्त उत्तरापथ में गूँज गई। परंतु यह तो भारत के भाग्योदय का उषःकाल था। पश्चिम की ओर भागता हुआ अंधकार इस बालरवि को ग्रसने का अभी भी निष्फल प्रयास कर रहा था।

11

सेल्युकस का दुस्साहस

पर्वतक अपने देशद्रोह का फल पा चुका, परंतु उसका तीर तो छूट ही चुका था। छूटा हुआ तीर वापस नहीं आता। सेलेउक् को भारत के इस कुपूत का संदेश मिला। वह तो स्वयं ही भारत विजय की तैयारी में था। बिना भारत विजय किए उसको 'निकेतौर' (विजयी) की उपाधि धारण करना खटकता था। नियति भी उसकी इस उपाधि पर तथा इस उपाधि के धारण करने की इच्छा पर छिपे-छिपे मुसकरा रही थी।

''क्या महाराज पर्वतक ने गांधार प्रदेश का मार्ग यूनानी सेना के लिए सुरक्षित कर दिया है?'' सेलेउक् ने पर्वतक के दूत से पूछा। अश्वकों के भीषण युद्ध की याद करके उसकी देह से पसीना छूटने लगा। उनसे फिर युद्ध करने की उसकी हिम्मत नहीं थी।

''सुरक्षित करने का प्रश्न ही कहाँ है, महाराज! उत्तर भारत के समस्त राजा एवं अधिपतिगण तो मगध की राजधानी में अपनी-अपनी सेना लिए पड़े हैं। सीमांत से लेकर मगध तक भारत अनाथ जैसा है, वरन् मगध में चंद्रगुप्त से जरा लड़ना होगा।''

''चंद्रगुप्त से?'' सेलेउक् ने एकदम चौंककर कहा। दूसरे ही क्षण सेलेउक् ने गहरी साँस लेकर कहा, ''चंद्रगुप्त तो बहुत बेढ़ब व्यक्ति है। उसके कारण तो सम्राट् अलिक्सुंदर को भारत छोड़ना पड़ा था।''

दूत ने सेलेउक् की हिम्मत बढ़ाने की गरज से कहा, ''नंदवंश को उखाड़कर चंद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का बीज अभी बोया ही है। चाणक्य यद्यपि प्रयत्न कर रहा है कि यह बीज शीघ्र ही विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर ले, परंतु महाराज! मगध में अभी भी ऐसे व्यक्ति हैं, जो इस बीज को जमने नहीं देना चाहते। आपका आक्रमण तो अवश्य ही उत्तर-शीतवायु के साथ आने वाली हिम-वर्षा के समान होगा।''

''ऐसे कौन लोग हैं दूत, जो चंद्रगुप्त का विरोध कर रहे हैं?'' सेलेउक् ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

''नंदवंश के प्रति भक्ति रखने वालों की कमी नहीं है, महाराज। नंद का अमात्य राक्षस ही है जो कि नंदवंश के अभिशाप इस चंद्रगुप्त को फूटी आँखों भी नहीं देख सकता।''

''क्या महाराज पर्वतक ने उससे बातचीत नहीं की, दूत!''

''अवश्य की थी महाराज! परंतु राक्षस इस बात से सहमत नहीं था कि मगध को चंद्रगुप्त के पंजे से छुड़ाकर महाराज पर्वतक मगध की गद्दी पर बैठें। वह तो नंदवंश की अंतिम ज्योति मगधराज धनानंद के चाचा सर्वार्थसिद्धि को गद्दी पर बिठाना चाहता था।''

सेलेउक् ने मन-ही-मन कहा, 'मैं भी कब चाहता हूँ कि पर्वतक मगध की गद्दी पर बैठे, और न बैठने ही दूँगा। क्या यूनान में शासकों की कमी है, जो एक भारतीय भारत का राजा हो?' परंतु प्रत्यक्ष बोला, ''तब तो अमात्य राक्षस की सहायता मिलनी कठिन है।''

''नहीं महाराज! मुझे भारत छोड़ने के पूर्व ही ज्ञात हो गया था कि सर्वार्थसिद्धि का वध करवा दिया गया है और फिर जब राक्षस को मालूम होगा कि आप भी महाराज पर्वतक की पीठ पर हैं, तब उसे अवश्य ही हम लोगों की विजय का विश्वास हो जाएगा तथा हमारी ओर आने में ही अपना भला समझेगा। आप अपना दूत तो भेजिए।''

सेलेउक् ने स्वीकारोक्ति में केवल अपनी गरदन हिलाई। भारत आक्रमण का उसने निश्चय कर लिया। दूत को विश्राम के लिए भेजकर अपने सेनापति एवं अन्य अधिकारियों को तुरंत ही मंत्रणा के लिए बुलवाया। घंटों तक मंत्रणा चलती रही। अलिक्सुंदर पर कैसी बीती थी, यह वे सब जानते थे। भारत पर पुनः आक्रमण किया जाए, इसकी हिम्मत नहीं होती थी।

''यदि इस बार भी पराजय हुई तो परिणाम बड़ा भीषण होगा, निकेतौर।'' एक अनुभवी सेनापति ने कहा।

''पराजय और निकेतौर दोनों साथ नहीं चल सकते सेनापति! निकेतौर पराजय नहीं जानता। भारत की इस अस्त-व्यस्त दशा में तथा महाराज पर्वतक जैसा सहायक प्राप्त होने पर भी भारत विजय न हो सका तो फिर कभी नहीं हो सकेगा।''

सेलेउक् ने अपने समस्त सेनापतियों को उत्साहित किया। भारत से कितना अपार धन मिलेगा, इसको खूब ही समझाया। सेनापतियों के मुँह में पानी भर आया। बस युद्ध की घोषणा कर दी गई। सब सेना सुसज्जित होने लगी। शिरस्त्राण, खड्ग एवं शूल फिर एक बार सूर्य किरणों में चमचमा उठे।

सेना ने भारत की ओर कूच कर दिया। राक्षस के पास दूत तो पहले ही भेजा जा चुका था। सब सोचते थे कि अमात्य राक्षस और महाराज पर्वतक भारत में उनका स्वागत करने को तैयार होंगे, परंतु अंदर-ही-अंदर उनसे भी अधिक प्रबल शक्ति कार्य कर रही थी।

12

सशक्त भारत

सिंधु का शांत प्रवाह आज विक्षुब्ध हो उठा है। मगध की सेना उसके बाएँ तट पर डेरा डाले पड़ी है। घोड़ों की हिनहिनाहट तथा हाथियों की चिग्घाड़ ने एकबारगी फिर तपोवन के तपस्वियों की शांति को भंग कर दिया है। सेना का एक विभाग तो आठ दिन पूर्व ही यहाँ आ गया था, दूसरा आज ही मगध से आया है। उसके समस्त कर्मचारीगण अपने-अपने शिविर के आयोजन में लगे हुए हैं।

''शत्रु को इस बार ऐसा कीलना होगा कि फिर सिर उठाने का नाम ही न ले।'' एक सैनिक ने कहा और पटकुटी की मेख पर ज़ोर से हथौड़ा मारा।

''अलिक्सुंदर की इतनी दुर्गति हुई, फिर भी ये यवन भारत विजय की कल्पना करते हैं काका, कितने धृष्ट हैं!'' पास ही पटकुटी का रस्सा पकड़े हुए एक युवक ने अधेड़ उम्र सैनिक से कहा।

''इसमें शत्रु की धृष्टता या हिम्मत का क्या प्रश्न है, हेमनाथ? यह तो हमारा ही दोष है। हमारी अराष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ ही हमारे घर में घुसने को उकसाती हैं। परंतु अब भारतवर्ष अलिक्सुंदर के समय से अधिक संगठित एवं शक्तिशाली है। महाराज पर्वतक पुरुराज्य की रक्षा के लिए अलिक्सुंदर से लड़े थे, परंतु आज तो हम भारत की रक्षा के लिए लड़ने आए हैं। कितना अंतर है तब में और अब में!''

''काका! तुम भी लड़े थे यवनों से?'' हेमनाथ ने पूछा।

''मुझे वह सौभाग्य कहाँ मिल सका।'' अरुणाभ ने ठंडी साँस लेते हुए कहा, ''जब मैंने सुना कि अलिक्सुंदर ने भारत पर आक्रमण किया है तो मेरी भुजाएँ फड़कने लगी थीं, रक्त में उबाल आया, परंतु महाराज नंद की कायरता ने हमारे खड्ग को म्यान से न निकलने दिया, हमारा तीर तूणीर ही में रह गया। और भी हेमनाथ! तब हममें बहुत थोड़े ही मगध के आगे देख सकते थे। हरिशील से ही पूछो, (एक सैनिक की ओर

इशारा करते हुए) इसने उस समय क्या उत्तर दिया था।''

''पिछली बातों की याद दिलाकर क्यों लज्जित करते हो, भाई!'' हरिशील बोला, ''आज तो मैं समस्त भारत को अपना समझता हूँ। आज दुगुने शत्रुओं का संहार करके अपना ऋण चुकाऊँगा। अमात्य राक्षस ही जब नंदवंश और मगध के आगे नहीं सोच सकते थे, तो फिर हमारी क्या बात है?'' कुछ संतोष मानते हुए हरिशील ने कहा।

अरुणाभ बोला, ''आज तो अमात्य राक्षस की राष्ट्रीयता की प्रशंसा ही करनी होगी। पहले तो वे महाराज चंद्रगुप्त का विरोध ही करते रहे, परंतु जब सेलेउक् का दूत उनके पास देशद्रोह का संदेश लेकर आया तो इस राष्ट्रीय आपत्ति के समय उन्होंने महाराज का साथ देना ही ठीक समझा। ज्ञात है, उन्होंने सेलेउक् के दूत से क्या कहा? उन्होंने कहा था, 'दूत जाओ, सेलेउक् से कह देना, पर्वतक भारत का अंतिम देशद्रोही था और वह वहाँ पहुँच चुका है, जहाँ प्रत्येक देशद्रोही अपने पाप का प्रायश्चित्त करता है। आकाशकुसुम की भाँति भारत में देशद्रोही ढूँढ़ने का प्रयत्न न करना'।''

''यही कारण है कि आज भारत इतना सशक्त है।'' रामवीर बोला, ''संपत्ति में देश का साथ न देने वाला क्षमा किया जा सकता है, परंतु विपत्ति में शत्रु के साथ मिलकर देशद्रोह करने वाला तो दूर रहा, देश का साथ न देकर चुप बैठने वाला भी क्षमा नहीं किया जा सकता।'' इसीलिए तो अमात्य राक्षस ने फिर मंत्रिपद ग्रहण कर लिया है। सेलेउक् का आक्रमण तो हमारे लिए वरदान-स्वरूप है। इसने हम सबको कितना निकट ला दिया। आज संपूर्ण भारत एक आवाज़ से बोलता है और एक इशारे पर काम करता है। इस एकता में कितनी शक्ति है, यह सेलेउक् को भी मालूम हो जाएगा।'' कहते-कहते हरिशील जोश में आकर खड़ा हो गया। इतने में भेरी बजी मानो हरिशील ने जिस एकता का वर्णन किया था, उसे वह प्रत्यक्ष दिखाना चाहती हो।

13

शब्दवेधी बाण

सिंधु के तट पर सैनिकों को अधिक बाट नहीं जोहनी पड़ी। दो ही दिन बाद गुप्तचर ने समाचार दिए कि सेलेउक् अपनी विशाल सेना लेकर मगध पर आक्रमण करने की तैयारी से कुछ ही दूर डेरा डाले पड़ा है। चंद्रगुप्त ने यही उचित समझा कि युद्ध सिंधु के तट पर किया जाए। अलिक्सुंदर यदि वितस्ता के तट पर हारा था तो सेलेउक् को उससे भी उत्तर-सिंधु के ही तट पर पराजित किया जाए।

सेलेउक् ने दूसरे दिन सिंधु के दूसरे तट पर चंद्रगुप्त की सेना देखी तो उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया और उसके मन के लड्डू चूर हो गए। सोच रहा था कि वह पाटलिपुत्र तक बे रोक-टोक चला जाएगा, परंतु यह तो सिर मुड़ाते ही ओले पड़े। भारत के अंदर झाँकते ही मुँह पर तमाचा पड़ने की आशंका हो गई। फिर भी उसने धैर्य नहीं छोड़ा। उसकी सेना में कानाफूसी होने लगी। सैनिक गण कहने लगे कि उनको धोखा दिया गया है। उन्हें तो बताया गया था कि मगध तक वे निर्द्वंद्व लूटते-पाटते चले जाएँगे और वहाँ चंद्रगुप्त से, जोकि स्वयं अभी अस्थिर है, युद्ध करना पड़ेगा। परंतु यहाँ तो लूट दूर रही, प्रथम ही युद्ध पाले पड़ा।

सेलेउक् ने सैनिकों को बताया, ''हमारे लिए आज बड़े सौभाग्य का विषय है। महाराज अलिक्सुंदर जब भारत में आए थे, तब उनको अनेक युद्ध करने पड़े थे। प्रत्येक राजा से, प्रत्येक गण के अधिपति से उनका युद्ध हुआ था। एक-एक चप्पा भूमि के लिए मनों रक्त बहाना पड़ा था। परंतु आज तो हमारे सामने केवल एक ही युद्ध है। सामने पड़ी हुई छोटी सी सेना को जहाँ हमने धराशायी किया कि दूसरे ही क्षण समस्त भारत हमारे चरणों पर लोटता हुआ दिखाई देगा। फिर युग-युगों तक इसकी अपार धनराशि से हम अपने कोष भरेंगे। बस एक बार दृढता से आक्रमण करने की आवश्यकता है। सिंधु के उस पार हमारा शिकार पड़ा हुआ है। सैनिकों, वहीं देवाधिदेव ज्यूस के सम्मानार्थ

गो-बलि का आयोजन होगा।''

'यवनपति की जय!' 'निकेतौर की जय!' से सिंधु का पश्चिमी आकाश गूँज उठा। पूर्वी तट पर इस गूँज की एक क्षीण ध्वनि सुनाई दी। वर्षाकाल की पूर्वी हवाएँ भी तो भारत के इस शत्रु को पश्चिम की ओर खदेड़ रही थीं। इस जयघोष को वे इस तट पर कैसे आने देतीं। प्रकृति भी वीरों की सहायता करती है।

सेलेउक् ने उसी प्रकार चालाकी से रात्रि के अंधकार में सिंधु पार करने का प्रयत्न किया, जिस प्रकार अलिक्सुंदर ने वितस्ता को पार किया था। परंतु पूर्व अनुभव से सीख न लेने वाले मूर्ख लोग भारत में नहीं रहते थे। चंद्रगुप्त केवल वीर एवं शूर ही न था अपितु वह एक कुशल सेनापति भी था, जो कि युद्ध विद्या की निपुणता के कारण रण के समस्त दाँव-पेंच भी जानता था। उसने अपनी सेना का एक विभाग नदी के ऊपर तथा दूसरा नीचे नदी पार करके सेलेउक् की सेना के पार्श्व पर आक्रमण करने को भेज दिया। कुछ चुने हुए धनुर्धारियों को नदी के उत्तर में झाड़ियों के पीछे बिठा दिया। यहाँ नदी के बीच में एक द्वीप था। इसी स्थान पर सेलेउक् ने नदी पार करने की योजना बनाई थी।

अंधकार में हाथ को हाथ नहीं दिखाई देता था। सेलेउक् की सेना की एक टुकड़ी दबे पाँव उक्त स्थान की ओर बढ़ती जाती थी। किनारे पर नावों का बेड़ा तैयार था। सैनिक एक-एक करके नाव पर बैठे। डाँड़ की छप-छप रात्रि की शांति को भंग करने लगी। एक-एक करके नावें द्वीप के किनारे आ लगीं। सैनिकगण उतरे। उनकी एक मंजिल तय हो गई। अपनी सफलता पर विश्वास हो गया। 'हिंदू बड़े भोले होते हैं, वे केवल आमने-सामने ही लड़ना जानते हैं।' एक सैनिक ने मन-ही-मन कहा। द्वीप से फिर बाएँ तट की ओर नावें चलने लगीं। जैसे ही माँझी ने डाँड़ का हाथ मारा कि एक सनसनाता हुआ तीर आया और नाविक के वक्षस्थल को बेधता हुआ पार निकल गया। नाविक पानी में गिर गया। नदी में आवाज़ हुई। इससे पूर्व कि सैनिक गण कुछ भी समझ पाते, सनसनाते हुए सहस्त्रों तीरों से बिद्ध होकर वे एक-एक करके गिरने लगे। यवन सेना में हाहाकार मच गया। अंधकार के कारण वे यह भी न जान सके कि यह बाण-वर्षा कहाँ से और कौन कर रहा है। एक सैनिक ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया। पास ही सैनिक बोल उठा, ''उधर निशाना लगाओ।'' बस दूसरे ही क्षण दोनों ही सैनिक चीख मारकर गिर पड़े। चंद्रगुप्त के सैनिक शब्दवेधी बाण चला रहे थे। अंधकार में भी वे अपना लक्ष्यवेध करने की योग्यता रखते थे। सिंधु का जल लाल हो रहा था।

यवन सेना को वापस लौटने की आज्ञा हुई। छाती के स्थान पर पीठ पर वार सहने का निश्चय हुआ। किनारे पर पहुँचे न पहुँचे कि सामने से भी आक्रमण हुआ। चंद्रगुप्त की सेना नदी पार कर चुकी थी। सेलेउक् घबरा गया। उसने अपनी बची हुई सेना को बुलाने के लिए दूत भेजा, परंतु वह अभी नदी के नीचे की ओर से पार करने वाली

चंद्रगुप्त की सेना की टुकड़ी के आक्रमणों से व्यस्त थी। यवन सैनिकों पर चारों ओर से मार पड़ने लगी। उनमें त्राहि-त्राहि मच गई।

अरुणोदय के समय पूर्व और पश्चिम दोनों ओर ही रक्ताभा दृष्टिगोचर होती थी। पश्चिम में यवनों के रक्त से धरा लाल थी तो पूर्व में क्षितिज के मुख पर भारत के सपूतों की वीरता के कारण प्रसन्नता की लाली थी। दिन निकलते आधे से अधिक यवन समाप्त हो चुके थे। दिन भर और युद्ध चला, परंतु यवनों के पाँव उखड़ चुके थे। सेलेउक् के प्रयत्न उनको न रोक पाए। अंत में उसने संधि की प्रार्थना करने में ही अपनी कुशल समझी।

दोनों ओर से युद्ध रोक दिया गया। संधि की शर्तें तय होने लगीं। सच में तो शर्तें तय करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। चंद्रगुप्त विजयी था। वह जो कुछ भी कहता, सेलेउक् को मानना ही पड़ता। परंतु भारत ने अपनी सफलता एवं शक्ति का कभी ऐसा नग्न परिचय नहीं दिया है। साथ ही पर्वतक की भाँति इस बार संधि का दिखावा करके चंद्रगुप्त को मूर्ख भी नहीं बनाया जा सकता था। स्वयं आर्य चाणक्य ने संधि की शर्तें तय कीं। इसके अनुसार सेलेउक् ने प्रथम तो फिर कभी भारत पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा की। अपने राज्य के चार प्रांत चंद्रगुप्त को दिए तथा अपनी पुत्री हेलन का विवाह भी चंद्रगुप्त के साथ कर दिया। उसका दूत मेगस्थने भी बहुत काल तक चंद्रगुप्त के दरबार में रहा। इस प्रकार चंद्रगुप्त का राज्य समस्त मध्य एशिया तक फैल गया। संगठित तथा शक्तिशाली भारत क्या कर सकता है, यह इस युद्ध ने दिखला दिया।

इसके पश्चात् चंद्रगुप्त को कुछ और छोटे-छोटे युद्ध भारत ही में दक्षिण में करने पड़े। चंद्रगुप्त का उद्देश्य तो उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम समस्त भारत को एक सूत्र में बाँधना था। और यह उनकी महानता है कि बारह वर्ष में ही एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करके उन्होंने अपने इस ध्येय की पूर्ति की।

14

विष्णु का अवतार

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य उन कतिपय इतिहास निर्माताओं में से हैं, जिनको पग-पग पर सफलता ने वरण किया। इसका श्रेय जहाँ उनकी तीव्र लगन एवं अनवरत अध्यवसाय को है, वहाँ उनकी उस विलक्षण बुद्धि को भी है, जिसके कारण उन्होंने अपने हाथ से किसी भी अवसर को नहीं जाने दिया। शिकारी की भाँति वे उचित अवसर की ताक में रहे तथा अवसर आने पर अपनी संपूर्ण शक्ति से सर्वस्व की बाजी लगाने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं की। कूटनीति के समस्त दाँव-पेंच अपने गुरु एवं सहायक आर्य चाणक्य से उन्होंने व्यावहारिक रूप में सीखे थे।

वे अत्यंत वीर एवं साहसी थे। उन्होंने सदैव अपनी सेना के आगे रहकर युद्ध किया, विपत्तियों में स्वयं सबसे पहले कूदे और फिर अपने सहायक देशभक्तों को आह्वान किया। अपने साहस एवं वीरता के कारण ही वे प्रथम तो अलिक्सुंदर के विरुद्ध विद्रोह करके और फिर सेलेउक् पर विजय पाकर पंजाब, सीमांत और पश्चिम भारत की समस्त वीर जातियों से सम्मान एवं श्रद्धा पा सके। उनकी निर्भीक एवं स्वतंत्र प्रकृति का पता तो उस घटना से ही लग जाता है, जिसमें वे अलिक्सुंदर से मिले और उसे काफी जली-कटी सुनाई। इतने निर्भीक एवं स्पष्टवादी होने पर भी वे सदैव लोकप्रिय रहे। इसी लोकप्रियता के कारण मगध के सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही वे जनता के हृदय-सम्राट् बन चुके थे। अपने इसी गुण के कारण मालव, क्षुद्रक जैसे गणराज्यों के नागरिकों पर, जो कि प्रजातंत्री शासन के कारण अत्यंत स्वतंत्र मनोवृत्ति के थे, आधिपत्य जमा सके। उनकी लोकप्रियता तथा भारत के बड़े-बूढ़े सबके हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करने का कारण था उनकी निस्स्वार्थ देशभक्ति। यदि अपने ही लिए उन्होंने ये सब प्रयत्न किए होते तो शायद देश उनका इतना साथ न देता।

सम्राट् चंद्रगुप्त अपने काल के एक महान् विजेता भी थे; परंतु अपनी विजय के

मद में मत्त होकर उन्होंने शत्रु के प्रति कभी क्रूरता का बरताव नहीं किया। हिंदू संस्कृति की अमूल्य निधि सहिष्णुता को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। परंतु सहिष्णुता, दया और मैत्री के बड़े-बड़े शब्दों के मायाजाल में फँसाने वाले शत्रु की दाल भी उन्होंने नहीं गलने दी। विजय के पश्चात् न तो अलिक्सुंदर के समान उन्होंने विजित राजा का निर्दयतापूर्वक वध करवाया और न पर्वतक के समान विजयी होने पर भी विजित के चंगुल में फँसे। सेलेउक् को हराकर उससे उन्होंने सम्मानपूर्ण मैत्री की, परंतु अपने देश के हित और गौरव को भी आँच नहीं आने दी।

वे एक महान् विजेता ही नहीं, एक सुयोग्य शासक भी थे। साम्राज्य को दृढ एवं शक्तिशाली बनाने के लिए उन्होंने बहुत से कार्य किए। अपनी प्रजा एवं देशवासियों के हित में उन्होंने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। देश की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, बौद्धिक सर्वांगीण उन्नति के लिए सब प्रकार के कार्यों का भार मौर्य शासक ने अपने ऊपर ले रखा था। साम्राज्य की इतनी सुंदर व्यवस्था थी कि पाटलिपुत्र से संचालित सम्राट् की प्रत्येक आज्ञा का पालन आज के भारतीय साम्राज्य से दुगुने विस्तृत साम्राज्य के कोने-कोने में बिना किसी अपवाद के होता था।

सम्राट् चंद्रगुप्त स्वयं अत्यधिक परिश्रमी थे। जिस परिश्रम से उन्होंने साम्राज्य प्राप्त किया था, उसी प्रकार परिश्रम एवं दक्षतापूर्वक शासन के कर्तव्य का पालन किया। शासन के प्रत्येक विभाग का उनको ज्ञान था तथा समय-समय पर उनकी जाँच-पड़ताल भी करते रहते थे। न्यायालय में स्वयं जाकर बैठते थे तथा जनसाधारण की भी उनके पास तक पहुँच थी। निश्चय ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित आदर्श सम्राट् का चित्र उन्हीं के आधार पर बना है। आदर्श सम्राट् महाकुलीन, दैवबुद्धि, दीर्घदर्शी, धार्मिक, वीर, उत्साही, दृढ-निश्चयी एवं स्वार्थ-त्यागी होना चाहिए। उसका व्रत कर्तव्य के लिए सदा तैयार रहना है; उसका यज्ञ शासन संबंधी कार्यों को ठीक-ठीक करना है; सब प्रजा को समान देखना उसका पुण्य है, प्रजा के सुख में उसका सुख, प्रजा के हित में उसका हित है; उसको अपना नहीं किंतु प्रजा का हित ही प्रिय होना चाहिए। राष्ट्र की स्वतंत्रता और शक्ति के केंद्र सम्राट् चंद्रगुप्त निश्चय ही इस आदर्श के अनुयायी थे।

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य की विजयों, उनका साम्राज्य-निर्माण, उनकी सफल शासन-प्रणाली तथा प्रजाहित के कार्यों की दृष्टि से वे न केवल भारत के ही, वरन् संसार के सफल विजेताओं, राष्ट्र-निर्माताओं और शासकों में एक उच्चस्थान पाते हैं। इसीलिए उन्हें मुद्राराक्षस ने विष्णु का अवतार तक कहा है। जिस दृष्टिकोण से हमने अपने अन्य महापुरुषों और राष्ट्र-निर्माताओं को विष्णु का अवतार माना है, उसी दृष्टि से देखा जाए तो मुद्राराक्षस का कथन किसी भी प्रकार से अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

आँखों में एक स्वप्न और हृदय में महत्त्वाकांक्षा को प्रदीप्त करने वाली देशभक्ति की चिनगारी लिए हुए दो हिंदू युवकों ने क्या कर दिखाया, यह हमने इन पृष्ठों में देखा। दोनों ही के मन में अपनी मातृभूमि की आत्मा को जगाकर हिमालय से समुद्र-पर्यंत सहस्रयोजन-व्यापी एक चातुरंत राज्य प्रतिष्ठापित करने की धुन समाई हुई थी, और दोनों ही थे धुन के पक्के। मातृभूमि की इस सेवा में जहाँ एक ने अपनी मेधा को लगाया, वहाँ दूसरे ने अपनी भुजाओं को। दबाकर कुचल डालने वाली आपत्तियों के भार को एक ओर फेंककर जब-जब भारतवर्ष ने अपना मस्तक गौरव से ऊँचा उठाया है, तब-तब देश में राष्ट्र की मूलभूत क्षात्र और ब्राह्म शक्तियों का उदय हुआ है। तभी उनके प्रतिनिधि रूप में साथ-साथ वाल्मीकि और रामचंद्र, व्यास और श्रीकृष्ण, याज्ञवल्क्य और जनक, रामदास और शिवाजी जैसे दो-दो महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है। चाणक्य और चंद्रगुप्त की भी ऐसी ही एक जोड़ी थी। इन दोनों की महानता अलग-अलग नहीं आँकी जा सकती।

हमारी दृष्टि बहिर्मुखी होने के कारण विदेशियों और विधर्मियों के अत्याचारों के फलस्वरूप हुतात्मा होने वाले देशभक्तों के विद्युन्प्रकाश को ही हम देख पाते हैं। इन दोनों के जीवन का प्रत्येक क्षण देश के ही लिए व्यतीत हुआ। देश के लिए कैसे जिया जाए, इसकी शिक्षा इनका प्रत्येक कार्य एवं अर्थशास्त्र का प्रत्येक शब्द दे रहा है। देशभक्तों की लंबी परंपरा में देश की बलिदेवी पर प्राणों को अर्पण करने वाले देशभक्तों के विद्युतप्रकाश से जहाँ दो-चार पग आगे बढ़कर घनांधकार में आँखों की स्वाभाविक शक्ति को भी खोकर हम निराश बैठ जाते हैं, वहाँ इस नंदादीप के प्रकाश में अध्यवसाय नीति एवं सातत्य का पाठ लेकर सहज अपने मार्ग पर जा सकते हैं। पाटलिपुत्र का गत वैभव एवं तक्षशिला के खँडहर जहाँ एक ओर अपने विगत वैभव की याद दिलाते हैं, वहाँ उस कर्मयोग एवं अक्षुण्ण निष्ठा का भी संदेश देते हैं, जिसने उन्हें वह वैभव प्रदान किया।

हम सम्राट् चंद्रगुप्त और मंत्री चाणक्य के पीछे देशभक्त चंद्रगुप्त एवं देशभक्त चाणक्य को देखें। साम्राट्य एवं मंत्रित्व तो उनकी परिस्थिति विशेष की स्थिति थी, उनका साधारण स्वरूप, उनकी यथार्थता तो उनके एक भारतवासी, एक आर्य, एक हिंदू के नाते ही जानी जा सकती है। उनको सम्राट् और मंत्री बनने की लालसा नहीं थी। उनकी तो कामना थी, यवनों के चंगुल से भारत की स्वतंत्रता की रक्षा तथा वह सदैव स्वतंत्रता का उपभोग कर सके, इसके लिए उसे शक्ति-संपन्न बनाना। इसीलिए तो आर्य चाणक्य ने घोषणा की है, "न त्वेवार्यस्य दास्यभाव:," (आर्य कभी भी ग़ुलाम नहीं बनाया जा सकता)।

हम नित्य प्रति महान् राष्ट्र-निर्माताओं का स्मरण करते हैं और स्मरण करते हैं उन अगणित हिंदू वीरों का, जो इन दोनों के हृदय की ज्योति से ज्योतित होकर उस प्रकाश-पुंज को प्रकट कर सकें, जिसमें भारत के दु:ख, दैन्य और दास्य भस्मीभूत हो गए। हम उस महान् संस्कृति एवं समाज को भी आदर के साथ स्मरण करते हैं, जिन्होंने ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न कीं। उस भारतभूमि को प्रणाम है, जिसने इस महान् स्फूर्ति-केंद्र को जन्म दिया।

—पुस्तक, वर्ष प्रतिपदा 2003, 1946

□

4

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : वाराणसी*

स्वयंसेवक बनने के बाद 1939 में दीनदयालजी ने प्रथम वर्ष संघ शिक्षा वर्ग का प्रशिक्षण लिया। सन् 1940 व 1941 में वे वर्ग में नहीं गए। 1942 में द्वितीय वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त कर वे प्रचारक बन गए, तब से 1967 तक लगातार वे संघ शिक्षा वर्ग में जाते रहे। इस निमित्त उनका देश भर में प्रवास होता था।

माननीय सर्वाधिकारी जी, अन्य अधिकारीगण एवं स्वयंसेवक बंधुओं हम यह जानते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य भारतवर्ष में जो एक राष्ट्रीय भावना चली आ रही है, उसे जाग्रत् करके एक महती शक्ति के द्वारा उस राष्ट्र को पुनः वैभव प्राप्त कराना है। यह राष्ट्रीय भावना नई नहीं है।

परमपूजनीय डॉक्टर साहब[1] कहा करते थे, यह कोई नया कार्य नहीं है। जो सूत्र अनादि काल से चला आ रहा है, उसी सूत्र को आगे बढ़ाने का कार्य है। यद्यपि भारतवर्ष के कई विद्वान् यह मानने लग गए थे कि भारतवर्ष में कभी एक राष्ट्रीयता थी ही नहीं। अंग्रेज़ों ने भी यही बताया कि भारतवर्ष में एक राष्ट्रीयता थी ही नहीं। किसी भी समाज के अस्तित्व को दो प्रकार से नष्ट किया जाता है : 1. प्रत्यक्ष पशुवत् शिकार करके नष्ट कर देना; और 2. उनकी राष्ट्रीय भावना को नष्ट कर देना। अंग्रेज़ या पश्चिम की जातियाँ जहाँ-जहाँ गईं, वहाँ प्राचीन निवासियों को समूल नष्ट कर दिया। जैसे कि ऑस्ट्रेलिया में हिरण के शिकार के समान शिकार करके वहाँ के आदिवासियों

---

* देखें परिशिष्ट-I, पृष्ठ 311।

1. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आद्य सरसंघचालक, डॉ. केशव बलीराम हेडगेवार (1889-1940) को डॉक्टर साहब उपनाम से संबोधित किया जाता है।

को नष्ट कर दिया, कुछ लोग बेचारे रेगिस्तान में चले गए। यही बात अफ्रीका में की गई। अमरीका में भी स्थानीय लोगों को नष्ट कर दिया और इस प्रकार अपना राज्य जमाया।

भारतवर्ष में इस प्रकार प्रत्यक्ष प्राण लेकर नष्ट कर देना संभव न था, किंतु इस देश पर स्थायी शासन करने के लिए इसका स्वाभिमान नष्ट करने का प्रयत्न किया। हमारी राष्ट्रीय भावना को नष्ट किया गया। हमें बताया गया कि हम जंगली थे, सभ्यता और संस्कृति से कोसों दूर थे। हमारे यहाँ सती प्रथा और जाति प्रथा के समान कुप्रथाएँ थीं। यहाँ लोग लिखना-पढ़ना, खाना-पीना इत्यादि कुछ भी नहीं जानते थे। अतएव अंग्रेज़ों के द्वारा हमें सभ्य बनाने का कार्य किया गया। वे तो यह कहते हैं कि अफ्रो-एशियाई लोग 'गोरे आदमी का बोझा' हैं इसका अर्थ यह है कि गोरे लोगों को ईश्वर ने जंगली लोगों को सभ्य बनाने का विशेष भार सौंपा है। इस प्रकार की उनकी धारणा है।

हमारे यहाँ के लोगों ने पश्चिम की चकाचौंध देखी और अपने विस्मृत इतिहास के कारण उन्होंने पश्चिम से ही सबकुछ सीखना प्रारंभ किया। इस प्रकार राष्ट्र भावना भी उनसे सीखने लगे। मनुष्य में स्वतंत्रता की प्रवृत्ति होती ही है। स्वाभिमान की भावना जन्मजात रहती है। अपने देश के लोगों में भी यह भावना उत्पन्न हो रही थी, इसे नष्ट करने के लिए उन्होंने बताया कि राष्ट्रीयता नाम की चीज तो इस देश में थी ही नहीं और यदि उसे आप चाहते हैं तो हम बताते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने जो कुछ हमें बताया उसी को लेकर हमने समझा कि राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति हमारे देश में अंग्रेजों के शासन काल में ही हुई। अंग्रेज़ों के साम्राज्य में ही देश एक शासन एवं एक विधान के अंतर्गत आया और इसी से राष्ट्र भावना उत्पन्न हुई।

उस समय के कांग्रेस के एक नेता, सर सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने एक पुस्तक लिखी, जिसमें कहा गया कि भारतवर्ष अब राष्ट्र बन रहा है।[2] यह भूल तो अभी तक जारी है। ऑस्ट्रेलिया में एक एंबेसडर ने यह प्रकट किया कि अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तानियों को देशभक्ति का पाठ पढ़ाया, यह अंग्रेज़ों की सबसे बड़ी देन है। किंतु यह सब भ्रम है। यह सब प्रयत्नपूर्वक पैदा किया गया, इसी के कारण राष्ट्रीयता की झूठी धारणा उत्पन्न हो गई। अंग्रेज़ इतना भोला नहीं है कि वह भारतवर्ष का हित करे, उसने हिंदू-मुसलिम-ईसाई वाली धोखे की राष्ट्रीयता सामने रखी।

पहले तो उन्होंने यह बतलाया कि घर ख़राब है, उसे ठीक करना ही उचित है। भरतपुर में पहले पत्थर की पटियों की सड़क थी, एक आए हुए अधिकारी ने उसे

---

2. सुरेंद्रनाथ बैनर्जी (1848-1925) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दो बार राष्ट्रीय अध्यक्ष [1895 (पूना); 1902 (अहमदाबाद)] निर्वाचित हुए। संकेत उनकी पुस्तक 'नेशन इन मेकिंग :बीइंग द रेमिनिसेंसेज ऑफ फिफ्टी ईयर्स ऑफ पब्लिक लाइफ' की ओर है।

उखड़वाकर डामर की रोड बनवाई, जो प्रति तीन या चार वर्षों में बिगड़ जाती है। इसी प्रकार अपनी राष्ट्रीय भावना, प्राचीन पद्धतियाँ, तीर्थ स्थानों की यात्रा आदि की प्रथा सब ख़राब है, यह बताकर उन्होंने नवीन कल्पना सामने रखी। प्राचीन जीवन पोषक इतिहास मिटाकर नया विकृत इतिहास सामने रखा। एक विद्वान् अभी मिले थे, जिन्होंने प्लासी के युद्ध से ही भारतवर्ष के इतिहास का सच्चा प्रारंभ माना और उनके अनुसार उसके पूर्व का सारा इतिहास गड़बड़ है। भाषा के संबंध में भी यही तीस-चालीस प्रतिशत उर्दू होनी चाहिए। इस प्रकार अधिक से अधिक संभ्रम उत्पन्न करने वाली बातों को ढूँढ़ा जाने लगा। किंतु यह सब हास्यास्पद है।

वास्तव में अपना राष्ट्रीय प्रवाह प्राचीन काल से चला आ रहा है। वह रोकने से भी नहीं रुक सकता है। वह हमारी नस-नस और रग-रग में भरा हुआ है, इसके लिए उदाहरण है, यद्यपि यह बुरा है, किंतु उसमें तथ्य है। शराबी की लत के समान हमसे यह राष्ट्रीय वृत्ति चली आ रही है। यह स्वभाव जात के रूप में है। चाहे हिंदू कितना भी पतित क्यों न हो, वह अपने देश को गाली नहीं दे सकता, वह इस इतिहास से अलग नहीं है, न हो सकता है। बहादुरशाह की कब्र पर आँसू बहाने वालों को भी स्फूर्ति यदि मिलती है तो महाराणा प्रताप एवं शिवाजी से ही। इस प्रकार हम विचार करें, इस राष्ट्रीय भावना का प्रवाह निरंतर अजस्र बहता चला आया है।

राष्ट्रीयता के लिए कुछ बातों की आवश्यकता होती है। सबसे पहले एक देश— हमारा देश ईश्वर प्रदत्त देश है, जिसकी दक्षिण सीमा रत्नाकर और महादेवी से घिरी हुई है, उत्तर में तो प्रहरी के रूप में हिमालय स्थित है, जिससे प्राकृतिक संरक्षण मिलता है, जो मानसून को फीके मुँह वापस लौटा देता है। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से यह एक देश है किंतु यदि यहाँ के निवासी इसे देश की अखंडता न मानें तो इससे कोई लाभ नहीं। जैसे पूर्वी जर्मनी और पश्चिम जर्मनी एक देश होते हुए भी अलग-अलग हैं;[3] किंतु भारतवर्ष के निवासियों ने वैदिक काल से आज तक संपूर्ण देश का गुणगान किया है। केवल किसी भाग विशेष का नहीं। इस प्रकार संपूर्ण देश के प्रति भावना प्रकट की है।

संस्कृति भी सारे देश में एक हो, इसलिए ऋषियों ने अनेक बार प्रयत्न किए। वैदिक भूगोल के ज्ञाता बताते हैं कि पहले उत्तर और दक्षिण के बीच में समुद्र था, उसके पश्चात् वहाँ पृथ्वी हुई। वहाँ ऋषियों ने जाकर संस्कृति फैलाई। परशुराम ने तपस्यापूर्वक सह्याद्रि पर्वत क्षेत्र को सुसंस्कृत बनाया। जिस सह्याद्रि के प्रदेश में शिवाजी महाराज ने

---

3. द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1945) की समाप्ति के दौरान जर्मनी के तानाशाह, एडॉल्फ हिटलर (1889-1945) ने 30 अप्रैल को आत्महत्या कर ली और मई 1945 में जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। शीतयुद्ध (1947-1991) की शुरुआत के साथ ही जर्मनी दो भागों—पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी—में विभाजित हो गया, जो फिर अक्तूबर 1990 में एकीकृत हुआ।

जन्म लेकर अपनी कर्मकुशलता का परिचय दिया, वहीं अगस्त्य ऋषि की दक्षिण यात्रा का भी पौराणिक आख्यान है, जब सुमेरु की स्पर्धा में विंध्याचल बढ़ने लगा, सूर्य तक पहुँच गया, तब अगस्त्य ने विंध्य का गर्वहरण करके लोक कल्याण के लिए उसे प्रणत किया—विंध्य ने अपने गुरु को दक्षिण जाने के लिए मार्ग दिया और अगस्त्य आज तक नहीं लौटे, इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक एक संस्कृति को एकता के रंग में रँगने का इस देश ने प्रयत्न किया। दुष्यंत का पुत्र भरत चक्रवर्ती हुआ, जिसके कारण इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा है। प्रसिद्ध ही है, ''वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।''[4]

इस प्रकार अपने देश के प्रति यह प्रेम उस युग में भी दिखाई देता है। केवल बीच के युग में कुछ कम दिखाई देता है। भारतवर्ष में कुछ परंपराएँ हैं, वे विकसित होती जाती हैं। उनके स्वरूप में चाहे भिन्नता हो किंतु आख्या वही है, आत्मा एक है। बच्चे के बढ़ने के समान आयु के साथ-साथ उसकी आकृति बढ़ जाती है किंतु आत्मा वही रहती है। गंगोत्री, हरिद्वार, काशी—इन स्थानों पर गंगा भिन्न रूप में दिखाई देती है किंतु गंगा वही है, उसका परिश्रम एक समान है। इसी प्रकार इस बीच के युग में बाह्य भिन्नता दिखाई देती है किंतु आंतरिक वही बात है। जैसे आज जो जीवन है, वह दो सौ वर्ष पूर्व नहीं था। कुछ शताब्दियों पूर्व का जीवन हर्ष के काल में नहीं था और वैसा उपनिषद् काल में नहीं था किंतु वहाँ एक राष्ट्रीयता का जीवन दिखाई देता है। इस देश के प्रति अटूट भक्ति इस देश का जीवन सर्वस्व समझना, पूर्वजों के ऋण को समझना और तीनों ऋणों का ध्यान रखना,[5] यह बात पाई जाती है। पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और आगे आने वाली संतति के लिए कुछ कर जाएँ, यही भावना सर्वत्र दिखाई देती है।

वैदिक काल से आज तक हम अपने देश को एक समझते हैं। हमारे पूर्वजों ने अपने देश की अनेक प्रकार से वंदना की है। अथर्ववेद में हमने अपने देश के लिए विद्वान् ब्राह्मण और पराक्रमी क्षत्रियों की याचना की है। 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।'[6] हमारी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ सब एक हो जाएँ। हम सब एक हो जाएँ, इस प्रकार की प्रार्थना की है और वह मंत्र तो हमने सुना ही होगा—

---

4. यह श्लोक विष्णु पुराण में उल्लिखित है, जो पूरा इस प्रकार है—
   उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
   वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥
5. भारतीय मान्यता के अनुसार मनुष्य जब पैदा होता है तो वह तीन ऋण—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण लेकर पैदा होता है। यज्ञ द्वारा देवऋण, वेदाध्ययन से ऋषिऋण और संतान की उत्पत्ति से पितृऋण चुकाकर मुक्ति प्राप्त करता है।
6. यह मंत्र ऋग्वेद से है, जो इस प्रकार है—
   समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वःसुसहासति॥

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनान्सि जानताम्'।

यही हमारे देश की राष्ट्रीयता का विकास है। इसी राष्ट्रीय भावना के बल पर हमने विदेशियों को अच्छी तरह हराया। वह प्रसिद्ध देवासुर संग्राम, जिसके बारे में विद्वानों ने बताया है कि वह पारसियों से हुआ था। 'जेदं अवेस्ता' में पारसियों के प्रधान देव आज भी 'अहुरमज्द' माने जाते हैं। 'स' का 'ह' प्राय: हो जाता है, जैसे 'सिंधु' का 'हिंदू'। 'केसरी' का यह 'केहरि', उसी तरह 'असुर' का 'अहुर' बाद में हो गया। पारसियों को हराने की शक्ति हममें कहाँ से आ गई थी? वह इन्हीं राष्ट्रीय भावनाओं के कारण से पैदा हुई थी। वह वृत्रासुर संग्राम, जिसमें देश का प्रत्येक व्यक्ति जुट गया था, यहाँ तक कि तपश्चर्यानिष्ठ ब्राह्मण दधीचि, जिनका केवल ज्ञान का विसर्जन करना काम था, उन्होंने भी शरीर का त्याग कर दिया। इस प्रकार ये दो प्रवृत्तियाँ—स्वदेश के प्रति प्रेम और विदेशी शत्रु से द्वेष, प्राचीन काल से हममें पाई जाती हैं। महर्षि चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' में जनपद की व्याख्या में इन्हीं दो बातों को प्रधान बताया। एक है भावात्मक और दूसरी है अभावात्मक। अपनों से प्रेम और दूसरों से द्वेष—यही विचार प्रधान है।

इसके बाद महात्मा बुद्ध के द्वारा अपने देश में विचारों की एक बड़ी क्रांति हुई। बुद्ध ने यज्ञ-यागादि की प्राचीन परंपरा, जिसके द्वारा जीवों पर संस्कार डाले जाते थे, उसके स्थान पर उपनिषद् की विचारधारा पर ज़ोर दिया। इन यज्ञों में बड़ी-बड़ी सभाएँ होती थीं। उनमें विचार विनिमय होता था। बुद्ध के अनुयायियों ने यज्ञ-यागादि की कुछ विकृत अवस्था देखकर प्राचीन ऋषियों को बुरा कहना प्रारंभ किया। इस प्रकार पूर्वजों से संबंध टूटने लगा। बौद्धों ने पूर्वजों से नाता तोड़ दिया, उनकी बुराई की जाने लगी। बौद्ध धर्म का प्रचार बाहर भी हुआ और वे अपने विदेशी धर्मबंधुओं को स्वदेशी बंधुओं से बढ़कर मानने लगे। इसलिए इस अराष्ट्रीय वृत्ति के कारण उनको नष्ट करना पड़ा नहीं तो कोई कारण नहीं था। वैसा ही ईश्वर, वेदों तथा ब्राह्मणों को न मानने वाला दूसरा नास्तिक मत जैन धर्म आज भी विद्यमान है, किंतु उसे नष्ट नहीं किया गया। हमारे यहाँ धार्मिक विचारों में स्वतंत्रता तो थी, किंतु अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को नष्ट करना ही पड़ा।

भगवान् बुद्ध के बाद भी शंकराचार्य तक अनेक नीतिकार, स्मृतिकार, विद्वान् तथा सम्राट् उत्पन्न हुए, जिन्होंने इन अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को नष्ट किया। इनमें सबसे पहला महापुरुष चाणक्य सामने आया। उस समय विदेशियों अर्थात् यूनानियों का आक्रमण भी हुआ। थोड़े से समय में दुनिया जीतने वाले सिकंदर को यहाँ बारह महीने लग गए, जिसमें केवल तीन घंटे विश्राम उसे मिला और फिर भी भारतवर्ष को जीत नहीं पाया। विजयी महापुरुष मनुष्य उत्साहित होता है, वह इस प्रकार वापस नहीं जाता। पोरस के साथ उसने कोई उदारता नहीं दिखाई, वह तो डंडे के ज़ोर की उदारता थी। फारस (वर्तमान ईरान) में जिस सिकंदर ने अत्यंत निर्दयता का व्यवहार किया, यहाँ तक कि

अपने गुरु अरस्तू[7] के लड़के को मार डाला, वह पोरस से मित्रता करने के लिए तैयार क्यों हुआ? और वह मित्रता भी अधिक काल तक नहीं रही। चाणक्य के प्रयत्न से सम्राट् चंद्रगुप्त जो मगध का निवासी था, पंजाब में हुए आक्रमण के ख़िलाफ़ जाता है। सम्राट् चंद्रगुप्त ने ही भारतवर्ष का एकसूत्री साम्राज्य स्थापित किया। उसका साम्राज्य आज के भारतवर्ष से क्षेत्रफल में दुगुना था। वक्षु[8] के तट तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। चाणक्य ही इस साम्राज्य को प्रेरणा देने वाले थे।

अपने 'अर्थशास्त्र' में चाणक्य ने दो प्रकार के जीवन का आदर्श रखा—'कृण्वन्तो विश्मार्यम्' और 'नत्वेयं आर्यस्य दास्य भाव:' अर्थात् दुनिया को आर्य बनाना और आर्य कभी दास नहीं बनेगा। इस आदर्श के अनुसार जो हमें दास बनाने आया, उसे यहाँ हमने टिकने नहीं दिया। सेल्यूकस आया और अपनी बेटी ब्याहकर चला गया। इसके पश्चात् बिंदुसार, अशोक आदि और भी बड़े-बड़े सम्राट् हुए, किंतु अशोक ने नीति बदल दी, यह अनुचित हुआ। 'नित्यमुद्धतदंड' यह चाणक्य का राजाओं के लिए जो आदर्श था, वह ढीला हो गया। केंद्रीय सत्ता ढीली हो गई। इधर बाह्य आक्रमण फिर से होने लगे। शकों के आक्रमण हुए। अब अपने देश में कई शक्तियाँ आक्रमण के लिए आईं। सौराष्ट्र, जिसे आजकल गुजरात कहते हैं, वहाँ तक वह बढ़ गई और वे राज्य बाहर हो गए। बौद्ध लोग उनसे मिल गए। हम लोग कनिष्क के विषय में जानते हैं, जिसके समय में बौद्ध धर्म के महायान वंश की उत्पत्ति हुई। इधर शक बौद्धों के पोष्यपुत्र के समान हो गए किंतु इस शक शक्ति को नष्ट करने वाला महापुरुष विक्रमादित्य उत्पन्न हुआ। यद्यपि महेंद्र द्वितीय स्वयं शकों से हार गया था किंतु उसके पुत्र विक्रम तथा गौतमी पुत्र सात्रकुर्णो ने शकों को देश के बाहर भगा दिया और जो सत् संवत् या कृत संवत् और जो मालव संवत् भी कहलाता है। इस विजय के कारण विक्रम संवत् के नाम से आज भी जाना जाता है।

यह हमारे लिए स्वर्ण युग है, इसके बाद भी कई शक्तियाँ खड़ी हुईं। नाग वंश की शक्ति, जिसके स्मरणार्थ आज भी हम पंचमी मनाते हैं। शैव और वैष्णवों के मंदिरों के पुजारियों के प्रयत्न हुए, इसके पश्चात् गुप्त सम्राटों का काल आता है। समुद्रगुप्त, दिग्विजय कुमार गुप्त और स्कंद गुप्त आदि वैदिक आदर्श के अनुसार चलने वाले सम्राट् हुए, जिन्होंने राष्ट्रीय भावना, जो बौद्धों के युग में कुछ ढीली हो गई थी, उसे दृढ किया। इस प्रकार हमारे सम्राटों ने एक साम्राज्य—एक चक्रवर्तिल का आदर्श रखा।

---

7. अरस्तू (लगभग 384-322 ईसा पूर्व) यूनानी दार्शनिक थे। तथ्य यह है कि अरस्तू का विवाह पिथीयस नाम की युवती से हुआ और उनके एक बेटी थी। सिकंदर ने अरस्तू के भतीजे को मारा था।

8. अफगानिस्तान, तजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और उज्बेकिस्तान (सभी मध्य एशिया) में बहने वाली आमू नदी का संस्कृत नाम वक्षु नदी है।

किंतु राजनीति ही लक्ष्य नहीं हो सकती, वह तो केवल राष्ट्र की पोषक है। हमारे साहित्य में भी यही राष्ट्रीय भावना पाई जाती है। हम रामायण और महाभारत के आधुनिक संस्करणों में भी इस राष्ट्रीय भावना को देखते हैं। भगवान् राम का वह कथन कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' राष्ट्रीयता का पोषण कर रहा है। महाभारत में पांडवों ने देश की तीन-तीन बार यात्रा की, उसमें संपूर्ण देश का वर्णन है। शांति पर्व में भीष्म, मांधाता, राम आदि सम्राट् जो चक्रवर्ती थे, और जिन्होंने इस देश को एकसूत्र में बाँधा था, उनका वर्णन युधिष्ठिर अर्जुन के सम्मुख करते हैं, जिसमें देश के विषय में अपनेपन की भावना मिलती है।

यद्यपि हमने नई पद्धति अपनाई। वेदों के स्थान पर पुराण, जिनमें पुराना ज्ञान था तथा रामायण का प्रचार हुआ, तर्पण की पद्धति आ गई। इस प्रकार पुराणकारों ने कहा है कि इस भारतभूमि पर देवतागण भी जन्म लेने के लिए तरसने लगे। उनकी भी यह इच्छा रहने लगी कि कब हमारे पुण्य क्षय हो जाएँ और कब हम भारतवर्ष में जन्म लें। हमारे देश में पवित्रता की भावना सब धर्म, पंथ और मत वालों में समान रूप से विद्यमान है। शैवों के बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक उत्तर में केदारेश्वर है, तो दूसरा दक्षिण में रामेश्वर। गणपति के बारह प्रधान स्थान देश भर में हैं। शक्ति पूजकों के पाँच सौ इक्यावन तीर्थ देशभर में फैले हुए हैं। इस प्रकार किसी भी संप्रदाय वालों के लिए संपूर्ण देश का प्रवास आवश्यक था। सब तीर्थस्थान इसी देश के भीतर हैं और उसका एक कोना भी नहीं छोड़ा। यह देश अपना है, इससे भी आगे बढ़कर सब संप्रदाय एक हो जाएँ, उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाए, इसके लिए अनेक प्रयत्न हुए।

वेदों के आदेश—'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' के अनुसार त्रिमूर्ति की कल्पना की गई ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिससे भिन्न-भिन्न इष्ट के मानने वालों में परस्पर समन्वय हो जाए। गणपति, शक्ति आदि को मिलाकर पंचायतन की कल्पना की गई, चाहे अपने इष्ट को बीच में रख लो किंतु सब देवताओं की पूजा करनी चाहिए। कई लोग इस इतिहास को विकृत करते हैं। कहते हैं, हिंदुओं के इतने मंदिर टूटने का कारण मुसलमान ही नहीं हैं, ये तो शैव व वैष्णवों के झगड़ों के कारण टूट गए हैं। किंतु यह बात सच नहीं है। हमने सब संप्रदाय वालों के लिए चार तीर्थ स्थापित किए हैं। गंगोत्तरी, रामेश्वर आदि और इससे भी बढ़कर राम का नाम लेकर शंकर का हलाहल पी जाना तथा राम द्वारा रामेश्वरम् की स्थापना करके रावण जैसे शत्रु पर विजय प्राप्त करना, इन दृष्टांतों से समन्वय की भावना उत्पन्न की गई। गणेश और शक्ति का संबंध तो माता और पुत्र के समान बताया गया है। स्नान करते समय अपने सारे देश की नदियों का स्मरण करना चाहिए। हमारे देश के सारे महापुरुषों का स्मरण करना है, उसमें प्रांतीयता नहीं है। वह ही श्लोक में हम कहते हैं—

'समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शम् क्षमस्वमे॥'

इसमें संपूर्ण देश की एकता का ध्यान है। भारतभूमि जिसका समुद्र वसन है, अर्थात् जो बहुत बड़ी है। हमारे साहित्यकारों ने भी इस एकत्व को जीवन का आदर्श बनाए रखा है। हमारे सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास, जिसने रघुवंश लिखा, उसने भी वही प्राचीन आदर्श रखा, रघु व समुद्रगुप्त की दिग्विजय में समानता दिखाई। मेघदूत में तो मानो वे संपूर्ण देश का भूगोल ही सिखा रहे हों। मेघ सारे देश में भ्रमण करता है। कालिदास शैव थे किंतु फिर भी उन्होंने वैष्णव भावना को भी प्रकट किया है। इसी काल के 'मनुस्मृति' के नवीन संस्करण में यह घोषणा की—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

अर्थात् इस देश के विद्वानों से अपने-अपने चरित्र की शिक्षा संसार के लोग लें। हमने इस प्रकार एक देश, एक संस्कृति और एक जाति का निर्माण किया। बाहर की असभ्य जातियों को आर्यत्व प्रदान किया। यद्यपि हमारी पद्धतियाँ बदलती रहीं, किंतु आत्मा एक थी।

स्वामी शंकराचार्य ने चार मठों की स्थापना करके बौद्धों को पराजित किया। इसके आगे के काल में हम एक चक्रवर्ती साम्राज्य का राजनीतिक आदर्श अक्षुण्ण नहीं रख सके, किंतु फिर भी राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह रुका नहीं, वह आंतरिक रूप में बहने लगा। मिस्र, फारस (वर्तमान ईरान) और टर्की के राष्ट्र तथा संस्कृति को एकदम नष्ट कर देने वाले मुसलमान भारतीय संस्कृति को नष्ट नहीं कर सके। चाहे राजनीतिक दृष्टि से हमारा पतन हो गया किंतु राष्ट्रीयता का प्रवाह धार्मिक जीवन के रूप में बहता रहा, जो समय-समय पर अनेक रूपों में प्रकट हुआ। महाकवि तुलसीदास तथा अन्य संत कवि, इधर ज्ञानेश्वर से रामदास, चैतन्य महाप्रभु तथा नानक से गोविंद सिंह तक के द्वारा धर्म-प्रचार के साथ राष्ट्रीय भावना जाग्रत् रखने का कार्य चलता रहा। नानक का कार्य पहले धार्मिक और बाद में राजनीतिक हो गया। खालसा राज का प्रादुर्भाव हुआ, विद्यारण्य स्वामी की प्रेरणा से विजय नगर साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसमें वेदों की रक्षा हुई। वेदों के स्थान पर चाहे रामायण का प्रचार हुआ किंतु यहाँ राष्ट्रीय भावना का प्रसार धार्मिक रूप में रहा। आगे चलकर पेशवा के काल में राजनीति प्रकट हो उठी और अटक से कटक तक भगवा ध्वज फहराया गया।

आधुनिक काल में अंग्रेज़ों ने हमारे इस स्वाभिमान को नष्ट करने का प्रयत्न किया, किंतु आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंदजी तथा स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण

आदि के उद्योग से वही राष्ट्रीय भावना का प्राचीन सूत्र पकड़कर हम चलने लगे। राजनीति के कपड़े तो हम कभी भी पहन लेंगे किंतु यह सूत्र प्रधान रूप से आवश्यक है। इस सूत्र को छोड़कर आज़ादी अखंड हिंदुस्थान-पाकिस्तान कुछ भी नहीं मिलेगा, क्योंकि सब बातों का मूल तो उस राष्ट्रीय भावना के सूत्र में है। उसी प्राचीन परंपरा एवं सूत्र को लेकर परमपूजनीय डॉक्टर साहब ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की है, यह हम फिर देखेंगे।

—जून 4, 1947

□

5

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : वाराणसी

माननीय सर्वाधिकारीजी, अन्य अधिकारी वर्ग तथा स्वयंसेवक बंधुओ, कल हमने अनादि काल से चली आती अपनी राष्ट्रीय परंपरा का स्वरूप देखा था और देखा था कि उसका बाह्य स्वरूप भले ही बदल गया हो किंतु राष्ट्रवृत्ति को प्रज्वलित करने वाले संस्कार हमारे अंदर सदा से चले आ रहे हैं। यहाँ के लोगों की अंतरात्मा में देश के प्रति भक्ति और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा बनी रही। हमारे पूर्वजों ने जिस सभ्यता की सृष्टि की, उसको हमने गौरवपूर्ण भावना से देखा और सदा ही उससे उत्साहित होने की वृत्ति हमारे अंदर रही। किंतु पिछले दिनों की राजनीतिक चालों के कारण देश में ऐसा वातावरण बना कि नेतागण वास्तविक राष्ट्र भावना से रहित हो गए। शिक्षा के कारण कहिए या कुछ कारणों से, जो देश के नेता कहलाते हैं, देश की बागडोर हाथ में लेते हैं, ये सबके सब देश की भावनाओं से रीते दिखाई देते हैं। आज के युग में राष्ट्र का केंद्र कहाँ है? जो समाज का युवक वर्ग है, जो समाज की स्थिति को समझ सकता है, वही केंद्र कहा जा सकता है। यह सत्य है कि एक युग था कि हमारी शक्तियों का केंद्र जंगलों में था, जिस प्रकार ऋषि विचार करते थे, उसका पालन सारी जनता करती थी, इस कारण राष्ट्र की आँखें जंगलों की ओर ही होती थीं। उस समय का वैभव वन थे और जनता वहीं से स्फूर्ति लेती थी। इसके बाद जो समय आया, उसमें हम ग्राम की तरफ़ देखने लगे।

ग्रामों में हमारी सभ्यता-संस्कृति का विकास हुआ। ग्राम पंचायतें थीं, वे ही हमारे जीवन की आधारशिला बन गईं और इस युग में शहर के कुछ प्रभावी ऊँचे लोगों के हाथ में ग्रामों से हटकर यह शक्ति आई। ग्राम की विचारधारा आगे न बढ़कर शहर के ही लोगों की इच्छा के द्वारा वह आगे बढ़ी। आज शहर के मध्यम वर्ग में जो विचारधारा

प्रभावी होती है, वही धीरे-धीरे ग्रामों में पहुँच जाती है।

हमारे राष्ट्र का मर्मस्थल धर्म ही रहा है, जिन लोगों ने यह इच्छा की कि यह राष्ट्र मर जाए या नष्ट हो जाए, उन्होंने इस मर्मस्थल पर प्रहार किया। रावण यज्ञों को ही ध्वस्त करता था। क्यों नहीं वह बड़े-बड़े राजाओं दशरथ इत्यादि से लड़ने गया? उसके साथी राक्षस यज्ञों को ही नष्ट करते थे, उसका एक कारण था कि यज्ञ हमारी सभ्यता के केंद्र थे, सांस्कृतिक आधार थे। हमारी राष्ट्रीय शक्तियों को यज्ञों ने बल दिया। संस्कारों की गंगा जो इस देश में प्रवाहित होती थी, उसकी गंगोत्तरी यदि कोई थी तो वह यज्ञ ही थे। इसलिए यज्ञ पर प्रहार करना हमारे राष्ट्र-जीवन के मर्मस्थल पर प्रहार करना था।

आगे हम देखते हैं कि हमारी संस्कृति का केंद्र यज्ञों से हटकर मंदिरों में आ गया सारे देश में मंदिर बने। मंदिर यज्ञीय सभ्यता के बाद की उत्पत्ति हैं, जहाँ हममें पूर्वजों के प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न की जाती है। जो हमारी राष्ट्रीय संस्कार भूमि थे, जहाँ हमें सभी प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा मिलती थी। राम-कृष्ण जो कि अवतार तक पुकारे गए हैं— उनके जीवन की यहाँ शिक्षा मिलती थी, इसलिए इन मंदिरों पर प्रहार हुआ। इन तंतुओं को छिन्न-विछिन्न करने का प्रयत्न मुसलमानों ने मंदिर तोड़कर किया कि यदि मंदिर टूट गया तो हिंदू धर्म टूट जाएगा। इसलिए हमने यदि एक मंदिर टूटा तो दस मंदिर बनवाए। किंतु आज हमारे जीवन में मंदिर को भी स्थान नहीं है। मंदिरों में मूर्तियाँ हैं, किंतु पूजा करने वाले नहीं। समय की गति के कारण आज यह स्थिति है।

आज सरकार मंदिर तोड़ने का प्रयत्न नहीं करती। हम कहते हैं कि यह धार्मिक पक्षपात से रहित है। किंतु यह बात नहीं है, यह भी मुग़ल राज्य के बराबर ही है। किस प्रकार यहाँ के आधार को बाँटकर यहाँ के राष्ट्रीय जीवन-स्रोत की मंदाकिनी को जीवन से विलीन कर दिया जाए, यह उनका (मुग़लों का) प्रयत्न रहता था और वही आज इनका रहता है। यह भी यहाँ के राष्ट्रीय जीवन को नष्ट कर उसका केंद्र बदलना चाहते हैं। यह मंदिर नहीं तोड़ते, क्योंकि उनको इसकी आवश्यकता नहीं। आज केंद्र बदल गया है, आज केंद्र हृदय की भावनाओं में है, आदर्शों में है, अत: यह उन्हें बदलते हैं। यह भी उसी प्रकार आसुरी प्रयत्न है, जैसा कि रावण का था अथवा मुग़लों का। राजनीतिक बैठकों आदि के द्वारा हमें अनेक प्रकार के भ्रम में डालकर मोहित करके मार्ग भ्रष्ट कर देने में हमारे अगुवा कहे जाने वाले लोग अंग्रेज़ों की चालों को न समझ पाने वाले लोगों को राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार न होने के कारण हमारे जीवन के आदर्शों से च्युत करने के प्रयत्न में उन्हें सफलता भी काफी मिली है। आज से चालीस-पचास वर्ष पहले हमारे देश के कार्यकर्ताओं की हृदय की भावनाओं में जो है, आदर्शों में है, यह उन्हें बदलते हैं, यह भी उसी प्रकार आसुरी प्रयत्न है।

राष्ट्रात्मा का साक्षात्कार न होने के कारण बहुत प्रयत्न करने पर भी हमारे लिए दो

बातें आवश्यक हैं—एक तो कार्य का ज्ञान और दूसरी है भावना। जैसे पुत्र के बीमार होने पर माता चाहे कितनी भी घबराए, बेचैन हो किंतु उसे रोग मुक्त नहीं कर सकती, उसे तो बचाने वाला कोई योग्य वैद्य ही चाहिए, जिसे रोग के कारणादि का पूर्ण ज्ञान हो, जो क्या सेवन करना चाहिए, यह बता सके। केवल यह ज्ञान भी काम नहीं देता। रोगी के साथ उस प्रकार से (माता) समरसता होने की भी आवश्यकता है। तब ही वह अच्छा हो सकता है। इसी प्रकार हमारे देश में भी दो प्रकार के विद्वान् थे। एक वे, जिन्हें यहाँ से समरसता नहीं थी, जैसे विद्यार्थी मेढक को चीरकर, उसके शारीरिक यंत्र का पता लगाने के लिए उसे मार डालता है। उसी प्रकार यहाँ के राष्ट्रीय जीवन का अध्ययन करने के लिए यहाँ के राष्ट्रीय जीवन तक को नष्ट करने तक का प्रयत्न किया गया। जैसे एक व्यक्ति ने एक बाग में पानी देने के लिए योग्य व्यक्ति रखे और एक माली भी रखा। पानी लगने से पहले उसने पूछा कि कितना पानी लगेगा? सबने कहा, हम पानी दिए देते हैं, जितना लगना चाहिए, लग जाएगा किंतु माली ने कहा कि नहीं, इसकी जड़ें आदि नपवाकर, पृथ्वी की सोखने की शक्ति देखकर यह पता लगाया जाए कि कितना पानी लगेगा और फिर मना किए जाने पर भी पौधे उखड़वाकर जड़ आदि नपवाकर बताया कि चार गैलन पानी लगेगा। चार गैलन पानी दिए जाने पर भी पौधा हरा होने के स्थान पर सूखता चला गया। इस प्रकार के दो वर्ग चालीस-पचास वर्षों में मिलते हैं, जिनमें यदि भावना थी तो ज्ञान नहीं और ज्ञान था तो भावना नहीं। इस प्रकार के अनेक लोग देश में कार्य करने में अपनी शक्ति लगा रहे थे किंतु राष्ट्रात्मा का साक्षात्कार न होने के कारण सारे प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध हुए। स्वामी दयानंद ने राष्ट्रोत्थान का कार्य किया। किंतु उसके पश्चात् तो मानो राष्ट्रीय भावनाओं को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। ऐसे ही समय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म हुआ। डॉक्टर साहब ने सन् 1925 में इसकी स्थापना की। यह नहीं कि उन्होंने उसी समय विचार किया हो, विचार तो बहुत दिन से चल रहा था। यह अपनी भारतीय पद्धति है कि आदर्श को सामने रखकर बढ़ा जाए। आज भी अनेकानेक पद्धतियाँ आदि हैं, किंतु वे किसी आदर्श को लेकर नहीं चलतीं। वहाँ मनुष्य अपने को पूर्ण मान लेता है, प्रकृति ने जैसा हमें बनाया है, वैसा ही हम अपने को दूसरों पर लाद दें। इस प्रकार के लोग यदि अधिक हों तो उससे सत्य का पता नहीं चलता। जो गलत है, उसे चाहे जितने भी लोग मानने वाले हों, सत्य नहीं हो सकता। नीम नीम ही रहेगा, पीपल नहीं हो जाएगा। रोग के निदान में तो यह और भी गलत है, वहाँ तो ज्ञान ही चाहिए, इसलिए डॉक्टर साहब ने अपना यह भारतीय विचार पुन: सामने रखा कि आदर्श की ओर बढ़ो।

अपने यहाँ विद्यार्थी गुरु के यहाँ जाकर आदर्श की ओर बढ़ता था, उसके कारण उसका विकास होता था। इसमें उन्नति संभव है। अहंकार नहीं। बचपन से ही डॉक्टर

साहब के सारे कार्य एक उद्देश्य को सामने रखकर होते थे। उन्होंने प्रारंभ से ही एक आदर्श सामने रखा कि किस प्रकार राष्ट्रीय जीवन की उन्नति कर सकें। बचपन से ही जितने काम थे, सब राष्ट्र के अनुसार। घर के बाहर की कठिनाइयों की कभी चिंता न की, वे स्कूल से निकाले गए, तब मेडिकल कॉलेज गए। वहाँ पैसा जुटाना, कार्य करना आदि किया। तब और जब सन् 1925 में उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की, तो इसी में अपने को लगा दिया। लोग कहते हैं कि संघ में हम एक व्यक्ति के पीछे चलते थे, किंतु यह बात ठीक नहीं। हम सब एक आदर्श के पीछे चलते हैं। यह विशेष बात है कि जिसने इसकी नींव डाली, स्थापना की, उसने अपने को आदर्श से समरस कर लिया था। उन्हें क्रोध पैतृक संपत्ति के रूप में मिला था किंतु उन्होंने कार्य के लिए हानिकारक समझकर उस स्वभाव को ही बदल डाला। उन्हें बातें करने की आदत नहीं थी। किंतु जब यह देखा कि कोई हमारे पास बैठेगा तो उससे वार्त्तालाप जरूरी है, अतः उन्होंने अपने स्वभाव में परिवर्तन कर लिया। बाद में उनका एक अखंड वार्त्तालाप हर समय धारा-प्रवाह चलता था, जिसमें जो स्नात हो गया, उसका रोम-रोम खिल गया। इस प्रकार जिसको भी आदर्श की आवश्यकता हो, उसे मैं प्राप्त करूँगा, यह निश्चय करना होता है। वे यदि डॉक्टरी करते तो जीवन में लाखों कमा लेते। किंतु देखा कि मेरे इस कार्य के लिए डॉक्टरी करने से अथवा नौकरी करने से काम नहीं चलेगा तो उनकी उपेक्षा कर पूर्ण रूप से कार्य में सारी शक्ति लगा दी।

उन्होंने दरिद्रता का वरण किया। घर में भोजनादि की व्यवस्था न हो तो भी बाहर हँसते हुए उनका व्यवहार रहता था। जिस प्रकार धनाभाव में कई लोगों में एक प्रकार की हीनता की भावना आ जाती है, इस प्रकार की हीनता का लेशमात्र भी नहीं था उनमें। मानो घर में लाखों भरे हों, इस प्रकार हृदय की धनाढ्यता उनमें थी। लोग कहते हैं कि बिस्तर फेंककर तो हर एक फकीर बन जाता है, कमाकर दिखाएँ तो हम जानें। किंतु वे जानते थे कि यह कार्य कठिन है। इसीलिए वे लक्ष्मी प्राप्ति में समय लगाने के बजाय जनसेवा में लगे। जनसेवा का भी एक नशा होता है, उसमें पड़कर निकलना कठिन हो जाता है। पूर्व जीवन में उस प्रकार की जनसेवा की धारा में होते हुए भी जब संघ की स्थापना के तुरंत बाद जिन्होंने अपने को बाहर खींच लिया, डॉक्टर साहब से लोगों ने कहा कि आप निराश हो गए हैं? किंतु उन्होंने कोई चिंता न की। लोग कुछ कहें, नाम और ताली की परवाह न कर उन्होंने इस तपश्चर्या में अपना जीवन व्यतीत किया।

अपने जीवन में बीमार होते हुए साथ ही यह जानकर कि वे ठीक नहीं हो सकेंगे, इलाज नहीं कराया। अपने जीवन को अपने कार्य के लिए ही अर्पित कर दिया। एक निश्चित ध्येय को सामने रखकर कार्य करने वाले लाखों लोग तैयार कर दिए। जिस राष्ट्र में आदर्शहीन, ध्येयहीन, उद्देश्यहीन व्यक्ति दिखाई देते थे, वहाँ उन तरुणों में जो राष्ट्र

की आत्मा कहे जाते हैं, उनके सामने आदर्श का जीवन लाए। उनमें यह परिवर्तन कर दिया कि वे अपने राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार करें। अपनी परंपरा तथा अपने इतिहास को देखते हुए जिस दिन उन्होंने यह कहा कि 'हिंदुस्थान हिंदू का है', तो लोगों ने उन्हें पागल कहना शुरू कर दिया, किंतु उसकी उन्होंने कोई चिंता न की, क्योंकि वे सही थे।

जैसे कि पूर्वकाल में एक ज्योतिषी ने एक राजा के यहाँ भविष्यवाणी की कि आज के दस दिन पश्चात् आपके राज्य में एक ऐसी हवा चलेगी कि जिसे वह हवा लग जाएगी, वह पागल हो जाएगा। राजा बड़ा चिंतित हुआ। किंतु मंत्री ने कहा कि चिंता की कोई बात नहीं है। उसने एक काँच का महल बनवाया किंतु उस महल में सब तो आ नहीं सकते थे। अत: राजा, मंत्री तथा दो-चार अन्य व्यक्ति हवा चलने के पूर्व उस महल में बैठ गए। हवा चली और उसका सब लोगों पर प्रभाव भी हुआ। बाद में जब राजा और मंत्री आदि बाहर निकले तो सबने उन्हें पागल कहना शुरू कर दिया। किंतु राजा बुद्धिमान था, उसने एक व्यक्ति को लेकर उसका इलाज कराया और उसे ठीक कर लिया। इस प्रकार एक-एक करके अनेक व्यक्ति ठीक हो गए। यही स्थिति सन् 1925 में हिंदुओं की थी। डॉक्टर साहब को लोगों ने पागल कहा। उन्होंने एक-एक को पकड़कर उनके हृदय के आवरण को हटाकर बताया तो उन्होंने देखा कि राष्ट्रीय भावनाओं में हिंदू आदर्श दिखाई देते हैं।

जिनके कारण राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न हुईं, वे सब हिंदू थे—शिवाजी, राणा प्रताप हिंदू थे। अकबर व औरंगज़ेब द्वारा राष्ट्रीय भावनाएँ किसी में उत्पन्न की गई हों तो यह बात दिखाई नहीं देती। इस प्रकार एक-एक को लेकर हृदय की भावनाएँ बदलीं और आज यह समय है कि अच्छे-अच्छे लोग 'हिंदुस्थान हिंदुओं का है' यह कहने को तैयार हैं। यह सत्य पहले नहीं था। मैं डॉक्टर साहब को ऋषि कहता हूँ। वे दूरदृष्टा थे। दूर की चीज को देख लेते थे। भविष्य के मर्म में छिपी बातों को देख सकते थे। किंतु जिनकी दृष्टि धुँधली है, उन्हें भी यदि राष्ट्रभाव दिया जाए तो उन्हें भी सत्य दिखाई दे जाता है। जिन-जिनको यह दृष्टि डॉक्टर साहब ने दी, उनको सब बातें स्पष्ट दिखाई दीं, किंतु जिन्हें दूर का दिखाई नहीं देता, वे तो पास की ही चीज को देख सकते हैं। आज ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं, स्थिति स्पष्ट होती जाती है। सब वस्तुएँ दिखाई देती हैं। आज जो कुछ हो रहा है, उसे डॉक्टर साहब सन् 1925 से पूर्व ही देख चुके थे।

आज की स्थिति संघ के स्वयंसेवक को दिखाई देती है। यह उसकी विशेषता नहीं, यह स्थिति उसको दृष्टि प्राप्त होने के कारण हुई है। जैसे कठघरे में उड़ने वाला कोई पक्षी बार-बार दिखाए जाने पर भी नहीं दीखता। किंतु यदि दिख जाए तो फिर वह चाहे जिधर भी जाए, आँख से ओझल नहीं होता। यही बात आज की परिस्थिति के

संबंध में संघ के स्वयंसेवकों की है। अब से पहले स्वतंत्रता आंदोलन के समय गाँव के एक ज़मींदार से भेंट हुई। उन्हें उस समय स्वतंत्रता मिलने का बड़ा विश्वास था। मेरे इस तरह कहने पर कि स्वतंत्रता इस प्रकार से नहीं मिलती तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। किंतु जब वह सचमुच न मिली तो कुछ समय बाद भेंट होने पर कहा कि आप ठीक कहते हैं, मुझे पता नहीं था कि संघ के कार्यकर्ता बड़े राजनीतिज्ञ होते हैं। तब मैंने कहा कि यह बात नहीं है, राजनीति से तो हम बहुत दूर रहते हैं। किंतु हम लोगों को एक प्रकार की दृष्टि प्राप्त हो चुकी है। जिनकी आँखों पर चश्मा चढ़ा हो, उन्हें भले ही वस्तु हरी अथवा पीली दिखाई दे, हमें तो सब साफ़ दिखाई देता है। यह स्पष्ट दृष्टि डॉक्टर साहब ने दी। इसमें हमारी दूरदृष्टि हो, ऐसी कोई बात नहीं। ऐसा होने का कारण यही है कि हमने जिस आत्मा का साक्षात्कार किया, उसका साक्षात्कार सब स्वयंसेवक करते हैं। इसलिए जो बात एक को दिखाई देती है, वही बात सबको दिखाई देती है।

डॉक्टर साहब ने अपने जीवन को आदर्श के समक्ष समर्पित कर दिया। अपने जीवन में अनेक कष्ट सहते हुए, दीपक की भाँति तिल-तिल जलते हुए, संसार को प्रकाश दिया। जिस प्रकार से हर आँधी, वर्षा और तूफान में हिमालय अडिग और अचल खड़ा है, कोई भी बाधा डॉक्टर साहब को भी डिगा नहीं सकी। जैसे हिमालय स्वयं गलकर गंगा प्रवाहित करता है, डॉक्टर साहब ने भी अपने को गलाकर संघगंगा प्रवाहित की। निंदा-प्रशंसा से दूर रहकर जिस प्रकार उन्होंने अपने आपको ध्येयार्पित किया, हम भी इस कार्य को अपने अनुसार नहीं, वरन् संघ के कार्यक्रमों के अनुसार, विचारों के अनुसार, पद्धति के अनुसार और ध्येय के अनुसार अपने को बनाएँगे। आज का ही वह दिन है, जिस दिन उनका निधन हुआ, हम उनका स्मरण करें, उनके त्याग का स्मरण करें। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को मिटाकर अपने सर्वस्व को आदर्श की ओर लगाकर अपने आपको उसके अनुसार बना डाला। हम भी यही करें। जैसे पिता कोई आकांक्षा अधूरी छोड़कर जाता है तो पुत्र उसे पूरी करता है, वैसे ही पिता तुल्य डॉक्टर साहब की अंतिम इच्छा को अपना सर्वस्व जानकर उनके पुत्र के समान हम सब पूर्ण करने का प्रयत्न करें। जो अपने इस जीवन में उनकी इस इच्छा को पूर्ण करने में, उनके आदर्श के लिए जीवन लगाए, अपना सर्वस्व दे, वही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सच्चा स्वयंसेवक है और वही आज की तिथि को उचित प्रकार से मना रहा है।

—जून 5, 1947

□

6

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : वाराणसी

अभी कल हमने राष्ट्रीय परंपरा का विचार किया था, उसका विचार करते समय हमने देखा कि यह हमारी राष्ट्रीय परंपरा अनादि काल से चली आ रही है, वह आज तक अक्षुण्ण रूप में जीवित है। हमारी इस परंपरा के बाह्य स्वरूप में चाहे समय-समय पर परिवर्तन हो गया हो, किंतु उसकी आत्मा में किसी प्रकार का अंतर नहीं आया। हमारा राष्ट्र अत्यंत पुरातन है, इतने संस्कार हमारे जीवन पर डाले गए, जिनसे हमारी राष्ट्र भावना उदित होती चली जाए। हमारे तीर्थस्थान, यात्राएँ तथा जीवन के और कितने ही अन्य संस्कार हैं, जिनमें हम संपूर्ण भारतवर्ष का अध्ययन एवं दर्शन करते हैं। इन सब संस्कारों के द्वारा मन के अंदर राष्ट्र के संबंध में एक श्रद्धा की भावना उत्पन्न हो जाती है।

राष्ट्र एक ऐसी चीज है जोकि बहुत सी चीजों का सम्मिश्रण है। यदि हम मनश्चक्षु बंद कर देखें और इसका कुछ विश्लेषण करें तो बहुत सी बातें हमें दिखाई देंगी कि हमारा सारा देश राष्ट्र के अंतर्गत आ जाता है। इस देश में रहने वाले जितने भी मनुष्य हैं, वे केवल आज के हों, नहीं तो युगों-युगों से जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ रहने आए हैं, वे सब राष्ट्र के अंतर्गत आते हैं। राष्ट्र की भावना में हमारे महापुरुषों की भावनाओं का सम्मिश्रण रहता है। जब हम राष्ट्र शब्द का ध्यान करते हैं तो हमारा संपूर्ण इतिहास हमारे सामने आ जाता है। हमारी संस्कृति की जो विशेषताएँ हैं, वे भी सामने आ जाती हैं। हमने जीवन में जो गौरव प्राप्त किया है, वह गौरव भी एक बार हमारी आँखों के सामने से निकल जाता है। हमारी भाषा, हमारा वेष, हमारे सांस्कृतिक जीवन की विशेषताएँ, हमारा त्याग, हमारा दृष्टिकोण, हमारे आज की रहने वाली संतति के जीवन की संपूर्ण आकांक्षाएँ एवं उसकी संपूर्ण प्रवृत्तियाँ तथा मनोभावनाएँ, ये सब बातें राष्ट्र के

अंतर्गत आती हैं। जब यह सारी कल्पना एकाएक किसी व्यक्ति के सामने आती है तो वह इसे समझ नहीं पाता। परंतु जो विचारी होते हैं और जो राष्ट्र की सारी भावनाओं की वैज्ञानिक रीति से परिचित होते हैं, वे यह सब समझ जाते हैं कि अंतरात्मा में राष्ट्र के प्रति जो भक्ति भावना रहती है, वह कितनी ही बार छिप जाती है। उसकी केवल एक अमूर्त कल्पना मन में रहती है। उसी अमूर्त कल्पना को मूर्त स्वरूप देने के लिए प्रत्येक राष्ट्र में कोई-न-कोई साधना करते हैं। यह भावना जितनी मूर्त स्वरूप में आएगी, उतनी ही राष्ट्रशक्ति की भावना भी दृढ होती जाएगी।

हमारे यहाँ भी इस अमूर्त कल्पना को एक मूर्त स्वरूप देने के लिए एक सबसे अधिक व्यापक और प्रभावशाली साधन हमारा परम पवित्र राष्ट्रध्वज है, जो आज से नहीं, अनादिकाल से चलता आ रहा है। जब वह राष्ट्रध्वज हमारे सामने आ जाता है तो हमारा पूर्व इतिहास मूर्त होकर हमारे सामने खड़ा हो जाता है। यह राष्ट्रध्वज हमें एक कपड़े का टुकड़ा नहीं दिखाई देता। यदि ऐसा होता तो उसको देखकर श्रद्धा से हमारा मस्तक कभी भी झुक नहीं सकता था। कभी भी हम उसको विनीत भाव से प्रणाम नहीं कर सकते थे। उससे हमको स्फूर्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी। हम उसके सामने अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं, उसका एक ही कारण है कि वह हमारे राष्ट्र का मूर्त स्वरूप है। उसमें हमारे राष्ट्र की संपूर्ण भावनाएँ निहित हैं, उसमें हमारी संपूर्ण आकांक्षाएँ छिपी हैं। हमें अपना संपूर्ण इतिहास उसके ऊपर लिखा हुआ दिखाई देता है। यह राष्ट्रध्वज हमने बहुत काल से अपनाया है। उसके नीचे ही हम लोग कार्य करते चले आ रहे हैं। वह हमारी राष्ट्र की संस्कृति की परंपरा का द्योतक है। उसको लेकर ही हमने अपनी परंपरा के प्रवाह को कभी अवरुद्ध न होने देकर सदैव बढ़ाने का प्रयत्न किया।

वह राष्ट्रध्वज कौन सा है? कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि जो राष्ट्रध्वज की कल्पना हमने अपने सामने रखी है, जिस परंपरा का हमने विचार किया है, वह हिंदुत्व की परंपरा है और हिंदू राष्ट्र की कल्पना है। जिस प्रकार अनादि काल से चली आने वाली हमारी राष्ट्रीय परंपरा है, उसी के साथ-साथ अतीत काल से चला आने वाला यह परम पवित्र भगवा ध्वज ही हमारे राष्ट्र का ध्वज है। इसी में हमारे राष्ट्र की कल्पना छिपी है। ज्यों-ज्यों राष्ट्र की प्रगति होती चली जाती है, त्यों-त्यों बाह्य साधनों में भेद होता जाता है, परंतु अंतरात्मा एक रहती है।

इस ध्वज का निर्माण कब हुआ, यह कहना कठिन है। कहीं भी किसी प्रकार का इतिहास नहीं मिलता, जिसमें इस संबंध में कुछ विवेचना हुई हो। यह बात पता नहीं लगती कि कब इस प्रकार की कमेटी बैठी, जिसमें इस रंग का, इस आकार का और इस अनुपात का एक ध्वज तय कर दिया गया। परंतु हाँ, गैरिक ध्वज का वर्णन मिलता है।

अपने आदिग्रंथ वेदों में भी ध्वज कौन सा था, इसका स्पष्ट वर्णन मिलना कठिन

है, परंतु वहाँ भी 'अग्नि केतव:' का वर्णन है। ध्वज का रंग भी अग्नि के समान था। अपनी संस्कृति के संबंध में तो हम जानते ही हैं कि वह आर्यकाल में यज्ञप्रधान थी। यज्ञ के चारों ओर हमने अपना जीवन रचा था। हमारे जीवन का यदि कोई केंद्र था तो वह हमारे यज्ञ थे, हमारे होम-हवन थे। हमारे सांस्कृतिक जीवन का जो विकास हुआ, हमने जीवन में जो कुछ प्राप्त किया, जिसे लेकर हम आगे बढ़े तो वह था, हमारा यज्ञ। यज्ञ के निमित्त बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि एकत्र होते थे और परस्पर विचार विनिमय करके जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझाते हुए नवीन-नवीन विचार रखते थे। आत्मा-परमात्मा के संबंध में जो अपने विचार थे, वह रखते थे। उन्होंने भौतिक व आध्यात्मिक सब प्रकार की उन्नति प्राप्त की और वह सब इन्हीं यज्ञ स्थानों पर प्राप्त की, और भी सरल भाषा में कहें तो ये यज्ञ हमारी संस्कृति के उस समय के प्रतीक थे।

इस संस्कृति को नष्ट करने के प्रयत्न हुए। रामायण में रावण ने विश्वामित्र के यज्ञों को विध्वंस करने का प्रयत्न किया। राक्षस यज्ञ नहीं होने देते थे। उसका एक ही कारण था कि यज्ञ में हमारे समाज का प्राण बसा था। जैसे हम बहुत बार किस्से सुना करते हैं कि वह राक्षस उस चीज में निवास करता है, उसके प्राण तोते में रहते हैं, तोते की टाँग तोड़ दो तो उस राक्षस की भी टाँग टूट जाती थी, तोते को मार दिया तो राक्षस भी मर गया। रावण और जटायु का जब युद्ध हुआ तो उसमें जटायु भोला-भाला था। यद्यपि राष्ट्र के लिए वह सबकुछ करने को तैयार था परंतु भोलेपन में आ गया और उसने बता दिया कि मेरे प्राण पंखों के अंदर हैं, इसलिए जब उसके पंख काट डाले गए, तब जटायु मर गया।

उस काल में हमारे राष्ट्र की आत्मा यदि कहीं थी तो वह यज्ञों के अंदर थी। जब हम विदेशों को जीतते थे और अपनी संस्कृति का प्रसार करते थे और जब जो हमारी सांस्कृतिक जय होती थी तो वह यज्ञ करके होती थी। आज भी जब हम नया गृह बनवाते हैं, तो उस नए गृह में गृह प्रवेश के समय बड़ी भारी धूम और उत्सव होता है। यज्ञ करके उसे अपना बना लेते हैं, वह हमारी हो जाती है, क्योंकि उस पर हमारे जीवन की छाप पड़ जाती है। इस प्रकार यह यज्ञ हमारी संस्कृति का प्रतीक हो गया है।

ज्यों-ज्यों काल आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों इस यज्ञ को बहुत से स्थानों पर ले जाना बड़ा कठिन हो गया। यज्ञ की महत्ता कम होती गई। उस महत्ता के कम होने के साथ उस यज्ञ के प्रतीक स्वरूप हमारे ध्वज का आविष्कार हुआ। वह ध्वज यज्ञ की ज्वाला के समान उसी रंग का, उसी आकार का था। मानो यज्ञ को ज्वालाओं के रूप में इसी को लेकर आगे बढ़ते थे। इसी ध्वज को लेकर युद्ध करते थे। हाथों में यज्ञ का कुश लेकर जिसमें ज्वालाएँ उठ रही होंगी, युद्ध करने के लिए हमारे पूर्वज रणक्षेत्र में जाते होंगे, ऐसी शेखचिल्ली की भी बातें तो वे कर नहीं सकते थे। हाँ, युद्ध के समय कोई

ऐसी चीज जो प्रेरणा और स्फूर्ति दे सके, जिसे देखकर हमारे आदर्श हमारे सामने आ जाएँ। हमारे जीवन का क्या ध्येय है? संसार में हमारा क्या लक्ष्य है? किस बात की रक्षार्थ हम युद्ध कर रहे हैं? दूसरे देशों के ऊपर हम विजय प्राप्त कर रहे हैं, उस बात या आदर्श को प्रकट करने वाली कोई वस्तु हमारे सामने रही तो उससे स्फूर्ति प्राप्त होती है, हिम्मत आती है और लोग आगे बढ़ते हैं।

युद्ध हत्या के लिए नहीं किया जाता और जहाँ हत्या के लिए किया जाता होगा, वहाँ किया जाता होगा, परंतु हमारे यहाँ नहीं। हमारे युद्ध तो आत्मरक्षार्थ थे। यदि कभी विजय के लिए किए भी तो कोई शक्ति की विजय नहीं अपितु सांस्कृतिक विजय के लिए किए गए। 'कृण्वन्तो विश्वार्यम्' इस आदर्श को सत्य में परिणित करने के लिए, उन्हें ज्ञान देने के लिए अर्थात् असभ्य लोगों को भी सभ्य बनाने के लिए हुए।

कुछ युद्ध आत्मरक्षार्थ हुए, तो आत्मरक्षा का अर्थ क्या? हमने आत्मरक्षा का अर्थ अपनी संस्कृति की रक्षा करके माना। अपने स्वयं के जीवन की रक्षा करके नहीं। जीवन को हमने सर्वस्व नहीं समझा। इसे तो हमने मोह समझा, माया समझा, जैसा गीता में कहा गया है कि शरीर नश्वर है, यह कभी भी नष्ट हो जाता है। परंतु आत्मा अमर है, चिरंजीवी है और वह चिरस्थायी रहती है। हमने आत्मा को ही सर्वस्व माना, यदि हमने कभी कोई युद्ध किया तो वह अपने धर्म, अपनी संस्कृति तथा अपने जीवन के आदर्शों की रक्षा के लिए किया। यदि इन आदर्शों को हमारे सामने रखने वाला प्रतीक रहा तो उससे अपने को अवश्य ही स्फूर्ति मिलती है। यज्ञों का जो आदर्श था, उसी को प्रगट करने के लिए यह परम पवित्र भगवा ध्वज हमारे सामने रखा गया। तब से इस ध्वज को लेकर हम संसार के प्रत्येक भाग में गए। जिस भूमि पर यह ध्वज गाड़ दिया गया, उसी भूमि पर मानो हमने अपना यज्ञ कर लिया। हवन की ज्वाला की लपट के समान यह परम पवित्र भगवा ध्वज प्राचीन काल से आज तक निरंतर फहराता चला आ रहा है।

यह ध्वज जैसा मैंने बतलाया, हमारे समाज की आत्मा का प्रतीक है। इसका रंग एक विशेषता रखता है, यह संन्यासियों का रंग है। अपने ध्वज का यह रंग है, इसीलिए संन्यासियों ने भगवा रंग का कपड़ा पहनना शुरू किया या संन्यासियों के कपड़े का रंग भगवा होने के कारण हमारे ध्वज का यह रंग हुआ, इसका निश्चय करना कठिन है। परंतु इस देश को राष्ट्रीयता का पाठ सिखाने का कार्य यदि किसी ने किया तो वह इन साधू-संन्यासियों ने ही किया। ये साधू-संन्यासी अपने जीवन के सारे मोह को छोड़ केवल देश व समाज के कार्य को ही अपने जीवन का आदर्श मानते थे। देश का कार्य करने के लिए एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करते थे। कहीं भी तीन दिन से अधिक नहीं टिकते थे। उन्हीं की तपस्या, सेवा और त्याग ने एक ऐसा परिवेश दिया, जिससे संपूर्ण हिंदू समाज एक श्रृंखला में बँध गया। संपूर्ण भारतवर्ष के अंदर एक

जीवन और परंपरा का प्रवाह प्रवाहित हो गया। देश के कण-कण में एकता का प्रस्थापन हुआ। उन्होंने एक राष्ट्र का पाठ हमको पढ़ाया और उसी का जामा भी पहना, उन्हीं की तपस्या के आधार पर यह एक राष्ट्र बना।

वे उत्तर से दक्षिण गए और बताते थे कि उत्तर भी ऐसा ही है जैसा दक्षिण है। जो उपदेश वे उत्तर में देते थे, वही दक्षिण में भी देते थे। उसे जिस शांति और जिज्ञासा के साथ उत्तर के लोग सुनते थे, सुनकर कृतकृत्य होते थे और उसे अपने आचरण में लाने का प्रयत्न करते थे, उसी लगन और जिज्ञासु वृत्ति से दक्षिण के लोग भी उस उपदेश को सुनते और अपने को धन्य मानते थे। इन साधू-संन्यासियों ने जो उपदेशामृत हमको पिलाया, उसी के परिणामस्वरूप आज हमको इस दो हज़ार मील लंबे-चौड़े विशाल देश के अंदर एक अभूतपूर्व एकता दिखाई देती है।

ऊपर-ऊपर से लोगों को विभिन्नता दिखाई देती है, पर हमको तो यहाँ पर एकता दिखाई देती है। जीवन के आदर्शों की, दृष्टिकोण की, संस्कृति की और साहित्य की, सब प्रकार की एकता दिखाई देती है। यहाँ तक कि हमारे यहाँ जो छोटी-छोटी ग्राम पंचायतें बनीं, उनको नियंत्रण करके रखने वाली शक्ति भी एक थी। उनमें भी हमें धार्मिक एकता दिखाई देती है। जब रेलगाड़ियाँ नहीं थीं तो थोड़ी दूर यात्रा करना भी कठिन था। उस काल में यह एकता किसने निर्माण की? कैसे सब एक बन गए? खबर पहुँचाने वाले बड़े-बड़े अखबार नहीं थे। आज रेल में बैठकर कुछ ही घंटों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर लोग चले जाते हो, परंतु तब एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचने में बरसों लग जाते थे। तब यह अनोखी एकता प्रस्थापित करने का श्रेय यदि किसी को है तो हमारे इन साधू-संन्यासियों को दिया जा सकता है। उन्होंने ही हमारे राष्ट्र को यह स्वरूप दिया है। अतः उन साधू-संतों ने जिस वस्त्र का उपयोग किया, उसी वस्त्र को, उसी प्रकार के रंग को, हमने यदि अपने राष्ट्रध्वज का रंग माना तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं या दूसरे रूप में यह कहिए कि राष्ट्र कार्य करने के लिए उन्होंने उसी रंग के वस्त्र पहने, जो राष्ट्रध्वज का रंग है या जो राष्ट्र की आत्मा का रंग कहा जा सकता है, वही रंग, वही वस्त्र, वही परिधान वे पहनेंगे, इसीलिए उन्होंने इस कपड़े का उपयोग करना शुरू किया। उनके प्रत्यक्ष व्यवहार और त्याग के कारण ही उस रंग में एक पवित्रता आ गई और इसके प्रति हमारी श्रद्धा जाग्रत् हो गई। आज भी जब हम किसी साधू-संन्यासी को देखते हैं तो इस युग में भी हमारा मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है।

मैं एक बार गाड़ी में आ रहा था, बड़ी भीड़ थी। उस घनी भीड़ में एक साधू गाड़ी में चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। उस डिब्बे में एक सेना का आदमी बैठा था। सेना के आदमी वैसे हर किसी को डिब्बे में घुसने नहीं देते हैं, फिर वह उस भीड़ में तो उसका दोष ही नहीं था, परंतु जब वह साधू आया तो उसको उस सेना वाले ने लोगों को इधर-

उधर धक्का देकर भी अंदर चढ़ा लिया। तब एक महाशय, जो किसी विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट थे, बोले कि वाहजी! आप भी विचित्र हैं कि साधू बाबा को अंदर आने दिया तो उसने कहा कि साधू को अंदर आने देने में हर्ज क्या? उसने कहा कि अजी साधू क्या, ये तो सब खाने वाले होते हैं। यह साधू नहीं है, 'स्वादू' है। इस प्रकार की बहुत सी बातें उसने कहना शुरू किया तो अंत में उस मिलिटरी वाले ने एक ही उत्तर दिया कि मुझे व्यक्ति की चिंता नहीं, मुझे तो इस कपड़े के रंग से प्रेम है। मैंने तो इस रंग को अंदर आने दिया, चाहे यह ख़राब है, पर इसने इस रंग के कपड़े को धारण किया है, इसीलिए कोई चिंता की बात नहीं। इस प्रकार जब हम किसी भी व्यक्ति को इस रंग का कपड़ा पहने देखते हैं तो हम श्रद्धा से झुक जाते हैं।

यह श्रद्धा क्यों है? कहाँ से आई? तो युगों-युगों से जो राष्ट्रभक्ति की भावना हमारे रोम-रोम में समा गई है, जो प्रवृत्ति रूप में हमारे मन में प्रवेश कर गई है, वही भावना एकदम उमड़ पड़ती है। साधारणतया हमें शायद उस भावना का ज्ञान न रहे, पर जब अवस्था आती है तो वह उमड़ पड़ती है और हम उसे फिर किसी प्रकार से रोक नहीं पाते। जो ध्वज साधू-संतों के द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों के रंग का है, उसे देखकर हमारे सामने जो कल्पना आती है, वह उस त्यागमय जीवन की आती है, जिसे हमारे साधू-संन्यासियों ने व्यतीत किया। अपने व्यक्तिगत जीवन की चिंता न करते हुए समस्त बंधनों को तोड़कर समाज की रक्षा करना और उसकी सेवा करना, यही जीवन की कल्पना देने वाले ध्वज को हमने अपने सामने रखा।

इस ध्वज का रंग हमारी आत्मा का रंग है। हम भगवा ध्वज के साथ त्याग की कल्पना रखते हैं, क्योंकि यह रंग त्याग का द्योतक है। अपने जीवन में जो किसी महान् ध्येय के लिए त्याग करने को तत्पर होता है, वही इस रंग को अपनाता है। हमने इसे आदर्श के रूप में रखा है, तो अच्छी प्रकार से इसके संदेश को सुनें। फहर-फहर कर जो इसकी आवाज़ होती है, उस आवाज़ में यह हमको संपूर्ण संदेश देता है। कुछ इसके इस संदेश को नहीं सुन पाते होंगे, क्योंकि इसके संदेश को तो वही सुन पाता है, जिसके पास कान है, वह हृदय है और वे भावनाएँ हैं। वे जब इसको देखते हैं तो उनके सामने एक बारगी अपना संपूर्ण इतिहास निकल जाता है। इतिहास का यह संदेश अपनी संस्कृति की समन्वय की सहिष्णुता की विशेषता बता जाता है।

सबको अपना बना लेना, यही विशेषता रहती है संन्यासी की। वह सबको अपना कहता है और अपना कहकर उसे अपना बना लेता है। यह अग्नि का प्रतीक है और अग्नि की ज्वालाओं की तो यह विशेषता है कि वह सर्वत्र है। जो उसमें आता है, वह उसी को हजम कर जाती है। अपनी हिंदू संस्कृति की तो सदा से यह विशेषता है कि जो भी आया, उसे हम जमकर हजम कर गए। जबसे हम इस विशेषता को भूल गए, ध्वज

ने हमको जो संदेश दिया, उसकी हमने उपेक्षा की। हमारी जो यह सर्वभक्षी वृत्ति थी, उसे भुला दिया, उसकी हमने उपेक्षा की।

हमने समझा कि यह आग नहीं बल्कि ठंडा पानी है। तब से हमारा पतन प्रारंभ हुआ। हम दूसरों से डरने लगे और दूर भागने लगे, जैसे जब तक हमने इस प्रकार ध्वज को अपने सामने रखा, तब तक हम अपने अंदर जितने भी लोग आए, जैसे शक[1] आए, हूण[2] आए, सबको अपना बना लिया। आज किसी का भी पता नहीं कि किसके पुरुष यूनानी थे, किसके शक थे, किसके हूण थे। हमने सबको अच्छी प्रकार से हजम कर लिया है। यह जो हजम करने की प्रवृत्ति है, आर्य संस्कृति की विशेषता है। अपने जीवन की विशेषता है, इस विशेषता को बताने वाला यह ध्वज हमारे सामने है, जो बताता है कि हम आगे बढ़े। जिस प्रकार अग्नि ऊपर उठती जाती है, वह कभी नीचे नहीं जाती। यदि मशाल को हम हाथ में ले उसे ऊपर करें, चाहे नीचे करें, पर अग्नि सदैव ऊपर की तरफ़ होगी, कभी नीचे नहीं जाएगी। यदि उसे मूर्खतावश नीचे किया तो हाथ जल जाते हैं, पर अग्नि नीचे नहीं जाएगी। यही अपने जीवन की विशेषता है कि हम सदैव ऊपर आते जाएँगे, नीचे नहीं जा सकते। यदि कोई दुस्साहस कर हमें नीचे लाने का प्रयत्न करे या हमें दबाने का प्रयत्न करेगा, उसका हाथ जल जाएगा। यही संदेश हमको अपने ध्वज से मिलता है। इस संदेश को हम सुनें, विचार करें और समझें।

हमारे मन में कुछ विचित्र भावनाएँ घर कर गई हैं। हमने इसके वास्तविक संदेश को भुला दिया। हम लोगों ने सोच लिया कि अरे, यह तो भगवा रंग है। संन्यासी बनकर नाक बंद कर जंगल में जाकर बैठ जाना होगा। यह इस रंग का संदेश नहीं है। सतत कार्य करना, यह अपने धर्म की विशेषता है। अपने धर्म का ध्येय केवल पारलौकिक उन्नति करना नहीं अपितु ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों जीवन की उन्नति करना है।

---

1. शक जाति ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी से पहले सीर नदी (मध्य एशिया) के उत्तरी किनारे पर रहती थी। जब यूची नामक अन्य घुमंतू जाति ने उन्हें इस प्रदेश से निकाल दिया तो ये बैक्ट्रिया की तरफ़ आ गए, जहाँ इन्होंने यूनानियों से युद्ध किए। इसके पश्चात् वे दक्षिण और पूरब की ओर बढ़े और भारत में प्रविष्ट हुए। लगभग 78 ईसवी में उन्होंने भारत पर आक्रमण किया और उत्तर व पश्चिम भारत के कुछ हिस्सों पर उनका राज स्थापित हो गया।

2. ईसवी की पाँचवीं शताब्दी के मध्य में मध्य एशिया के हूणों ने भारत पर आक्रमण किया। इन्होंने हिंदुकुश को पार कर गांधार (अब अफगानिस्तान) पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उनका सामना भारत के राजा स्कंदगुप्त (गुप्त वंश के सातवें राजा, लगभग 455 ईसवी में गद्दी पर बैठे) से हुआ। इस युद्ध में हूणों की हार हुई और वे ईरान की ओर चले गए। ईरान में उन्होंने वहाँ के शाह फिरोज से युद्ध किया। शाह इस युद्ध में मारा गया। इधर भारत में स्कंदगुप्त के निधन (लगभग 467 ईसवी) के साथ ही गुप्त वंश भी कमजोर होने लगा। पाँचवीं शताब्दी के अंत तक हूण वर्तमान अफगानिस्तान और ईरान के एक बड़े भूभाग पर शासन करने लगे। उन्होंने अपनी राजधानी बल्ख (अफगानिस्तान) में बना ली और पुनः भारत पर आक्रमण के बाद पंजाब के कुछ भाग उनके अधिकार में आ गए।

हमने उस परलोक की ओर दुर्लक्ष किया और इस लोक की हमने कोई चिंता नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि यह लोक तो गया ही, उसके साथ-साथ परलोक भी गया। जो व्यक्ति इस लोक की चिंता नहीं करेगा, उसका जीवन संसार में यशस्वी नहीं हो सकता। भगवान् ने यह जीवन हमें क्यों दिया? यह तो उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए साधन रूप है। परंतु इस साधन की ओर यदि कोई व्यक्ति दुर्लक्ष करेगा, तो ध्येय कैसे प्राप्त होगा?

हमारे पास एक मोटर है, जिससे हम स्टेशन पर पहुँच सकते हैं, परंतु यदि उस मोटर की ओर दुर्लक्ष किया, उसे अंधाधुंध चलाया, ले जाकर किसी दीवार से टकरा दिया, न उसमें पेट्रोल डाला और न उसके पहियों में हवा ठीक से डाली तो हम स्टेशन पर नहीं पहुँच सकते। जो साधन हमें मिला है, उसकी भी चिंता करना आवश्यक है, क्योंकि साधन के बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

साधन हमको लेकर आगे बढ़ेगा, इतना ही है। जैसे किसी को नदी के उस पार जाना है, उसके लिए नाव की आवश्यकता होती है। बिना नाव के ही नदी के उस पार जाने वाला कोई एकाधा विरला तैराक ही मिलता है। पर जीवन के इस अथाह समुद्र को पार करने के लिए बहुत ही दृढ नाव की ज़रूरत है। उस नाव को अच्छी प्रकार से देख लेना चाहिए, कहीं उसमें छेद न हो। उस नाव को अच्छी प्रकार खेते हुए हम दूसरे किनारे चले जाएँ। हाँ, इतना सत्य है कि नाव हमारी सर्वस्व नहीं है और ध्येय भी नहीं, हम नाव का मोह छोड़ देते हैं और किनारे पर उतर करके हम घर चले जाते हैं। कभी कोई यह सोचकर मोह में फँस जाए कि यह मुझे बैठाकर यहाँ तक लाई है, कैसे इसे छोड़ूँ? और उसी में बैठा रहे या यदि उसे छोड़े तो भी खींचकर बालू में नाव को ले जाने का प्रयत्न करे तो लोग उसे कहेंगे कि यह मूर्ख है। वह नाव के महत्त्व को नहीं समझता। उसके लिए तो वहाँ से आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर है।

पाश्चात्य संस्कृति और हमारी संस्कृति में यही अंतर है। उन्होंने नाव को ही सर्वस्व समझ लिया है। इस जीवन से आगे भी कुछ जीवन है, यह वे जानते ही नहीं। इस जीवन से आगे की भी कुछ चिंता करनी चाहिए। यह अपने को पता ही नहीं, इसलिए वे तो इसी जीवन को सर्वस्व समझे बैठे हैं। इसी जीवन के लिए मर मिट रहे हैं, सबकुछ कर रहे हैं। उसके परिणामस्वरूप आज का संघर्ष या नई प्रवृत्ति आज का नरसंहार, ये सब हमको देखना पड़ रहा है।

हमारे साहित्य के अंदर हमारी संस्कृति ने यही बताया है कि यह जीवन सर्वस्व नहीं, हमें परलोक की भी चिंता करनी चाहिए। हम केवल परलोक की चिंता करते रहेंगे, इस जीवन की चिंता नहीं करेंगे तो यह भी गलती है। दोनों प्रकार के जीवन की चिंता करनी चाहिए। हम केवल परलोक की चिंता करते रहे, इसलिए कई बार अंग्रेज़ों

ने भी हमारे यहाँ के लोगों को इस बारे में यह बताने का प्रयत्न किया कि ये दुनियादारी को समझते नहीं, यह सुनकर हम लोग बड़े फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। इन्होंने कितनी सत्य बात कही, हम सब बड़े हैं, यह ठीक है, परंतु हमारे तत्त्वज्ञान में दोनों बातें हैं।

वैभव का जीवन कैसे प्राप्त करते थे? जंगल में बैठकर तपस्या करने वालों ने बड़े-बड़े साम्राज्य कैसे प्रस्थापित किए? इसी ध्वज से संदेश लेकर इसी ध्वज को हाथ में लेकर सम्राट् चंद्रगुप्त ने आज के भारतीय साम्राज्य से दुगुने साम्राज्य पर आधिपत्य प्राप्त किया। इसी ध्वज को हाथ में लेकर हमारे यहाँ के सम्राट् भारतवर्ष से बाहर गए, वहाँ जाकर उन्होंने जावा, सुमात्रा, बाली और इंडोचायना में साम्राज्य स्थापित किया। अर्जुन ने दिग्विजय की इसी ध्वज को लेकर, रघु ने दिग्विजय की और समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की थी। तब इस ध्वज ने क्या हमें लौकिक उन्नति नहीं बताई? जिस ध्वज की संरक्षता में हमने संसार भर का वैभव संपादित किया, वह ध्वज क्या केवल पारलौकिक उन्नति बताता है? हम जानते हैं कि गुप्तकाल के अंदर और पहले भी हमारे देश में दूध-दही की नदियाँ बहती थीं।

इस ध्वज को लेकर हमने संसार में ज्ञान का प्रसार किया। इसी ध्वज को लेकर जीवन में सब प्रकार की उन्नति की। उसी के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में इतना सुख-वैभव प्राप्त हुआ। हमारे ध्वज का यह संदेश है, इसको हम अच्छी प्रकार से समझ लें। इसी ध्वज से वाणिज्य-व्यापार आदि सबमें हमने उन्नति की। हम पारलौकिक जीवन की चिंता भी अवश्य करेंगे। लौकिक जीवन को पारलौकिक जीवन का साधन समझकर, इससे ऊँचे उठकर, इस जीवन के दास न बनकर अपितु स्वामी बनकर रहेंगे, लक्ष्मी हमारी पाद सेवा करती रहेंगी। हमारे पूर्वजों ने भगवान् विष्णु का जो स्वरूप हमारे सामने रखा है, उसमें राष्ट्रपुरुष की सेवा लक्ष्मी करती है, वह लक्ष्मी का दास नहीं।

इस प्रकार लक्ष्मी हमारे चरण दाबती रहेगी, हम उसके स्वामी बनकर रहेंगे। दास बनकर नहीं, उसे केवल साधन समझेंगे, यही हमारे ध्वज की विशेषता है। यही आदर्श वह हमारे सामने रखता है। समन्वय का और एकता का आदर्श रखा है। उसमें एक रंग है, अनेक रंग नहीं, अनेकता भी नहीं है। वही रंग हमारी आत्मा का रंग है और हमारे जीवन का प्रतीक है। इसलिए जीवन का समन्वय करते हुए हम चलते हैं। सहिष्णुता की वृत्ति को लेकर हम आगे बढ़ते हैं।

हमारा यह ध्वज बहुत काल से चलता आया है। स्वामी शंकराचार्य इस ध्वज को लेकर आगे बढ़े। उनका जीवन हम देखें तो अच्छी प्रकार से देख सकते हैं—वे साधू थे, संन्यासी थे। क्या उनके जीवन में तपस्या नहीं थी? जैसाकि आजकल लोग समझते हैं कि कहीं जंगल में बैठ गए और तपस्या की। ऐसा कहीं उनके जीवन में दिखाई नहीं देता, परंतु बत्तीस वर्ष की छोटी सी आयु में उन्होंने एक बार नहीं, चार-चार बार देश में,

एक जगह नहीं, सारी जगह में अपने मत का प्रचार किया। बत्तीस वर्ष क्या होते हैं, अपने मत का प्रचार करने के लिए? आपमें से कितने ही बत्तीस वर्ष के हो गए होंगे। एक बार तनिक सोचें तो कि हमने बत्तीस वर्ष में कितना काम किया? उन्होंने इतने काल में ही सारे उपनिषदों के ऊपर तथा गीता के ऊपर महाभाष्यों की रचना की। कभी यहाँ के पंडितों को हराया तो कभी वहाँ के। कभी यहाँ शास्त्रार्थ हो रहा है तो कभी वहाँ। इस प्रकार अखंड कर्मयुक्त जीवन इस ध्वज का संदेश है, इसको लेकर जो चलता है, वह कर्मयोगी सा जीवन व्यतीत करता है। आलस्य का जीवन व्यतीत नहीं करता। वह तो निरंतर कार्य करने वाला निरंतर व्यस्त जीवन व्यतीत करता है। ऐसा दिव्य जीवन व्यतीत करने की स्फूर्ति और प्रेरणा इस जीवन में अपने परम पवित्र भगवा ध्वज से उसे मिलती है। यह प्रेरणा हमारी बराबर चली आ रही है। यह बात हममें से बहुत से लोग भूल गए।

कुछ लोग कहते हैं, यह तो मराठों का ध्वज है। परंतु यह बात सत्य नहीं, इतना अवश्य सत्य है कि छत्रपति शिवाजी ने इसी ध्वज के द्वारा फिर से अपने प्राचीन आदर्श को प्राप्त किया था। उनके सामने कोई अपना स्वार्थ तो था नहीं, वे तो हिंदुत्व की रक्षा के निमित्त सब कार्य कर रहे थे। हिंदू साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। अतः जो हिंदुओं का प्रतीक था, उसी ध्वज को लेकर आगे बढ़े। अपने ऐतिहासिक युग में सबसे निकट का उदाहरण छत्रपति शिवाजी का है। इसलिए हम अच्छी प्रकार से समझ लें कि यही हमारा राष्ट्रध्वज है। इसके अलावा और कोई राष्ट्रध्वज नहीं। यह हमारे हिंदुत्व या भारतीयता का प्रतीक है।

आज कई बार लोग भिन्न-भिन्न ध्वजों को राष्ट्रध्वज कहते हैं, पर वे ध्वज वास्तव में राष्ट्रध्वज नहीं हैं। कई लोगों को यह कल्पना हो गई थी कि अपने देश में कोई एक राष्ट्र नहीं है, अतएव हमारा अपना कोई एक ध्वज भी नहीं है। अब तो उन्होंने भी यह समझ लिया कि आज का जो राष्ट्रध्वज दिखाई दे रहा है, यह ज्ञान के नहीं अपितु अज्ञान के परिणामस्वरूप बना है। अज्ञानवश लोगों की कल्पना रही कि अब तक अपने पास कोई ध्वज नहीं था, इसलिए अब नया ध्वज बनाना चाहिए। ऐसा कहते हैं कि यह कल्पना भी पहले हिंदुस्थान में नहीं आई।

प्रारंभ में कुछ युवक जिनमें देशप्रेम की भावना जाग्रत् थी, वे भारतवर्ष के बाहर गए। कहते हैं कि उनमें से कुछ क्रांति की भावना सीखने के लिए फ्रांस जा पहुँचे। वहाँ एक स्थान पर बहुत से नवयुवक एकत्र होकर अपने-अपने देश के बारे में बातचीत कर रहे थे। इतने में कोई अपने एक भारतीय युवक से पूछ बैठा कि बहुत बातें करते हैं, बताओ तुम्हारा झंडा कौन सा है? वह भारतीय निरुत्तर हो गया, क्योंकि उस बेचारे को पता नहीं था कि अपना राष्ट्रध्वज कौन सा है। उन दिनों भारतवर्ष में यूनियन जैक

फ्लैग[3] फहराता था। यह अपना ध्वज नहीं हो सकता, इतना वह जानता था और इसीलिए उसने कहा, अच्छा! हम अपना ध्वज आपको बताएँगे। उन लोगों ने अपने भारतवर्ष के ग्यारह प्रांतों के आधार पर एक ध्वज बनाया। उसमें शायद तीन-चार रंग थे और आठ कमल के फूल थे। उसी झंडे को लेकर कुछ दिन कार्य हुआ।[4]

फिर महात्मा गांधी का आंदोलन प्रारंभ हुआ, तब उसी झंडे से आज का तिरंगा झंडा बना। वही धीरे-धीरे हमारे राष्ट्रीय आंदोलनों का स्फूर्तिदाता बन आगे बढ़ा। इसमें राष्ट्र की एक विचित्र कल्पना रही, 'हिंदू, मुसलिम और ईसाई आपस में सब भाई-भाई'।[5] इस कल्पना को लेकर उन्होंने कहा कि ठीक है, इसमें एकता नहीं तो अनेकता रहे। इसीलिए प्रत्येक के द्योतक तीन रंगों को रखकर हमारे सामने एक झंडा लाया गया। लाल रंग हिंदुओं का, हरा रंग मुसलमानों का तथा सफेद बाक़ी सबका। क्योंकि इस पर सब रंग चढ़ जाते हैं।

इस ध्वज को रखकर आंदोलन हुए, त्याग किए और सजा भुगती। यह आंदोलन चलता रहा, किंतु बाद में एक ऐसा समय आया कि सबने चिल्लाना प्रारंभ किया कि मेरा नाम भी होना चाहिए, हमारा रंग भी होना चाहिए। इसी समाज में सिक्खों की ओर से प्रश्न उठा कि हमारा भी रंग होना चाहिए। ईसाइयों ने कहा कि हमारा भी। तब लोगों के सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि अब क्या करना चाहिए? कहते हैं कि इसलिए एक झंडा कमेटी बनाई गई। उसके प्रधान आजकल के वाइस प्रेसीडेंट पं. जवाहरलाल नेहरू थे। उस झंडा कमेटी ने विचार किया। ऐतिहासिक संदर्भों की खोज की और निश्चित किया कि भारतवर्ष का यदि कोई राष्ट्रध्वज हो सकता है तो वह केसरिया ध्वज हो सकता है। उस कमेटी की खोज के बाद यह अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी की वर्किंग कमेटी में आया और उन सब ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी के लोगों ने यह निश्चय किया कि यह तो सत्य है कि केसरिया ध्वज ही अपना राष्ट्रध्वज हो सकता है।

---

3. यूनियन जैक यूनाइटेड किंगडम का झंडा है।
4. 7 अगस्त, 1906 को कलकत्ता में पारसी बागान स्कुयर ग्रीयर पार्क में बंगाल विभाजन के विरोध के लिए तिरंगा झंडा फहराया गया। इस झंडे में तीन धारियाँ थीं—हरी, पीली और लाल। सबसे ऊपर हरी धारी में आठ अर्धपुष्पित कमल, बीच में पीली धारी में नीले रंग का वंदेमातरम् और आख़िरी में लाल धारी में सूर्य और अर्धचंद्र की आकृतियाँ थीं।
5. अप्रैल 1921 विजयवाड़ा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की होने वाली बैठक से पहले महात्मा गांधी ने मछलीपट्टनम के पिंगले वैकय्या को बुलाया। भारतीय राष्ट्रीय झंडा मिशन के संस्थापक सदस्य रहे पिंगले को गांधी ने एक ऐसा झंडा बनाने का अनुरोध किया, जिसमें सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व शामिल हो। इस झंडे में सफेद, हरा और लाल रंगों के साथ बीच में चरखा रखने को कहा। इस प्रकार 1921 में अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में इस तिरंगे झंडे को फहराया गया। हालाँकि इससे पहले 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में एक गीत को झंडा गीत के रूप में अपनाया गया : हिंदू, मुसलमान, सिख हमारा, भाई-भाई प्यारा; यह है झंडा आज़ादी का, इसे सलाम हमारा।

ऐतिहासिक गवेषणाओं का भी यही परिणाम मालूम होता है, परंतु फिर भी उस ध्वज को लेकर सन् 1921, 1931 में हमने कितने त्याग किए हैं, न मालूम कितनों को सजा हुई हैं, कितनों को फाँसी हुई है और कितनों ने नमक की पुड़िया बेचकर कठिनाइयाँ झेली हैं। इन सारी स्फूर्तियों को हम हटा नहीं सकते। हमारी समस्त भावनाएँ इसके साथ जुड़ गई हैं। अत: कमेटी की सारी रिपोर्ट को निरर्थक मानकर उसी तिरंगे ध्वज को अपना ध्वज माना।[6] उन्होंने कहा कि थोड़ा परिवर्तन कर देना होगा और वह परिवर्तन भी हुआ लाल की जगह पीला रंग, ताकि वह हिंदुओं को मान्य हो। इसलिए उस रंग को ऊपर रख दिया गया। अब यदि यह कहा कि यह रंग हिंदुओं का है और यह मुसलमानों का है, तब तो बड़ी गड़बड़ हो जाएगी। इसलिए परिवर्तन किया गया और कहा गया कि एक रंग शूरता का, एक सत्य का और एक अहिंसा का, इस प्रकार रंगों के अनुसार एक नया रूप देकर वह ध्वज हमारे सामने रखा गया।

यह ध्वज जो पिछले बीस-बाईस वर्षों से हमारे सामने आ रहा है। क्या यह वास्तव में हमारी राष्ट्र भावनाओं का द्योतक हो सकता है? यह सत्य है कि किसी वस्तु को लेकर किए हुए त्याग का मूल्य होता है। उन भावनाओं का मूल्य मानना चाहिए, परंतु यदि तराजू के पलड़े में एक ओर बीस वर्ष की भावनाएँ तथा दूसरी ओर एक हज़ार वर्ष की भावनाएँ रखकर तौली जाएँ तो कौन सी भारी बैठेगी? एक ओर बीस-बाईस के जेल और कारागार और दूसरी ओर युग-युग से इस ध्वज को लेकर अपने जीवन की रक्षार्थ युद्ध आदि में जो बलिदान हुए, उन दोनों में हम तुलना करें कि कौन अधिक है? जौहर की वे ज्वालाएँ तथा केसरिया बाना पहनकर लड़ते-लड़ते अपने जीवन की बलि दे देते थे। केसरिया साड़ी पहनकर उसी रंग की उठती हुई ज्वालाओं के अंदर रानियों ने स्वयं को होम कर दिया। वह त्याग अधिक है या यह? इसकी हम तुलना करें। जिस ध्वज को देखकर हमारा वैभवकाल सामने आता है, वह ध्वज हमको अधिक स्फूर्ति प्रदान कर सकता है। जिस ध्वज को देखकर केवल परतंत्रता का जीवन याद आता है, क्या उससे अधिक स्फूर्ति मिल सकती है, किस ध्वज से अधिक स्फूर्ति मिलेगी? जिस ध्वज को देखकर संपूर्ण राष्ट्र जीवन हमारे सामने आ जाता है, जो जीवन के अक्षय स्रोत के समान, मानो गंगोत्तरी से गंगाजी को प्रगट करने वाले ध्वज से हमको अधिक स्फूर्ति मिलेगी या उस ध्वज से, जो केवल थोड़े दिनों में परतंत्रता के काल में निर्मित हुआ।

---

6. झंडा कमेटी की नियुक्ति 2 अप्रैल, 1931 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कराची बैठक में हुई। सात सदस्यों वाली इस कमेटी के संयोजक डॉ. बी. पट्टाभिसीतारमय्या थे और जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, अबुल कलाम आज़ाद, तारा सिंह, एन.एस. हार्डिकर और डी.बी. कालेलकर भी कमेटी में शामिल थे। 31 जुलाई, 1931 को इस कमेटी को अपनी रिपोर्ट पेश करनी थी। इस कमेटी ने भगवा रंग की सतह वाले झंडे में बाईं ओर ऊपरी चौथाई हिस्से में नीले रंग का लघु चरखा रखने का सुझाव दिया; लेकिन इस झंडे को कभी प्रयोग में नहीं लिया गया।

जो भी विचारशील व्यक्ति है, वह यही निर्णय करेगा कि अनादि काल से चला आने वाला यही ध्वज हमारा ध्वज है। यही हमें स्फूर्ति देगा। वैज्ञानिक दृष्टि से यही हमारा ध्वज है, विज्ञान जिसका पोषक है। ऐतिहासिक गवेषणाएँ जिसकी पुष्टि कर रही हैं, वही हमारा ध्वज है, यह सिद्ध होता है। इसे देखते सारे जीवन की याद हमारे सामने आ जाती है। जिस ध्वज को देखकर हमारे जीवन की आकांक्षाएँ मूर्तिमंत हो जाती हैं। जिसको देखकर अत्यंत आत्म-बलिदान जाग्रत् हो जाते हैं। विश्व में हमने जो एक गुरु का स्थान प्राप्त किया था, वह गुरु-स्थान हमारे सामने आ जाता है। जिसे देखकर रेशे-रेशे से त्याग और आत्माहुति दिखाई देती है। उसका जो छोटे-से-छोटा कण है, वह दिखाई देता है। इस प्रकार कोई दूसरा हमारा राष्ट्रध्वज होगा, इसकी कल्पना भी हम क्यों करें? यह हमारा राष्ट्रध्वज हमारे जीवन का ध्वज हो सकता है। इसी ध्वज के सामने हम नतमस्तक होंगे। इसी के सामने अपनी कृतज्ञता प्रगट करेंगे। इसी ध्वज से हमें स्फूर्ति प्राप्त होती है। इसके संदेश को सुनकर जीवन को बिताने का प्रयत्न करेंगे। इसका संदेश तो मैंने पहले ही बताया था कि अपनी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और पारलौकिक उन्नति की प्राप्ति के लिए ऊपर बढ़ते जाना और जितनी भी बाधाएँ आएँ, उन सबको नष्ट करके विजय प्राप्त करना—यही इस ध्वज का संदेश है। उस संदेश को हम सुनें और पहचानें।

त्याग हमारे इस ध्वज का संदेश है। निस्स्वार्थवृत्ति और निरहंकार भावना अपने जीवन में लाते हुए हम अपने जीवन में परिवर्तन करेंगे, उसको समझेंगे और जिस प्रकार हमने अपने इस ध्वज को पहले गौरव के स्थान पर आसीन किया, वह स्थान उसे फिर से प्राप्त कराएँगे। इसको स्थान प्राप्त होने का अर्थ है कि हमको स्थान प्राप्त होगा। हम इसकी रक्षा करें, यह हमारी रक्षा करेगा। हम इसके लिए जीवन दें, यह हमको स्फूर्ति प्रदान करेगा।

जैसे 'धर्मो रक्षति रक्षितः' कहा गया है, वैसे ही 'ध्वजो रक्षति रक्षितः' कहना चाहिए। यह प्रण हम लें, जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने इस ध्वज की रक्षा के लिए अपने सर्व प्रकार के सुखों को तिलांजलि दे दी। अनेक कष्ट सहन किए, पर अपने स्वाभिमान को नहीं बेचा। धर्म को तिलांजलि नहीं दी, अपनी आत्मा को नहीं बेचा। इस प्रकार कष्ट सहन करके, सुख छोड़कर और आकांक्षाओं का त्याग करते हुए हम केवल एक महान् आकांक्षा अपने सामने रखें और वह आकांक्षा ही इस ध्वज को उच्च गुरु-स्थान प्राप्त करा देगी। वह स्थान हम ध्वज को प्राप्त करा देंगे, यह ही हमारा गुरु है। यह विश्व का भी गुरु बनकर रहेगा।

—जून 6, 1947

□

7

भारतीय राष्ट्र धारा का पुण्य प्रवाह*

(बुद्ध से शंकराचार्य तक)

सन् 1945-1951 तक दीनदयालजी उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह-प्रांत प्रचारक रहे। 1945 में ही उन्होंने 'राष्ट्रधर्म' मासिक व साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' प्रारंभ किया। बाद में 'स्वदेश' दैनिक भी निकला, लेकिन संभवतः अब उसकी एक भी प्रति कहीं उपलब्ध नहीं है। हालाँकि इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रत्यक्ष संपादक दीनदयालजी कभी नहीं रहे, लेकिन वास्तविक संचालन, संपादन और आवश्यकता होने पर इनके 'कंपोजिटर' व 'मशीन मैन' सबकुछ वे ही थे। उनके तत्कालीन चिंतन को जानने के दो ही स्रोत हैं 'पाञ्चजन्य' व 'राष्ट्रधर्म'। 'राष्ट्रधर्म' के प्रथम अंक में उनका यह आलेख प्रकाशित हुआ, जो 1962 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र चिंतन' में भी संकलित है।

हमारे राष्ट्र-जीवन का भागीरथी प्रवाह आदि काल से चला आ रहा है। पुण्यसलिला गंगा का वैसे तो एक-एक जलकण पवित्र है तथा उसमें किसी भी स्थान का अवगाहन मुक्तिप्रद है तथापि कुछ स्थानों को विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया है। हिमाचल की गोद को छोड़कर भारतभूमि पर ललकते हुए घुटनों चलने वाली गंगा हरिद्वार में अपना निराला ही महत्त्व रखती है। यमुना जब काला-काला कालकूट लाकर शिवस्वामिनी को देती है, तो वह शिव की ही भाँति सहर्ष जहाँ उसका पान कर जाती है, वह प्रयाग तो तीर्थराज ही हो गया है।

---

* देखें, परिशिष्ट-I, पृष्ठ 311।

इसी भाँति भारतीय राष्ट्रत्व के प्रवाह का कण-कण पवित्र है। किसी भी स्थान अथवा काल का विचार चित्त को निर्मल करके राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण कर देता है। किंतु जिस काल में तीर्थ स्वरूप महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है, उसका महत्त्व हमारे जातीय जीवन में और भी अधिक है। तीर्थों का महत्त्व चाहे गंगा के तट पर अवस्थित होने के कारण ही क्यों न हो, वहाँ की यात्रा प्रत्येक भक्त के जीवन की अभिलाषा रहती है। यह महापुरुषों के जीवन, यश की स्मृति, जनसाधारण के चित्त पर उनका प्रभाव और जातीय चरित्र गठन में उनके द्वारा प्रवर्तित आदर्शों की अनुप्राणना राष्ट्र के लिए अमूल्य संपत्ति और शक्ति का झरना है। उनका चिंतन, विचार और आलोचना जाति में नित्य नवीन उद्दीपन, उत्साह और सजीवता उत्पन्न करती है। इन पुण्य स्थलों पर जीवनदायिनी जातीय जाह्नवी में अवगाहन को किसका मन नहीं चाहेगा?

और फिर श्रीमच्छंकराचार्य की स्थिति तो तीर्थराज प्रयाग के समान है, यदि वहाँ भक्तों की भीड़ लग जाए तो कौन आश्चर्य? हमारे राष्ट्र निर्माताओं में श्रीमच्छंकराचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है। कई विद्वानों ने तो उनको आधुनिक हिंदू धर्म का जनक ही कहा है। मंदिर में मूर्ति की स्थापना और प्राण प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य को ही यद्यपि कई बार मंदिर का निर्माता कहा जाता है तो भी अपनी छैनी और हथौड़े की एक-एक चोट से मूर्ति को स्वरूप देने वाले शिल्पी तथा मंदिर को बनाने वाले अनेकानेक राजगीरों और कारीगरों को भी नहीं भुलाया जा सकता।

उस संपूर्ण जन-समुदाय के परिश्रम को भुलाना कृतघ्नता ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन के विधायक नियमों की अनभिज्ञता भी प्रकट करना है। राष्ट्र का जीवन एक दिन में अथवा दो-चार वर्षों में नहीं बना-बिगड़ा करता और न कोई महापुरुष ही राष्ट्र-जीवन के संस्कारों से पूर्णतः निर्लिप्त होकर अपनी मानसिक, आध्यात्मिक अथवा शारीरिक शक्तियों का विकास करके राष्ट्र जीवन का निर्माण कर सकता है। महापुरुष तो जातीय साधना के विग्रह स्वरूप हैं। वे तो समाज में वर्षों से होने वाली विचार-क्रांति का इष्ट फल होते हैं। उनकी अलौकिक शक्ति और ऐश्वर्य, सर्वमुखी प्रतिभा, अखंड कर्ममय जीवन तथा सर्वव्यापी प्रभाव को देखकर हमारी आँखें इतनी चौंधिया जाती हैं कि हम उस महापुरुष को उत्पन्न करने वाली जीवनधारा को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। जिस समाज में वह उत्पन्न होता है, उसका कुछ विचार ही नहीं करते।

ज्वालामुखी के विस्फोट को देखकर धीरे-धीरे रिसते हुए पानी की ओर ध्यान नहीं जाता। प्रस्फुटित पुष्प के सौरभ में वृक्ष का विस्मरण हो जाता है। शायद इस वृत्ति की ओट में हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ ही छिपा हो, क्योंकि किसी महापुरुष को समाज का पूर्णतः बनाने-बिगाड़ने वाला मानकर स्वयं समाज कार्य की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते

हैं। वास्तव में तो महापुरुष व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को अनुप्राणित करता हुआ कार्य की जो शक्ति और प्रेरणा देता है, वह स्वयं समाज के सामूहिक प्रयत्नों से पहले ही ग्रहण कर चुका होता है। जातीय प्राणों की यही आभ्यंतरिक जीवन साधना धारा का स्वरूप भिन्न-भिन्न युगों में विशेष महापुरुषों की साधना और सिद्धि के द्वारा युगोचित आकार और वेशभूषा से सुसज्जित होकर प्रकट होता है। अत: किसी भी महापुरुष को समझने के पूर्व जातीय जीवन की इस साधना के स्वरूप को समझना आवश्यक होगा। युगपुरुष श्रीमच्छंकराचार्य का महत्त्व भी उस युग की प्रवृत्तियों का ज्ञान करके ही समझा जा सकेगा।

जनसाधारण स्वामी शंकराचार्य को बौद्ध धर्म के विनाशक तथा हिंदू धर्म के संस्थापक के रूप में देखता है, तो कई विद्वानों को उनमें 'प्रच्छन्न बौद्ध' दृष्टिगोचर होता है। सत्यांश दोनों ही चित्रों के पीछे है, क्योंकि उनके युग की संपूर्ण सहस्राब्दी का इतिहास केंद्रापगामी बौद्ध धर्म तथा केंद्राभिमुखी हिंदू धर्म के पारस्परिक संघर्ष तथा समन्वय का इतिहास है। अत: हमको बौद्ध धर्म के जन्म से लेकर स्वामी शंकराचार्य के काल तक बौद्ध धर्म के विकास और प्रवृत्तियों का, साथ-ही-साथ हिंदू धर्म की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करना होगा।

जिस समय महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ, उस समय वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध विद्रोह का सूत्रपात हो चुका था। कर्मकांड इतना बढ़ गया था कि लोग अपने हृदय की सद्वृत्तियों के विकास के स्थान पर केवल यज्ञ-यागादि को ही महत्त्व देते थे। आत्मा की उन्नति के स्थान पर बाह्योपचारों एवं कर्मकांड की ओर ही ध्यान था तथा विश्वास था कि इसी के सहारे हमको स्वर्ग प्राप्त हो जाएगा। परिणामस्वरूप स्वर्णपात्र में विष भरा जाने लगा। बाह्यत: धार्मिक पंडितों के मन में भी जघन्य वृत्तियों का समावेश होने लगा। दया, शांति, अक्रोध और अहिंसा का स्थान क्रूरता, क्रोध और हिंसा ने ले लिया। क्षमा कायरता का चिह्न समझी जाने लगी। सामाजिक विभेद बढ़ने लगे; एक वर्ण दूसरे वर्ण से द्वेष करने लगा। त्यागहीन, वृत्तिहीन तथा पतित विचारों से पूर्ण ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता का दावा करते थे और समाज का नेतृत्व अपनी बपौती समझ बैठे थे। उधर क्षत्रिय ढोल में पोल देखकर उनका उच्च स्वर सुनकर उसकी प्रभुता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। फलत: चारों ओर घृणा और द्वेष का साम्राज्य था। आत्म-प्रवंचना का सबसे ऊपर अधिकार था। समाज की जब ऐसी स्थिति रहती है, तब उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है। ऐसे समय में शरीर के मोटापे को दूर करके उसकी जीवन-शक्ति बढ़ानी पड़ती है। महात्मा बुद्ध के पूर्व ही यह विचारों में क्षोभ पैदा हो चुका था। उपनिषदों में विद्रोह का क्षीण स्वर सुनाई देता है। किंतु भागवत धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के रूप में यह विद्रोह हमको स्पष्ट और निश्चित स्वरूप धारण किए हुए मिलता है।

भागवत धर्म का विद्रोह हलका था। उसने विद्रोह की लहर तथा भावना के आवेश में आकर जो कुछ सामने आया उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। रोग के साथ रोगी के प्राण लेने पर उतारू नहीं हुआ। उसने कर्मकांड का विरोध किया, समाज व्यवस्था में रूढ़िवाद का विरोध किया, किंतु अपनी पूर्व परंपराओं, धर्मग्रंथों तथा समाज व्यवस्था के आधार को किसी भी प्रकार का धक्का नहीं लगाया। भागवतधर्मी भगवान् कृष्ण ने जहाँ वैदिक इंद्र आदि देवताओं की पूजा-अर्चना बंद करके गोवर्धन पूजा की पद्धति चलाई, वहाँ वेदों तथा वैदिक व्यवस्था के प्रति पूर्ण आदर की भावना भी दिखाई है। जीवन में यज्ञ-यागादि का विरोध करते हुए भी युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया तथा स्वयं उसमें प्रमुख स्थान ग्रहण किया। भागवत धर्म का विरोध बुराई से था, न कि संपूर्ण व्यवस्था से। किंतु बौद्ध धर्म का विरोध यहाँ तक सीमित नहीं रहा। गेहूँ में कुछ कंकड़ दिखने पर उन्होंने सबका सब अनाज ही फेंक दिया। कर्मकांड में हिंसा देखकर उन्होंने केवल कर्मकांड का ही विरोध नहीं किया अपितु वेद और ब्राह्मणों को ही सब पापों की जड़ समझकर उनकी सत्ता ही निर्मूल कर दी। प्राचीन चली आने वाली पद्धतियों को पूर्णतः त्याग दिया। उन्होंने अपना प्रचार संस्कृत के स्थान पर पालि में किया। वर्ण-व्यवस्था को ठुकरा दिया तथा इस प्रकार वैदिक परंपरा तथा व्यवस्था से अपने संबंध का पूर्णतः विच्छेद कर लिया।

वैदिक धर्म में परिवर्तन तो सदैव ही होते आए हैं। यह धर्म तो गतिशील है, गंगा के समान चैतन्ययुक्त है, जीवित है; जोहड़ के जल के समान स्थिर, जड़ एवं मृत नहीं। धर्म में सदैव ही नवीन विचारों का आगमन होता रहा है, किंतु प्रत्येक नवीन परिवर्तन प्राचीन से संबंधित रहा। प्रत्येक नवीन आंदोलनकारी ने अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा का भाव रखा। प्रत्येक नवीन सुधारक अपनी प्राचीन परंपरा को मानने वाले रहे, अपने पूर्वजों तथा अपनी कृतियों का सम्मान करते रहे तथा समय के साथ नवीन विचारों के प्रवर्तक भी बने। मूल से संबंध होने के कारण उनके नवीन विचारों से राष्ट्र-जीवन को किसी भी प्रकार का धक्का नहीं लगा। हाँ, उसमें विकास अवश्य होता रहा।

अनादि काल से चली आई राष्ट्रीय परंपरा को तोड़ने का प्रयत्न अभी तक किसी ने नहीं किया था। किंतु महात्मा बुद्ध ने और उनसे भी अधिक उनके अनुयायियों ने अपनी प्राचीन परंपरा से बिल्कुल संबंध विच्छेद ही कर लिया। अनंत ज्ञान के आगार वेदों से अपने मत की पुष्टि करने के स्थान पर उन्होंने वेदों को अपनी धार्मिक व्यवस्था में कोई स्थान ही नहीं दिया। ईश्वर तथा वेदों के प्रति महात्मा बुद्ध का यह उदासीनता का भाव उनके अनुयायियों में विरोध के रूप में परिवर्तित हो गया। यहाँ तक कि हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म एक-दूसरे के विरोधी हो गए।

धरती पर वृक्ष लगाकर उसके अंदर से पोषण तत्त्व प्राप्त करते हुए वृक्ष बढ़े, इसके

स्थान पर उन्होंने अलग गमले में वृक्ष लगाया। गमले लगा वृक्ष होने के कारण जहाँ यह सुविधा थी कि इसको देशांतर में चाहे जहाँ ले जाओ, वहाँ इसकी वृद्धि भी रुक गई। घास के समान व्यापक होकर भी यह वटवृक्ष के समान विशाल न हो पाया। भारत की संपूर्ण परंपराओं तथा वैदिक धर्म एवं भागवत धर्म का संबंध भारत की भूमि, पर्वत, नदी और वन आदि से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। बौद्ध धर्म ने जहाँ प्राचीन परंपराओं का विनाश किया, वहाँ इन परंपराओं की आधार-भूमि तथा उन परंपराओं को मानने वाले पूर्वजों से भी अपना संबंध तोड़ लिया। उनसे पूर्व के महर्षि, राम और कृष्ण का उनके जीवन में कोई महत्त्व नहीं रह गया। अपने पूर्वजों के संबंध में जिनके मन में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया हो तथा अपनी भूमि के संबंध में जहाँ कोई महत्त्व न रह गया हो, वहाँ अराष्ट्रीय भावों का उद्‌गम स्वाभाविक ही है। अपनेपन का यह अभाव लेकर जब बौद्ध धर्म देश-देशांतर गया, तो जहाँ एक ओर उनको उसने ज्ञान की शिक्षा दी, वहाँ उनकी भी बहुत सी बातें अपनाईं। इतना ही नहीं, वह धीरे-धीरे अपने देशवासियों की अपेक्षा धर्म-बांधवों को अपने अधिक निकट समझने लगा! विदेशी आक्रमणकारियों ने भी उसकी इस अराष्ट्रीय वृत्ति का लाभ उठाया। उनमें से बहुतों ने बौद्ध धर्म को अपनाया तथा बौद्धों ने भी देश की स्वतंत्रता का अपहरण करने वाले इन धर्मबंधुओं को अपनाया, बौद्ध धर्म उस समय राष्ट्रीयता के उच्च तल से पतित हो चुका था और उसने अहिंदू स्वरूप धारण कर लिया था।

ऐसी दशा में बौद्ध धर्म का उन्मूलन एक राष्ट्रीय कर्तव्य हो गया। एक के बाद एक महापुरुष उत्पन्न हुए और भारत से इस अराष्ट्रीय प्रकृति को नष्ट करने के लिए जुट पड़े। इनमें कुमारिल भट्ट और शंकर का नाम तो सभी जानते हैं। परंतु इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे संत-महंत, ऋषि-महर्षि हुए, जिन्होंने इस राष्ट्रकार्य में हाथ बँटाया। आज चाहे हम उनके नामों को न जानते हों, उनका गुणगान न करते हों, परंतु हमारे हृदय की राष्ट्रभक्ति की भावना अनजान में चुपके से उन पर श्रद्धा के दो फूल अवश्य चढ़ा देती है। उन्मूलन के इन प्रयत्नों से हमारी भी जो विशेषता रही है, वह है हमारी भावात्मक कल्पना तथा रचनात्मक कार्यक्रम की योजना। हमारे महापुरुषों ने प्रतिक्रियात्मक अथवा विरोधात्मक एवं विनाशात्मक दृष्टिकोण लेकर बौद्ध धर्म का उच्छेद नहीं किया। यदि ऐसा किया होता तो न उन्हें सफलता ही मिलती और न भारत के वांछित जीवन की ही सृष्टि होती। विनाशात्मक भावना के कार्य करने पर राष्ट्र के गतिमय जीवन में स्तब्धता तथा अभाव की सृष्टि होती और जीवन में एक शून्यता का आविर्भाव होता, जो कि मृत्यु की जननी होती। इसके स्थान पर अपने रचनात्मक कार्यक्रम के कारण उन्होंने अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का विनाश ही नहीं किया, अपितु उसका स्थान भी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों ने ले लिया।

इसीलिए इस युग में हमको बौद्ध धर्म को नष्ट करने के इतने प्रयत्न नहीं दिखाई देते, जितने कि अपने परंपरा प्राप्त राष्ट्रीय वैदिक धर्म को पुष्ट और व्यापक करने के दिखाई देते हैं। राष्ट्रीयता के प्रखर प्रकाश को चतुर्दिक् प्रसूत करने के प्रयत्न हुए, बस अराष्ट्रवृत्ति का अंधकार स्वयमेव विलीन हो गया। इस ज्वाला के प्रकाश को प्रखरतम बनाने के लिए साधु-संन्यासी, कवि-कलाकार, पुराणकार सूत, स्मृतिकार मुनि, दर्शनों के जन्मदाता ऋषि-महर्षि, भक्ति की सौंदर्यमयी सरसधारा प्रवाहित करने वाले संत-महंत, पुनः अश्वमेध करके भारत में चातुरंत साम्राज्य निर्माण करने वाले दिग्विजयी सम्राट्, भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता को राजनीति के कलेवर से पुष्ट करने वाले राजनीतिज्ञ, नीतिकार, शिल्पी और वाणिज्य व्यवसायी सबमें मानो एक होड़ लग गई थी। सबके सब अहमहमिका वृत्ति से आगे दौड़ पड़ते और राष्ट्र की इस वृद्धिंगत शक्ति को जीवन-सर्वस्व अर्पित करने के लिए लालायित दिखाई देते हैं। यह राष्ट्रीयता की भावना केवल थोड़े से तत्त्वज्ञ एवं विचारवान लोगों तक ही सीमित नहीं थी, अपितु संपूर्ण जनसाधारण इस भावना से ओत-प्रोत दिखाई देता था और इसीलिए इस युग में हमको एक अपूर्व कर्म-चेतना भी दृष्टिगोचर होती है।

यह व्यापक कर्म-चेतना महात्मा बुद्ध से लेकर स्वामी शंकराचार्य के संपूर्ण युग में पाई जाती है। एक ओर तो महात्मा बुद्ध ने सोई हुई जनता को जगाकर जो असाधारण विचारक्रांति उत्पन्न की, उसके परिणामस्वरूप तथा दूसरी ओर वैदिक धर्म के संघर्ष और समन्वय के परिणामस्वरूप उस युग में जैसी कर्म-चेतना जाग्रत् हुई, वैसी व्यापक प्रभाव करने वाली कर्मचेतना राष्ट्रों के जीवन में यदा-कदा ही मिलती है। उस युग का जीवन स्थिर एवं गतिहीन नहीं है अपितु वह सतत गतिशील है, उसमें जीवन की प्रेरक शक्ति कार्य करती हुई दिखाई देती है। उस समय प्रत्येक के लिए द्वार खुला था और विस्तीर्ण कार्य क्षेत्र सामने पड़ा था। बाँध टूट जाने पर जैसे पानी चारों ओर फैल जाता है, वैसे ही भारतीय चारों ओर बढ़ने लगे। प्रत्येक क्षेत्र में विकास की चरम सीमा को चूमने की महती आकांक्षा जाग्रत् हो गई। वर्षों की प्यासी भूमि जैसे वर्षा होते ही चारों ओर हरी-भरी दिखाई देने लगती है, वैसे ही जनसमाज की अतृप्त आत्मा भी तृप्त होकर अनेक धाराओं में फूट पड़ी।

धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में हम लोग आगे बढ़े। साहित्य और कला दोनों में ही वह धारा फूट पड़ी कि संपूर्ण भारत को आप्लावित कर दिया। इसी काल में मनुष्य मात्र को दुःखों से निवृत्ति पाने का सत्यमार्ग बताने की अमिट चाह लेकर हमारे धर्म-प्रचारक देश-विदेश में फैल गए तथा दुनिया के दूर से दूर कोने में भी भारत की विजय-पताका फहराई। जावा, सुमात्रा, बाली, स्याम, हिंदचीन, चीन, जापान, बलख, बुखारा, मिस्र, यूनान और रोम, चारों ओर ज्ञानदीप लेकर अज्ञानांधकार

को नष्ट करते हुए मनुष्य के हृदय में आशा की ज्योति जगाई। एक ओर जहाँ यह सांस्कृतिक साम्राज्य विस्तीर्ण हो रहा था, दूसरी ओर हमारे दिग्विजयी सम्राटों ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए। समुद्र के पार जाकर अपने उपनिवेश बसाए तथा वृहत्तर भारत की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक कल्पना को स्थूल आधिभौतिक स्वरूप प्रदान किया। हमारे व्यापारियों ने दूर-दूर देशों से व्यापार करके भारत को स्वर्ण से पाट दिया। भारत की श्री और वैभव का, सुख और शांति का वह युग था। इतिहासकार इस युग को 'भारत का स्वर्ण-युग' कहते हैं।

हम इस काल को भारत का स्वर्ण-युग उस समय के बड़े-बड़े साम्राज्य, अपार धनराशि, अतुल वैभव, मनोरम कला तथा उच्च साहित्य के कारण नहीं कहते। आज उनमें से कुछ भी हमारे पास नहीं है। बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गए, वह अपार धनराशि ढह गई, वैभव विलीन हो गया तथा कला और साहित्य कुछ विद्वानों की खोज एवं मनोरंजन की सामग्री मात्र रह गई है। उस युग की अक्षय देन तो है हमारी एक राष्ट्रीयता की भावना, भारत के एकत्व तथा अखंडत्व की कल्पना एवं उस भावना को मूर्त स्वरूप देने वाली संस्थाओं की स्थापना और उसके चिरंतन बनाए रखने वाले संस्कारों की योजना।

वैसे तो हमारी राष्ट्र की कल्पना वैदिक काल से चली आ रही है और जब अंतः प्रकृति का बाह्य प्रकृति पर प्रक्षेप करते हुए अपने हृदय की अव्यक्त श्रद्धा को व्यक्त करने के लिए ऋषि गा उठता है—

इमे मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिकन्या मरुदवृधे वितस्तयार्जीकीये श्रुणुह्या सुषोमया॥

(ऋग्वेद, मंडल 10/75/5)

तब उस राष्ट्रभक्ति की कल्पना को एक स्थूल स्वरूप मिल जाता है; राष्ट्र की आत्मा का आधार स्वरूप मातृभूमि का चित्र आँखों के सम्मुख आ जाता है। बौद्ध धर्म के प्रसार के इस राष्ट्रत्व की कल्पना को एक ठेस लगी। ऐसा मालूम होता था कि हिंदू धर्म तथा हिंदू राष्ट्र नष्ट हो जाएगा। किंतु पाताल तक जड़ें पहुँचने के कारण अक्षयवट जिस भाँति बार-बार काटने पर भी हरा हो उठता है, उसी भाँति वैदिक धर्म के वटवृक्ष को भी कई बार काटकर फेंका गया, किंतु यह फिर हरा हो गया, क्योंकि इसकी जड़ें भारतवर्ष की भूमि में गहरी जमी हुई हैं; कितनी गहरी, यह आज तक कोई पता नहीं लगा पाया है।

बीच में बाँध लगाने से गंगा का प्रवाह रुक नहीं सकता, क्योंकि गंगोत्तरी से तो सतत धारा बहती ही रहती है। बड़े से बड़ा बाँध बाँधने पर मालूम होगा कि मानो

पुण्यसलिला भागीरथी को रोक दिया गया है, अब वह सागर तक नहीं पहुँच पाएगी, किंतु थोड़े ही दिनों में भूल मालूम हो जाती है। अनंत स्रोतस्विनी जाह्नवी बाँध को भी नष्ट-भ्रष्ट करती हुई आगे बढ़ती जाती है; अपना मार्ग पूर्ण करके ही रहती है और गंगा के स्रोत कहाँ और कितने हैं, यह आज तक कोई पता नहीं लगा पाया है। बस उसी भाँति हिंदू धर्म तथा हिंदू राष्ट्रत्व की प्रगति को भी कई बार रोकने का प्रयत्न किया गया, परंतु हर बार यह रोकने वालों को ही लेकर आगे बढ़ा है। जैसे कि गंगा बाँध को नष्ट करके भी अपने अंक में तो आश्रय देती ही है, उसके बहुत से पत्थर भी थोड़े दिनों में पापनाशिनी के जलकणों से टकराते-टकराते अपना नुकीलापन नष्ट करके शालिग्राम के रूप में पूजा के भाजन बन जाते हैं, बस उसी भाँति हिंदू धर्म ने भी इसका मार्ग अवरुद्ध करने वालों को गोद में उठाया और अंक में लेकर आगे बढ़ा।

यह ऐसा कर सका, क्योंकि इसमें उस समय इतनी शक्ति थी, जिसके कारण कि स्वयं ही नहीं, दूसरों को भी अपने साथ ले चलने में समर्थ हुआ। साथ चलने वालों ने भी इसकी शक्ति तथा उदारता और स्नेह देखकर अपना हठ छोड़ दिया, बैर त्याग दिया तथा इसका स्नेह-भाजन बनने में ही अपना कल्याण समझा। इसने भी उनको छाती से लगाया, इतना कि वे इसके अंग ही बन गए, इसके हृदय-सिंहासन पर भी एक ओर स्थान पा सके। स्वामी शंकराचार्य हैं हिंदू धर्म की इसी समन्वयात्मक वृत्ति के ज्वलंत उदाहरण; हज़ार वर्ष पूर्व काटे गए किंतु उसी समय से सतत बढ़ते हुए वैदिक धर्म रूपी अक्षयवट के पुण्यफल!

बुद्ध भगवान् ने जब वैदिक धर्म के प्रति विद्रोह का सूत्रपात किया तो वैदिक धर्म शांत चित्त से बैठा नहीं रहा। उसने समय की गति को पहचाना और साथ ही इस विद्रोह से देश को होने वाली हानियों को भी पहचाना। अतः वैदिक मनीषियों के सम्मुख प्रश्न था कि वैदिक धर्म को सब प्रकार से सुदृढ और युगानुकूल कैसे बनाएँ? उन्होंने विद्रोह के कारणों को समझा तथा उनको दूर भी किया। इतना ही नहीं, बौद्ध धर्म की समस्त अच्छाइयों को भी उन्होंने अपना लिया। यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य ने तो भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार ही घोषित कर दिया। हिंदू धर्म अब केवल कुछ गिने-चुने कर्मकांडी विद्वानों की चीज नहीं रह गया था अपितु वह जनसाधारण की अपनी चीज हो गया था। इन सब परिवर्तनों के कारण बौद्ध धर्म भारत में अनावश्यक हो गया। जो भक्तिभाव और नैतिकता लोगों को बौद्ध धर्म में मिलती थी, वही सब अब हिंदू धर्म में थी; बल्कि यहाँ उससे कुछ अधिक भी था।

यहाँ थी अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा, अपनी मातृभूमि की ममता, अपने स्वाभिमान की भावना, अपने राष्ट्रीय जीवन को बनाए रखने की महत्त्वाकांक्षा। स्वामी शंकराचार्य के काल तक बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म इतने निकट आ गए थे कि उनके भगवान् बुद्ध को

अवतार मानने तथा वेदांत की स्थापना करने पर जो कि बौद्धों को अपने शून्यवाद से मिलता-जुलता ही प्रतीत हुआ, बौद्ध धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व अनावश्यक हो गया और वह हिंदू धर्म में मिल गया। यह ऐक्य, उसके कारण तथा प्रयत्नों के इतिहास का विवेचन हमारे राष्ट्रीय जीवन की विशेषताओं को स्पष्ट कर देता है। जीवन तत्त्वों के संबंध में हमारा सदा ही आग्रह रहा है तथा उस जीवन को पूर्ण करने के साधनों को हमने युग का परिधान पहचानने में भी हिचकिचाहट नहीं की है।

वैदिक धर्म पर प्रहार होने पर सबसे पहले तो अपने सब अस्त्र-शस्त्रों को ठीक-ठाक कर सँभाला गया तथा चारों ओर मोर्चेबंदी की गई। एतदर्थ अपने धर्म को तर्क की सुदृढ नींव पर अवस्थित करने के लिए षड्दर्शनों का निर्माण हुआ। प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी पद्धति से वैदिक आदर्शों का अत्यंत तर्कशुद्ध प्रणाली से प्रतिपादन किया। बाद में हम इन छहों दर्शनों में भी एक अद्‌भुत समन्वय तथा सामंजस्य पाते हैं। जनसाधारण को आकृष्ट करने के लिए बड़े-बड़े मंदिर और मठों की स्थापना की गई; पुराण और आगमों की रचना हुई। कथा-कहानी द्वारा अपने धर्म के गूढ़ सिद्धांत जनसाधारण के सम्मुख रखे गए तथा भक्ति की जो लहर चली, उसने संपूर्ण जनता को आप्लावित कर लिया। वेदों के प्राचीनतम आदर्शों और उपदेशों को नवीन और रोचक ढंग से रखने के लिए ही पुराणों की सृष्टि हुई थी। इन पुराणों ने जैसा कि हमने देखा, प्राचीन की रक्षा करते हुए नवीन को ग्रहण किया तथा इस प्रकार विद्रोह का शमन करते हुए भी राष्ट्र की आत्मा को जीवित रखा। पुराने गार्हस्थ्य सूत्रों का स्थान स्मृतियों ने लिया तथा यज्ञ-यागादि का स्थान मंदिर और पूजा-अर्चना ने ले लिया। हिंदू धर्म का स्वरूप बदल गया, परंतु इसकी आत्मा वहीं बनी रही, क्योंकि अभी भी प्राचीन के प्रति वही श्रद्धा और आदर की भावना थी, वही प्राचीन आदर्श और जीवन की दृष्टि समाज के सम्मुख थी; हाँ, उसके साधन बदल गए थे।

राष्ट्रत्व के विकास में स्वदेश का महत्त्व सबसे अधिक होता है। अत: इस युग में स्वत: ही अपनी संपूर्ण मातृभूमि के दर्शन का प्रयत्न किया गया। किसी भी मत अथवा संप्रदाय के मानने वाले क्यों न हों उनके सम्मुख हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी तक, आसिंधु-सिंधुपर्यंत भारत का चित्र रहता था। प्रत्येक संप्रदाय के आचार्यों ने यही प्रयत्न किया कि उनके संप्रदाय के लोग संपूर्ण भारत को पवित्र मानें। इतना ही नहीं, भारत की इस एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकें, इसके लिए प्रत्येक संप्रदाय में तीर्थयात्रा की पद्धति प्रचलित हुई। ये तीर्थ तो संपूर्ण भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक बिखरे हुए हैं। सूर्य के बारह मंदिर, गाणपत्यों के अष्ट विनायक, शैवों के द्वादश ज्योतिर्लिंग, शाक्तों के इक्यावन शक्ति क्षेत्र तथा वैष्णवों के अगणित तीर्थ क्षेत्र संपूर्ण भारत में बिखरे पड़े हैं। इन विस्तृत पुण्य क्षेत्रों के होते हुए प्रांतीयता की संकुचित भावना का प्रवेश असंभव

ही था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की दक्षिण यात्रा ने उत्तर-दक्षिण का जो गठबंधन किया, वह जनसाधारण के आचार-विचार और भावना में अटूट हो गया। महाभारतकार ने इसी एकता को दिखाने के लिए एक बार नहीं, दो-दो, तीन-तीन बार भारत का एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक अत्यंत भावुकतापूर्ण वर्णन किया है। पुराणकारों ने भारत की भूमि के कण-कण की पवित्रता का गुणगान किया है।

प्रत्येक मत और संप्रदाय के सम्मुख तो संपूर्ण भारत का चित्र था ही तथा उनमें से प्रत्येक वैदिक धर्म की परंपरा की रक्षा करते हुए भारतभूमि की यशोवृद्धि का प्रयत्न कर रहा था, किंतु इस प्रकार एक ही ध्येय को लेकर कार्य करने वालों में पारस्परिक सहयोग और एकता भी आवश्यक थी। इसीलिए राष्ट्रीय भावना को और भी पुष्ट करने वाले भिन्न-भिन्न मत और संप्रदाय में समन्वय की वृत्ति का विकास भी इस युग में हुआ। इस समन्वय का बहुत कुछ श्रेय श्री स्वामी शंकराचार्य को है। इस समन्वयात्मक कार्य में भी भारत की एकता और अखंडता का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ चारों ओर एकता का ही प्रसार हुआ। ताने-बाने के समान एक भावना-सूत्र को फैलाकर मानो एक वस्त्र निर्माण किया गया। भिन्न-भिन्न संप्रदायों के तीर्थ क्षेत्र संपूर्ण भारत में ताने के समान फैले हुए थे तो उनमें चार प्रमुख तीर्थ क्षेत्रों को छाँटकर उनको सब संप्रदायों के आदर और श्रद्धा का स्थान बना दिया।

हिमाचल के हिमाच्छादित शिर पर अवस्थित बदरीनाथ की यात्रा सब प्रांतों और सब संप्रदायों के लोगों के जीवन की कामना रही है। महोदधि और रत्नाकर दोनों ही जहाँ माता के चरण प्रक्षालन करते हैं, वहाँ श्री रामेश्वरम् के दर्शन करने को जितनी श्रद्धा से शैव जाते हैं, उससे भी अधिक श्रद्धा से वैष्णव गंगोत्तरी का जल लाकर शिवलिंग पर चढ़ाते हैं। 'जगन्नाथ का भात, पूछो जात न पाँत' कहकर जिस प्रेम और श्रद्धा से जगन्नाथजी का प्रसाद पाते हैं, वह तो राष्ट्रीय संगठन के लिए संजीवनी का काम करता है। बड़े-से-बड़े शाक्त भी श्री द्वारकापुरी में जाकर अपनी श्रद्धा के रक्तकण भगवान् वासुदेव कृष्ण के चरणों में अर्पित करके अपने को धन्य समझते हैं। इसी प्रकार पुराणकारों ने जब कहा—

अयोध्या मथुरामायाकाशीकाञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावतीचैव सप्तैते मोक्षदायिका:॥

तब वे सांप्रदायिक भावना से बहुत ऊँचे उठकर राष्ट्रीय धरातल से विचार कर रहे थे। ये सातों पुरियाँ मानो भारतीय राष्ट्र के मर्मस्थल हों, उसकी सभ्यता और संस्कृति के केंद्र हों। एक-एक के साथ अतीत की इतनी घटनाओं का संबंध है कि उनकी स्मृति मात्र से अपना संपूर्ण इतिहास चलचित्र की भाँति आँखों के सामने से गुजर जाता है। इतना ही नहीं, भारतभूमि में कहीं भी कोई स्थान मिला, जिसका प्राकृतिक सौंदर्य हमारी

हृद्तंत्री के तारों को झंकृत करके हमारे अंतःकरण में कोमल एवं उच्च भावों की सृष्टि करता हो अथवा जिस स्थान का संबंध हमारे पूर्व महापुरुषों, हमारे आदर्श एवं आराध्य राम और कृष्ण अथवा किसी भी महापुरुष के साथ हो, जिससे हमारे राष्ट्रीय इतिहास का घटना-चक्र हमारे मनश्चक्षु के सम्मुख खिंच जाए, बस उसी स्थान को तीर्थ का स्वरूप मिल गया। वहाँ यात्राएँ प्रारंभ हो गईं, मेले लगने लगे और ये मेले तथा यात्राएँ हमारे जीवन का अंग बन गईं।

हृदय की जो श्रद्धा आज भी लाखों-करोड़ों यात्रियों को सब प्रकार का कष्ट झेलकर माघ के ठिठुरते जाड़े में कुंभ मेले में स्नान करने को प्रेरित करती है, उसका स्रोत बहुत गहरा है। उस महात्मा का राष्ट्र कितना आभारी होगा, जिसने यह श्रद्धा निर्माण करने वाले संस्कारों की नींव डाली। ये कुंभ के मेले क्या हैं, मानो घूमते-फिरते राष्ट्रीय विद्यालय हैं, राष्ट्रीय सम्मेलन हैं, जोकि भारत में चार प्रमुख स्थानों हरिद्वार, प्रयाग, उज्जयिनी और नासिक में प्रति तीसरे वर्ष होते रहते हैं। लाखों की संख्या में साधु-संन्यासी वहाँ आते हैं और करोड़ों की संख्या में जनता एकत्र होकर उनके दर्शन और उपदेशों से अपने हृदय के कल्मष को धोकर जीवन के पावित्र्य का अनुभव करती है। जहाँ सभी संप्रदायों के लोग इस प्रकार प्रति तीसरे वर्ष एकत्र होते रहते हों, वहाँ भारत की समन्वयात्मक जलवायु में एकात्मकता का निर्माण हुए बिना रह ही नहीं सकता।

अपने दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में भी राष्ट्रीयता की भावना पुष्ट होती रही, इसके लिए दैनिक आचरण में भी राष्ट्र भावना के पोषक संस्कारों का समावेश कर दिया गया था। प्रातः उठते ही भूमि पर चरण रखते ही, अत्यंत विनीत भाव से माता को नमस्कार करता हुआ हिंदू कहता है—

समुद्रवसने देवि, पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शं क्षमस्वमे॥

वही संपूर्ण भारत का चित्र और उसके सम्मुख हृदय की संपूर्ण श्रद्धा ही मानो छलक पड़ती हो। फिर जो प्रातः स्मरण करता है, उसमें तो एक के बाद एक अपने पूर्वजों का स्मरण करता हुआ उनके समान बनने की अभिलाषा मन में करता है। उस प्रातः स्मरण में प्रांत और संप्रदाय की संकुचित भावना को स्थान नहीं है; वहाँ तो शत-प्रतिशत विशुद्ध राष्ट्रीयता की ही भावना है। स्नान और संध्या में भी राष्ट्रीयता के जनक संस्कारों का समावेश किया गया है। स्नान करते समय अथवा संकल्प के लिए जल लेकर जब हम कहते हैं—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

तब भारत की समग्र पवित्र नदियों का आह्वान कर लेते हैं। इन्हीं नदियों के समान ही सात वन, सात पर्वत और चार सरोवर को, जो कि संपूर्ण भारत में फैले हुए हैं, उन्हें हमने अपने जीवन में महत्त्व का स्थान दिया है।

सब संप्रदाय के लोगों में एकता स्थापित करने के लिए ही हमारे यहाँ त्रिमूर्ति की कल्पना की गई, जिसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही परब्रह्म के भिन्न स्वरूप हैं। शैव और वैष्णव में किसी भी प्रकार का विरोध न रहे, इसीलिए तो पुराणकारों ने शिव और विष्णु को एक-दूसरे का भक्त बना दिया। शिव यदि विष्णु की उपासना में लीन तथा विष्णु के चरण-कमल से निकली हुई गंगा को धारण किए हुए हैं तो विष्णु के अवतार राम भी बिना शिव की आराधना किए हुए तथा श्रीरामेश्वरम् के मंदिर की स्थापना किए हुए अपनी विजय यात्रा में आगे नहीं बढ़ते। अपने वरदान के कारण जब शिवजी भस्मासुर और रावण जैसे राक्षसों से संत्रस्त होते हैं तो भगवान् विष्णु ही उनकी सहायता को दौड़ते हैं। गणपति और शक्ति का तो भगवान् शिव से कौटुंबिक संबंध ही जोड़ दिया है। इस प्रकार सब संप्रदायों के आराध्य देवों को एक-दूसरे से संबंधित करके हमारे पुराणकारों ने पारस्परिक प्रेम और सौजन्यता का बीज बोया है। श्रीशंकराचार्य ने तो पंचायतन की पद्धति चलाकर इस संबंध को और भी सुदृढ कर दिया। इसके अनुसार प्रत्येक पाँचों देवताओं—विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य की पूजा करता है। इस युग की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति और सहिष्णुता की वृत्ति का ही परिणाम है कि भारतीय सदा से प्रेम और सौहार्द से रहते आए हैं।

कर्म, भक्ति और ज्ञान की तीनों धाराओं का भी समन्वय हम इस युग में पाते हैं। भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही गीता में इन तीनों का सुंदर समन्वय कर दिया था और गीता का इस युग में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था। स्वयं शंकराचार्य ने अपने जीवन में ज्ञान, कर्म और भक्ति का सुंदर समन्वय किया। उन्हीं के प्रयत्नों के कारण प्रस्थानत्रयी को मान्यता प्राप्त हो गई। प्रस्थानत्रयी को महत्त्व देकर जहाँ एक ओर उन्होंने बौद्धों के वेद-विरोधी दुराग्रह से मुक्ति पा ली, वहाँ वेदों की आत्मा को भी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के ज्ञान द्वारा जीवित रखा।

भारत की इस अखंडता और एकता को स्थूल स्वरूप देने के लिए एक के बाद एक सम्राट् हुए, जिन्होंने एकच्छत्र चातुरंत साम्राज्य स्थापित किए। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्ष और पुलकेशी तक अनेकानेक सम्राटों ने भारत की इस एकसूत्रता को बनाए रखने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं, भारत के एक जीवन को मानो संसार के सामने प्रकट करने के लिए जब-जब उत्तर में विदेशियों का आघात हुआ, तो केवल उत्तर ही नहीं, दक्षिण को भी मर्मांतक पीड़ा पहुँची। सिर पर चोट लगते ही जैसे संपूर्ण शरीर की शक्तियाँ प्रतिकार करने को उद्यत हो जाती हैं, उसी प्रकार उत्तर में शक और

हूणों के आक्रमणों का प्रतिरोध दक्षिण से आने वाले शकारि विक्रमादित्य और यशोवर्मन की शक्तियों ने किया। इस प्रकार सुख और दुःख में, जय-पराजय में और वैभव-पराभव में जो एकता और अभिन्नता प्रकट की गई, उसने हमारे राष्ट्र को एक जीवन के सूत्र में संगठित कर दिया।

हमारे साहित्यकारों ने भी राष्ट्र की इस एकात्मता को ही वाणी का परिधान पहनाकर जन-समाज के सम्मुख उपस्थित किया। रामायण और महाभारत हमारे राष्ट्र के साहित्य की अमूल्य संपत्ति बन गए। भगवान् राम और कृष्ण का चरित्र आदर्श के रूप में राष्ट्र के सामने उपस्थित हुआ। इनके जीवन में हिंदू समाज ने अपनी हृदय की भावनाओं का व्यक्तीकरण पाया। हमारे साहित्यकारों ने भी राष्ट्र की श्रद्धा के इन केंद्रों के प्रति अपनी श्रद्धा के दो फूल चढ़ाकर आत्मसुख का अनुभव किया तथा जनता की इस श्रद्धा को अमर बनाया। इस युग में कोई कवि ऐसा नहीं दिखता, जिसने राम और कृष्ण पर काव्य न लिखे हों, जिसने अपने काव्य का विषय रामायण और महाभारत में से न चुना हो। इतना ही नहीं, इन साहित्यकारों ने ही इस युग के जीवन का संबंध प्राचीन से जोड़ दिया।

जैसा कि कहा गया है, साहित्य अपने समय के समाज का दर्पण होता है, जिसमें समाज की मनोभावनाओं का ही प्रतिबिंब दिखाई देता है। अब यदि साहित्यकार अपने पात्र उस युग से न छाँटकर प्राचीन से छाँटता है तो प्राचीन और नवीन का एक अद्भुत एवं जीवनप्रद सम्मिश्रण उसके साहित्य में मिलता है। अपनी भावनाओं का प्राचीन महापुरुषों की भावनाओं से सामंजस्य अनुभव करके जनता का सुख, समाधान और शक्ति का अनुभव करती है। समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन जब कवि ने रघु की दिग्विजय के रूप में किया तो भारत की अखंडता के एक सूत्र में ग्रथित करने वाली परंपरा को कितनी शक्ति प्राप्त हुई होगी। इन साहित्यकारों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही संपूर्ण देश में वेदवाणी संस्कृत देवी भारती का समान रूप से आदर होने लगा। भारत की प्रांतीय प्राकृत भाषाएँ होते हुए भी संस्कृत हमारी राष्ट्रभाषा बनकर हमारे विचार-विनिमय, भावना-प्रदर्शन, पवित्र संस्कार तथा ज्ञान-विज्ञान के प्रकार का साधन बनी और सबने इसके कलेवर को समान रूप से पुष्ट किया।

हमारे नीतिकार और स्मृतिकारों ने भी हमारी इस एकता की भावना को बढ़ाने में बड़ी सहायता की। महर्षि चाणक्य ने जहाँ एक ओर 'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्' के प्राचीन आदर्श को सत्य-सृष्टि में परिणत करने के लिए सम्राट् चंद्रगुप्त को प्रेरित किया, वहाँ दूसरी ओर राजनीति और अर्थशास्त्र के गूढ़तम नियमों की रचना करके राष्ट्र की एकसूत्रता बनाए रखने का प्रबंध कर दिया। कौन अपना है और कौन पराया, इसका ठीक-ठाक ज्ञान भी राष्ट्रत्व की भावना के लिए पोषक होता है और फिर परायों से

विजित होकर न रहने की भावना तथा अपने जीवन को बनाए रखने का आग्रह तो इस भावना को और भी पुष्ट करता है। हम अपने नीति साहित्य में यह भावना सर्न्त्र पाते हैं।

जब महर्षि चाणक्य ने घोषणा की कि 'न त्वेवार्यस्य दास्यभाव:', तब मानो राष्ट्र का स्वाभिमान ही पुकार उठा था। दासत्व की कल्पना के पीछे राष्ट्रत्व के अस्तित्व का भान तथा दासत्व से घृणा में राष्ट्र का स्वाभिमान अंतर्निहित है। हमारी यह भावना बराबर बनी रही है कि हम स्वयं अपने स्वामी बने रहें; ईश्वरदत्त देश आर्यावर्त में हम स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें। यह एक ऐसी भावना है, जो राजनीतिक है और भौगोलिक भी। इसके अनुसार लोग आरंभ से ही यह समझते रहे हैं कि आर्यावर्त में हिंदुओं का ही राज्य होना चाहिए; इसका उल्लेख मानवधर्मशास्त्र (2, 22, 23) तक में है; और यह भावना पतंजलि के समय से; मेधातिथि (आक्रम्याक्रम्य न चिरंतत्र म्लेच्छा स्थातारो भवन्ति) और बीसलदेव तक बराबर लोगों के मन में जीवित रही है। (आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवानृ म्लेच्छविच्छेदनाभि:।) इस भावना को इस युग के तत्त्वज्ञों ने अत्यंत पुष्ट किया। मनुस्मृति ने तो संपूर्ण भारतवर्ष का वर्णन करके इसको पुण्यभूमि के नाम से अभिहित किया है तथा शेष संपूर्ण देशों को म्लेच्छ कहा है। 'भारतं नाम तद्वर्षं भारती यत्र सन्तति:' जैसे वाक्य भारत देश और उसके जनसमूह की आत्मा का ही दिग्दर्शन कराते हैं। इसी संतति का वर्णन करते हुए मनु ने कहा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन, पृथिव्यां सर्वमानवा:॥

और इस गुरु स्थान के योग्य चरित्र की महत्ता प्राप्त करने के निमित्त जब अपने नियमों की रचना की तो संपूर्ण देश ने अपने मन में महत्त्वाकांक्षा लेकर उन नियमों का एक सा पालन किया। भारत की संपूर्ण जनता ने अपने आचार-विचारों को स्मृतिकारों के मापदंड से नापा और एकता के ढाँचे में ढालने वाले इन संस्कारों को अपने जीवन में स्थान दिया। परिणामत: संपूर्ण भारत में एक रीति-नीति, एक नियम-उपनियम और एक व्यवहार की सृष्टि हुई। इन्हीं नीतिकारों ने हमारी ग्राम-पंचायतों को जन्म दिया, जिनका स्वरूप संपूर्ण भारत में एक सा था तथा जिन्होंने ऊपर के शासन में परिवर्तन होते हुए भी भारतीय आत्मा की स्वतंत्रता और एकात्मता को बनाए रखा।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र की आत्मा का सर्वांगीण विकास हुआ तथा वह अत्यंत बलवती बनी। भारतवर्ष के एक ओर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ संपूर्ण हिंदू समाज समान विचारधारा एवं समान कर्तृत्व से समन्वित होकर, जीवन की एकरसता से परिपूर्ण होकर, एक संस्कृति के आधार पर अखंड राष्ट्रीयता के पक्के रंग में रँग गया। इस युग के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही देश की जो एक राष्ट्रीयता परिपक्व रूप में प्राप्त हुई, वह पीछे के राजनीतिक पराजय के काल में भी अक्षुण्ण बनी

रही। ईसवी की सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में अरब से जो एक आँधी उठी थी, उसने यूनान, मिस्र, स्पेन और फारस आदि बड़े-बड़े राष्ट्रों को सदा के लिए उड़ा दिया, परंतु भारतवर्ष में आकर वह समुद्र तट के एक कोने से टकराकर लौट गई। इसके पश्चात् के आक्रमणकारियों को भी सारे समाज ने एकमत से अपना शत्रु माना और उनसे देश को मुक्त करने के प्रयत्न स्थान-स्थान पर चलते रहे।[1] यही नहीं, आज के युग में भी वही संस्कृति हमारे हृदय में जाग रही है। 'हिंदू' शब्द का उच्चारण करने के साथ ही एक हिंदू का दूसरे हिंदू के रक्त के बिंदु-बिंदु से मानो तादात्म्य हो जाता है। इसी अखंड राष्ट्रीयता का आज हमें पुनः आह्वान करना होगा और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक एवं सेतुबंध से हिमाचल के सारे उपांगों तक विस्तृत मातृभूमि को गौरव तथा स्वाभिमान प्राप्त कराने के लिए अपने त्यागपूर्ण एवं कर्मठ पूर्वजों के प्रयत्नों की परंपरा को अपनाना होगा।

—राष्ट्रधर्म, अंक 1, श्रावण पूर्णिमा, 2004 (अगस्त 1, 1947)

□

---

1. भारत में पहला इसलामिक आक्रमण पैगंबर मुहम्मद के निधन के केवल दो वर्ष के अंदर 634 ईसवी में हुआ। महाराष्ट्र के समुद्र तट पर यह एक नौसैनिक अभियान था, जो खलीफा उमर के शासन में हुआ। आगामी वर्षों में इसी प्रकार के अभियान गुजरात एवं सिंध के समुद्र तट और मकरान, काबुल एवं जाबुल की सीमा पर हुए। हालाँकि इन सभी अभियानों का प्रतिकार प्रभावी तरीक़े से हुआ और आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया गया। 712 ईसवी में इसलामिक आक्रमण सिंध, मुलतान और पंजाब के कुछ हिस्से पर कब्जा करने में सफल हो गया। आक्रमणकारियों ने भारत के आंतरिक भाग—ख़ासकर मालवा और गुजरात पर हमले किए। यद्यपि दिल्ली, कन्नौज, मालवा और गुजरात के भारतीय जवाबी हमलों के कारण यह प्रकरण अल्पकालीन रहा।

8

भगवान् कृष्ण

हमारे राष्ट्रजीवन पर जितना व्यापक प्रभाव भगवान् कृष्ण का पड़ा है, उतना भगवान् राम को छोड़कर और किसी का नहीं। राम और कृष्ण दोनों को ही हमने अवतार मानकर पूजा है। हमारे विद्वानों ने उनके चरित्र का अनुशीलन किया है, कवियों ने उसको गाया है तथा भक्तों ने नवधा भक्ति के विविध प्रकारों में उनकी आराधना की है। 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' की तान में जहाँ मीरा ने लोकलाज खोई है, तो सूर ने—

हाथ छुड़ाते जात हो निबल जानि कै मोय।
जब हिरदै से छूटि हौ तब जानूँगो तोय॥

से प्रारंभ कर सख्यभाव से अनेक उपालंभ देते हुए अपनी एकतान का परिचय दिया है। ज्ञानियों में श्रेष्ठ 'ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या' की घोषणा करने वाले श्रीमच्छंकराचार्य ने

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं।
पुनरपि जननी जठरे शयनम्॥

इह संसारे, खलु दुस्तारे, कृपयाऽपारे पाहि मुरारे।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते॥

(चर्पट मंजरी भक्ति स्तोत्र)

[इस अपार और निश्चय ही दुःख से तरने योग्य संसार में बार-बार जन्म लेना, बार-बार मरना और फिर माता के पेट में पड़ना लगा ही रहता है। हे मुरारी (कृष्ण)! कृपया इससे रक्षा करो। हे मंदबुद्धि (प्राणी)! गोविंद की उपासना कर।] के स्वर में

असार-संसार के एकमेव सार कृष्ण को भजने की सलाह दी है, तो

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, 2/38)

[तुम सुख या दु:ख, हानि या लाभ, विजय या पराजय का विचार किए बिना युद्ध करो। ऐसा करने पर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा] के संदेश को सुनकर अर्जुन के समान अनेक वीरों ने शत्रु सेना को छिन्न-विच्छिन्न करके अपने पराक्रम एवं अतुल कर्ममय जीवन से बड़े-बड़े साम्राज्यों की निर्मिति की ओर श्रीविभूषित हुए; ज्ञान, कर्म और भक्ति के क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कृष्ण ही हमारे आधार रहे हैं।

राष्ट्रजीवन का इतना केंद्र स्थान कोई व्यक्ति सहज ही नहीं प्राप्त कर सकता है। कुछ काल के लिए आप राष्ट्र को अपने साथ ले चल सकते हैं अथवा राष्ट्र के किसी समुदाय के लिए आप सदा के लिए स्फूर्ति का केंद्र बन सकते हैं, किंतु संपूर्ण राष्ट्र को युग-युगों तक अमित स्फूर्ति देने का सामर्थ्य गुण विशेष से ही प्राप्त हो सकता है। कोई राष्ट्र किसी भी व्यक्ति को आदर्श मानकर उसकी पूजा-अर्चना प्रारंभ नहीं कर देता। जिस व्यक्ति में अपनी आत्मा का प्रतिबिंब दिखाई देता हो, उसी की पूजा होती है। जो अपने कल्याण की भावना लेकर चलता है, उसी के प्रति श्रद्धा और प्रेम भी पैदा होता है। राष्ट्र में भी उसी का मान होता है, जो अपना जीवन राष्ट्र के लिए लगा देता हो। यदि ऐसे व्यक्ति ने राष्ट्रात्मा का साक्षात्कार कर लिया हो तब तो उसके जीवन से वह स्वरलहरी निकलती है कि संपूर्ण राष्ट्र का हृदय उस पर नाच उठता है, जो हृदय पर अधिकार कर लेता है, वह मनुष्य के सर्वस्व पर अधिकार कर लेता है। भगवान् कृष्ण उन अवतारी पुरुषों में अग्रगण्य हैं, जिन्होंने राष्ट्र के हृदय पर अधिकार करके उसको अपना बना लिया और इसलिए हमने युग-युगों से उनकी पूजा की है।

आज भी हम भगवान् कृष्ण की पूजा करते हैं। उनके जन्म पर आज भी भारतवर्ष में चारों ओर व्रत और उपवास रखा जाता है, आनंदोत्सव मनाया जाता है। कवि आज भी उनके गुणगान करने में आत्मसुख का अनुभव करता है तथा तत्त्वज्ञ उन्हीं की दुहाई देकर अपने तत्त्व का प्रतिपादन करता है। कृष्ण के नाम की रट लगाए हुए अनेक लोग कथा-कीर्तनों में झूम उठते हैं। इतना होते हुए भी राष्ट्र क्यों पतन के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है? केवल एक ही कारण है, हमने तत्त्व को छोड़कर उसके बाह्यरूप को पकड़ रखा है। भगवान् कृष्ण का नाम स्मरण करते हैं, उनका कीर्तन करते हैं, उनके अनेक गुणों की व्याख्या करते हैं, किंतु उनके जीवन के रहस्य को समझकर उस पर आचरण नहीं करते। केंद्र पर पकड़ने से ही किसी भी वस्तु का संतुलन रहता है, नहीं तो वह उल्टी-सुल्टी हो

जाती है। उसी प्रकार किसी भी राष्ट्र के केंद्र को सँभालने पर ही राष्ट्र सँभलता है, अन्यथा नहीं। राष्ट्र का केंद्र, उसका हृदय ये अवतारी महापुरुष है तथा इनके जीवन का रहस्य राष्ट्र की उन्नति का रहस्य है। उस रहस्य को छोड़कर भगवान् को भजने वाले लोग उनके भक्त नहीं अपितु कवि के अनुसार पापी हैं, क्योंकि कहा है—

अपहाय निजं कर्म, कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते तु पापा हरेर्दूष्णा धर्मार्थ जन्म पद्धरेः॥

(अपना कर्म छोड़कर कृष्ण-कृष्ण रटने वाले पापी हरि पर दोष लादते हैं, क्योंकि हरि का जन्म तो धर्म-स्थापना के लिए है।) हमारा कर्म क्या है? निश्चित ही जो भगवान् कृष्ण का कर्म था, जो कार्य हमें मिला है, उसी स्वकर्तव्य पालन में अपनी शक्ति लगाएँ, क्योंकि वे तो हमारे आदर्श हैं।

भगवान् कृष्ण यद्यपि सर्वगुण समुच्चय थे, किंतु अपने राष्ट्र का आत्यंतिक प्रेम एवं उसके लिए सबकुछ करने की तैयारी ही उनका एकमेव गुण था, जिसके चारों ओर शेष सर्वगुणमालिका गूँथी गई थी तथा जिसके कारण वे अपने जीवन में सफलता प्राप्त करके हमारे हृदय-सिंहासन पर सदा के लिए आसीन हो गए। उन्होंने अपने जीवन में अपने राष्ट्र के कल्याण के सामने अपने व्यक्तित्व की कभी भी चिंता नहीं की। राष्ट्र के लिए जीवन बिताने वाला व्यक्ति गीतोक्त :

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 2/56)

[दुःख में मन में उद्वेग न लाने वाला, सुख में (प्रसन्नता की) इच्छा से अलग रहने वाला, राग, भय और क्रोध से मुक्त, स्थिर बुद्धि वाला मुनि कहलाता है।] स्थितप्रज्ञ की व्याख्या को पूर्ण करता है। भगवान् कृष्ण इसी भाँति सुख-दुःख, भय-क्रोध, राग-द्वेष, मान-अपमान सबसे ऊपर उठ चुके थे। राष्ट्रप्रेम के आगे ये सब गौण थे। राष्ट्र के हित के लिए व्यक्तिगत जीवन की उन्होंने कभी भी चिंता नहीं की। इतना ही नहीं, समाज और नीति की मर्यादाएँ भी राष्ट्रहित में बाधक हुईं तो उनका उन्होंने उल्लंघन किया। मर्यादाएँ तो सच में राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होती हैं। राष्ट्रशक्ति को कल्याणमय स्वरूप देने के लिए ही एक धारा में प्रवाहित करने के लिए मर्यादाओं का निर्माण होता है। किंतु यदि ये मर्यादाएँ विषाक्त वस्त्रों के समान शरीर के लिए घातक हों तो उनको फाड़ फेंकना ही उपयोगी होता है। यही बात भगवान् कृष्ण के जीवन में हम देखते हैं। राष्ट्रजीवन की यह ऐकांतिकता उनके जीवन में कैसे दृष्टिगत होती है, तनिक इस पर विचार करें।

भगवान् कृष्ण का लालन-पालन गोकुल में नंद के यहाँ हुआ। नंद सब प्रकार से साधन संपन्न थे। वहाँ रहते हुए साधारणतया कृष्ण को इसकी आवश्यकता नहीं थी कि वे नित्यप्रति गौवें चराने जाते। महाभारत में जो समाज का वर्णन मिलता है, उसमें कृष्ण की स्थिति के लोगों को गौवें चराते हुए नहीं बताया है और न इस प्रकार निरक्षर ग्वाल-बालों के साथ खेलते खाते हुए। किंतु कृष्ण ने बचपन से ही मानो अहंभाव को त्याग दिया था। वे गोकुल के छोटे-से-छोटे व्यक्ति से मिलते तथा उससे प्रेम के साथ बातें करते। गोकुल के आस-पास दूर-दूर तक गौवें चराने जाते। उनके ग्वाल-बाल उनके साथ होते। इसी समय उनके ऊपर अनेक बार आपत्तियाँ आईं। गोकुल के आस-पास अनेक कंस की ही वृत्ति के, असुर वृत्ति के लोग रहते थे। कृष्ण ने उन सब असुरों को समाप्त कर मुक्त कर दिया। उनके हृदय की आसुरी वृत्ति को नष्ट किया, उनके मन में धार्मिक भावना, अपने राष्ट्र के प्रेम की भावना उत्पन्न की। क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना, जो उनको बंधनों में डाले हुई थी, उसको नष्ट करके निस्स्वार्थ प्रेम की मुक्तावस्था उत्पन्न की। उनके इस निष्कपट, सरल एवं प्रेममय व्यवहार के कारण ही गोकुल के समस्त नर-नारी उनसे प्रेम करने लगे, उनके इंगित पर अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार हो गए। इसीलिए इनके कहने पर युग-युगों से चली आई इंद्रपूजा को छोड़कर उन्होंने गोवर्धनपूजा प्रारंभ की। भगवान् कृष्ण ने प्राचीन मर्यादा को तोड़ा, नवीन मर्यादा स्थापित की। गोवर्धन-धारण उनके संगठन-कौशल्य का अपूर्व उदाहरण है।

मथुरा से उनके लिए बुलावा आया। कंस का वध करने का उपयुक्त अवसर आ गया था। जिस भूमि का एक-एक कण उनका हो गया था, उस गोकुल को छोड़कर जाना था। नंद, यशोदा, गोप, गोपियाँ, ग्वाल-बाल, गऊएँ और उनके बछड़े दारुण दुःख का अनुभव कर रहे थे। उनकी आत्मा उनको छोड़ रही थी, सारा गोकुल रो रहा था। कृष्ण में भी हृदय था, वे कोई जड़ नहीं थे, पत्थर नहीं थे, किंतु 'भावना से कर्तव्य ऊँचा है।' गोकुल के आँसुओं की धार उनका मार्ग नहीं रोक पाई। राष्ट्रीय कर्तव्य के लिए उन्होंने प्रेम की बलि दी। प्रेममय भगवान् का यह अद्‌भुत प्रेम है।

कंस को मारने में उनको किसी आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि संपूर्ण प्रजा उनके साथ थी। मथुरा में कंस के दरबार में जाने के पहले वे प्रजा के अनेक लोगों से मिले थे और निश्चित ही वे सब उनके पक्ष में हो गए थे। अपने पराक्रम से राज्य प्राप्त करके भी वे स्वयं राजा नहीं बने, उग्रसेन को राजगद्‌दी दी। हाँ, जनता की सेवा अवश्य ही करते रहे। किंतु उनका मथुरा में रहना कंस के सगे-संबंधियों, इष्टमित्रों को कैसे सहन हो सकता था। फलतः जरासंध ने मथुरा पर आक्रमण कर दिया। कृष्ण की अध्यक्षता में मथुरा वालों ने आक्रमण का करारा जवाब दिया। जरासंध अपना सा मुँह लेकर लौट गया। किंतु इससे क्या, उसने फिर आक्रमण किया। फिर पराजित हुआ किंतु

पुनः आक्रमण किया। बस यह ताँता सोलह वर्ष तक लगा रहा। कृष्ण ने विचार किया कि प्रतिवर्ष का युद्ध तो मथुरा के लिए घातक होता जा रहा है। उन्होंने यह भी सोचा कि इस युद्ध का कारण जरासंध की मथुरा से शत्रुता नहीं किंतु कृष्ण से द्वेष था। अतः उन्होंने मथुरा छोड़ने का निश्चय किया। मथुरा को बचाने के लिए वे मथुरा को असहाय छोड़कर चले गए। जरासंध जोर-शोर से आक्रमण की तैयारी करके आया। इस बार कालयवन[1] को भी अपने साथ लेता आया। दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए खड़ी थीं। युद्ध की भेरी बजने वाली थी। इतने में लोगों ने देखा कि कृष्ण युद्ध के बीच में से भागे जा रहे हैं। कृष्ण जैसा वीर युद्ध में पीठ दिखाकर भागा जा रहा था। जरासंध ने पुकार-पुकारकर कहा, ''ओ कृष्ण! इस प्रकार कहाँ भागे जा रहे हो, यह तो कायरता है।'' सच में रण छोड़कर भागना कायरता थी, अपने नाम पर कलंक था, किंतु राष्ट्र के लिए आवश्यक था और इसीलिए जिस कार्य को 'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन' (गीता 2/2) [अनार्यों (हीनों) से उपासित, स्वर्ग को न प्राप्त कराने वाला, अपयश देने वाला।] समझकर

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(*श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 2/3*)

[हे अर्जुन! नपुंसकता को प्राप्त न हो, यह तेरे लिए उपयुक्त नहीं। हे शत्रु को ताप देने वाले! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर (युद्ध के लिए) खड़ा हो।] कहते हुए अर्जुन को फटकारा तथा गीता का ज्ञान देकर युद्ध में प्रवृत्त किया, उसी युद्ध से क्षत्रिय होते हुए भी भगवान् कृष्ण स्वयं भागे। क्यों? युद्ध करना और युद्ध से भागना दोनों के पीछे अपने राष्ट्र के कल्याण की भावना थी। जरासंध का युद्ध कृष्णद्रोह के कारण था, इसीलिए युद्ध से भागकर उन्होंने मथुरा की रक्षा की। कुरुक्षेत्र का युद्ध दुर्योधन की पांडव-द्वेषिनी नीति के कारण नहीं अपितु उसकी अधार्मिक महत्त्वाकांक्षा के परिणाम-स्वरूप था, इसलिए वहाँ डटकर लड़ना आवश्यक था। इस रण को छोड़कर भागने के

---

1. कालयवन का वर्णन भागवत पुराण में मिलता है। भागवत पुराण के अनुसार जरासंध ने जब मथुरा पर आक्रमण किया तो उसने कालयवन को भी अपने साथ मिला लिया। जब कालयवन ने भगवान् कृष्ण का पीछा किया तो वे उसे राजा मुचुकुंद के समीप ले आए। मुचुकुंद इक्ष्वाकुवंशी राजा मांधाता के पुत्र थे। उन्हें वरदान मिला था कि जो कोई उन्हें सोते से उठाएगा, वह उनकी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जाएगा। भगवान् कृष्ण ने अपना पीत वस्त्र उतार कर राजा मुचुकुंद पर डाल दिया और खुद वहीं छिप गए। कालयवन भी भागता हुआ उस स्थान पर पहुँचा और वहाँ उसने भगवान् कृष्ण के वस्त्र ओढ़े एक व्यक्ति को देखा। उसने मान लिया कि वह अवश्य ही कृष्ण है। कालयवन ने उस व्यक्ति पर प्रहार कर दिया, जिससे राजा मुचुकुंद जाग उठे। और आँखें खोलते ही उनकी सीधी दृष्टि कालयवन पर पड़ी और वरदान के कारण कालयवन वहीं भस्म हो गया।

कारण कृष्ण का नाम 'रणछोड़' पड़ गया। आज भी बहुत से 'रणछोड़दास' हैं, जो अपने नाम को तो सार्थक करते हैं; किंतु हृदय में राष्ट्रप्रेम लेकर नहीं अपितु भीरुता तथा दुर्बलता लेकर।

मथुरा छोड़ने के बाद वासुदेव कृष्ण ने द्वारका बसाई तथा वहाँ रहने का विचार किया। किंतु वे शांत कहाँ बैठ सकते थे। उनके सामने अपने राष्ट्र में अधर्म का नाश और धर्म-संस्थापन का कार्य शेष पड़ा हुआ था। स्वार्थ और वासनाओं से लिप्त, छिन्न-विच्छिन्न राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधकर दैवी संपद् से पूर्ण बनाने की एकमेव आकांक्षा उनके सामने थी। भारत में एक चातुरंत साम्राज्य निर्माण करने की आवश्यकता थी। उस समय हस्तिनापुर में कौरव और पांडव, मगध में जरासंध तथा प्रागज्योतिष में नरकासुर,[2] ये ही मुख्य राजवंश थे तथा इनमें से ही कोई सम्राट् हो सकता था। उसके लिए प्रत्येक प्रयत्नशील भी था। कृष्ण ने इनमें से केवल पांडवों को ही भारत के धर्म साम्राज्य के योग्य समझा और फिर अपनी संपूर्ण शक्ति अपने इस कार्य के लिए लगा दी। एक बार राष्ट्र का ध्येय निश्चित कर लेने पर सर्वस्व उस ध्येय की पूर्ति में लगाना आवश्यक हो जाता है, फिर उसके लिए पग-पग पर नीति-अनीति, सत्य-असत्य का विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती है। जो ध्येयपूर्ति में सहायक हो, वही नीति है, जो ध्येय को सत्य सृष्टि में परिणत कर सके, वही सत्य है। धर्म की विवेचना करने वाले भगवान् कृष्ण के जीवन में यह सिद्धांत स्पष्ट दिखाई देता है।

राज्यभ्रष्ट होकर पांडव वन-वन में मारे-मारे फिर रहे थे। उस समय भगवान् कृष्ण ने ही उनका साथ दिया। उन्हीं के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पांडव सात अक्षौहिणी सेना[3] एकत्र कर पाए। कैसे लोगों को उन्होंने पांडव-पक्ष में किया, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। उनको आशंका थी कि स्वयं उनके बड़े भाई बलराम पांडवों का विरोध करेंगे, क्योंकि दुर्योधन उनका शिष्य था। अतः पांडवों के प्रति उनके अंतःकरण में कोमल भाव निर्माण करने के लिए एक चाल चली। अपनी बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ करना निश्चित किया। वैसे तो बलराम राजी न होते, किंतु कृष्ण की योजनानुसार अर्जुन सुभद्रा को हर करके ले गया। विषम स्थिति में डालकर बलराम को भी राजी कर लिया। अपनी बहन को भगा ले जाने में मदद करने वाले व्यक्ति को कौन नहीं बुरा कहेगा?

---

2. प्राग्ज्योतिषपुर अथवा प्राग्ज्योतिष कामरूप (वर्तमान असम) की प्राचीन राजधानी थी। कालिका पुराण के अनुसार भगवान् ब्रह्मा ने यहाँ नक्षत्रों की सृष्टि की थी। इसलिए यह नगरी प्राक् (पूर्व या प्राचीन) + ज्योतिष (नक्षत्र) कहलाई। महाभारत में यहाँ के राजा नरकासुर का भगवान् कृष्ण द्वारा वध किए जाने का उल्लेख मिलता है।
3. अक्षौहिणी प्राचीन भारत में सेना का एक माप था। एक अक्षौहिणी सेना में 21870 गज; 21870 रथ; 65610 अश्व और 109350 पैदल सिपाही होते थे। इस प्रकार पांडवों के पास 7 अक्षौहिणी सेना में 153090 गज; 153090 रथ; 459270 अश्व और 765270 पैदल सैनिक थे। वहीं कौरवों के पास 11 अक्षौहिणी सेना थी। महाभारत के युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना नष्ट हो गई थी।

भगवान् कृष्ण ने यह कार्य किया, किंतु किसी ने अंगुली तक नहीं उठाई, क्योंकि कार्य के पीछे उद्देश्य महान् था। युद्ध के समय भी किसी-न-किसी प्रकार बलराम को तीर्थाटन के लिए भेज दिया, ताकि वे बीच में ही पांडवों का विरोध करके दुर्योधन का साथ न दे सकें।

युद्ध में सहायता की याचना करने के लिए दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही आए। कृष्ण तो सहायता केवल अर्जुन को देना चाहते थे। अत: दुर्योधन के आने पर आँख बंद करके लेटे रहे तथा अर्जुन के आते ही आँखें खोलकर उससे आने का कारण पूछ लिया। क्या कहा जाए इस नीति को? कोरे तत्त्व की पट्टी पर लिखने वाले इसे छल कहेंगे, किंतु संसार उनके विरोध में बोलकर इसे धर्म कह रहा है। सहायता की शर्तों के अनुसार स्वयं पांडवों के साथ हुए और अपनी संपूर्ण सेना दुर्योधन को दे दी। इस सेना ने कौरव-पक्ष में क्या काम किया, यह विदित ही है।

भगवान् कृष्ण ने किसको धर्म कहा है, यह युद्ध में और भी स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि वे युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करेंगे किंतु उन्होंने समय आने पर भीष्म के ऊपर शस्त्र उठाया। अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ना सबसे बड़ा पाप कहा जाता है किंतु कृष्ण को कोई पापी नहीं कहता। उन्होंने राष्ट्रोद्धार की महान् प्रतिज्ञा कर रखी थी, उसकी पूर्ति के लिए किया गया प्रत्येक कार्य धर्म था। महान् व्रत से दीक्षित व्यक्ति शेष व्रतों से मुक्त हो जाता है। कौरव पक्ष के समस्त महारथियों के वध की कथा से सब परिचित हैं। भीष्म का वध शिखंडी की ओट से किया गया, जबकि उन्होंने बाण चलाना बंद कर दिया था। द्रोणाचार्य का वध हाथी को मारकर 'अश्वत्थामा हत' की झूठी खबर उड़ाकर, धर्मराज सत्यवादी युधिष्ठिर से भी 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' कहलवाकर पुत्र शोक में शस्त्रविहीन करके किया गया। जयद्रथ को माया से संध्या पैदा करके बाहर निकाला और चिता पर जलने को उद्यत अर्जुन ने उसे मारा। कर्ण के रथ का पहिया जब जमीन में धँस गया था, उस समय उसका वध किया गया। गदा-युद्ध के नियमों के विपरीत जंघा पर गदा मारकर दुर्योधन का वध किया गया। ऊपर-ऊपर से देखने पर मालूम होगा कि यह अन्याय है, अधर्म है किंतु नहीं, यह तो पूर्ण धर्म है, पूर्ण न्याय है। इसी आचरण के द्वारा उस धर्मराज्य की स्थापना हुई, जिसके लिए बड़े-बड़े ऋषि-मुनि लालायित थे। महर्षि व्यास जिसके लिए रोते थे और कहते थे—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(व्यास उवाच, महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, 5/62)

(मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर चिल्लाकर यह कहता हूँ, परंतु मेरी कोई नहीं सुनता कि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते।)

उसी धर्मराज्य को भगवान् कृष्ण ने अपनी इस नीति के द्वारा स्थापित किया। हम उन्हें कैसे अधर्मी कहें; कैसे असत्यवादी कहें। उनकी सत्यवादिता का तो इतना ज्वलंत प्रमाण है कि उनके सत्यवचन के उच्चारणमात्र से उत्तरा के गर्भ में मृत परीक्षित जीवित हो उठा। जिनका एक भी कथन सत्य नहीं हुआ, ऐसे आज के सत्यवादी तनिक तुलना करें और फिर निर्णय करें कि वास्तविक सत्य क्या है।

एक पत्नीव्रत के भारतीय आदर्श होते हुए भी भगवान् कृष्ण कहते हैं, सोलह हज़ार रानियों से विवाह किया। योगीश्वर कृष्ण ने ऐसा क्यों किया? क्या वे विलासी थे? नहीं। ये कुमारियाँ नरकासुर के कारागार में बंद थीं। वहाँ से भगवान् कृष्ण ने उनको मुक्त किया तथा समाज को व्यभिचार और दुर्व्यवस्था से बचाने के लिए स्वयं उनका करग्रहण किया। समाज के लिए उन्होंने सबकुछ किया; यहाँ तक कि अंत में जब यादवों का मद्यपान अत्यधिक बढ़ गया तथा वे समाज के लिए एक संकट का कारण बन गए तो उन्होंने उनको आपस में लड़वाकर समाप्त करवा दिया। अपनी आँखों के सामने अपने वंश का नाश देखा, केवल राष्ट्रहित के लिए। यह है भगवान् कृष्ण के चरित्र का रहस्य। यदि हमने उनके जीवन के इस सूत्र को पकड़ लिया तो उनके जीवन की तथा उनके ही समान अन्य अवतारी महापुरुषों के जीवन की अनेक गुत्थियाँ सरलता से सुलझा सकेंगे। जिस विभूति ने राष्ट्र के हित के सम्मुख अपने व्यक्ति की किंचित् भी चिंता न की हो, उसी के व्यक्तित्व की छाप राष्ट्र पर इतनी गहरी पड़ी है कि मिटाए नहीं मिट सकती। कैसा है यह विधि का विधान! आज हम अवतारी महापुरुषों की केवल सिद्धि को देखते हैं, उनकी साधना के स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। सिद्धि की पूजा में सफलता का रहस्य नहीं है, सफलता का राजमार्ग तो साधना का आचरण है। अपने युग की साधना में संपूर्ण राष्ट्र का सहयोग प्राप्त करने के निमित्त ही उन्होंने कहा था—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, 18/65)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, 18/66)

[मेरे ऊपर ही मनन करने वाले, मेरे भक्त, मेरे लिए यज्ञ करने वाले जनों, मुझे ही नमस्कार करो। मैं सत्य रूप से प्रतिज्ञा करता हूँ कि (इस प्रकार) तुम मुझे ही प्राप्त होगे, तुम मुझे प्रिय हो। सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त करूँगा, शोक मत करो।] कृष्ण की शरण में जाने का अर्थ था राष्ट्र की

शरण में जाना; कृष्ण के लिए कार्य करने का अर्थ है राष्ट्र के लिए कार्य करना; क्योंकि उस समय कृष्ण राष्ट्र की आशा-आकांक्षाओं के प्रतीक थे, उसके प्रयत्नों के प्रतिनिधि थे। उनकी नीति का पालन करना ही धर्म था और इसीलिए कहा था कि

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(श्रीमद्भगवद्गीता, 2/40)

(इस योगरूप राष्ट्रधर्म का थोड़ा सा ही अनुष्ठान संसार के महान् भय से रक्षा करने वाला है।) आज हम इस धर्म के स्वरूप को समझें, अपने राष्ट्र के प्रतिनिधि को पहचानें। उसकी आत्मा को साक्षात्कार करने वाले महापुरुष के चरणों में सर्वस्व का अर्पण तथा उसके इंगित के अनुसार राष्ट्रकार्य में अपनी संपूर्ण शक्ति का विनियोग ही धर्मपालन है और यही है कृष्ण की सच्ची पूजा।

—राष्ट्रधर्म, अंक-2, भाद्रपद, पूर्णिमा, 2004 (सितंबर 30, 1947)

□

9

चिति-1

मूलतः राष्ट्रधर्म में यह लेख दो भागों में प्रकाशित हुआ, दूसरा भाग इस खंड के पृ. 232 पर है। यह लेख 1962 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र चिंतन' में भी संकलित है।

जब कोई राष्ट्र परकीय सत्ता के अधीन रहता है तो उस राष्ट्र की राष्ट्रीयता तथा उस देश के निवासियों की देशभक्ति का एकमेव लक्ष्य उस सत्ता को दूर करना हो जाता है। जो परकीय सत्ता का विरोध करता है, वह देशभक्त गिना जाता है। जिन साधनों से उस सत्ता का प्रभुत्व नष्ट होता हो, वही देशभक्ति समझी जाती है। ऐसे समय में जनसाधारण के समक्ष राष्ट्रभक्ति का यही विरोधात्मक स्वरूप रहता है और इस इच्छा से उस प्रत्येक समूह को अपने में मिलाने की इच्छा करते हैं, जिसका कि शासक सत्ता से परकीयत्व का संबंध हो। यह समान आपत्ति अथवा समान शत्रुत्व ही एकता का एकमात्र सूत्र रहता है तथा इस आधार पर कई बार राष्ट्रीय आंदोलनों को चलाया जाता है।

परकीय सत्ता के लिए जनता के मन में अधिक-से-अधिक विद्वेष उत्पन्न करना आवश्यक समझकर, जनता के संपूर्ण दुःखों का दोष उस सत्ता के सिर मढ़ा जाता है। दैहिक, दैविक और भौतिक सब प्रकार के दुःखों का मूल परकीय सत्ता ही कही जाती है। चाहे संसारव्यापी अर्थ-संकट से देश आक्रांत हो, चाहे अपने ही दोषों के कारण सामाजिक कुरीतियों से परिपूर्ण हो, चाहे भौतिक कारणों से भूकंप, अनावृष्टि और अतिवृष्टि हो, चाहे अपनी ही अस्वच्छता के परिणामस्वरूप हैजा और प्लेग का प्रकोप हो, चाहे शासन तंत्र की बुराइयों के कारण जनता पिसती हो और चाहे झूठी धार्मिकताजन्य अज्ञान का शिकार बनकर लुटती हो, सबके लिए दोष शासन करने वाली

परकीय सत्ता के ऊपर ही मढ़ा जाता है। पारतंत्र्य को नष्ट करने के लिए शासक वर्ग के प्रति घृणा और विद्वेष का प्रचार करके जनमत को तैयार करने के लिए जहाँ यह दोषारोपण आवश्यक है, वहाँ यह सत्य भी इसके पीछे छिपा रहता है कि दु:ख का कारण चाहे शासक वर्ग हो या न हो, किंतु शासक वर्ग के कारण जनता इन दु:खों को दूर करने में अपना पुरुषार्थ प्रकट नहीं कर पाती है। अत: अपनी असहाय अवस्था में दु:ख झेलते हुए परकीय सत्ता को दोषी ठहराना स्वाभाविक ही हो जाता है।

राष्ट्र-जीवन का प्रत्येक क्षेत्र परकीयों से आक्रांत होने के कारण उस सत्ता के विरोधी थोड़े-बहुत प्रत्येक क्षेत्र से निकल आते हैं। किसी के स्वार्थ पर आघात पहुँचता है तो किसी के स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है। किसी की योजनाएँ असफल होती हैं तो किसी को अपनी शक्ति के विकास का अवसर नहीं मिल पाता है। इस प्रकार अपने-अपने हितों पर आघात होने के कारण यह विरोधियों का दल खड़ा हो जाता है। अपनी-अपनी इच्छा की पूर्ति की आशा लेकर स्वयं को केंद्र मानते हुए सुंदर स्वर्णिम भविष्य के स्वप्न लेकर सबके सब पराए राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उसके लिए त्याग करते हैं, कष्ट सहन करते हैं, यातनाएँ भुगतते हैं। इस दौड़ में जो सबसे आगे बढ़ता है अथवा अपने आपको बढ़ता हुआ बतला पाता है, वही सबसे बड़ा देशभक्त हो जाता है। उसके दर्शनों को भीड़ टूट पड़ती है, उसके नाम की जय-जयकार होती है, उसके शब्द जादू का काम करते हैं। राष्ट्र-पुरुष सजग हो जाता है, राष्ट्र उठता हुआ मालूम देता है, राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठती है।

राष्ट्रीय भावना के इस प्रबल ज्वार से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से यदि परकीय सत्ता नष्ट हो जाए अथवा अप्रत्यक्ष होकर आँखों से ओझल हो जाए तो यकायक इस विरोधात्मक राष्ट्रीयता के समक्ष एक बड़ा भारी प्रश्नवाचक चिह्न आकर खड़ा हो जाता है। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का आश्रय स्थान परकीय सत्ता तो लुप्त हो गई, तब क्या देश भक्ति और राष्ट्रीयता का भी लोप हो जाएगा? क्या परतंत्र देशों में ही देशभक्त होते हैं; राष्ट्रीयता के लिए क्या पराधीनता ही आवश्यक है? नहीं। तब विचार करना पड़ेगा कि देशभक्ति क्या है? उसका कोई रचनात्मक आधार लेना होगा। यदि यह रचनात्मक आधार न रहा तो बड़े-बड़े देशभक्त भी देशभक्ति के नाम पर स्वार्थ का सौदा करने लग जाएँगे, अपने नाम और पद के लिए देश के हितों का भी बलिदान करने को तैयार हो जाएँगे। अत: देशभक्ति की एक भावात्मक कल्पना चाहिए, रचनात्मक आधार चाहिए और वह भी चाहिए चिरंतन नियमों के अनुसार अन्यथा देशभक्ति का महल बालू की नींव पर बनाए महल के समान वात के प्रकंप मात्र से ही ढह जाएगा।

इस रचनात्मक आधार को समझने के लिए हमको अपनी दृष्टि अंतर्मुखी करनी होगी। परकीय सत्ता के स्थान पर अपने देश और राष्ट्र का ही विचार करना होगा। हम

तनिक गहराई में जाकर विचार करें कि परकीय सत्ता का विरोध हम क्यों करते हैं। क्या इसलिए कि परकीय सत्ता की स्थिति के कारण हमारी आर्थिक दशा बिगड़ जाती है? हमारे यहाँ बेकारी और निर्धनता का राज्य है। हमको बड़ी-बड़ी नौकरियाँ नहीं मिलतीं, राज्य के कार-भार में हमारा कोई स्थान नहीं है। हमारे व्यक्तिगत स्वाभिमान को कहीं ठेस पहुँची है। आदि। इन बातों पर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि ये ऊपरी कारण होते हुए भी सत्य इनके पीछे नहीं है। जो आज परकीय सत्ता का विरोध कर रहा है, कल यदि उसे नौकरी मिल जाए और वह विरोध करना छोड़ दे तो क्या उसे देशभक्त कहेंगे। निर्धन होकर विरोध करने वाला देशभक्त क्या शासकवर्ग से खरीदा जाने पर भी हमारी श्रद्धा का केंद्र बना रहेगा? राज्य में आज जिसको कोई पद प्राप्त नहीं है। कल पद प्राप्त करके वह शासकवर्ग की हाँ में हाँ मिलाने लगे तो क्या उसके शब्दों में वही जादू रह जाएगा जो कि एक देशभक्त के शब्दों में होता है? देशभक्त तो धन, वैभव और पद को ठुकराकर उल्टा निर्धनता, अभाव और सेवा-व्रत को स्वीकार करता है और इसी में उसकी महानता रहती है।

कहा जा सकता है कि परकीय सत्ता की विरोधी देशभक्ति में व्यक्ति विशेष की निर्धनता, बेकारी, पदहीनता न होकर संपूर्ण राष्ट्र की गरीबी और बेकारी का प्रश्न रहता है। संपूर्ण राष्ट्र के ये प्रश्न हल होने चाहिए।

राष्ट्र की कल्पना में ही देशभक्ति का रहस्य छुपा हुआ है। हम अपने स्थान पर संपूर्ण राष्ट्र की चिंता क्यों करते हैं? क्या इसलिए कि इन प्रश्नों को एकाकी हल करने के स्थान पर सब लोग मिलकर हल करें तो आसानी से हल कर सकेंगे। राष्ट्र के वैभव की चिंता क्या इसलिए है कि उसमें हमारा भी वैभव सन्निहित है। यदि यही स्वार्थपरक भावना हमारे मन में रही तो हमारी राष्ट्रीयता केवल चोर और डाकुओं के गठबंधन के समान हो जाएगी। चोर और डाकू भी तो एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करते हैं, एक दूसरे की रक्षा करते हैं, अपने नेता की आज्ञा का पालन करते हैं तथा अपने स्वार्थों का त्याग समूह के स्वार्थ के लिए करते हैं। ऊपर से ये सब अच्छी बातें होते हुए भी हम जानते हैं कि इनका गठबंधन न तो चिरंतन होता है और न मानवता के कल्याण के लिए ही होता है। एक तो लूट के पश्चात् बँटवारे के लिए उनमें आपस में ही लड़ाई होकर फूट पड़ जाती है, नहीं तो वे मिलकर दूसरे लोगों को लूटते रहते हैं। दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक रहती हैं। राष्ट्रीयता भी यदि इसी प्रकार के आर्थिक कारणों की प्रेरणा का फल हुआ तो या तो व्यक्तिगत और वर्ग स्वार्थ के कारण आपस में झगड़ा होगा अथवा पश्चिम के कुछ राष्ट्रों के समान पीड़ित मानवता की दुहाई देकर भी अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के लिए दूसरे राष्ट्रों को ग़ुलाम बनाते हुए निरंतर विश्वयुद्ध में संलग्न मानवता के लिए आपत्ति का कारण बनेंगे। यह आर्थिक अधिकार न तो सत्य है और न शिव और सुंदर ही।

राष्ट्र के प्रति भक्ति तथा अपने राष्ट्र के जनसमूह के प्रति सहानुभूति की भावना का मूल कारण न तो हमारी यह स्वार्थों की एकता है और न समान शत्रुत्व या मित्रत्व ही। हमारी देशभक्ति तो अपने राष्ट्र के संपूर्ण जन-समाज के प्रति एक ममत्व की भावना के कारण है, जो कि एकात्मत्व का परिणाम है। व्यक्ति की आत्मा के समान ही राष्ट्र की भी आत्मा होती है। इसी के परिणामस्वरूप राष्ट्र में एकात्मता फूटती है। राष्ट्र की इस आत्मा को हमारे शास्त्रकारों ने चिति कहा है।

भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की भिन्न चिति होती है। चिति की भिन्नता के कारण ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के शासन में होने पर अपने को परतंत्र समझता है। नहीं तो मनुष्य का मनुष्य पर राज्य सदा ही रहता है। स्वतंत्र राष्ट्र में भी सरकार होती है। वहाँ भी शासन संबंधी नियम होते हैं, बंधन भी होते हैं। राष्ट्र की आपत्ति और संपत्ति के काल भी रहते हैं। किंतु उस स्थिति में कोई भी देशभक्त दु:ख नहीं मानता है, सहर्ष आपत्तियाँ झेलता है, निर्धनता का जीवन भी सुख से बिताता है।

चिति ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। यही चिति जनसमूह के देश विशेष पर रहने के कारण उसकी संस्कृति, साहित्य और धर्म में व्यक्त होती है। चिति की एकता ही समान परंपरा, इतिहास और सभ्यता का निर्माण करती है। अत: किसी भी राष्ट्र की एकता के लिए मूल कारण संस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा आदि की एकता नहीं किंतु ये तो मूल कारण एक चिति के व्यक्त परिणाम हैं। अत: ऊपर से प्रयत्न करके भी भिन्न-भिन्न चिति के लोगों में भाषा, धर्म, सभ्यता आदि की एकता निर्माण करने पर भी राष्ट्रीय एकता नहीं हो सकती है। शरीर के अंगों के केवल एकत्रीकरण मात्र से जीवन नहीं होता है, किंतु आत्मा की स्थिति ही जीवन और चैतन्य की दात्री होती है। व्यक्ति की आत्मा की एकता ही उसके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं तथा उसके चरित्र की एकता में व्यक्त होती है। शरीर और अंग का एक-दूसरे का संबंध प्रत्येक अंग का शरीर के लिए काम करना और परिणामस्वरूप संपूर्ण शरीर के साथ-साथ प्रत्येक अंग का भी पालन-पोषण और पुष्ट होते जाना, यह समष्टि जीवन का भाव भी आत्मा की उपस्थिति के कारण ही है, कोई स्वार्थ भावना इसके पीछे नहीं है। बस राष्ट्र की संपूर्ण एकता, उसका समष्टि जीवन राष्ट्र की आत्मा चिति के परिणामस्वरूप ही होता है।

चिति के प्रकाश से ही राष्ट्र का अभ्युदय होता है और चिति के विनाश से राष्ट्र का अध:पात होता है। परतंत्र अवस्था में चिति आक्रांत होती है। जनमानस में उसका प्रकाश अत्यंत क्षीण हो जाता है। केवल कुछ शुद्ध और सात्त्विक वृत्ति लोगों में ही उसका आविर्भाव रहता है। चिति के इस प्रकाश को उज्ज्वलतर बनाने का ही कार्य देशभक्त का मुख्य कार्य होता है। इसी के परिणामस्वरूप देश के बंधन कटते हैं और उसके पश्चात् भी इसका प्रकाश बढ़ते-बढ़ते राष्ट्र-जीवन को पुष्ट बनाता है, उसको चिरंतन करने

मानव कल्याण की ओर से जाता है। यही आत्म-साक्षात्कार राष्ट्र-जीवन का मुख्य ध्येय होता है। राष्ट्र को इस आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर ले चलने वाला ही देशभक्त होता है, केवल विदेशियों का विरोध करने वाला नहीं। राष्ट्र की आत्मा का यदि यह साक्षात्कार न हुआ, अपितु आत्मा उसी प्रकार आक्रांत और निम्नगा रही अथवा अपनी चिति के ऊपर अन्य राष्ट्र की चिति का प्रभाव रहा तो जातीय जीवन के उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष ही होता है। इस प्रकार चितियों के संघर्ष में यदि देशीय चिति बलवती न हुई तो अंत में राष्ट्र-जीवन नष्ट हो जाता है तथा उसका स्थान दूसरा राष्ट्र ले लेता है।

आज भारत के समक्ष यही प्रश्न है। अभी तक हमारे राष्ट्रीय कहे जाने वाले आंदोलनों का केवल अंग्रेज़-विरोधी स्वरूप था, सब प्रकार के कारणों को इकट्ठा करके एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करने का प्रयत्न किया गया, चिति का आधार न होने के कारण उस राष्ट्रीयता का रचनात्मक स्वरूप दृढ न हो सका, यह आज स्पष्ट ही है। बाह्यांगों से आत्मा का सृजन संभव नहीं है।

आज हमारे विरोध का आश्रय स्थान अप्रत्यक्ष हो गया है। ऐसे समय में हमको रचनात्मक देशभक्ति की ओर विशेष दृष्टि देने की आवश्यकता है तथा अपने जातीय जीवन की चिति को पहचानकर उसको प्राकृत संस्कारों के द्वारा बलवती करने का प्रयत्न करें, इसी में हमारे राष्ट्र का चिरकल्याण है और इसी के द्वारा हम मानवता की सेवा करने में समर्थ हो सकेंगे और तभी सफल होगा हमारा चिराकांक्षित ध्येय—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

—राष्ट्रधर्म, नवंबर 28 , 1947

□

10
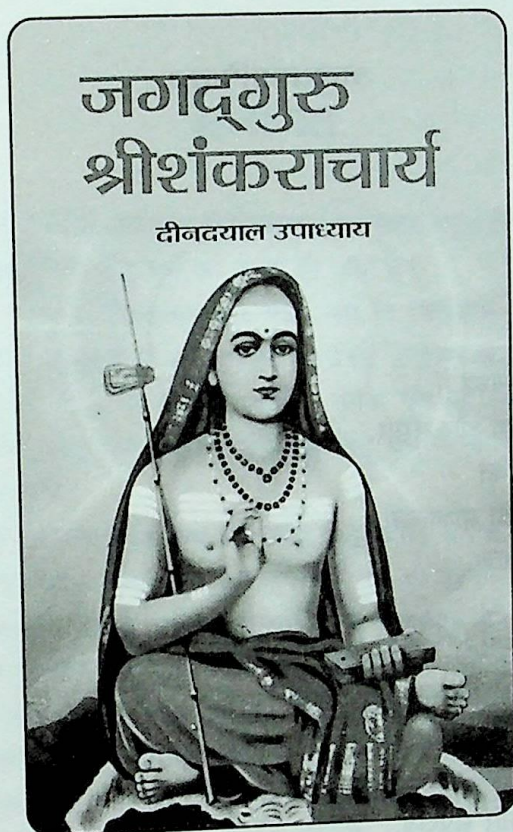
जगद्‌गुरु श्रीशंकराचार्य

सन् 1946 में दीनदयाल उपाध्याय ने बालोपयोगी उपन्यास 'सम्राट् चंद्रगुप्त' लिखा था। वह बहुत लोकप्रिय हुआ, तब श्री भाऊराव देवरस ने उन्हें युवकोपयोगी उपन्यास लिखने का आग्रह किया। अतः 1947 में ही उनका दूसरा उपन्यास 'जगद्‌गुरु श्रीशंकराचार्य' प्रकाशित हुआ।

अनुक्रमणिका

मनोगत

हमारे राष्ट्र निर्माताओं में जगद्‌गुरु श्रीशंकराचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है। कई विद्वानों ने तो उन्हें आधुनिक हिंदू धर्म का जनक ही कहा है।

जनसाधारण स्वामी शंकराचार्य को बौद्ध धर्म के विनाशक तथा हिंदू धर्म के संस्थापक के रूप में देखता है तो कई विद्वानों को उनमें 'प्रच्छन्न बौद्ध' दृष्टिगोचर होता है। सत्यांश दोनों ही चित्रों के पीछे है, क्योंकि उनके युग की संपूर्ण सहस्राब्दी का इतिहास केंद्रापगामी बौद्ध धर्म तथा केंद्राभिमुखी हिंदू धर्म के पारस्परिक-संघर्ष तथा समन्वय का इतिहास है।

जगद्‌गुरु श्रीशंकराचार्य का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। धर्म के नाम पर अनाचार फैल रहा था। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय देने वाली केंद्रीय सत्ता निर्बल हो रही थी। अनेक वर्षों तक राज्याश्रय का उपभोक्ता होने के परिणामस्वरूप सत्ता की चाट बौद्धों को लग चुकी थी। वे सत्ता को हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। विरोधियों ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया। ढलती हुई बौद्ध-सत्ता के उन्नायक बनकर उन्होंने भारत में प्रवेश किया। भारतीय बौद्धों ने सत्ता के लोभ में अपने-पराये का विवेक खोकर उनका सत्कार किया। उनके साथ सब प्रकार का सहयोग किया। प्रखर राष्ट्रीयता का पोषक हिंदू समाज इसे सहन न कर सका और कुमारिल भट्ट द्वारा प्रज्वलित चिनगारी शंकराचार्य के रूप में दावानल बनकर प्रकट हुई।

इस दावानल ने हिंदू धर्म के अंदर-बाहर चारों ओर उगने वाले झाड़-झंखाड़ को भस्मसात् कर दिया। इस अग्नि में तपकर हिंदू धर्म पहले से अधिक तेजस्वी बनकर कुंदन के रूप में निखर आया। धर्म की रक्षा हुई। देश की रक्षा हुई। स्वामी शंकराचार्य ने बुद्ध को हिंदू धर्म के अवतारों में स्थान देकर बौद्धों की केंद्रापगामी दृष्टि फेर दी। फिर घर-घर में देश का गुंजन प्रारंभ हो गया।

शंकराचार्य ने इतना ही नहीं तो समस्त हिंदू-राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने एवं उसे संगठित करने का प्रयास किया। देश के चारों कोनों पर चार धामों के प्रति श्रद्धा केंद्रित

करते हुए उन्होंने संपूर्ण भारतवर्ष की, मातृ-भू की मूर्ति जन-जन के हृदय पर अंकित कर दी। पंचायतन का पूजन प्रारंभ कर विभिन्न संप्रदायों को एक-दूसरे के आराध्य देवों के प्रति केवल सहिष्णुता का भाव ही नहीं तो सभी देवताओं के प्रति अपने इष्टदेव के माध्यम से वही श्रद्धा एवं आदर का भाव व्यक्त करने को प्रेरित किया, इसके अनुसार प्रत्येक पाँचों देवताओं विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य की पूजा करता है। अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने इष्टदेव को बीच में तथा चारों ओर अन्य चार देवताओं को रखकर पूजन करने की उसे छूट है। चार धामों के समान ही उन्होंने समाज को धर्म मार्ग पर नियंत्रित एवं अनुशासित रखने के लिए चार शंकराचार्यों की अध्यक्षता में भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किए।

—दीनदयाल उपाध्याय

1

अवतरण

शिवगुरु सब प्रकार से साधन-संपन्न होने पर भी सुखी नहीं था। अपनी सुशीला विदुषी भार्या आर्यंबा की सूनी गोद देखकर वह अपने जीवन में एक अपूर्णता का अनुभव करता था। अपने पड़ोसियों तथा संबंधियों के बच्चे जब उसके घर आते तो आर्यंबा ललककर उनको गोद में उठा लेती, घड़ियों उनके साथ खेलती रहती, उनको नहलाती, धुलाती, सजाती, सँवारती। उनके साथ इतना परिश्रम करने के बाद अंत में वे अपने-अपने घर चले जाते तो उसका हृदय एकदम बैठ जाता। शून्य की ओर दृष्टि लगाए न जाने कितने समय तक वह अपने द्वार पर खड़ी रहती। उसकी इस अवस्था को देखकर शिवगुरु भी सोचता, काश! उसके भी एक बालक होता! त्योहार आते और ऐसे ही चले जाते। उसके मन में कभी नहीं आता कि बाजार से कोई नई चीज खरीदकर घर ले चलूँ। मेले-तमाशों में वह कभी नहीं जाता था। नदी-स्नान करने जाते समय जब छोटे-छोटे बच्चों को अपने माता-पिता की अंगुली पकड़कर जाते हुए देखता तो वह भी अपने हाथों की चारों अंगुलियाँ बंद करके एक अंगुली खुली छोड़ देता, परंतु दूसरे ही क्षण लज्जा के मारे उत्तरीय के आँचल में हाथ छिपा लेता, मानो निरवलंब अंगुली टूटकर गिरना ही चाहती हो। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों संतान की कमी ब्राह्मण दंपती को अखरने लगी। पुत्र-प्राप्ति के लिए वे सबकुछ करने को तैयार थे।

आज आर्यंबा और दिनों से भी अधिक दुःखी थी। पड़ोस के सोमदेव का पुत्र हरिदेव गुरुकुल जा रहा था। अभी तक वह उनके पास आ जाता था, उससे वह अपना दिल बहला लेती थी, कुछ क्षणों के लिए अपने आपको भूल जाती थी। आर्यंबा चाहती थी कि हरिदेव यदि अभी गुरुकुल न जाए तो अच्छा हो। और इसलिए अंत में उसने सोमदेव से कह ही तो दिया, ''भैया सोमदेव! हरि अभी तो छोटा ही है; एकाध वर्ष और खेलने-खाने दो न! फिर गुरुकुल तो जाना ही है।''

"आप्त जनों को तो बालक सदा ही छोटा लगता है बहिन!'' सोमदेव ने कहा, "आजकल तो जितनी छोटी आयु में हो सके, उतने में ही बालक को गुरु के पास भेज देना चाहिए। चारों ओर नास्तिकवादी बौद्धों तथा वाममार्गियों का प्रभाव इतना बढ़ता जा रहा है कि यदि छोटी आयु में ही वैदिक धर्म के भले संस्कार न पड़े तो कुमार्ग पर बह जाने का डर रहता है। न मालूम कब इन वेद-विरोधियों का नाश होगा?' सोमदेव ने एक ठंडी साँस लेकर चलने को मुँह मोड़ा। हरिदेव ने आर्यंबा के चरण छुए। आर्यंबा ने भी आशीर्वाद दिया, परंतु उसके मन में उछाह नहीं था। मन बैठा जा रहा था। आँखों से दो बूँदें आँसू की टपक पड़ीं। उसे पुत्र का अभाव खलने लगा। भरे हुए मन तथा रुद्ध कंठ से उसने भगवान् से प्रार्थना की। उसने एक पुत्र माँगा, अपने लिए नहीं, पर अपने धर्म के लिए, अपने देश के लिए। उसने भगवान् शंकर की आराधना करने का निश्चय कर लिया। उसे विश्वास था कि भगवान् उसकी इस धर्म-भावना से प्रेरित कामना को अवश्य पूरा करेंगे।

इस कठिन तपश्चर्या में शिवगुरु ने उसका साथ दिया। उनकी आराधना निरंतर चलती रही। उन्हें अपनी सुधबुध नहीं थी। रात को भगवान् का भजन करते-करते न मालूम कब निद्रा देवी उन्हें अपने अंक में छिपा लेती थी और न मालूम कब भगवान् बुद्ध के गृहत्याग की भाँति चुपके से उनको छोड़कर चली जाती। प्रात:काल उषा को साथ लेकर अंशुमाली जगत् को जगाते हुए अपने करों से उनका द्वार खटखटाते तो उन्हें पहले ही जाग्रत् तथा तपमग्न पाते। उषा भगवान् मरीचिमाली का साथ छोड़कर इस दंपती की सेवा करने में अपना अहोभाग्य समझती। उनका आनन तेजपुंज से परिवेष्टित हो चमक उठता। दोपहर को तप्तांशु उनके साथ तप करने की होड़ लगाते, परंतु शिवगुरु और आर्यंबा के तप के सामने उनका तप फीका पड़ जाता, हारकर लज्जा से लाल-मुँह किए अंतरिक्ष की ओट में भाग जाते। रात्रि को चंद्रोदय होता, मानो भगवान् शशिभाल ही कृष्ण बाघंबर ओढ़े भक्तों की रक्षा को आए हैं। रात भर भगवती गिरिजा के साथ-साथ अपने भक्त की रक्षा करते। उनकी कठिन तपश्चर्या को देखकर गिरीश-नंदिनी आँसू बहाती तथा भगवान् शिव अट्टहास कर उठते। उमा के आँसू ओसकण बनकर गिर पड़ते तथा भगवान् का हास्य पूर्वाकाश पर छा जाता। कई दिनों तक यही क्रम चलता रहा। भगवान् चंद्रभाल के चंद्र की कलाएँ घटने लगीं, कला-रहित कलानाथ की कल्पना ने ही उनको विकल कर दिया। उन्हें इस ब्राह्मण दंपती की तपस्या के सामने झुकना पड़ा।

एकाएक शिवगुरु को लगने लगा मानो उसकी इच्छा पूर्ण हो गई। आर्यंबा की अंतरात्मा पुकार-पुकारकर कहने लगी कि अब उसको तप करने की आवश्यकता नहीं है। उसको पुत्ररत्न प्राप्त होगा। आत्मा की पुकार परमात्मा की वाणी होती है, यह वे

जानते थे। उन्होंने भगवान् के इस इंगित के अनुसार चलना अहोभाग्य समझा।

शिवगुरु और आर्यंबा अपने घर चले आए। उनका जीवन अब नीरस नहीं था, निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने वाले व्यक्ति के समान अब उनका जीवन नहीं था। हिंदू धर्म की महानता का ज्ञान रखने वाले शिवगुरु ने भावी बालक के जन्म के पूर्व से समस्त संस्कार यथाविधि किए। वह जानता था कि मनुष्य का जीवन संस्कारों पर अवलंबित है। उसके जीवन की लालसा पूर्ण होने वाली थी, उसमें वह असावधानी कैसे करता और फिर उन्होंने देश और समाज के लिए एक सर्वज्ञ पुत्र की याचना की थी, उसको सर्वज्ञ बनाने में अपनी ओर से कोर-कसर वे कैसे रखते।

वह दिन भी अंत में आया। आर्यंबा के जीवन की साध पूरी हुई और देश के युग-युग की साध पूरी हुई। वैशाख शुक्ल दशमी को आर्यंबा की कोख से पुत्ररत्न का जन्म हुआ। उसे भगवान् शंकर का वरदान जानकर शिवगुरु ने उसका नाम शंकर रखा। भगवान् शंकर की तपश्चर्या करके भगीरथ एक दिन भारत में गंगा को लाए, जिसने भगीरथ के समस्त पूर्वजों का उद्धार किया तथा जो आज तक भारत के लिए सुख-संपत्ति की ख़ान बनी हुई है। उसने इस धर्म का उद्धार करके हमारी सभ्यता तथा राष्ट्रीयता को संपन्न किया।

2

बाल्यकाल

शिशु शंकर के लालन-पालन में माता आर्यंबा ने अपने आपको बिल्कुल भुला दिया। प्रात:काल से लेकर सायंकाल तक दिन भर उनकी देख-रेख करती रहती, कब दिन समाप्त हो जाता, यह पता भी न लगता। यहाँ तक कि देखते-देखते एक वर्ष व्यतीत हो गया, माता-पिता को ऐसा लगता था कि शंकर का जन्म मानो कल ही हुआ है।

शंकर को देखकर पास-पड़ोस के सब लोग तथा बंधु-बांधव बड़े ही प्रसन्न होते थे। वैसे तो छोटे बच्चे सबको ही प्यारे होते हैं, परंतु शंकर तो लोगों को इतना प्यारा लगता था कि उनकी सदा यही इच्छा बनी रहती थी कि उसे अपनी छाती से ही लगाए रखें। हर एक का मन उसको खिलाने को चाहता था। जब लोग शंकर को प्रेम भरी दृष्टि से देखते तथा लपककर गोदी में उठाते तो आर्यंबा का दिल बाँसों उछल जाता। वह अपने को संसार में सबसे सुखी समझती।

एक वर्ष बाद शंकर की पहली अब्दपूर्ति (वर्षगाँठ) मनाई गई। चारों ओर आनंद छा गया। सबने अपनी शुभकामनाएँ प्रदर्शित कीं। बड़े-बूढ़ों ने अमर होने का आशीर्वाद दिया। सचमुच शंकर आज अमर है। शरीर से तो संसार में कोई अमर नहीं रहता। अमर तो वही है, जिसका यश अमर है। जब तक संसार में हिंदू जाति जीवित है, तब तक शंकर का नाम जीवित है और हिंदू जाति को तो शंकर ने समन्वय की संजीवनी पिलाकर अमर ही कर दिया है।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात', इस कहावत के अनुसार बालक शंकर को देखकर लोग कल्पना करने लगे कि वह भविष्य में अवश्य ही महापुरुष होगा। उसकी प्रतिभा धीरे-धीरे प्रकट होने लगी। जब आर्यंबा उसकी बुद्धिमत्ता की बातें सुनती तो एक ओर उनका हृदय आह्लाद से परिपूर्ण हो जाता तो दूसरी ओर अनेक कुविचार उनको आ घेरते। लोग कहते हैं कि अत्यंत अल्पवय में ही बुद्धि की प्रगल्भता को प्रकट करने वाला व्यक्ति अल्पायु होता है, यह सोचकर वह एकदम सिहर उठतीं तथा अपने शंकर की

दीर्घायु के लिए मनौतियाँ मनाने लगतीं।

शंकर की इस प्रकार असाधारण बुद्धि देखकर शिवगुरु ने तीन वर्ष के होते न होते उसकी पट्टी पुजवा दी। बालक शंकर ने अक्षराभ्यास प्रारंभ कर दिया। गुरु को उस समय बड़ा ही आश्चर्य हुआ, जब शंकर ने एक बार बताने पर ही अपना पाठ याद कर लिया। वह 'एकश्रुतिधर' था, अर्थात् जिस बात को एक बार सुनता, उसको उसी प्रकार अपने स्मृति-पटल पर अंकित कर लेता। पाँच वर्ष की आयु तक शंकर ने समस्त लौकिक साहित्य पढ़ लिया तथा आगे वेद पढ़ने के लिए तैयार हो गया। उसकी अद्वितीय योग्यता देखकर उसका गुरु अत्यंत प्रसन्न था। जब लोग शंकर की विद्या की प्रशंसा करते तो उसको लगता मानो उसी की प्रशंसा हो रही है और वह फूलकर कुप्पा हो जाता। यह बताने लगता कि शंकर को किस प्रकार व्याकरण पढ़ाया। कैसे छंद-शास्त्र पढ़ाया और कैसे शंकर ने दो ही वर्ष में सबकुछ पढ़ डाला। शंकर का गुरु होने के कारण वह अपने आपको धन्य समझता था। सच है, योग्य व्यक्ति अपना ही यश नहीं बढ़ाता, परंतु अपने संबंध में आने वाले सबकी यश-वृद्धि का कारण बनता है और इसीलिए सब लोग किसी-न-किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने का अथवा कहीं भी लोगों को जताने का प्रयत्न करते हैं। अनेक शिष्यों को शिक्षा देने पर भी वह उनका नाम भी न लेता, मानो शंकर के सिवा और किसी को पढ़ाया ही न हो।

शंकर केवल विद्या और बुद्धि में ही नहीं बढ़ा-चढ़ा था, परंतु उसका स्वभाव इतना मीठा था कि जो कोई उससे एक बार मिलता, वह उसी का बन जाता था। वह इतना उदार तथा विशाल हृदय का था कि उसमें प्रत्येक का स्थान था और इसीलिए प्रत्येक ने उसको भी अपने हृदय में स्थान दिया। उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा हृदय की विशालता का ही परिणाम है कि वह अपने आस-पास के लोगों की श्रद्धा और विश्वास संपादन कर सका। यही उसकी सफलता का रहस्य है। विद्या और बुद्धि से मनुष्य की विलक्षणता प्रकट होती है, उसके विषय में कुतूहल का अनुभव हो सकता है परंतु श्रद्धा और ममत्व का नहीं। उसके लिए तो काम केवल बुद्धि के बल पर नहीं बल्कि हृदय के बल पर हुए हैं। सौभाग्य से शंकर दोनों में ही बढ़ा-चढ़ा था। इसीलिए कालटी तथा उसके आसपास क्या बड़े क्या छोटे, सभी उसको प्राणपण से चाहते थे। इस प्रेम के कारण ही वह सबकी चर्चा का कारण बना हुआ था। इसी बीच उसे ऐसे मित्र मिले, जिन्होंने जीवनपर्यंत उसका साथ न छोड़ा, उनमें चित्सुख सबसे प्रसिद्ध है।

पाँच वर्ष की आयु में शंकर का उपनयन संस्कार हुआ तथा बालक शंकर वेदाध्ययन के निमित्त गुरुकुल गया। आर्यंबा के सामने छह वर्ष पूर्व का दृश्य आ गया। आज भगवान् से फिर प्रार्थना की कि शंकर वेद पढ़कर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने में समर्थ हो। शंकर के गुरुकुल जाने के कारण घर सूना-सूना लगता था। परंतु आर्यंबा को

दु:ख नहीं था। हाँ, वह घर खाने को दौड़ता था। वह जानती थी कि उसका पुत्र ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरुकुल में गया है। अपने पुत्र के भव्य भविष्य को कल्पनाओं में ही उसका तथा शिवगुरु का समय व्यतीत होता था।

जितनी तीव्रता के साथ शंकर ने लौकिक विद्या प्राप्त की थी, उतनी शीघ्र ही उसने वेदों तथा वेदांगों का अध्ययन किया। अब शंकर केवल पढ़ता ही नहीं था, परंतु अपने साथ के विद्यार्थियों को पढ़ाता भी था। इस समय उसने 'बालबोध संग्रह' नाम का एक ग्रंथ भी रच डाला, जो उस छोटी आयु में भी उसमें कितनी बुद्धि की विलक्षणता थी, इसकी साक्षी-स्वरूप संसार के सम्मुख आज भी उपस्थित है। विषय को इतनी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है कि 'बालबोध' वास्तव में ही बालबोध है।

वेद-मंत्रों का अर्थ उनके सामने अपने आप भी स्फुरित होता जाता था। मानो माता के दूध के साथ ही वह समस्त विद्या भी पी चुका हो, अथवा जैसा कि बाद में उसने बताया भी, समस्त ज्ञान पहले से ही मस्तिष्क में संचित हो, बस अज्ञान का आवरण स्वयमेव ही हटता जाता हो। इस छोटी आयु में पढ़ते-पढ़ते उसने चारों ओर दिखने वाले भेद के स्थान पर वास्तविक अभेद को देखा। उसने अनुभव किया कि यह भेद केवल ऊपर-ही-ऊपर के हैं तथा असत्य हैं; वास्तव में तो हम सब एक हैं और वही सत्य है, उसी को वेद पुकार-पुकारकर कहते हैं। उसने इस सत्य को पहचाना तथा गुरुकुल में आने वाले अनेक नास्तिकवादी बौद्ध आदिकों से इसी आधार पर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ में जिस ख़ूबी के साथ वह अपने प्रतिपक्षी का विश्वास संपादन करके अपने मत का मंडन करता था, उसको देखकर उसके गुरु-वर्ग को विश्वास हो गया कि शंकर अवश्य ही भारतवर्ष में वैदिक धर्म का प्रचार कर सकेगा तथा प्रत्येक स्थान पर शास्त्रार्थ में अजेय रहेगा।

गुरुकुलों की शिक्षा-पद्धति आज से भिन्न थी। जब राष्ट्र स्वतंत्र होता है तब शिक्षा उसके वास्तविक उद्‌देश्यों के अनुसार बालक की सुप्त शक्तियों का विकास करके समाज का चैतन्यपूर्ण घटक तथा योग्य नागरिक बनने के लिए ही दी जाती है। उस शिक्षा में समाज से संबंध-विच्छेद नहीं होता, अपितु पग-पग पर समाज का हमारे ऊपर कितना ऋण है, उसके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, यह याद दिलाई जाती है। अत: हमारे यहाँ पद्धति थी कि गुरुकुल में रहने वाला प्रत्येक विद्यार्थी, चाहे वह राजा का पुत्र हो अथवा रंक का, गाँव में जाकर भिक्षा माँगकर लाता था। इस प्रकार के बटु में गाँव के लोगों के प्रति कितना आदर, कितनी विनय, कितनी श्रद्धा तथा कितना अपनत्व होगा? 'ब्रह्मचारी' की 'भिक्षां देहि' की आवाज़ सुनते ही जब गृहिणी दौड़कर भिक्षा देने के लिए आती हों, तब किसका मस्तक कृतज्ञता के भार से न झुक जाएगा? उसके जीवन की चिंता करने वालों को सुखी बनाने की कौन जीवन भर प्राणपण से चेष्टा नहीं करेगा? विद्यार्थी वर्ग

समाज से अलग वर्ग है। वह भाव उसके मन में कैसे आएगा? परतंत्र राष्ट्र के विद्यार्थियों के समान अपने समाज में अलग वर्ग बनाने वाले, समाज से भिन्न हो, उसके प्रति अश्रद्धा रखने वाले, परकीय भावनाओं से ओत-प्रोत विनय रहित, मानसिक दासता से जकड़े हुए विद्यार्थी उस समय नहीं होते थे। अपने मस्तिष्क को विदेशियों के हाथ बंधक रखने के कारण, जिनकी विचारशक्ति का दिवाला निकल गया है, स्वार्थी तथा आदर्शहीन जीवन ने जिनके हृदय के रस को शुष्क कर दिया है, जिनकी भावनाओं को काठ मार गया है तथा वेदना कुंठित हो गई है, आलस्य का साम्राज्य देखकर जहाँ से पुरुषार्थ, उद्योग तथा कर्मण्यता कूच कर गए हैं, ऐसे विचारशून्य, भावनाहीन, कर्म-रहित विद्यार्थी उस समय नहीं होते थे।

गुरुकुल में रहते हुए अपने छोटे से जीवन में आस-पास के लोगों की शंकर पर कितनी अधिक श्रद्धा थी, इसका पता एक छोटी सी घटना से लग जाएगा। शंकर एक दिन भिक्षा माँगते-माँगते एक निर्धन के द्वार पर जा पहुँचा और 'भिक्षां देहि' की आवाज़ लगाई। घर में केवल ब्राह्मणी ही थी; उसके सामने बड़ी भारी समस्या उत्पन्न हो गई कि बटु को क्या दिया जाए। घर में तो कुछ था ही नहीं और ब्रह्मचारी को खाली हाथ लौटाना तो महापाप था। अंत में उसके घर में दस-बारह आँवले पड़े हुए थे, उनमें से एक आँवला उठाकर लाई तथा शंकर के सामने भिक्षा रूप में उपस्थित किया। उनकी आँखें डबडबा आईं। यद्यपि उसने अपने हृदय के दुःख को छिपाने का बहुत प्रयत्न किया, परंतु शंकर ताड़ गए कि अवश्य उसके हृदय में कुछ-न-कुछ दुःख है। जिस व्यक्ति ने अपना स्वार्थ नष्ट कर दिया हो तथा अपने हृदय में सच्ची सहानुभूति तथा संवेदना का अनुभव किया हो, जिसकी आत्मा दूसरों की आत्मा से समरस हो गई हो, भला उससे उस निर्धन ब्राह्मणी के हृदय की पीड़ा कैसे छिप सकती थी! शंकर का हृदय भी उस ब्राह्मणी के हृदय के साथ रो उठा। उसने पूछा, 'माँ! तुमको क्या दुःख है?'

'कुछ नहीं बेटा! दुःख काहे का? आज यही आँवला है भिक्षा में।' ब्राह्मण-पत्नी ने उत्तर दिया। उसकी आँखें भीग गईं, वह अपने आपको रोक नहीं पाई।

'तो क्या माँ, अपने लोगों से दुःख भी छिपाया जाता है?' शंकर ने कहा और अत्यंत आदर तथा स्नेह के साथ आग्रह करने लगा मानो वह उसकी माँ थी। अंत में उस ब्राह्मणी ने बताया कि ब्राह्मण अल्पसंतोषी है। केवल दिन भर के भोजन-निर्वाह का उपार्जन करता है। उससे अधिक घर में रखना चोरी समझता है। इसीलिए आज उसको भिक्षा देने के लिए केवल आँवला ही रहा, इसका उसे दुःख है। शंकर को ब्राह्मण परिवार की निर्धनता खटकने लगी, परंतु उसने सोचा कि केवल सहानुभूति दिखाने अथवा सांत्वना के दो शब्द कहने से क्या लाभ, यदि मैं प्रत्यक्ष इसके दुःख को दूर नहीं कर सकता। कार्य करने की शक्ति के बिना सहानुभूति प्रदर्शन केवल मन की दुर्बलता है तथा शक्ति होते

हुए कार्य न करना शक्तिदाता भगवान् के प्रति कृतघ्नता है। अत: उसने इस ब्राह्मण परिवार की निर्धनता और उसके दु:ख को दूर करने का निश्चय कर लिया। यह तो ब्रह्मचारी था, स्वयं भीख माँगकर अपना जीवन निर्वाह करता था, परंतु जानता था कि मन भिखारी अथवा निर्धन नहीं था। उसे अपने कृतित्व पर विश्वास था। बस वह अगले ही घर पर गया। वह एक धनी परिवार था। शंकर तो धनी लोगों के दरवाज़े पर बहुत कम जाता था। आज शंकर को अपने द्वार पर देखकर धनी व्यक्ति ने समझा कि न जाने किस जन्म के पुण्य उदय हो गए, जो एक ब्रह्मचारी और उसमें भी तीव्रबुद्धि तथा मृदुभाषी शंकर उसके द्वार पर भिक्षा माँगने के लिए खड़ा है। उस समय के धनी लोग तरसते थे कि योग्य पात्र उसके द्वार पर आए और आज! शंकर ने 'भिक्षां देहि' की पुकार भी नहीं लगाई थी कि वह धनी व्यक्ति भिक्षा लेकर उपस्थित हो गया। शंकर ने भिक्षा के लिए हाथ आगे बढ़ाने के स्थान पर हाथ पीछे खींच लिए तथा मृदुस्मित हास्य के साथ मधुर शब्दों में बोले, 'जो अपने समाज के लोगों को अपना नहीं समझता, जिसके हृदय में अपने लोगों के लिए प्रेम नहीं, ममता नहीं, उसका अन्न खाकर क्या धर्म वृत्ति उत्पन्न हो सकेगी?'

वह सेठ भगवान् शंकर की बात न समझ सका, क्योंकि उसकी बुद्धि पर तो जितना अधिक उसका धन था, उतना ही घना आवरण चढ़ा हुआ था न! वह शरीर से ही नहीं, बुद्धि से भी मोटा था।

'मैं तो अपने को समाज का एक अकिंचन सेवक ही समझता हूँ, बटुकवर!' सेठ ने कहा।

'जिसके बगल में इतना निर्धन परिवार हो, वह स्वयं सुख और वैभव की गोद में खेलकर भी अपने को समाजसेवक कहे, अपने धर्म की दुहाई दे, यह कैसी विडंबना है?' शंकर ने तनिक दु:ख भरे शब्दों में कहा।

सेठ को बात लग गई। उसको एकदम अपनी स्थिति तथा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हो गया, मानो वह सोते से जाग पड़ा। उसने शंकर से क्षमा माँगी। कहते हैं कि उसने अपने धन से सोने के आँवले बनवाकर उस ब्राह्मण के घर में भर दिए। यह भी निश्चय किया कि भविष्य में धन को केवल साधन समझकर उपयोग में लाऊँगा और अपने जीवन में समाज और धर्म की सेवा को ही प्रमुख स्थान दूँगा। सच्ची सहानुभूति से उत्पन्न घनीभूत वेदना से ओत-प्रोत हृदय से निकली हुई वाणी का ऐसा ही प्रभाव होता है।

आठ वर्ष की अवस्था तक शंकर गुरुकुल में रहा। समस्त वेद-शास्त्रों में पूर्ण पारंगत होने के कारण उसको आचार्य की उपाधि दी गई तथा शिवगुरु का शंकर 'शंकराचार्य' हो गया। परंतु शिवगुरु को यह सुख कहाँ बदा था! 'मेरे मन कछु और है विधना के कछु और।'

3

आकांक्षा

शंकराचार्य के गुरुकुल से लौटने के पहले ही शिवगुरु इस संसार को छोड़ चुके थे। शंकराचार्य अपने पिता से बहुत प्रेम करते थे, अत: पिता की मृत्यु से उनको बड़ा दु:ख हुआ। परंतु दूसरी ओर उनको विश्वास हो गया कि भगवान् धीरे-धीरे उनके बंधन काट रहा है। अत: घर की परिधि से निकल संपूर्ण देश को अपना घर समझकर कार्य करने का उनका निश्चय और भी दृढ हो गया। अपने पिता का दाह-कर्म तथा अन्य पैत्रिमेधिक कर्म करते समय शरीर की अनित्यता का वे सतत चिंतन करते रहते थे। वे सोचते कि यदि मनुष्य को एक दिन मरना ही है तो वह कीड़े-मकोड़ों की भाँति क्षुद्र, स्वार्थ से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करके क्यों मरे? इस जीवन को तथा इस जीवन के छोटे-छोटे सुखों को ही सर्वस्व एवं सत्य समझने के कारण मनुष्य उनके पीछे पड़ा रहता है तथा एक दिन जब इस नाशवान शरीर को छोड़ना पड़ता है, तब उसको दु:ख होता है। इससे अच्छा तो यही है कि एक महान् ध्येय को लेकर सत्य मार्ग पर जीवन भर बढ़ते चले जाएँ तथा उसी ध्येय के लिए जब जीवन को समाप्त करने की आवश्यकता पड़े, तब शांति के साथ, हर्ष के साथ वह भी करने को तैयार रहें, जैसे कि साँप अपनी रक्षा के लिए केंचुल धारण करता है तथा एक दिन उसी के हेतु केंचुल को छोड़ देता है। उसमें उसको दु:ख नहीं होता, क्योंकि उसे केंचुल से प्रेम नहीं होता। ये सब विचार उसके सामने श्मशान-वैराग्य के समान नहीं थे, परंतु इनके आधार पर ही उन्होंने अपने भावी जीवन का भवन निर्माण करने का निश्चय किया था।

अपनी माता के प्रेम तथा पिता का वार्षिक श्राद्ध करने की दृष्टि से वे वर्ष भर घर पर ही रहे। इसी बीच माता के विचारों को अपने अनुकूल बनाने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। वैसे तो आर्यंबा स्वयं विदुषी थीं, अपने देश और धर्म से प्रेम करती थीं तथा चाहती थीं कि शंकर के हाथों वैदिक धर्म का उद्धार हो, परंतु उनको यह पसंद नहीं

था कि शंकर घर-बार छोड़कर काम करे, वह तो चाहती थीं कि शंकर विवाह करे, घर-गृहस्थी चलाए तथा उसके साथ-साथ जितना हो सके, उतना वैदिक धर्म का उत्थान करने का भी प्रयत्न करे। इसमें उनका कुछ दोष भी नहीं है, क्योंकि एक तो माता-पिता का पुत्र के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता ही है, उसका अपवाद माता आर्यंबा कैसे हो सकती थीं? दूसरे उस समय के हिंदू संन्यास लेकर देश का कार्य करने के पुराने आदर्श को न केवल भूल ही गए थे अपितु उसको बुरा भी समझते थे, क्योंकि बौद्धों ने अपने धर्म में संन्यास को प्रमुख स्थान दे रखा था। अत: साधारणतया अप्रचलित संन्यास धर्म का आश्रय शंकर ले, यह वे नहीं चाहती थीं।

माता आर्यंबा तथा उनके अन्य संबंधी शंकर की इस प्रवृत्ति को देखकर, चिंतित रहने लगे। एक दिन उनका एक भाई जयदेव उनसे मिलने आया। शंकर को घर में न देखकर उसने पूछा, "शंकर कहाँ है, बहिन?"

"क्या बताऊँ कहाँ है?" आर्यंबा ने ठंडी साँस लेते हुए कहा, "वह घर में रहता ही कहाँ है, न मालूम कहाँ-कहाँ घूमता रहता है?"

यह सुनकर जयदेव बोला, "इधर-उधर घूमना ठीक नहीं है, बहिन! आजकल नास्तिकवादी बौद्ध और वाममार्गी घूमते रहते हैं, किसी के चक्कर में पड़ गया तो ठीक न होगा। मैंने तो सुना है कि शंकर वेद-शास्त्रों में बड़ा पारंगत हो गया है।"

"हाँ, सो तो है भैया। वेद-शास्त्रों में तो वह आचार्य हो गया है, पर उसका आचार्य होना मेरे किस अर्थ, वह तो घर पर रहना ही नहीं चाहता। कहता है कि देश भर में इतने मतमतांतर फैले हैं कि लोग सच्चे वैदिक धर्म को भूल गए हैं तथा एक ही सत्य धर्म का आश्रय न लेने के कारण आपस में झगड़-झगड़कर निर्बल बने जा रहे हैं, इसीलिए घर छोड़कर सच्चे हिंदू धर्म का प्रचार किया जाए। अब तुम्हीं बताओ भैया, मैं क्या करूँ?"

जयदेव ने कुछ सोचा और बोला, "अरे, यह देश और धर्म की बातें तो अभी बच्चा है, इसीलिए करता है। तुम उसका विवाह कर दो, घर-गृहस्थी के झंझट में पड़कर सब भूल जाएगा।"

आर्यंबा ने भी निश्चय कर लिया कि अब शंकराचार्य का शीघ-से-शीघ्र विवाह कर देना चाहिए, उनके संन्यास को रोकने का उन्हें यही एक उपाय दीखा। उधर शंकराचार्य के मन में संन्यास की इच्छा दिनो-दिन प्रबल होती जाती थी। केवल माता की अनुमति भर प्राप्त कर लेना चाहते थे। एक दिन शंकराचार्य अपनी माता के साथ नदी स्नान को जा रहे थे। शंकराचार्य ने माता के समक्ष अपनी संन्यास ग्रहण की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा, "माँ! तुम्हारी सदा ही इच्छा रही है कि मैं वैदिक धर्म का उद्धार करूँ, आज्ञा दो कि मैं संन्यास लेकर अपने जीवन के कार्य को प्रारंभ करूँ।"

आर्यंबा को एक धक्का सा लगा, परंतु उसने अपने को सँभालते हुए कहा, ''बेटा-बेटा! यह तुम क्या कहते हो? क्या अपनी बूढ़ी माँ को छोड़कर जाओगे, क्या कुछ पितृ- ऋण नहीं है?''

''हे माँ! पितृ-ऋण है और उसी को चुकाने के लिए तो मैं संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। पिताजी ने जिस धर्म को जीवन भर निबाहा, वह धर्म यदि नष्ट हो गया तो बताओ माँ, क्या उन्हें दु:ख नहीं होगा? उस धर्म की रक्षा से ही उन्हें शांति मिल सकती है। और फिर अपने बाबा, उनके बाबा और उनके बाबा की ओर भी तो देखो। हज़ारों वर्ष का चित्र आँखों के सामने आ जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी धर्म की रक्षा के लिए जीवन को लगा दिया, कौरव-पांडव में युद्ध तक कराया। अपने जीवन में वे धर्म की स्थापना कर गए, लोग धीरे-धीरे भूलने लगे। शाक्य मुनि (गौतम बुद्ध) के काल तक धर्म में फिर बुराइयाँ आ गईं। उन्होंने भी इसकी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया, पर आज भी उनके सच्चे अभिप्राय को लोग भूल गए हैं, व्यर्थ ही नास्तिकतावाद का प्रचार कर रहे हैं। माँ! इन सब पूर्वजों का हमारे ऊपर ऋण है या नहीं?''

''ये विद्वत्ता की बातें मैं क्या जानूँ शंकर! पर बता मेरा संस्कार कौन करेगा? सब पितरों को पानी कौन देगा?'' आर्यंबा ने कहा।

''मैं करूँगा संस्कार माँ, मैं करूँगा और मैं दूँगा अपने पितरों को पानी।''

''और तेरे बाद?''

''मेरे बाद सब हिंदू समाज है, वह तेरा नाम लेगा, तेरा गुण गाएगा, यही है असली श्राद्ध। यदि हिंदू समाज नष्ट हो गया, तो फिर तू ही बता माँ, कोई दो हाथ, दो पैर वाला तेरे वंश में हुआ तो क्या तुझे वह पानी देगा? कभी तेरा नाम लेगा?''

माता आर्यंबा चुप थीं। तर्क और भावना कभी-कभी साथ नहीं चलते; मनुष्य भावनाओं के समूह के पीछे चलता है। वह भावनाओं का दास नहीं है, ऐसा लोगों को दिखाने के लिए तथा अपने अहंकार को शांत करने के लिए ही अपनी भावनाओं के अनुरूप तर्क का उपयोग करता है। तर्क से काम नहीं करता। तर्क से मान्य होने पर भी जब तक हृदय उसका साथ नहीं देता तब तक तर्क पंगु है। आर्यंबा को बुद्धि से शंकराचार्य की बात मान्य थी किंतु उसका हृदय कहता था कि यह सब व्यर्थ है। पुत्र का मोह बड़ी चीज है। शंकराचार्य यह सब जानते थे और इसीलिए वे अन्य उपाय काम में लाए।

माता और पुत्र इस प्रकार की बातचीत करते-करते नदी पर पहुँच गए। शंकराचार्य नदी में स्नान करने को उतरे। थोड़ी देर में वे एकदम चीख मारकर चिल्ला उठे, ''अरी मैया री! मगर ने मेरा पाँव पकड़ लिया है। अब तो मैं गया। तुम्हारे लिए तो मैं मर चुका। माँ, अब मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो शायद भगवान् मुझे देश और जाति के लिए...जल्दी बोलो!''

आर्यंबा हक्की-बक्की सी खड़ी थी। वह क्या कहे, उसकी समझ में नहीं आता था। शंकराचार्य ने फिर कहा, ''माँ बोलो, सोचने का अब समय कहाँ है? एक क्षण की भी देर की तो ग्राह मुझको अवश्य ही ग्रस लेगा और फिर तुम जीवन भर सोचती रहना।''

आर्यंबा के सामने दूसरा और कोई मार्ग नहीं था। पुत्र के मरने से तो अच्छा है कि वह संन्यासी बनकर जीवित रहे। उसने शंकराचार्य को आपत् संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दे दी, परंतु प्रतिज्ञा करवा ली कि मरते समय वे उसके पास आ जाएँगे, ग्राह ने पैर छोड़ दिया और शंकराचार्य नदी से संन्यासी बनकर निकले।

यह कथा कहाँ तक सत्य है, कहना कठिन है। ग्राह का पाँव पकड़ने पर भी शंकराचार्य को न ग्रसना तथा संन्यास की आज्ञा मिलते ही पाँव छोड़ देना, आश्चर्य की ही घटना है। हाँ, एक महान् ध्येय की पूर्ति के लिए शंकराचार्य जैसे राष्ट्र निर्माता तथा दार्शनिक का यह नाटक खेलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कुछ भी हो, पारिवारिक स्नेह की नदी में व्यक्तिगत स्वार्थ का जो ग्राह शंकराचार्य को ग्रसना ही चाहता था, उससे वे अवश्य मुक्त हो गए तथा इस घटना ने, चाहे सत्य हो या असत्य, हिंदू समाज का इतिहास ही बदल दिया।

4

ध्येय-पथ

शंकर आज संन्यासी था। उसके विशाल हृदय की भूख, समस्त देश के साथ समरस आत्मा की पुकार, परिवार की छोटी सी परिधि में कैसे शांत हो सकती थी। वह अपने प्राचीन आदर्श को जानता था कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

उसके अनुसार आत्मा के लिए सबकुछ छोड़कर शंकर संन्यासी हुआ। उसकी आत्मा की क्या पुकार थी तथा वह कैसे शांत हुई, इस प्रश्न का उत्तर उसका आगे का कर्ममय जीवन ही देगा।

संन्यास ग्रहण करके अपनी माता को प्रणाम करके गुरु की खोज में शंकराचार्य निकले। अंतःकरण की धनाढ्यता ही उनका एकमात्र धन था। आत्मविश्वास की प्रबलता ही उनकी महती शक्ति थी। प्रगल्भ बुद्धि ही उनका पथ-प्रदर्शन कर रही थी। हृदय में अपने कार्य पर असीम श्रद्धा तथा भगवान् का एकमात्र सहारा ही उनका बल था। वे बड़ी शांति तथा अपने अंदर एक प्रकार की चैतन्य शक्ति का अनुभव कर रहे थे, यही उन्हें स्फूर्ति प्रदान कर रही थी। उन्हें जान पड़ा मानो स्वयं भगवान् अच्युत उनकी अंतरात्मा में प्रकट हो गए हैं। उसी समय उन्होंने 'अच्युताष्टक' नाम की भक्ति भाव से परिपूर्ण कविता की रचना की तथा अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुसार भगवत गोविंदपाद के आश्रम की ओर उनसे विधिवत् संन्यास ग्रहण करने के लिए चल दिए।

मार्ग के कष्टों की चिंता न करते हुए, भूख और प्यास की परवाह न करते हुए यह छोटा संन्यासी अपने ध्येय मार्ग पर बढ़ा चला जा रहा था। लोग इस लगन को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते, उनकी छवि को देखकर कल्पना करते मानो नर-नारायण में से कोई एक अवतीर्ण हो गया हो। वे उत्तर की ओर चले तथा गोकर्ण तीर्थ पर पहुँचे। नगर

की गलियों से वे जा रहे थे कि पीछे से किसी ने पुकारा, ''शंकर! ओ शंकर! कहाँ जा रहे हो?''

शंकराचार्य रुके कि तब तक पुकारने वाला व्यक्ति भी उनके पास तक आ पहुँचा। वह उनका पुराना कालटी का सहपाठी तथा मित्र विष्णु शर्मा था। विष्णु शर्मा ने शंकर को नीचे से ऊपर तक देखकर कहा, ''यह क्या भेष बना रखा है, शंकर?''

शंकराचार्य विष्णु शर्मा को देखकर मुसकरा दिए।

''यहाँ कहाँ घूम रहे हो भाई?'' विष्णु शर्मा ने पूछा। वह परेशान था। शंकराचार्य ने उसके एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था। और वह तो इस रहस्य को समझने के लिए बड़ा व्याकुल हो रहा था।

''मैंने संन्यास ले लिया है, विष्णु!'' शंकराचार्य ने बड़े शांत चित्त से कहा। विष्णु शर्मा चौंका और बोला, ''संन्यास? क्या कह रहे हो शंकर? परिहास तो नहीं कर रहे हो?''

''हँसी नहीं, विष्णु! सत्य ही कह रहा हूँ। माताजी ने आज्ञा दे दी है।'' शंकराचार्य ने गंभीर स्वर में कहा।

''तब क्या ध्रुव की तरह जंगल में जाकर तपस्या करोगे?'' विष्णु शर्मा ने पूछा।

''नहीं भाई, जंगल में नहीं जाऊँगा। संन्यास का अर्थ संसार को छोड़कर वन में तपस्या करना नहीं है। मैंने कर्म संन्यास लिया है, जिसका अर्थ कर्म छोड़ना नहीं, कर्म करना, देश और धर्म के कर्म करना है, जो सत्य हैं तथा मनुष्य को कर्मफल-बंधन में नहीं बाँधते।''

''पर यह आयु क्या संन्यास लेने की है, शंकर?'' विष्णु शर्मा ने कहा।

''शुभ कर्म करने की भी कोई आयु निश्चित होती है, विष्णु? जब भी प्रेरणा प्रबल हो, विचार और भावनाएँ पवित्र हों, उसी क्षण उसी शुभ अवसर पर पुण्य कार्य में हाथ डाल देना चाहिए।''

विष्णु शर्मा ने बात काटते हुए कहा, ''मेरा अभिप्राय तो गृहस्थाश्रम से है। संन्यास तो उसके पश्चात् ही ले सकोगे।''

''ठीक है विष्णु, साधारण व्यवस्था तो यही है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इस क्रम से चारों आश्रमों का पालन किया जाए। परंतु वर्णाश्रम व्यवस्था समाज के कल्याण के लिए समाज द्वारा निर्मित व्यवस्था है। अपने बनाए हुए नियमों के हम स्वामी हैं, दास नहीं।'' शंकराचार्य ने कहा।

''व्यवस्था पालन से ही तो समाज टिकता है?'' विष्णु शर्मा बोले, ''यदि अपने बनाए हुए नियम भी हम तोड़ने लगें तो फिर उन नियमों का उपयोग ही क्या है?''

शंकराचार्य ने उत्तर दिया, ''व्यवस्था और नियम समाज की रचना के लिए होते

हैं। महत्त्व नियम और व्यवस्था को नहीं अपितु समाज के संगठन और जीवन को है। यदि समाज के जीवन के लिए मर्यादा स्थापित करने की आवश्यकता हो तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के समान मर्यादाएँ बाँधी जाती हैं और यदि मर्यादा उल्लंघन की आवश्यकता हो तो योगेश्वर कृष्ण की भाँति मर्यादाएँ तोड़ी भी जाती हैं। उल्लंघन और पालन दोनों के पीछे एक ही भावना है, समाज के संगठन की; एक ही इच्छा है, समाज का अस्तित्व बनाए रखने की। व्यवस्था और नियम साध्य नहीं, साधन हैं। साधन का उपयोग तब तक है, जब तक वह साध्य को प्राप्त करने में सहायक हो। केवल लकीर पीटने से क्या लाभ?''

''तब तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करोगे?'' विष्णु ने पूछा।

''नहीं विष्णु! आज गृहस्थी के झंझट में पड़ने का अवकाश नहीं है। आज तो सब शक्ति समाज के हित में लगाने की आवश्यकता है। गृहस्थ और संन्यास दोनों ही साधन हैं, आज दूसरा ही उपयुक्त है। कार्य इतना अधिक तथा समय इतना थोड़ा है कि और कोई मार्ग ही नहीं है; और फिर विष्णु, तुम देखते नहीं हो कि बौद्ध लोग अपने संन्यास की डींग मारते हैं, समझते हैं कि वैदिक धर्म में संन्यास है ही नहीं; आज उनको दिखाना है कि वैदिक धर्म में भी संन्यास है और उनसे ऊँचा है। संन्यास का जो स्वरूप विकृत कर दिया गया है, उसे सुधारना है।''

''तब क्या बौद्ध संन्यासियों की भाँति किसी मठ के महंत बनकर रहोगे?'' विष्णु शर्मा ने कुछ घृणा मिश्रित स्वर में पूछा।

''नहीं विष्णु!'' शंकर ने दृढता से कहा, ''मठ में पड़े रहना और समाज का भार बनकर जीवन व्यतीत करना तो संन्यास धर्म का आदर्श नहीं है। संन्यासी का जीवन निष्क्रियता, आनंद और सुख का नहीं अपितु सतत कर्मण्यता, कष्ट और दुःखों का जीवन है। उसका काम समाज का भार बढ़ाना नहीं अपितु उसका भार हल्का करना है। मुझे ज्ञात है कि आज बहुत से हिंदू बौद्ध संन्यासियों का अंधानुकरण कर रहे हैं। उनके सामने सच्चे आदर्श को व्यवहार में परिणत करके प्रत्यक्ष दिखाना होगा।''

''तब तो तुम बड़ा काम कर रहे हो, शंकर! अरे भूल हुई, तुम्हें शंकर नहीं शंकराचार्य कहना चाहिए!'' विष्णु शर्मा ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा।

''क्यों लज्जित करते हो, भाई!'' शंकर ने तनिक खिन्न होकर कहा, ''क्या अपने शंकर के साथ इस प्रकार का शिष्टाचार दिखाकर उसे अपने से अलग करना चाहते हो?''

''अब अलग तो तुम हो ही गए हो। तुम्हारा कौन अपना और कौन पराया?'' विष्णु शर्मा ने दुःख भरे शब्दों में कहा।

''मैं अलग नहीं हुआ हूँ, विष्णु!'' शंकराचार्य बोले, ''इस संन्यास में अलगाव

नहीं अपनाव है, विरक्ति नहीं प्रेम है। हाँ, इस प्रेम में आसक्ति नहीं, बंधन नहीं, मोह नहीं। इसमें संकुचितता नहीं विशालता है, दुर्बलता नहीं शक्ति है, व्यक्ति के लिए समाज का त्याग नहीं, समाज के लिए व्यक्ति का राग है।''

विष्णु शांतचित्त सुनता रहा। उसके मस्तिष्क में एकाएक विचारों की लहर दौड़ गई। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों उसकी आँखों के सामने से निकल गए। उसकी भाव-भंगी तथा हाथ के इशारे से मालूम हुआ कि उसने कोई बड़ा भारी निश्चय कर लिया है।

वह शंकराचार्य से आयु में अधिक था। कालटी में जब वह भी गुरुकुल में पढ़ता था, तब शंकराचार्य से उसकी मित्रता थी। वह शंकर से प्रेम करता था, उसपर श्रद्धा रखता था। शंकर की प्रेम भरी बातें सुनकर उसका हृदय भर आया। शंकराचार्य इस प्रकार अकेले ही भ्रमण करें, यह वह सहन नहीं कर सकता था। अत: उसने शंकराचार्य के साथ चलने का निश्चय किया।

''मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा, शंकर!'' विष्णु शर्मा ने कहा।

''तुम क्या करोगे भाई?'' शंकराचार्य ने शांत स्वर में पूछा।

''मैं क्या करूँगा? समाज तुम्हारा ही है, मेरा नहीं? उसके प्रति तुम्हारा ही कर्तव्य है, मेरा कुछ नहीं?'' विष्णु शर्मा ने उलाहना देते हुए कहा। शंकराचार्य निरुत्तर थे। विष्णु शर्मा भी उनके साथ हो लिया।

विष्णु शर्मा तथा शंकर दोनों ही गुरु की खोज में चारों ओर घूमते रहे। अंत में नर्मदा के तट पर अमरकांत में उन्हें योगी गोविंदपाद के दर्शन हुए। भगवत गोविंदपाद शंकराचार्य को देखते ही उनकी ओर आकर्षित हो गए। कहते हैं कि भगवान् की प्रेरणा के अनुसार वे शंकर की बहुत दिनों से बाट जोह रहे थे। शंकर को देखते ही उनका चेहरा खिल गया। शिष्य तो गुरु की आत्मा की अभिव्यक्ति ही रहता है, उसके अंत:करण की प्रवृत्ति का पूरक रहता है, फिर क्यों न एक-दूसरे को पहचानें। उनका सूत्र तो पहले से ही मिला रहता है, किसी को मिलाने की आवश्यकता नहीं रहती है। भगवत गोविंदपाद ने शंकर को देखकर शांति की एक साँस ली तथा शंकर के आश्रम-प्रवेश की आयोजना में जुट गए।

5

गुरु के सान्निध्य में

भगवत गोविंदपाद, जिनको शंकर जैसे प्रतिभासंपन्न तथा हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के कार्य में संलग्न महापुरुष ने अपना गुरु बनाया, कौन थे? यह प्रश्न हम लोगों के मन में उठ रहा होगा। अतः इस गुरु परंपरा का इतिहास जान लेना आवश्यक है।

शंकर के नाम के साथ अद्वैत तथा वेदांत का इतना अटूट संबंध जुड़ गया है कि शंकर को ही वेदांत तत्त्वज्ञान का जन्मदाता समझने लग गए हैं, किंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वैसे तो सब तत्त्वज्ञानों के समान वेदांत तत्त्व आदि का स्रोत वेदमंत्र ही है, किंतु इसको संसार के समक्ष प्रकट करने वाले महर्षि बादरायण थे। महर्षि बादरायण के काल में वैदिक धर्मावलंबियों में तीन तत्त्वज्ञान मुख्यतया प्रचलित थे—कणादि का वैशेषिक दर्शन, गौतम का न्याय दर्शन तथा कपिल का सांख्य दर्शन। इसके अतिरिक्त अवैदिक मतावलंबियों ने भी अपने-अपने दर्शनों का प्रतिपादन किया था। उनमें तीन-चार्वाक का लोकायत दर्शन, जैनों का अर्हत् दर्शन तथा बौद्धों का तथागत दर्शन बहुत प्रसिद्ध हैं। उक्त दर्शनों में से अंतिम तीन न तो ईश्वर को मानते थे और न वेदों को ही। वैदिक परंपरानुसार बनाए गए समस्त सामाजिक नियमों का भी वे विरोध करते थे। चार्वाक पंथी तो किसी भी नीति के बंधन को मानने को तैयार नहीं थे। सुख और चैन की वंशी बजाते हुए अपने सुख के सामने दुनिया की किसी भी बात की चिंता न करते हुए जीवन बिताना ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। उनका तो सिद्धांत वाक्य ही था—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

शेष अवैदिक दर्शनों में नैतिकता का स्थान तो बहुत ऊँचा था किंतु अपनी परंपरा के प्रति पूर्ण दुर्लक्ष्य था। वैदिक दर्शनों में कणाद भौतिकवाद का, कपिल द्वैतवाद का तथा गौतम नीरस तर्क का आश्रय लेकर संसार में द्वैधीभाव, अनास्था और अविश्वास

का प्रचार कर रहे थे। भगवान् कृष्ण की गीता तथा महर्षि वेदव्यास के बताए हुए मार्ग को लोग भूलते जाते थे। ऐसा मालूम होता है कि अठारह अक्षौहिणी सेना को कटवाकर तथा अत्यंत परिश्रम और त्याग करके भी भगवान् ने जिस धर्म की स्थापना की, वह अधिक दिन तक नहीं टिक सका। समस्त देश अराष्ट्रीय वृत्तियों को अपनाते हुए सर्वनाश की ओर बढ़ता जाता था। ऐसे समय में देश की समस्त बुराइयों को दूर कराने तथा वेदों का सारगर्भित अर्थ प्रकट करने के लिए तीन नए दर्शनों की रचना हुई; वे हैं—पतंजलि का योग दर्शन, जैमिनि का मीमांसा दर्शन तथा बादरायण का वेदांत दर्शन।

वेदांत का स्थान इन सब में प्रमुख है। युगों-युगों से हिंदुस्थान के महापुरुषों ने इसी में शांति पाई है तथा इसी का आश्रय लेकर जीवन भर लोक संग्रहार्थ कार्य करते हुए नैष्कर्म्य के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। महर्षि बादरायण ने देखा कि जितने भी देश में मत चल रहे थे, वे न तो श्रुति-सम्मत थे और न स्मृतियाँ उनका पोषण करती थीं। हिमालय की उपत्यका में स्थित बदरिकाश्रम में अपने पिता बादरि के तत्त्वावधान में उन्होंने समस्त वेद, उपनिषद्, संहिता, ब्राह्मण तथा स्मृतियों का अध्ययन किया तथा वेदों के कर्मकांड प्रधान एवं ज्ञानकांड प्रधान भागों का विभाजन करके ज्ञानकांड का प्रतिपादन किया। कर्मकांड के अति प्रबल हो जाने के कारण उसके वास्तविक रहस्य को न समझते हुए केवल यज्ञ-यागादि कर्मों में ही संतुष्ट रहने वाले जीवन में दया, प्रेम और सहानुभूति से शून्य व्यवहार को प्रकट करने वाले दंभी लोगों के व्यवहार को देखकर ही तो भगवान् बुद्ध को वैदिक धर्म से घृणा हो गई थी और फलतः उन्होंने अपने अहिंसा प्रधान धर्म का उपदेश दिया। परंतु भगवान् बुद्ध के अनुयायी वेदों का पूर्ण बहिष्कार करने के कारण शून्यवाद जैसे असत्य एवं अकल्याणकारी तत्त्व पर पहुँचे। महर्षि बादरायण ने जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया, वह इन दोषों से परे था। कोरे कर्मकांड की व्यर्थता बताते हुए उन्होंने परम ज्ञान से उत्पन्न अद्वैत का ही प्रतिपादन किया।

भगवान् कृष्ण के मुख से निकली हुई अमृतवाणी तथा उनके जीवन का सच्चा तात्पर्य बताने वाली श्रीमद्भगवद्गीता को महर्षि बादरायण ने ही महाभारत से अलग किया तथा उसको एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान की। श्रुति, स्मृति, उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता के अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए तथा ऊपर-ऊपर से देखने के कारण इन ग्रंथों में आपस में विरोध देखने वालों के विरोधाभास को नष्ट करने के निमित्त उन्होंने स्वयं वेदांत सूत्रों की रचना की। इस ग्रंथ में वेदांत के सूत्रों को पूर्णतया तर्क द्वारा समझाया है। उपनिषद्, वेदांत सूत्र तथा गीता अपने धर्म की प्रस्थानत्रयी के नाम से विख्यात है। धर्म के प्रत्येक आचार्य ने इसका सहारा लेकर ही अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया है। उपनिषद् श्रुति-प्रस्थान, श्रीमद्भगवद्गीता, स्मृति-प्रस्थान तथा वेदांत-सूत्र न्याय-प्रस्थान कहलाते हैं।

महर्षि बादरायण ने इस धर्म की सर्वरूपेण प्राण-प्रतिष्ठा करके अपने पुत्र एवं शिष्य शुकदेव मुनि को इसकी शिक्षा दी। शुकदेव ने भी शंकराचार्य की भाँति बचपन में ही संन्यास ले लिया था। वे जीवन-पर्यंत इस वेदांत प्रधान वैदिक धर्म का ही प्रचार करते रहे। बदरिकाश्रम में उन्होंने अनेक शिष्यों को इसकी शिक्षा दी तथा महर्षि बादरायण के वेदांत-सूत्रों का एक परिवर्द्धित एवं परिमार्जित संस्करण तैयार किया। शुकदेव के उपवर्ष तथा गौड़पाद दो मुख्य शिष्य हुए। इनमें गौड़पाद के विषय में अधिक जानने की आवश्यकता है, क्योंकि इन्हीं की परंपरा को शंकराचार्य ने पुष्ट किया।

गौड़पाद दक्षिण भारत के रहने वाले थे। बचपन से ही उनकी इच्छा थी कि वे जीवन में कोई महान् कार्य करें; अतः वे महर्षि पतंजलि के पास विद्याध्ययन के लिए गए। महर्षि पतंजलि व्याकरण में एक उद्‌भट विद्वान् हो गए हैं। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण पर एक महाभाष्य की रचना की थी, जिसके कारण उनकी इतनी ख्याति हो गई कि दूर-दूर से विद्यार्थी उनके पास पढ़ने के लिए आते थे। एक बार उनके इन विद्यार्थियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते एक सहस्र हो गई। इतने विद्यार्थियों को एक साथ पढ़ाना असंभव था, अतः उन्होंने एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया, जिसके सहारे वे सब विद्यार्थियों को एक साथ पढ़ा सकते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को चेता दिया था कि कोई उस यंत्र में हाथ न लगाए; किंतु एक चंचल शिष्य ने कुतूहलवश उनकी अनुपस्थिति में उस यंत्र को छेड़ दिया। उस यंत्र का उसको ज्ञान तो था नहीं, अज्ञानवश उसका हाथ कुछ ऐसे स्थान पर पड़ा कि एकाएक बड़ा भारी विस्फोट हुआ और क्षण भर में ही वे एक सहस्र विद्यार्थी भस्मीभूत हो गए।

महर्षि पतंजलि ने जब यह देखा तो उनको बड़ा दुःख हुआ। अपने एक सहस्र विद्यार्थियों के विनाश और अपने परिश्रम की निष्फलता पर शोक करते हुए वे खड़े थे कि सामने से अपने शिष्य गौड़पाद को आते हुए देखा। महर्षि के मुख पर हर्ष और विषाद की रेखाएँ खिंच गईं। गौड़पाद अपने सहपाठियों की भस्म देखकर रो पड़ा। दुःख के साथ ही उसका मन काँप गया, क्योंकि वह बिना गुरु की आज्ञा के वर्ग छोड़कर चला गया था तथा अचानक अपने सहपाठियों के कारण पकड़ा भी गया। अनुशासन भंग के इस दोष के कारण वह मन-ही-मन जला जा रहा था। उसका साहस नहीं हो रहा था कि वह आँखें उठाकर महर्षि की ओर देखे। गौड़पाद दृष्टि नीचे किए चुपचाप खड़ा था। महर्षि पतंजलि ने धीरे-गंभीर स्वर में कहा, 'गौड़पाद!' एकबारगी अनिष्ट की आशंका से गौड़पाद सिहर उठा और उसने सुना, 'गौड़पाद! तुमने अनुशासन भंग करके पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त तुमको करना ही होगा। बुराई की ओट में कभी-कभी भलाई छिपी रहती है। जाओ, किसी योग्य शिष्य को ढूँढ़कर महाभाष्य पढ़ाना। जब तक तुम किसी को पढ़ाओगे नहीं, तब तक महाभाष्य तुमको याद रहेगा। मैं तो अब किसी

को महाभाष्य पढ़ाऊँगा नहीं बस; जाओ।'

गुरु को प्रणाम करके क्षुब्ध मन से गौड़पाद वहाँ से चला गया। उसकी दशा विक्षुब्ध की सी हो गई। उसके ऊपर महाभाष्य की शिक्षा का भार था। वह चाहता तो महाभाष्य किसी को नहीं पढ़ाता और इस प्रकार उसे जीवन भर याद रहता, किंतु आज हम उसको किस नाम से पुकारते। महाभाष्य तो राष्ट्र की संपत्ति थी और उसको आगे आने वाली पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखना और उन तक उसको पहुँचाने का प्रबंध करना उसका कर्तव्य था। वह इतना स्वार्थी नहीं था कि अपने ज्ञान के निमित्त संपूर्ण राष्ट्र को इस अमूल्य निधि से वंचित रखता। फलत: इधर-उधर संपूर्ण देश में योग्य शिष्य की खोज में घूमता रहा, किंतु कहीं भी उसको ऐसा योग्य व्यक्ति नहीं मिला, जो महाभाष्य को एक बार पढ़कर समझ ले तथा दूसरों को भी पढ़ा सके। किसके सामने वह अपना हृदय खोलकर रखे, यही उसकी समझ में नहीं आता था। घूमते-घूमते अंत में उज्जयिनी (उज्जैन) के निकट उसको एक व्यक्ति मिला। उसको देखकर गौड़पाद का मन बरबस ही उसकी ओर खिंच गया। उन्हें विश्वास हो गया कि यही व्यक्ति है, जिसकी वह इतने दिनों से खोज कर रहा है। उसका नाम चंद्र शर्मा तथा पूर्व भारत का रहने वाला था। उसके मन में व्याकरण पढ़ने की तीव्र अभिलाषा थी तथा महर्षि पतंजलि का नाम सुनकर उनके पास व्याकरण पढ़ने के लिए जा रहा था। गौड़पाद ने उसको व्याकरण पढ़ाया। अपनी थाती उसे सौंपकर उसने एक अपूर्व शांति का अनुभव किया। इसके पश्चात् वे हिमालय में श्री बदरिकाश्रम को चले गए तो वहाँ शुकदेव मुनि से वेदांत धर्म की शिक्षा लेकर गौड़पादाचार्य हो गए। उन्होंने कई ग्रंथों पर भाष्य बनाए तथा सांख्य और योग का वेदांत से समन्वय करने की दृष्टि से कई ग्रंथों की रचना की।

शंकराचार्य के गुरु गोविंदपाद इन्हीं गौड़पादाचार्य के शिष्य थे। प्राचीन पुस्तकों से पता चलता है कि गोविंदपाद वही चंद्र शर्मा थे, जिसको गौड़पादाचार्य ने पतंजलि का महाभाष्य पढ़ाया था। चंद्र शर्मा ने महाभाष्य को लिपिबद्ध किया, परंतु शुष्क व्याकरण से उनकी आत्मा को शांति नहीं मिली। फलत: वे भी बदरिकाश्रम चले गए तथा वहाँ गोविंदपाद ने नर्मदा के किनारे अमरकांत में अपने आश्रम की स्थापना की थी। वे कुछ दिन बदरिकाश्रम में रहते तथा कुछ दिन अमरकांत में रहकर अपने शिष्यों को धर्म और शास्त्रों की शिक्षा देते थे।

शंकर ने इस महान् परंपरा में प्रवेश किया। भगवत गोविंदपादाचार्य से उसने वेदांत की शिक्षा ली। शंकर ने वेदांत की शिक्षा को ग्रहण करके केवल अपने शिष्यों को पढ़ाकर ही संतोष नहीं किया अपितु अपने समस्त जीवन को व्यवहार में प्रकट करते हुए संपूर्ण राष्ट्र को इस मंत्र से अभिमंत्रित कर दिया। उन्होंने ज्ञान का वह प्रकाश फैलाया कि दिग्दिगंत आलोकित हो उठा। यह कैसे किया? इसका उत्तर उसका भावी जीवन देगा।

भगवत गोविंदपाद ने शंकर को विधिवत् संन्यास धर्म की दीक्षा दी। कर्म संन्यास ग्रहण करके शंकर उनके आश्रम में रहने लगा। शंकर जैसे प्रखर बुद्धि के शिष्य को पढ़ाना अत्यंत दुष्कर कार्य था। परंतु गोविंदपाद ने समस्त शास्त्र बड़ी योग्यता से पढ़ाए। उनको विश्वास था कि शंकर धर्म का उद्धार करेगा। इसीलिए उसमें कोर-कसर छोड़ना भावी राष्ट्र के जीवन में कोर-कसर छोड़ना होता। इसीलिए बड़ी सावधानीपूर्वक वेदांत धर्म के अंग-प्रत्यंग की शिक्षा दी। अपनी बातचीत, उठने-बैठने तथा अपने व्यवहार से शंकर के ऊपर ऐसे संस्कार किए, जो उसको धर्म-प्रचार के कार्य में भी योग्य बना दे। जब उसको पढ़ाते तो सूत्रों का अर्थ वे इतनी तन्मयता से करते कि मालूम होता था कि वे अपनी आत्मा शंकर के सामने निकालकर रख देना चाहते थे। पक्षपात के आरोप को सहन करके भी उन्होंने शंकर को विशेष रूप से शिक्षा दी, क्योंकि वह उनकी तथा राष्ट्र की भावी आशा का केंद्र था।

6

शिक्षा : माया और संसार

संन्यासी का धर्म क्या है व कम-से-कम उन्होंने उसको क्या समझा, यह वैसे तो उनके संपूर्ण जीवन से ही पता लगता है, किंतु अमरकांत के जीवन की एक घटना से उस पर बहुत प्रकाश पड़ता है। भगवत गोविंदपाद उस समय बदरिकाश्रम गए थे। आश्रम की देखभाल उस समय शंकराचार्य ही कर रहे थे। वर्षा ऋतु थी। उस वर्ष मेघराज अहंकारी तथा अधीर मनुष्य की भाँति जीवन के तत्त्वों को भी अपने अंदर न रोक पाए। वे फूट पड़े और बिना सोचे-समझे धारा प्रवाह निरंतर जारी रहे। बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट होती; गर्जन को सुनकर लोग कान बंद कर लेते। विद्युत् की तीक्ष्ण परंतु क्षण भर में नष्ट होने वाली प्रकाश-रेखा दिखती, लोगों की आँखें चकाचौंध हो जातीं और फिर जोरों से वर्षा प्रारंभ हो जाती। धीरे-धीरे दिए हुए ज्ञान के समान धीरे होने वाली वर्षा से पृथ्वी की प्यास बुझती है, उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ती है, कृषि की वृद्धि होती है और जनता को आनंद होता है। परंतु ग्रहण करने वाले की ग्रहण शक्ति का अनुमान लगाए बिना दिया हुआ दान जैसे दुःख का कारण होता है, वैसे ही आस-पास की भूमि अथाह जलराशि को ग्रहण न कर पाई। उसने उठाकर नर्मदा में फेंक दिया। वह भी ओछे नर की भाँति उबल पड़ी, कुलाँचें मारकर भागना शुरू किया। मालूम होता था कि तटवासियों का सर्वनाश ही कुलाँचें मार रहा हो। नर्मदा का जल क्षण-क्षण बढ़ता जाता था और उधर तटवासियों के जीवन की आशा शनैः-शनैः क्षीण होती जाती थी। मेघराज तो प्रलय-दुर्दिन के समान रुकने का नाम ही नहीं लेते थे। शांतिकाल में जीवन देने वाली नर्मदा भी भगवान् रुद्र के समान तांडव कर उठी। नर्मदा में बाढ़ आ गई और आसपास के गाँव बह गए। हज़ारों ही मनुष्य बेघर-बार हो गए। वर्षों में दी हुई संपत्ति को नर्मदा एक आवेश में लूटकर ले गई। नर्मदा में संपत्ति बही जाती थी और बहे जाते थे उसके साथ नर-नारी, मानो मृत्यु की इस भीषणता में भी उनका धन का मोह न छूटा

हो और अभी भी उसके पीछे भागे जाते हों। अनेकानेक गउएँ पानी के ओघ पड़कर अपने प्राणों को बचाने की निष्फल चेष्टा करतीं और तरंगों की चपेट में आहत होकर जीवन खो बैठतीं। उनके आकाशभेदी भीषण रंभण को नर्मदा अपने भीषणतम रब में दबाने का प्रयत्न करती, परंतु जिनके कान हैं, वे तो उसे सुन ही लेते। आकाश भी फटता तो जरूर, परंतु दुष्ट नर की भाँति अनुनय-विनय, आक्रोश और आर्तनाद सुनकर और अधिक क्रोध को निकालता हुआ मृत्यु की वृष्टि करता। हाँ, आक्रोश को सुनकर शंकराचार्य का हृदय-पट भी मानो विदीर्ण हुआ जाता था। उनको अपने आश्रम में बैठा रहना कठिन हो गया।

समस्त संसार को माया समझने वाले शंकर ने न जाने कितने दिन इन बाढ़ पीड़ितों की सेवा में बिताए। आश्रमवासी कहते, हमको इस सबसे क्या प्रयोजन? हमको तो परम सत्य का अनुसंधान करने में और परब्रह्म का साक्षात्कार करने में अपना समय बिताना चाहिए। परंतु शंकर जानते थे कि परम सत्य क्या है? आकाश में चाहे कुसुम खिल जाए, परंतु वहाँ भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। उसके लिए तो नीचे पृथ्वी पर ही अपने आस-पास अपने देशवासियों के हृदयों को ही टटोलना पड़ेगा। आर्त की पुकार में जिसको भगवान् की वाणी नहीं सुनाई देती; उसके कान भगवान् के शांत स्वर को नहीं सुन सकते। दुर्बल और दुःखी की आत्मा को जो नहीं पहचान सकता, वह सर्वात्मा का क्या दर्शन कर सकेगा?

मैं ढूँढ़ता तुझे था आकाश और वन में।
तू खोजता मुझे था किसी दीन के वतन में।

इस सिद्धांत को शंकराचार्य ने जीवन में निभाया। आश्रमवासियों के साथ वे पीड़ितों की सेवा में जुट गए। जब महापुरुष किसी कार्य को हाथ में लेता है तो प्रकृति की दुर्दांत शक्तियाँ भी उसके सामने झुक जाती हैं। कहते हैं कि उन्होंने यह नर्मदाष्टक बनाकर नर्मदा की स्तुति की, जिससे उसका क्रोध भी शांत हो गया—

सविन्दुसिन्धुसुस्खलत्तरङ्गभङ्गरञ्जितम्।
द्विषत्सु पापजातजातकारिवारिसंयुतम्।
कृतान्तदूतकाल भूत भीतिहारिनर्मदे,
त्वदीयपादपंङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 1॥

त्वदंबुलीनदीनमीनदिव्यसम्प्रदायकं,
कलौ मलौघभारहरिसर्वतीर्थनायकम्।
सुमच्छकच्छनक्रचक्रवाकचक्रशर्मदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 2॥

महागभीरनीरपूरपापधूतभूतलं,
ध्वनत्समस्तपातकारिदारितापदाचलम्।
जगल्लये महाभये मृकण्डुसूनुहर्म्यदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 3॥

गतं तदैव मे भयं त्वदम्बु वीक्षितं यदा,
मृकण्डुसूनुशौनकासुरारिसेवितं सर्वदा।
पुनर्भवाब्धिजन्मजं भवाब्धिदुःखवर्मदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 4॥

अलक्ष्यलक्षकिन्नरामरासुरादिपूजितं,
सुलक्षनीरतीरधीरपक्षिलक्षकूजितम्।
वशिष्ठशिष्टपिप्लादिकर्दमादिशर्मदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 5॥

सनत्कुमारनासिकेतकश्यपादिषट्पदैर्धृत
स्वकीयमानसेषु नारदादिषट्पदैः।
रवीन्दुरनिन्तदेवदेवराजकर्मशर्मदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 6॥

अलक्षलक्षलक्षपापलक्षसारसायुधं
ततस्तु जीवजन्तुतन्तुभुक्तिमुक्तिदायकम्।
विरिञ्चविष्णुशङ्करस्वकीयधामनर्मदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 7॥

अहोऽमृतं स्वनं श्रुतं महेशिकेशजातटे,
किरातसूतवाडेषु पण्डिते शठे नटे।
दुरन्तपापतापहारि सर्वजन्तुशर्मदे,
त्वदीयपादपङ्कजं नमामि देवि नर्मदे॥ 8॥

इदं तु नर्मदाष्टकं त्रिकालमेव ये सदा,
पठन्ति ते निरन्तरं न यान्ति दुर्गतिं कदा।
सुलभ्यदेहदुर्लभं महेशधाम गौरवं,
पुरर्भवा नरा न वै विलोकयन्ति रौरवम्॥ 9॥

गोविंदगुरु जब लौटकर आए तो शंकर के इस सौहार्द के समाचार को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास हो गया कि शंकर ने सर्वात्मैक्य की अवस्था प्राप्त कर ली है। अतः अब उसको धर्मकार्यार्थ देशभ्रमण की आज्ञा दे देनी चाहिए। परंतु शंकर के इस महान् कार्य के निमित्त निकलने के पूर्व गोविंदपाद ने उन्हें अपने गुरु गौड़पाद के दर्शन करा देना उचित समझा। मन का यह विचार दूसरे क्षण शंकर को कह सुनाया। सुनते ही

शंकर खुशी से नाचने लगा। उसका यह सौभाग्य कि वह अपने परमगुरु के दर्शन करेगा। उसके पाँव जमीन पर नहीं पड़ते थे। आज वह अपने आपको धन्य समझ रहा था, मानो जन्म-जन्म के पुण्य उदय हो आए हों।

गोविंदगुरु और शंकर बदरिकाश्रम की यात्रा को चल दिए। अमरकांत से लेकर हिमालय तक का लंबा सफर शंकर ने ऐसे तय किया मानो वह फूलों पर चल रहा हो। उसे मार्ग का ध्यान नहीं था, वह तो अपने परमगुरु के ध्यान में मग्न आगे बढ़ता जाता था। जिसकी दृष्टि सतत अपने ध्येय पर लगी हुई है, उसे मार्ग की कठिनाइयाँ नहीं सतातीं। उसका ध्यान अपने पाँवों की ओर नहीं रहता और बिना ध्यान के सुख-दुःख की प्रतीति ही कहाँ?

बदरिकाश्रम में भगवान् गौड़पादाचार्य ब्रह्मनिष्ठा में लीन थे। गोविंदपाद ने शंकराचार्य का परिचय कराया। शंकर ने अपने परमगुरु को साष्टांग प्रणाम किया। गोविंदगुरु की भाँति गौड़पादाचार्य को भी शंकर को देखकर विश्वास हो गया कि वह अवश्य ही वैदिक धर्म का उद्धार करेगा। उसमें उन्हें अलौकिक प्रतिभा तथा असाधारण बुद्धि भासित हुई। उससे भी अधिक उन्होंने देखा कि उसके पास अपने देश और धर्म की दशा को देखकर रोने वाला हृदय भी है तथा उसी हृदय में उन्हें इस दशा को दूर करने की एक अत्यंत प्रखर आकांक्षा भी दिखाई दी। इतना होते हुए भी वे शंकर को कच्चा नहीं निकलने देना चाहते थे; क्योंकि वे जानते थे कि जहाँ एक अच्छा कार्यकर्ता समाज को अवनति के गर्त से निकालकर हिमाद्रि के उत्तुंग शिखर पर आसीन कर संकता है, वहाँ एक अयोग्य कार्यकर्ता समाज के मार्ग में रोड़े ही अटकाएगा तथा किसी-न-किसी दिन अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, नाम और यश के पीछे धर्मघात करने को तैयार हो जाएगा। अहंकार वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति को अवनति के गर्त में डालता है, किंतु समाज के कार्यकर्ता का अहंकार तो उसके साथ-साथ संपूर्ण समाज में फैलकर चारों ओर के वातावरण को विषाक्त कर देता है। वे जानते थे कि शंकर अहंकार आदि दुर्गुणों से कोसों दूर है, परंतु फिर भी उन्होंने उसे अपने पास और चार वर्ष रखा, स्वयं उसको शिक्षा दी तथा दोषों को बीन-बीनकर निकाल फेंका।

शंकर के जीवन में ये चार वर्ष अत्यंत महत्त्व के सिद्ध हुए। यहाँ की शिक्षा उसके जीवन की बहुमूल्य शिक्षा थी। भारतीय संस्कृति और जीवन के मानदंड हिमालय की गोद में बैठकर यदि शंकर ने विशालता और दृढता के पाठ पढ़े तो कौन आश्चर्य? बर्फीली चट्टानों की उज्ज्वलता में उसने अपने धर्म की उज्ज्वलता को देखा। बर्फ़ के समान ही स्वच्छ जीवन बनाने का उसका प्रयत्न रहता। निदाघ के आतप में हिम उसका साथ नहीं दे पाता। वह शंकर के उज्ज्वलतर जीवन को देखकर लाज से गल जाता, बहकर उसके सामने से भागने का प्रयत्न करता, मानो किसी गहरे गर्त में अपना मुँह छिपाकर झेंप मिटाना चाहता हो। भगवती भागीरथी का कल-कल स्वर उसे दूर तक

सुनाई देता था। उसने देखा कि जो हिमालय बड़े-बड़े आँधी और तूफानों में सिर उठाए खड़ा रहता है, वही गरमी में अपने शरीर को गला-गलाकर भागीरथी को जीवनदान देता है, ताकि भारत के अगणित नर-नारी उससे जीवन और पुण्य लाभ करें। हिमाद्रि की इस मूक देशभक्ति को देखकर शंकर श्रद्धा से उनके सामने झुक गया और शायद उसी क्षण अपने जीवन में आपत्तियों और कष्टों की चिंता न करते हुए तिल-तिल गलकर देश की सेवा करने का व्रत लिया।

वहाँ रहकर शंकराचार्य ने अपने परमगुरु की आज्ञा से तथा उन्हीं के तत्त्वावधान में अनेक ग्रंथों की रचना भी की। एक दिन शंकराचार्य ने गौड़पादाचार्य से उनकी मुंडकोपनिषद-कारिका पर भाष्य लिखने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिलने पर इतनी तत्परता तथा योग्यता के साथ सरल एवं सरस भाषा में भाष्य लिखा कि गौड़पादाचार्य उसको देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी समय शंकराचार्य से वेदांत-प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने को कहा।[1] उनकी आज्ञानुसार शंकराचार्य ने जगन्प्रसिद्ध षोड्श भाष्यों की रचना की। चार वर्षों की छोटी सी अवधि में अध्ययन के साथ इतने भाष्य लिख डालना अत्यंत आश्चर्य की बात है और जब भाष्यों की भाषा, उसके एक-एक शब्द का महत्त्व तथा उनकी योजना, भावों की गहराई को देखते हैं तो कार्य अतिमानुषी ही मालूम होता है। आज बड़े-बड़े लेखक भी इस गति को देखकर दाँतों तले उँगली दबाते हैं। वेदांतसूत्र पर तो उनका भाष्य अद्वितीय है। आज तक अनेकानेक आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं, परंतु विचारों की मौलिकता, गंभीरता, दृढता और सरलता में शंकराचार्य से कोई भी टक्कर नहीं ले पाया है। शंकर के भाष्य जितने प्राचीन हैं, उतने अधिकृत भी हैं।

कहते हैं कि भगवत गौड़पादाचार्य शंकर के भाष्यों को देखकर इतने प्रसन्न हुए कि वे उसे अपने गुरु एवं परमगुरु शुक और महर्षि बादरायण के दर्शन कराने के लिए कैलास पर्वत पर ले गए। वेदांत के आदिप्रणेता के दर्शन करके शंकर ने अपने आपको धन्य समझा और उसी समय 'धन्याष्टक' की रचना की। इस किंवदंती में सत्यांश कितना भी कम क्यों न हो, यह तो निश्चित है कि शंकर ने महर्षि बादरायण का उनकी रचनाओं के द्वारा अवश्य ही साक्षात्कार कर लिया था।

अपने इस कार्य को समाप्त करके शंकराचार्य ने देश-भ्रमणार्थ गुरु से आज्ञा प्राप्त की। गुरुवर्य ने उसको आशीर्वाद दिया तथा उसकी सफलता के लिए शुभकामनाएँ प्रदर्शित कीं। भगवान् का आशीर्वाद तथा पूर्वजों का पुण्य उनके साथ था। गुरु से आशीर्वाद पाकर उसने उनके सम्मुख सिर नवाया, उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और हाथ में भगवद्ध्वज, दंड और कमंडलु लेकर अपनी धर्म-यात्रा प्रारंभ कर दी।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। इसमें उपनिषदों को श्रुति प्रस्थान, गीता को स्मृति प्रस्थान और ब्रह्मसूत्रों को न्याय प्रस्थान कहते हैं।

7

बंधन से मुक्ति

शंकराचार्य ने गुरु से आज्ञा लेकर यात्रा की तैयारी की ही थी कि उन्होंने अपने संबंधी अग्नि शर्मा को आते देखा। अनिष्ट की आशंका से उनका हृदय धड़कने लगा। वे जानते थे कि उनके संबंधी अग्नि शर्मा के आने का और कोई कारण नहीं हो सकता। कालटी के अनेक चित्र एक-एक करके उनकी आँखों के सामने से निकल गए। अग्नि शर्मा को अभिवादन करके उन्होंने कुशल-क्षेम पूछी, किंतु अग्नि शर्मा शांत खड़ा था।

"बोलो भाई, सब कुशल तो है। चुप कैसे खड़े हो?" शंकराचार्य ने आग्रहपूर्वक पूछा।

अग्नि शर्मा ने बहुत सा धन निकालकर शंकराचार्य के सम्मुख रख दिया और बोला, "यह धन है, जो माता आर्यंबा ने तुम्हारे पास भेजा है। वे अपनी अंतिम साँसें गिन रही हैं।"

शंकराचार्य के ऊपर मानो वज्र गिर गया। वे हतप्रभ खड़े थे। माता से उनको बहुत प्रेम था। उन्हें इस बात का दुःख नहीं था कि वह परलोकगामिनी होना चाहती थीं, परंतु इस बात का कि वे अपनी धर्म यात्रा अभी प्रारंभ नहीं कर सकेंगे। शांत चित्त से उन्होंने अपने आपको भगवान् को समर्पित कर दिया। संन्यास लेते समय उन्होंने माता से प्रतिज्ञा की थी कि मरते समय अवश्य आ जाऊँगा, अतः अपनी प्रतिज्ञानुसार अब उनको कालटी जाना था।

माता के भेजे हुए धन का शंकराचार्य क्या करते? वे तो संन्यासी हो चुके थे। अब वह संपत्ति उनकी नहीं, राष्ट्र की थी। अतः उन्होंने बदरिकाश्रम में ही उस धन से श्री बदरीनाथ का मंदिर बनवाया। 13,000 फीट की ऊँचाई पर हिमालय की उपत्यका में आज भी यह भव्य मंदिर खड़ा हुआ है और इसके साथ ही वह विशाल हिंदू-राष्ट्र भी

खड़ा हुआ है, जिसकी नींव शंकर ने इस मंदिर के साथ रखी थी। हमारे प्रमुख तीर्थ में बदरी तीर्थ एक अत्यंत प्रमुख स्थान रखता है। भारत के कोने-कोने से हिम और शीत की चिंता न करते हुए, जंगल और पहाड़ों की चिंता न करते हुए, सहस्रों की संख्या में हिंदू श्री बदरीनाथ के दर्शन करने को जाते हैं और जब वे अत्यंत श्रद्धा और भक्तिभाव से श्री बदरीनाथ को नमन करते हैं तो अनजाने में ही शंकराचार्य और माता आर्यंबा के प्रति भी अपनी श्रद्धा के दो फूल चढ़ा देते हैं। जिन कांचन पात्रों में भगवान् का भोग लगाया जाता है, वे शंकराचार्य के दिए हुए हैं तथा आज तक अग्नि शर्मा के वंशज ही इस मंदिर में पूजा करने के अधिकारी हैं।

बदरीनारायण के मंदिर का निर्माण प्रारंभ करके शंकराचार्य अपने मित्र विष्णु शर्मा के साथ कालटी चल दिए। विष्णु शर्मा भी अब संन्यासी हो गया था तथा अब उसका नाम चित्सुखाचार्य था। शंकराचार्य अपनी माता के दर्शनों के लिए बड़े उत्सुक थे, जिसके कारण मार्ग का एक-एक डग उनको एक-एक कोस मालूम होता था। इतना लंबा मार्ग हो गया था कि काटे नहीं कटता था। वैसे भी कोई कम अंतर नहीं है। बदरिकाश्रम से कालटी लगभग 1,800 मील दूर है। उस समय रेल नहीं थी, हवाई जहाज नहीं थे, संपूर्ण मार्ग पैदल ही चलना था। कितने दिन लगे होंगे शंकराचार्य को आते-आते और उनके मन की क्या दशा रही होगी इन दिनों में? उनको बताया गया था कि उनकी माता अंतिम साँसें गिन रही हैं। इधर वे भी एक-एक पग गिन रहे थे। उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते थे। जमीन छूने में भी समय लगता है न? वे उड़े जा रहे थे। उन्हें विश्राम की चिंता नहीं थी। भूख और प्यास सब मारी गई थी।

दौड़ते-दौड़ते जैसे-तैसे कालटी पहुँचे। भगवान् की कृपा से माता के अंतिम दर्शन कर सके। जैसे ही वे घर में गए कि दौड़कर अपनी माता के चरण पकड़ लिए। वे भूल गए थे कि वे संन्यासी हैं, सर्ववंद्य हैं। नहीं, भूले नहीं थे। वे जानते थे कि कितने ही बड़े क्यों न हो जाएँ, माता के लिए तो वही शंकर है और फिर माता माता ही है, सर्वदा आदरणीय है, पूज्या है। माता आर्यंबा ने उसको गले से लगा लिया। हर्षातिरेक से उसके आँसू निकलने लगे।

शंकराचार्य ने माता की ख़ूब सेवा-शुश्रुषा की। सदा माता की खाट के पास ही बैठे रहते, उन्हें दवा देते, पथ्य देते, गरमी में पंखा झलते। माता आर्यंबा का व्रत था कि वह नित्यप्रति पूर्णा नदी में स्नान करती थीं। अब वह दुर्बल हो गई थीं, अब शरीर में इतनी शक्ति नहीं थी कि नदी तक जा सकें। नदी दूर थी, आर्यंबा बड़ी चिंतामग्न थीं। सोचती थीं कि अब अंत समय में मुझे अपना व्रत तोड़ देना पड़ेगा। उनको इस प्रकार चिंताकुल देखकर शंकराचार्य ने कहा, "माँ, तुम चिंता क्यों करती हो? अब तक तुम नदी तक जाती थीं, अब नदी तुम्हारे पास आएगी।" आर्यंबा कुछ भी नहीं समझ पाईं, परंतु

उन्होंने अपने पुत्र की बात पर विश्वास कर लिया, क्योंकि वह जानती थीं कि शंकराचार्य में अलौकिक शक्ति है।

दूसरे दिन प्रात:काल जब शंकराचार्य कंधे पर घड़ा रखकर जाने लगे तो आर्यंबा ने पूछा, ''कहाँ जाता है, शंकर?''

''नदी लेने जा रहा हूँ माँ।'' शंकराचार्य ने उत्तर दिया।

''नहीं, बेटा नहीं, नदी पर मत जा, नदी में ग्राह है।'' आर्यंबा ने घबराकर कहा।

शंकराचार्य हँस दिए और बोले, ''वह तो मर चुका माँ! अब मुझे फिर संन्यास थोड़े ही लेना है?''

शंकराचार्य नदी पर गए। एक मटका पानी भरा और नदी में कुछ बल्लियों का बेड़ा इस प्रकार बाँध दिया कि नदी का प्रवाह पलट गया। माता आर्यंबा ने उस दिन घड़े के पानी से स्नान किया। बचा हुआ पानी द्वार पर फेंक दिया। दूसरे दिन लोगों को देखकर आश्चर्य हुआ कि पूर्णा का जल शंकराचार्य के द्वार की सीढ़ियों से टकरा रहा था। उनका बल्लियों का लगाना काम दे गया। परंतु लोगों को यह रहस्य कहाँ मालूम था, वे तो शंकराचार्य के अतिमानुषी कार्य के संबंध में तरह-तरह की चर्चा करने लगे।

एक दिन आर्यंबा ने शंकराचार्य से कहा, ''शंकर! तू धर्म का ज्ञाता है। देश भर में धर्म का प्रचार करने वाला है। तनिक मुझे भी तो कुछ धर्म बता। मरते-मरते तो शांति मिले।''

शंकराचार्य ने माता की आज्ञा पाकर उसे अद्वैत की बातें अत्यंत ही सीधी और सरल भाषा में बताने का प्रयत्न किया। उसे समझाने के लिए उन्होंने तत्त्वबोध नाम का एक सरल ग्रंथ भी रचा। सबकुछ सुनकर माता आर्यंबा ने कहा, ''ये तो ऊँची बातें हैं, शंकर! देश के सब लोग इन बातों को समझ सकेंगे? मुझे तो कुछ भगवान् कृष्ण के विषय में ही बता।''

शंकराचार्य ने 'कृष्णाष्टक; बनाकर माता को सुनाया तथा उसी दिन यह भी समझा कि जब तक वेदांत के तत्त्वज्ञान को भक्ति का पुट नहीं मिलता, तब तक वह जन-साधारण के किसी काम का नहीं है और इसी समय भक्तों के भिन्न इष्टदेवों के पीछे एक परब्रह्म की प्रतिष्ठापना का निश्चय कर लिया। कृष्णाष्टक सुनकर आर्यंबा इतनी भक्तिभावपूर्ण हो गईं कि भगवान् का ध्यान करते-करते उसकी आत्मा भगवान् में लीन हो गई। कृष्णाष्टक समाप्त करते ही शंकराचार्य ने देखा कि उनके सामने माता का प्राणहीन शरीर पड़ा हुआ है। माता की मृत्यु के उपरांत उनका अंतिम संस्कार करना उनका कर्तव्य हो जाता था, क्योंकि वे इसकी प्रतिज्ञा कर चुके थे। वे संन्यासी थे और संन्यासी को दाहकर्म की आज्ञा नहीं है, यह वे जानते थे। यह समस्या उनके समक्ष भी उपस्थित हुई थी, जब माता आर्यंबा ने उनसे उनका अंत्य संस्कार करने की प्रतिज्ञा

करवा ली थी। वह सोचती थी कि अंतिम संस्कार की प्रतिज्ञा और संन्यास दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। इसीलिए शंकर संन्यास का विचार छोड़ देगा। परंतु शंकराचार्य ने संन्यास धर्म इसीलिए अपनाया था कि मार्ग से देश, जाति और धर्म का अधिक-से-अधिक कार्य कर सकेंगे, न कि इसलिए कि उन्होंने संन्यास को ही सर्वस्व समझ रखा था। वे जानते भी थे कि माता से की हुई उनकी प्रतिज्ञा उनके देशकार्य में बाधा नहीं डाल सकेगी। इसीलिए उन्होंने वास्तविक संन्यास ग्रहण किया, केवल दिखावे का नहीं। माता का अंतिम संस्कार करने के कारण संन्यास धर्म से च्युत श्रीमच्छंकराचार्य के जीवन के साथ-साथ कौन सा परम नैष्ठिक संन्यासी तुलना करने का साहस करेगा? क्या शंकराचार्य के समान किसी अन्य संन्यासी ने देश सेवा की है? यदि नहीं तो शंकराचार्य सच्चे संन्यासी थे, मन से थे, तत्त्वत: वे केवल कपड़े रँगकर दिखावा करने वाले नहीं और इसीलिए तो आज तक वे संन्यासियों के समक्ष भी आदर्श बने हुए हैं।

शंकर के इस कार्य के कारण उनके कुल के तथा कुटुंब के लोग उनसे बिगड़ गए तथा किसी ने भी आर्यंबा का शव उठाने तक में सहायता नहीं दी। परंतु दृढनिश्चयी, दृढप्रतिज्ञ, निर्भीक एवं अपने अंत:करण में प्रतिष्ठापित सत्य के समक्ष संसार की चिंता न करने वाले शंकराचार्य ने स्वयं एकाकी ही संपूर्ण संस्कार विधिवत् किए। अपने घर के आँगन में ही चिता रचकर अपनी बलिष्ठ भुजाओं से उठाकर शव को चिता पर रखा और वेद मंत्रों का उच्चारण करते हुए अग्नि संस्कार किया। उसी समय उन्होंने 'मातृस्तुति' नाम की कविता रची। उनके हृदय में माता के प्रति कितना प्रेम और कितनी श्रद्धा थी, यह इस कविता के एक-एक अक्षर से टपकता है।

माता का अंतिम संस्कार समाप्त ही कर पाए थे कि शंकराचार्य सदानंद नाम के एक व्यक्ति ने भगवत गोविंदपाद के अमरकांत आने और रुग्ण-शय्या पर पड़े होने का समाचार दिया। वे मृत्यु के पूर्व शंकराचार्य से भेंट करना चाहते थे। अत: उसके द्वारा उन्होंने उनको बुलवाया था। समाचार सुनते ही वे अमरकांत की ओर दौड़ पड़े। बड़ी कठिनाई से एक मास में अमरेश्वर पहुँच पाए। जब वे वहाँ पहुँचे तो भगवत गोविंदपाद अचेत अवस्था में पड़े हुए थे, किंतु जैसे ही अपने प्रिय शिष्य शंकर की वाणी सुनी, वैसे ही उन्होंने आँखें खोल दीं। एक बार ज़ोर लगाकर उठकर खड़े हो गए मानो भले-चंगे हों और शंकराचार्य को गले से लगा लिया। शंकराचार्य को अंतिम संदेश दिया। उसे दिग्विजय प्रारंभ करने का आदेश तथा सफलता का आशीर्वाद दिया। बस ॐ का उच्चारण करते-करते वे महाप्रयाण कर गए। उनके स्थान पर शंकराचार्य ही शिष्य समूह के गुरु थे।

8

जनजीवन का साक्षात्कार

शंकराचार्य ने इतने दिनों में राष्ट्र की संपूर्ण परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन कर लिया था। प्राय: भारतवर्ष का भ्रमण कर ही चुके थे तथा संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर चुके थे। देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक लोगों के क्या विचार हैं, उनकी कैसी भावनाएँ हैं, वे क्या चाहते हैं, इसका उन्हें पता था। पुत्र के रोगी हो जाने पर माता का हृदय छटपटाता तो है, उसको वेदना तो होती है किंतु रोग क्या है, इसकी औषधि क्या है, यह वह नहीं जानती। चिकित्सक को रोगी के रोग का निदान और चिकित्सा का ज्ञान तो होता है किंतु उसके मन में रोगी के प्रति कोई प्रेम नहीं, हृदय में कोई संवेदना नहीं, वह तो निरीह और निरासक्त भाव से रोगी की चिकित्सा करता है।

शंकराचार्य में अपने राष्ट्र और समाज के प्रति माता का सा स्नेह था तो चतुर चिकित्सक की भाँति शास्त्र का ज्ञान भी था। देश की दुर्दशा देखकर जब उनका हृदय रोया तो हृदय शांत करने के लिए जो भी सामने आया सो करने को वे तैयार नहीं हुए अपितु एक तत्त्ववेत्ता की भाँति इस दुर्दशा की कारण-मीमांसा की, विषय का विवेचन किया, रोग का निदान किया और फिर योग्य चिकित्सा की। मातृ-स्नेह के कारण उत्पन्न तन्मयता के साथ तथा चतुर एवं योग्य चिकित्सक के अधिकृत ज्ञान एवं आत्मविश्वास के साथ उन्होंने देखा कि संपूर्ण देश में दो प्रकार के मत-मतांतर फैल रहे हैं। प्रथम तो अवैदिक तथा पुरानी परंपरा को नष्ट करने वाले बौद्ध आदि धर्म और दूसरे, उपर्युक्त धर्मों के कारण प्रतिक्रियास्वरूप अथवा वैदिक धर्म की रक्षार्थ उत्पन्न धर्म। प्रथम श्रेणी के मतों की अराष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ जहाँ उनके हृदय को दु:खित करती थीं, वहाँ उनको इस कारण भी दु:ख होता था कि दूसरी श्रेणी के अंतर्गत राष्ट्रीय वृत्ति वाले लोग भी संपूर्ण श्रेष्ठ परिस्थिति का आकलन किए बिना ही कुछ-न-कुछ करते हुए केवल अपनी-अपनी डफली लेकर अपना-अपना राग ही नहीं अलाप रहे हैं, वरन् अपना ही राग

सुनाई दे, वही मधुर है, ऐसा समझकर दूसरे का मुँह बंद करने में तथा उनकी अपनी डफली फोड़ने में भी व्यर्थ ही अपनी शक्ति को गँवा रहे हैं।

भगवान् बुद्ध से लेकर अब तक 1,000 वर्ष में समाज पर पड़े हुए संस्कारों की अवहेलना करके कुछ एकदम उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न करते हुए वैदिक युग लाने का स्वर्ण-स्वप्न देख रहे हैं; तो कुछ इन संस्कारों को ही सर्वस्व समझकर गंगा में मिलने वाले गंदे नाले को ही गंगा समझकर उसी में डुबकी मारकर पुण्य प्रसाद लूटने के भ्रम में पड़कर आत्म-प्रवंचना कर रहे हैं। अत: उन्होंने निश्चय किया कि प्रथम तो द्वितीय श्रेणी वालों को, जिनमें कि इस राष्ट्र के कल्याण की भावना है, जो ऋषि-मुनि प्रणीत वैदिक धर्म पुनरुद्धार की कामना करते हैं, उनको एक मार्ग पर लाया जाए, उनको संगठित करके उनमें एकसूत्रता निर्माण की जाए और इसके बाद आज भ्रम से जो अपनी प्राचीन परंपरा से टूटकर दूर जा गिरने के कारण अराष्ट्रीय वृत्तियों के शिकार बन गए हैं, उनकी अराष्ट्रीय वृत्ति दूर करके उनको अपने में मिलाया जाए। उनके कार्य की योजना बन चुकी थी, आंदोलन की रूपरेखा निश्चित थी। एक बार ध्येय और मार्ग निश्चित हुआ कि निष्ठापूर्वक लगन से कार्य करने वाले को ध्येय की ओर अग्रसर होने में देर नहीं लगती। उसकी जीवन-नौका फिर न तो शंका-कुशंका के भँवर में गोता खाती है और न विरोधियों के उठाए हुए झंझावात में डगमगाती है। ज्ञानमय श्रद्धा की पतवार उसको संपूर्ण भँवरों से बचाती है, आत्मविश्वास का पाल उठाते हुए तूफान में भी उसकी गति को बढ़ाया ही है।

शंकराचार्य ने निश्चित किया कि संपूर्ण भारतवर्ष में आंदोलन करने के पूर्व उनके आंदोलन में उनका साथ देने वाले साथी तैयार करने होंगे। इसके लिए श्री काशी (वाराणसी) क्षेत्र से अधिक उपयुक्त और कौन सा स्थान हो सकता था? काशी युग-युग से भारत का सांस्कृतिक केंद्र रहा है। भारत की आत्मा ही काशी में निवास करती है, यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बड़े-बड़े दिग्गज पंडितों का वहाँ सदा ही जमघट लगा रहता था। दूर-दूर से विद्याध्ययन के निमित्त विद्यार्थी यहाँ आते थे और गुरु के आश्रम में बारह-बारह, पंद्रह-पंद्रह वर्ष रहकर अपने-अपने यहाँ लौटते थे। कोई सुदूर दक्षिण से आता तो कोई उत्तर में कश्मीर से, कोई थार मरुस्थल को पार करता हुआ सौवीर[2] से आता तो कोई पूर्व से अनेक नदियों को लाँघता हुआ प्राग्ज्योतिष से वहाँ पहुँचता। भिन्न-भिन्न प्रांतों से आए हुए ये लोग अपनी आयु के अत्यंत संस्कारक्षम वर्ष यहाँ बिताते। सबके सब एक ही गुरु की अध्यक्षता में भाई-भाई के समान रहते, साथ-साथ उठते, बैठते, खेलते, खाते और सोते। एक वर्ष नहीं, दो वर्ष

---

2. सौवीर क्षेत्र का उल्लेख अग्नि पुराण में मिलता है। यह प्राचीन भारत में सिंधु प्रांत का हिस्सा था।

नहीं, पूरे पच्चीस वर्ष की अवस्था तक। फिर क्यों न इनमें प्रेम निर्माण हो। ऐसे लोगों से भेदभाव भय खाते हैं, विभिन्नता कूच कर जाती है, संकुचितता के नीचे से साँप सरक जाता है तथा प्रांतीयता पास नहीं फटक पाती। इसी बटु संप्रदाय की परंपरा ने संपूर्ण भारत को एक राष्ट्रीयता का जामा पहनाया था, उसको समान विचार, समान आचार और समान भावों के सूत्र में ग्रथित किया था।

स्वामी शंकराचार्य के काल में यह परंपरा तो थी किंतु कुछ क्षीण हो चली थी और फिर वहाँ भी तो भिन्न-भिन्न भावों का प्रतिपादन होता था। हृदय से जैसा रक्त निकलेगा, वही संपूर्ण शरीर में प्रवाहित होगा। अत: उन्होंने सबसे पहले हृदय को ही शुद्ध करने का निश्चय किया। फिर तो शुद्ध रक्त सुगमता से चारों ओर धमनियों और शिराओं तक फैल सकेगा। हाँ, यदि शिराओं और धमनियों में गड़बड़ हो तो उसको भी सुधारना होगा। किंतु पहले तो हृदय की ओर से ध्यान देने की आवश्यकता है। शुद्ध रक्त धमनियों को जीवन देता है। श्रीशंकराचार्य ने दोनों ही कार्य किए। काशी क्षेत्र पर अपने धर्म का सिक्का जमाया तथा वहाँ से आने-जाने की परंपरा को भी पुष्ट किया।

शंकराचार्य ने उक्त निश्चय के अनुसार भगवद्गोविंदपाद के शिष्यों के साथ काशी में डेरा डाल दिया। भगवती भागीरथी के किनारे जहाँ एक ही नहीं, दस-दस अश्वमेध करके चतुरंत भारत के एकछत्र साम्राज्य की घोषणा की गई हो, वहाँ उसी दशाश्वमेध घाट पर इन मिटते हुए साम्राज्यों तथा भारत की एकता के प्रश्न पर अवश्य ही विचार किया होगा। वहाँ यदि उन्होंने निर्णय किया हो तो क्या आश्चर्य कि बिना सांस्कृतिक एकता के, बिना विचारों के एकछत्र साम्राज्य के राजनीतिक एकता टिकाऊ नहीं होती। राजनीतिक एकता के मूल में सांस्कृतिक एकता चाहिए। सांस्कृतिक एकता हुई तो फिर राजनीतिक एकता के लिए प्रयत्न करने वाले वीर जन्म ले सकते हैं। सांस्कृतिक एकता होते हुए राजनीतिक भिन्नताएँ भी राष्ट्र का गला नहीं घोंट सकतीं। उसके शरीर को चाहे कृश कर दें, परंतु आत्मा को नष्ट नहीं कर सकतीं। आत्मा यदि बली रही तो वह स्वयं शरीर की चिंता कर लेगी। वहाँ बैठे-बैठे मांधाता, भरत, रघु, राम, युधिष्ठिर, कौटिल्य, चंद्रगुप्त, पुष्यमित्र, शातकर्णि, शिवनाग, भारशिव, वाकाटक, प्रवरसेन, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य आदि के दिग्विजय के दृश्य एक के बाद एक उनकी आँखों के सामने बने चलचित्र की भाँति निकल गए। उनके समान चतुरंत, एकराट् साम्राज्य स्थापित करने का आदर्श उनके सम्मुख भी आया किंतु उक्त साम्राज्यों से अधिक बलशाली, व्यापक तथा प्रभावी। भूमि के स्थान पर विचारों के एकराष्ट्रत्व की प्राप्ति के संकल्प को उन्होंने मन-ही-मन दुहराया। कल-कल करती हुई जाह्नवी ने उनका समर्थन किया। उसकी उर्मिमाला उछल-उछलकर उनके इस शुभ संकल्प पर उनको बधाई देने का प्रयत्न करने लगी। पुण्य सलिला की स्वच्छ जलराशि ने उनको स्नान के लिए आमंत्रित

किया। मानो वह उनमें भगीरथ के अथक परिश्रम फूँक देना चाहती हो, उनमें उन समस्त ऋषियों का तप और तेज फूँक देना चाहती हो, जिन्होंने उसमें स्नान किया और जिनका समस्त तप उसने उनके जल के मिस छीन लिया है, इसीलिए शायद गंगाजल में पवित्रता है, पापियों को भी तारने की शक्ति है, पुण्य करने का सामर्थ्य है। शंकराचार्य जब स्नान करके निकले तो उनकी कांति द्विगुणित थी, मानो उनके मन का निश्चय अपने संपूर्ण तेज के साथ फूट पड़ता हो। अपने विचारों का प्रतिबिंब उन्हें गंगा में दिखाई दिया। अपने आध्यात्मिक जगत् की अभिव्यक्ति गंगा के रूप में उनके सामने थी।

संसार के समान गंगा का जल सामने से भागता जा रहा था, प्रतिक्षण परिवर्तनशील किंतु अभिन्न, कितना अनित्य किंतु शांत! अनेक जलकणों का समूह सामने आता है, क्षण भर खेलता है और आगे बढ़ता जाता है, उसका स्थान दूसरे जलकण ले लेते हैं, जिनका पहले जलकणों से भिन्न अस्तित्व है किंतु जीवन में समानता है, उसके ही पीछे चलने की इच्छा है, इनसे ही सटे हुए, उस परंपरा में, उसी प्रकार सागर में जा मिलने की आकांक्षा मन में है, इसीलिए काशी की गंगा और हरिद्वार की गंगा एक है। दोनों को कौन अलग कहेगा? कितनी है उनमें भिन्नता, फिर भी वे समान हैं, उनका स्रोत समान है, ध्येय समान है, पुण्य प्रदायिनी तथा पापनाशिनी शक्ति समान है, यही है भेद में अभेद, भिन्नता में अभिन्नता, अनेकत्व में एकत्व, जिसको वे संसार को बताना चाहते थे। गंगा में उठने वाली भँवर और तरंगें सत्य नहीं हैं, वह तो वायु के परिणामस्वरूप हैं। वे ऊपर की हैं, असत्य हैं, नित्य नहीं अनित्य हैं, मिथ्या हैं, धोखा हैं, माया हैं। हाँ, नाविक को तो भँवरों से बचना ही पड़ता है। राष्ट्र का स्वरूप भी सुरसरि के समान प्रतिक्षण परिवर्तनमय प्रवाहित होता है। इस परिवर्तन को रोकने की चेष्टा करना राष्ट्र को रुके हुए पानी के समान गंदा और कीटाणु परिपूर्ण बनाना है। उसी प्रकार इसके स्रोत के साथ संबंध-विच्छेद भी इसके जीवन-रस को शुष्क करने का प्रयत्न है। वे चाहते थे, हिंदू राष्ट्र और हिंदू धर्म का सनातन स्रोत उसी प्रकार अजस्र प्रवाहित रहे, उसमें कहीं अवरोध न आए, परिवर्तन तो होते ही रहते हैं। किंतु उन नाम-रूपात्मक परिवर्तनों की ओट में हम अटल सत्य का, राष्ट्र की सच्ची आत्मा का दर्शन कर सकें। इस अवसर पर उन्होंने गंगास्तोत्र की रचना की, जो कि उनकी भावनाओं का स्पष्ट व्यक्तीकरण है।

शंकराचार्य कुछ काल काशी में रहे। वहाँ उनका प्रत्येक क्षण ध्येयपूर्ति का क्षेत्र तैयार करने में व्यतीत होता था। अपने चारों ओर उन्होंने ऐसे दृढ निश्चयी लोगों को एकत्र करना शुरू किया, जो उन्हीं की तरह विचार रखते थे तथा उनके समान ही जिन्होंने उन विचारों को सत्य सृष्टि में परिणत करने का व्रत ले लिया था। उनका शिष्य मंडल धीरे-धीरे बढ़ता गया। इनमें पद्मपाद की उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। कहते हैं कि इसी श्रद्धा के बल पर पद्मपाद गुरुजी के बुलावे पर गंगाजी में नंगे पैर घुस पड़ा। अथाह जलराशि

में पग-पग पर उसको प्रस्फुटित पद्मपुष्प मिलते गए, जिन पर पाँव रखता हुआ वह सानंद पार आ गया। इसीलिए उसका नाम पद्मपाद रखा गया। अपने ध्येय और नेता में श्रद्धा रखकर नेता की आज्ञा मिलने पर बिना हिचकिचाहट दौड़ पड़ने वाले को कोई कठिनाई नहीं रोक सकती। जिसको श्रद्धा का सहारा है, उसे भला कौन डुबो सकेगा? उसे मार्ग में काँटे नहीं मिलते, मार्ग के शूल भी उसके लिए फूल हो जाते हैं। विपत्तियों को तिल का ताड़ बनाने वाले अश्रद्धालु एवं शंकाशील व्यक्तियों के मार्ग में सदैव ही अलंघ्य पर्वत तथा असीम सागर रहता है, क्योंकि उनकी दृष्टि अपने ध्येय पर नहीं, अपने पैरों की ओर लगी रहती है। उनके मन में अपने ध्येय-देव का ध्यान नहीं होता है अपितु काल्पनिक कठिनाइयों के दानव मुँह बाए उनकी ओर सदा ही दौड़ते दिखते हैं।

अकेला पद्मपाद ही क्या, ऐसे अनेक शिष्य थे, जो उनको प्राणपण से चाहते थे तथा उनके इंगित पर जीवन को अर्पण करने में अपने जीवन का अहोभाग्य समझते। वेदांत जैसे शुष्क विषय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य शंकर में कितनी आत्मीयता थी, यह तो उनका शिष्य मंडल ही जानता था। गुरु का रोब-दाब उन्होंने कभी नहीं दिखाया बल्कि अवसर पड़ने पर तो उन्होंने अपने शिष्यों की सेवा शुश्रूषा भी की। उदंक की तो उन्होंने कुष्ठ रोग में सेवा की थी तथा अपनी सेवा परायणता से ही उसको इस भीषण रोग से छुटकारा दिलाया। हस्तामलक उनकी आत्मीयता के कारण ही विक्षुब्ध अवस्था को तजकर भली-चंगी अवस्था को प्राप्त हुआ। उनका अपने शिष्यों के साथ गुरु और शिष्य का संबंध न होकर सहयोगियों का सा संबंध था। सब के सब एक ही मार्ग के तो पथिक थे। इसी प्रेम एवं हृदय की विशालता के कारण उनके चारों ओर अत्यंत श्रद्धावान तथा उनके जीवन से, उनके ध्येय से समरस लोगों का समूह एकत्र हो गया। इसी के बल पर वे भविष्य में अपना धर्म प्रचार का कार्य अत्यंत सरलता से कर पाए।

यहाँ रहकर उन्होंने कुछ भक्तिभाव पूर्ण रचनाएँ भी कीं। प्रस्थानत्रयी पर तो उनका भाष्य पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुका था। काशी के पंडितों में उनके भाष्य की ख़ूब चर्चा होने लगी। कमल अपने खिलने का कभी ढिंढोरा नहीं पीटता, कहीं विज्ञापन नहीं निकलवाता। उसका काम खिलना है, भौंरे स्वयमेव उसके आस-पास मँडराने लगते हैं। महापुरुष को भी अपने नाम का डंका नहीं बजवाना पड़ता। वह कार्यक्षेत्र में उतरता है, उसके सहयोगी और विरोधी अपने आप उसके चारों ओर जुट जाते हैं। शंकराचार्य के चारों ओर भी पंडितों का जमघट लग गया। कोई उनके साथ शास्त्रार्थ करने आता तो कोई उनके काम में हाथ बँटाने के लिए आता। कोई कुतूहलवश आता तो कोई कुतर्क की कीचड़ से उनको कलंकित करने की कामना से आता। परंतु जो आता, वह उनका होकर जाता। बड़े-बड़े पंडित सिर उठाकर आते और आँखें नीची करके लौटते। शंकराचार्य को गालियाँ देते आते और स्तुति करते हुए लौटते। जो भी उनके पास आता, उसे प्रेमपूर्वक

अपने पास बिठाते। उसके मन की सुनते और फिर निरहंकार भाव से उसकी शंकाओं का समाधान करते। विरोधियों का विरोध उनके मीठे शब्दों से ऐसा ठंडा पड़ जाता, जैसे उफनता हुआ दूध ठंडे जल के छींटों से शांत हो जाता है। ज्ञानियों में श्रेष्ठ, सर्व वेद-वेदांग के उद्‌भट विद्वान् शंकराचार्य ने लोगों को अपने ज्ञान से नहीं बल्कि अपने प्रेम से जीता; लोगों के मस्तिष्क पर नहीं, हृदय पर विजय पाई। हृदय जीतने पर मस्तिष्क तो अपने आप वश में हो जाता है, क्योंकि मस्तिष्क तो हृदय का दास है।

चारों ओर शंकराचार्य का यश फैल रहा था, उसी प्रकार उनका शिष्य मंडल भी बढ़ता जा रहा था।

"अब कितने दिनों तक काशी में ही बैठे रहेंगे आचार्य?" एक दिन चित्सुख ने कहा, "काम तो संपूर्ण भारत में करना है। चारों ओर से धार्मिक अनाचार के समाचार बढ़ते ही जाते हैं।"

"धैर्य रखो विष्णु!" शंकराचार्य ने शांतिपूर्वक कहा। वे चित्सुख को अभी भी विष्णु ही कहते थे। वे बोले, "आंदोलन के अनुकूल शक्ति के संचित हुए बिना आंदोलन छेड़कर असफलता और निराशा मोल लेना चाहते हो? आज प्रत्येक अपने धर्म को अखिल भारतीय बनाना चाहता है और यह इच्छा स्वाभाविक भी है। क्यों न अपने विचारों का लाभ अपने देश-बांधवों को दिया जाए। उन्हें सीमित और संकुचित रखने की क्या आवश्यकता है। परंतु उनके सिद्धांत चारों ओर नहीं फैल पाते। उनकी इस असफलता का कारण उनके उन सिद्धांतों की असत्यता, जनता की भावनाओं से प्रतिकूलता तथा सारहीनता ही नहीं है, अपितु उनकी शक्तिहीनता भी है, उनकी कार्य-पद्धति का भी दोष है। केवल अखिल भारतीय नाम देने तथा इच्छा करने से कोई कार्य अखिल भारतीय नहीं हो सकेगा। उसके लिए उस प्रकार के ढंग से प्रयत्न करना होगा। समस्त समाज की रचना और व्यवस्था करनी है। सब धर्मों का समन्वय करना है, तदनुसार शक्ति भी संचित होनी चाहिए।"

चित्सुख का समाधान हो गया। शंका रहित होने पर कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है, अन्यथा शंकाएँ चित्तवृत्ति को कुरेदती रहती हैं और पैर पकड़कर ख़ींचने का प्रयत्न करती हैं। समस्त शिष्य मंडली और भी वेग से कार्य में जुट गई, क्योंकि उनके कार्य के ऊपर ही उद्‌देश्य की सफलता निर्भर थी।

शंकराचार्य के मन में कभी छोटे-बड़े, छूत-अछूत का विचार नहीं आया। सच में तो छूत-अछूत की समस्या भी आज की ही है, उस समय उसका अस्तित्व भी नहीं था। फिर भी एक घटना का वर्णन करना आवश्यक है। एक बार शंकराचार्य स्नान करने के लिए जा रहे थे कि एक चांडाल सामने से आया। उनके शिष्यों ने उसको दूर हटने को कहा।

चांडाल एकदम मुड़ा तथा शंकराचार्य से बोला, 'सर्वात्मैक्य तथा अद्वैत की बातें करना तथा व्यवहार में भेदभाव दिखलाना यह कौन सी रीति है, आचार्य? यह आडंबर कैसा? क्या मैं समझूँ कि आपका संन्यास, दंड और कमंडलु सब ढोंग है। और फिर आप किसको दूर हटने को कह रहे हैं? शरीर को? वह तो नश्वर है। मेरे और आपके शरीर में क्या अंतर है? एक से अवयव हैं, अंतर्बाह्य रचना एक सी ही है। इस पर भी शरीर सत्य नहीं माया है। उसके धोखे में पड़कर अभेद का नाम लेकर भेद की सृष्टि कर रहे हैं? यदि आत्मा को आप दूर हटने को कह रहे हैं तो आत्मा तो सबके शरीर में एक है और फिर वह तो साक्षी है, निर्लेप है, उसको किसी का संग नहीं व्यापता। वह क्या किसी के छूने से अपवित्र हो सकती है?'

शंकराचार्य सब शांत भाव से सुनते रहे। उनको अपने शिष्य की भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसी समय उन्होंने 'मनीषपंचक' नाम से विख्यात पाँच श्लोकों की रचना की। उस चांडाल को अपना गुरु कहा। इतना ज्ञान रखने वाला चांडाल तो मानो सर्वज्ञ शंकर की ही प्रतिमूर्ति हो। कितना निरहंकार तथा विनम्र था शंकराचार्य का स्वभाव। छोटे-से-छोटे को भी वे अपनाने को तैयार रहते थे। उनसे सीख लेते थे और उसे आदर देते थे। इसीलिए तो कहा है, ''विद्या ददाति विनयम्।''

शंकराचार्य का कार्य गति पकड़ता जाता था। काशी में अब वे चोटी के पंडितों में गिने जाने लग गए। जनता के तो वे हृदय सम्राट् बन ही चुके थे, उधर काशी नरेश भी उनके शिष्य हो गए थे। काशी में राजा और रंक के हृदय में जिसने इतना स्थान प्राप्त कर लिया हो, उसका यश यदि चारों ओर फैलने लगे तो क्या आश्चर्य? उनकी शिष्य मंडली भी अब इतनी हो गई थी कि स्थान-स्थान पर अपने शिष्यों को छोड़कर वे संपूर्ण भारत में एक ही विचारधारा उत्पन्न कर सकते थे। अतः एक दिन उन्होंने अपना दिग्विजय का विचार प्रकट कर दिया। संपूर्ण शिष्य मंडली आनंदातिरेक से नाचने लगी; परंतु शंकराचार्य की मुद्रा शांत एवं ध्यानमग्न थी।

9

दिग्विजय यात्रा

शंकराचार्य के दिग्विजय की घोषणा कानो-कान सारे नगर में फैल गई। इस प्रकार के समाचार तो वायु की गति से भी तीव्र दौड़ते हैं। उनके संपूर्ण सहयोगी उनके पास आ गए। उस एकत्र समुदाय के सम्मुख उन्होंने एक छोटा सा भाषण किया। उन्होंने कहा, ''बंधुवर्ग! आज हममें से प्रत्येक अपने तत्त्व सिद्धांतों का सर्वत्र प्रसार करने को उत्सुक है। पिछले 1000 वर्ष में अपने धर्म की स्थिति विचित्र हो गई है। उसकी जड़ों को अनेक प्रकार से खोखली करने का प्रयत्न किया गया है और उसने अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर अपने ऊपर के आघातों को रोका है। हमें अभिमान है कि हमारे धर्म को अंदर और बाहर से कोई भी नष्ट नहीं कर पाया। यहीं पास ही सारनाथ है, वहीं एक दिन भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन की घोषणा की थी। प्राचीन परंपरा के प्रति उदासीन रहकर उन्होंने नई रीति से धर्म की स्थापना की; उनके अनुयायियों ने इस उदासीनता को विरोध में पलट दिया। आक्रमणकारी विदेशियों ने इस विरोध का लाभ उठाकर उसे अपनाया तथा हमारे मर्मस्थलों पर आघात करके हमें नष्ट करने का प्रयत्न किया। किंतु जिस नदी का स्रोत अक्षय हिमराशि के नीचे हिमाद्रि के गर्भ में नहीं है, वह वर्षा ऋतु में कितना भी उफन-उफनकर चले, आस-पास के क्षेत्रों को जलमग्न कर दे, ग्रीष्म में तो वह सूख जाती है; उसका प्रवाह अजस्र नहीं रह सकता। यह श्रेय तो गंगोत्तरी से उद्भूत गंगा को ही मिलेगा। आज वेदविरोधी धर्म अंतिम साँसें ले रहा है। दूसरी ओर हिंदू धर्म के उत्थान के भी प्रयत्न हुए हैं। इन सब प्रयत्नों का हमें समन्वय करना है, एकीकरण करना है। महर्षि कौटिल्य ने जिस राष्ट्र मंदिर की नींव रखी थी तथा जिसका निर्माण इतने दिनों से अनेक आत्मविजयी, ऋषि-मुनि, दिग्विजयी सम्राट्, कवि, कलाकार, साहित्यकार, स्मृतिकार, पुराण के रचयिता तथा धर्मशास्त्रों के प्रणेता करते चले आ रहे हैं। आज उस मंदिर में राष्ट्रपुरुष की मूर्ति स्थापित करके उसे

अभिमंत्रित करना है। भगवान् को धन्यवाद दें कि यह सौभाग्य हमको प्राप्त हुआ है। पूर्वजों के प्रगति पथ पर प्रयाण कर हम उनके कार्य को पूर्ण करें, इस मंदिर के प्रथम पुजारी बनें। ऐसा प्रबंध कर चलें कि पीछे आने वाली पीढ़ियाँ इस मंदिर में अनंत काल तक पूजा कर सकें। जिन तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, वे वेद सम्मत हैं, सत्य हैं, शाश्वत हैं, लोक कल्याणकारी हैं। किंतु केवल तत्त्वों को तर्क के तराजू में तौलते उनकी सत्यता और सुंदरता की आपस में ही चर्चा करते हुए मन-ही-मन मोद मनाते रहना अथवा कल्पना के क़िले बनाते रहने में काल का व्यय करना किसी भी उपयोग का नहीं है। उन तत्त्वों को व्यवहार में लाने की आवश्यकता है। अपने धन, धाम, धरणी और धर्म की रक्षा के निमित्त अपना संदेश देश के कोने-कोने में, घर-घर में पहुँचाना होगा। देश की दुर्दशा तथा दीन-दुखियों पर दलबद्ध दुष्ट दानवों के अनाचार को देखकर केवल दो आँसू बहाने की अपेक्षा देह को कष्ट देकर दंभियों के दंभ को दूर करना होगा। दुष्टों की दुष्टता का दलन करना होगा। हमारे धैर्य के सम्मुख दुर्विनीतों का दर्प चूर हो जाएगा, दुष्टों की दाल नहीं गल पाएगी तथा तामसी तस्कर तीन-तेरह हो जाएँगे, जिसको अपने धर्म से प्रेम है, जिसकी नसों में अपने पूर्वजों का रक्त प्रवाहित होता है, जिसको अपने कार्य पर श्रद्धा है, जिसके मन में आत्मविश्वास जड़ जमाकर बैठा है, जिसके हृदय में उत्साह का सागर हिलोरें ले रहा है; मान-सम्मान, सुख और आनंद को विदा कर चुके हैं, जिन्होंने कष्टों का कर ग्रहण किया है, वे इस देश के कार्य के निमित्त, पुण्य कार्य के निमित्त मेरे साथ आएँ। भगवान् का आशीर्वाद, अपने पूर्वजों का पुण्य प्रताप, अनेक तपस्वियों का तपस्तेज तथा वीरों के बलिदान हमारे साथ हैं। हमें विश्वास है कि सफलता हमारा मार्ग साफ़ करती हुई चलेगी। जिसे चलना हो वह चले।"

शंकर स्वामी ने शंख की ध्वनि की। चारों ओर का वातावरण गूँज उठा। कान में तेल डालकर बैठे हुए कर्महीनों के कर्ण-कुहरों में भी ध्वनि समा गई। विरोधियों के दिल दहल गए, अच्छे-अच्छे उस्ताद सब छक्के-पंजे भूलकर कन्नी काटने लगे। मत-मतांतर मनौतियाँ मनाने लगे। प्रपंच परकटे पक्षी की भाँति छटपटाने लगा। आडंबर अचकचाकर पोल खुलती देख पीला पड़ गया। अनेकता और अनबन अब कुछ बनती न देखकर पाँव दबाकर खिसकने लगे। भेदभाव अपने ही भँवर में चक्कर खाने लगे, भीरुता भय खा गई, कायरता कूच कर गई तथा क्रूरता को काठ मार गया। उसी शंखध्वनि ने सहयोगियों का दिल दूना कर दिया। कर्मयोगियों के कर में मानो करवाल आ गई। ऐरे-ग़ैरों में भी गुरुमंत्र के प्रभाव से अच्छे-अच्छों से आँखें मिलाकर खड़े होने की हिम्मत आ गई। समन्वयता मानो संपूर्ण गगन-मंडल में गूँज के साथ छा गई। सरलता और शांति के साम्राज्य की मानो घोषणा हुई हो। स्पष्टवादिता सीधी-सीधी सुनाने को समुद्यत हो गई। मेल-मिलाप मनमुटाव को मटियामेट करके मोद मनाने लगे।

शूरता सिर सवार थी, वीरता बढ़कर बातें करने लगी, दया दिल खोलकर दान देने लगी। अभेद और अद्वैत आनंदातिरेक से आपे से बाहर हो रहे थे।

स्वामी शंकराचार्य ने अपनी दिग्विजय के निमित्त कूच कर दिया। काशीराज रतन सिंह उनके साथ थे। न्याय और सत्य के पीछे शक्ति का रहना आवश्यक है। वे जानते थे कि बिना सत्य के शक्ति अंधी होती है तो बिना शक्ति के सत्य भी पंगु है। सहिष्णुता की भूमि भारत में उन्हें अपने जीवन का न तो डर था और न ही उसका मोह। किंतु वे संपूर्ण भारत में जन-आंदोलन करने को निकले थे। इसीलिए जनता को आकर्षित करने के लिए, उस प्रभाव जमाने के लिए ठाठ-बाट तथा सज-धजकर चलने की आवश्यकता थी। अपने आंदोलन को सफल बनाने के लिए यह साज शंकराचार्य ने सजाया, सब साधन सामग्री जुटाई किंतु स्वयं इन सबसे अलिप्त थे। उनको छत्र, चँवर और अस्त्र-शस्त्र से क्या प्रयोजन? उन्होंने तो वैराग्य का कवच पहन रखा था। ज्ञान की ढाल धारण कर रखी थी, प्रस्थानत्रयी ही उनके शस्त्र थे और शिष्य वर्ग ही उनकी सेना। और यह सेना गंगा के किनारे-किनारे गाती जाती थी—

भगवति तव तीरे नीरमात्रशनोऽहं
विगतविषयतृष्णा कृष्णामाराधयामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे
तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे! प्रसीद॥ 1॥

भगवति भवलीलामौलिमाले तवाम्भः
कणमणुपरिमाणं प्राणिनो ये स्पृशन्ति
अमरनगरनारी चामरग्राहिणीनां
विगतकलिकलंकातंकमके लुठन्ति॥ 2॥

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ति हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती,
स्वर्लोकादायपतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निभरं भर्त्सयन्ति
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु॥ 3॥

मञ्जन्मातङ्गकुम्भच्युतमदमदिरा मोदमत्तालिजालं
स्नानैः सिद्धाङ्गनानां कुचयुगविगलत्कुङ्कुमासङ्गपिङ्गम्।
सायं प्रातर्मुनीनां कुशकुसुमचयैश्छन्नतीरस्थनीरं,
पायान्नो गाङ्गमंभः करिरमभकराक्रान्तरंहस्तरङ्गम्॥ 4॥

आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रेजलं,
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्।

भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी पातु माम्॥ 5॥

शैलेन्द्रादवतारिणी निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी
पारावारविहारिणी भवभयश्रेणीसमुत्सारिणी।
शेषांङ्गैरनुकारिणी हरशिरोवल्लीदलाकारिणी,
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गङ्गा मनोहारिणी॥ 6॥

कुतो वीची वीचीस्तव यदि गता लोचनपथं
त्वमा पीता पीताम्बरपुरनिवासं वितरसि।
त्वदुत्सङ्गे गङ्गे पततति यदि कायस्तनुभृतां
तदा मातः शान्तक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः॥7॥

गङ्गाष्टकमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतो नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति॥ 8॥

मातर्जाह्नवि शंभुसंगमिलिते मौलौ निधायाञ्जलिं,
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणाङ्घ्रिद्वयम्।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति ममप्राणप्रयाणोत्सवो,
भूयाद्भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती॥ 9॥

गंगा के किनारे-किनारे उत्तर की ओर यह तरुण तपस्वियों का दल बढ़ा। शंकराचार्य ऊपर की ओर गए, शायद इसीलिए कि वे राष्ट्र भागीरथी का उसके उद्‌गम से, पूर्व इतिहास से संबंध स्थापित करना चाहते थे। मार्ग में ग्राम-ग्राम में लोग उनके दर्शनों को आते, आचार्य का उपदेशामृत पान करके तृप्त हो जाते। शैव उनको साक्षात् शंकर का अवतार मानते तो वैष्णव उनमें विष्णु की छटा देखते। सभी देवी-देवता एक ही परब्रह्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं, यही लोगों को वे बताते थे। रामेश्वरम् में शिव की प्रतिष्ठा और उपासना करके समुद्रोत्तरण और लंका विजय करने वाले राम और राम का नाम लेकर हलाहल का पान करने वाले शिव में विरोध कैसा? सती के शव को कंधों पर रखकर भारत भ्रमण करने वाले शिव और दूसरे जन्म में भी शिव का वरण करने की इच्छा से घोर तपस्या करने वाली गिरिजा में कैसा अंतर? ये सब तो एक ही हैं। जो वैष्णव है, वह शैव है और वही शक्ति भी है। एक की पूजा और दूसरे का विरोध; भला यह कैसे चल सकता है, इसीलिए स्थान-स्थान पर पंचायतन की पूजा करने का आदेश दिया है। हाँ, अपने-अपने इष्टदेव को मध्य में रखने की हरेक को सुविधा थी। कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। शिवभक्त विष्णु को पूजे और परम वैष्णव शिव की पूजा-अर्चना करें। यही था उनका संदेश, जिसको ग्रामवासियों ने बड़े चाव से सुना और

समझा। उनकी वाणी में तो इतना प्रभाव था कि मुख से निकली हुई बात घर कर जाती थी, हृदय में जमकर बैठ जाती थी।

सांध्य गगन में जब लालिमा छा जाती और श्रम से श्रांत रवि सोने जाता तो शंकर स्वामी का शिष्य मंडल भी गंगा के कछार में अपना डेरा डाल देता। सब शिष्यगण नित्यकर्म से निवृत्त होकर शांत वातावरण में ध्यान-मग्न हो जाते। शीतल समीर भी शांति भंग होने के भय से एक ओर स्तब्ध खड़ा रहता। इस नीरव वातावरण में कल्पना चक्षुओं के सामने कई दृश्य आते और चले जाते। जगद्गुरु भारतवर्ष का भव्य चित्र आँखों के सम्मुख आता और उन्हें मालूम होता, मानो वे एक स्वर से संसार की शांति, सहिष्णुता और समन्वय की शिक्षा दे रहे हैं। गंगा चुपके से कान में कुछ कह जाती; शायद अपने बीते दिनों की याद दिला जाती हो, जबकि उसके किनारे भारशिवों और गुप्तों ने विदेशी आततायियों को दूर भगाकर यज्ञ किए थे। गंगा को ही उन्होंने अपना राजचिह्न बनाया था, क्योंकि गंगा गंदे नाले को भी अपने में मिलाकर अपने जैसा पवित्र और पुण्यप्रद बनाने की योग्यता रखने के कारण भारत की आत्मा का प्रतीक है; गंगा ही उसकी अभिव्यक्ति है उसके इतिहास की प्रतिमूर्ति है; उसके ज्ञान की जननी तथा संस्कृति का पोषण करने वाली है। आचार्य शंकर उनको गुप्तों के स्वर्ण युग की अनेक घटनाएँ सुनाते, अनेक प्रवृत्तियाँ समझाते तथा इतिहास का विवेचन करते। किस प्रकार शकों और हूणों की बर्बरता से मुक्त करने के लिए हिंदू धर्म की प्रेरणा मिली तथा उस युग के राष्ट्रीय वीरों ने सब धर्मों को छोड़कर 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के सिद्धांत को मानो भुलाकर हिंदू धर्म का उत्थान अपना राष्ट्रीय कर्तव्य समझा; यह सब उनको बताते। इस पावन इतिहास और पुराणों पर प्रवचन सुनने के लिए सप्तर्षि तथा अन्य ऋषिगण नीलाकाश से उतरकर भागीरथी के जल में छिप जाते, बैठे-बैठे चुपके से सुनते रहते। जब कभी आनंदातिरेक से हर्ष-ध्वनि करते तो गंगा का जल कल-कल कर उठता; मछलियाँ छपाक से पानी के ऊपर उछलकर अंदर चली जातीं। कथा, वार्त्ता समाप्त हो जाती, शिष्यगण सो जाते किंतु ऋषिगण वहाँ बैठे हुए रात भर विचार-विनिमय करते रहते और प्रातःकाल शंकराचार्य के कार्य को समाधान मानते हुए अपने-अपने धाम को चले जाते। शंकराचार्य भी अपने दलबल सहित आगे को बढ़ते; सूर्य भी उनके पीछे-पीछे चलता; आचार्य के आगे रहने की धृष्टता कैसे करता। इसीलिए आचार्य मध्याह्न को वृक्षों की छाया में रुक जाते; सूर्य को अपने कर्तव्यकर्म में बाधा न आए, इसीलिए आगे जाने को मार्ग दे देते। वृक्ष अपनी छाया को चारों ओर से समेटकर स्वामी शंकराचार्य के चरणों में अर्पित कर देते अथवा इतने बड़े महापुरुष के अपने यहाँ आगमन पर संकोच के कारण छोटा-छोटा अनुभव करते थे। यही था उनका दैनिक कृत्य। ज्यों-ज्यों वे बढते जाते उनके शिष्यों की संख्या भी बढती जाती।

काशी से चलकर वे चरणाद्रिगढ़ में आए, जहाँ विंध्याचल गंगा अवगाहन करने के लिए उतरता है तथा महर्षि अगस्त्य की आज्ञा के कारण नतमस्तक है। इस उत्तर और दक्षिण के सम्मिलनकर्ता के चरण चूमकर गंगा भी अपने को धन्य मानती है। महात्मा भर्तृहरि की स्मृति को, उन्होंने भाई को राज्य देकर स्वयं लोक कल्याणार्थ संन्यास का जीवन व्यतीत किया, सादर शीश नवाकर शिष्य मंडली प्रयाग (इलाहाबाद) पहुँची। प्रयाग वह स्थान है, जहाँ स्वामी शंकराचार्य काशी के बाद कुछ दिन रुके।

10

प्रयाग में

वह दिन धन्य है, जिस दिन शंकराचार्य ने प्रयाग में प्रवेश किया। अब भी हम उस दिन मेला लगाते हैं। परंतु हममें से कितने जानते हैं कि ऐसे ही एक मेले में शंकराचार्य भी आए थे और वहीं उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन किया था। हमारे राष्ट्रीय जीवन में मेलों का स्थान अत्यंत महत्त्व का है। इसके द्वारा हमारे मन पर बाल्यकाल से ही विशालता और व्यापकता के ऐसे संस्कार पड़ते हैं कि वे जीवन भर हमारे साथ रहते हैं। जिस स्थान पर मेला लगता है, उसके संबंध में हमारे मन में एक पावित्र्य और श्रद्धा की भावना का निर्माण हो जाता है। यदि कहीं किसी ऐतिहासिक महापुरुष अथवा घटना की स्मृति में मेला लगा हो तो वह घटना हमारे जीवन का ही अंग बन जाती है और उस महापुरुष का संपूर्ण जीवन एकबारगी हमारी आँखों के सामने से निकल जाता है तथा फिर किसी भी मेले में जाइए, आपको वहाँ भारत के कोने-कोने से आए हुए साधु-संत मिलेंगे। बड़े-बड़े विद्वान् मिलेंगे। बस चारों कोनों से छोटे-बड़े जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक क्षेत्र तथा भारत के प्रत्येक स्थान के लोग, जहाँ एकत्र होते हों, वहाँ यदि भारतीयत्व का साक्षात्कार नहीं होगा तो कहाँ होगा?

इन्हीं मेलों में आकर विद्वान् लोग अपने-अपने मतों का प्रतिपादन करते थे और वे मत सहज रूप में संपूर्ण भारत में फैल जाते थे। हमारे आर्थिक जीवन पर इन मेलों का जो प्रभाव होगा, वह तो सहज में ही जाना जा सकता है। माघी अमावस्या का दिन था, आज भी यात्रीगण उस दिन आकर गंगा में स्नान करके अपने जीवन में कुछ पुण्य-भावना लेकर चले जाते हैं। किंतु उन दिनों तो साधु-संत के दर्शन और उनके उपदेश से अपने मानस को भी स्नान कराके पुनीत करने की सुगंधि प्रत्येक को मिलती थी। उस वर्ष आने वाले यात्री अपने को धन्य समझते थे। वर्षों का कल्मष मानो धोने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ था। उस दिन लोग आकर पितृ-तर्पण करते हैं। आज उनका

वास्तविक तर्पण हुआ। आज उन्होंने केवल जल की दो अंजुलियाँ ही पितरों के नाम पर नहीं दीं अपितु अपने हृदय से भी तर्पण किया। पूर्वजों की स्मृति को बनाए रखना, उनकी परंपरा के प्रवाह को आगे बढ़ाते रहना, उनकी धर्म ज्ञान, विज्ञान आदि क्षेत्रों में की हुई प्रगति की वृद्धि करना, उनकी आत्मा के रंग में रँगकर उनके आदर्शों की रक्षा के हित जीवन व्यतीत करना ही तो तर्पण का सच्चा उद्देश्य है। आज उस उद्देश्य की सिद्धि हुई, क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने उनको अपने संपूर्ण पुरुषार्थों की आत्मा का साक्षात्कार करा दिया था।

माघ मेला तो समाप्त हो गया, किंतु स्वामी शंकराचार्य वहाँ कुछ दिन और ठहरे। मेला वैसा ही लगा रहा, हाँ; अब संगम के पास से उठकर वह भरद्वाज आश्रम पर आ गया था। प्रयाग की तो वैसे पग-पग भूमि पवित्र है, क्योंकि वहाँ पग-पग पर प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ किए थे, इसीलिए उसका नाम 'प्रयाग' पड़ा, परंतु भरद्वाज आश्रम तो और भी अधिक पवित्र था। वहीं चारों वेदों के अधिष्ठाता ब्रह्मा के मुख से तथा उनके प्रतिनिधि स्वरूप अनेक कुलपतियों, आचार्यों एवं वेदज्ञों के मुख से सतत श्रुतिस्वरूपा सरस्वती का स्रोत प्रवाहित होता रहता था। उस सरस्वती में स्नान करके हमारे बटु अपने जीवन के पावित्र्य और पुरुषार्थ की भावना लेकर पुण्य प्राप्त करते थे। इसी भरद्वाज आश्रम में एक बहुत बड़ा विद्यालय था तथा सहस्रों विद्यार्थी वहाँ शिक्षा ग्रहण करते थे—भगवान् राम के रज:कणों से पवित्र भरद्वाज आश्रम का महत्त्व बौद्ध-काल में जाता रहा था, उन दिनों वहाँ सरस्वती का आजकल की भाँति लोप हो गया था।

आचार्य शंकर ने कई बार उसी जगह फिर सरस्वती को प्रवाहित किया, उन्होंने वेदांत सूत्रों का अध्यापन प्रारंभ कर दिया। सूत्रों का भाष्य तथा उनका विशदीकरण सतत चलता रहता था और सरस्वती की उस निर्मल ज्ञानमयी धारा में स्नान करने को हज़ारों की भीड़ लगी रहती थी। वेदांत के जिज्ञासु दूर-दूर से दौड़कर आने लगे। उनके बहुत से विरोधी भी उनसे तर्क करने के लिए आए और उनके शिष्य बनकर रह गए। कई बार तर्क और शास्त्रार्थ आदि शब्द को सुनकर हमारी कल्पना हो जाती है कि उनमें ख़ूब चोंच-भिड़ंत होती होगी। परंतु शंकराचार्य की यह पद्धति नहीं थी। वे तो चोंच-भिड़ंत से दूर भागते थे, क्योंकि वे जानते थे कि तर्क द्वारा यदि अपने ज्ञान के कारण एक बार विरोधी का मुँह बंद भी कर दिया तो क्या वह अपना हो जाएगा? तर्क से मित्र नहीं बन सकता, शत्रु चाहे बन जाए। तर्क के लिए तर्क करने वालों से उन्होंने कभी बात नहीं की। हाँ, जो मन में सच्ची शंकाएँ लेकर आता था, जिसके मन में देश और धर्म का सच्चा प्रेम रहता था, उसकी शंकाओं का समाधान करते तथा उसके ऊपर अपनी योग्यता, मार्ग की सच्चाई तथा अपने हृदय की दृढता और निस्स्वार्थता की छाप लगाते देर नहीं लगती। यहाँ भी उन्होंने अपने शिष्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की।

शंकराचार्य के अलौकिक ज्ञान-पुंज की प्रभा से ही प्रयाग आलोकित नहीं हुआ, अपितु उनकी स्नेह-स्निग्ध हृदय की रसधारा के प्रवाह से सिंचित हो सरस भी हो उठा। एक दिन उनका एक शिष्य अक्षयवट[3] को देखने गया। यह वटवृक्ष सृष्टि के आदि काल से अपने स्थान पर खड़ा हुआ था। प्रलय के समय समग्र सृष्टि के नष्ट हो जाने पर भी वटवृक्ष इसी प्रकार बना रहा था। मार्कंडेय ऋषि ने उस समय इसी पर आश्रय लिया था। उस वटवृक्ष के नीचे उसने कुष्ठ रोग से पीड़ित एक व्यक्ति को देखा। उसका समस्त शरीर श्वेत हो गया था। आँखों में सूर्य की ओर देखने की शक्ति नहीं रह गई थी। जीवन से वह निराश हो चुका था तथा आत्महत्या जैसे जघन्य कृत्य का सहारा लेकर अपनी दयनीय दशा से छुटकारा पाना चाहता था। शिष्य ने उसको आत्महत्या से रोका और शंकराचार्य के पास ले आया, क्योंकि उसको विश्वास था कि आचार्य उसको अवश्य ही चंगा कर देंगे। लोग उसको देखकर दूर भागने लगे; शिष्य को बुरा-भला कहने लगे कि किस बला को मोल ले आए। किंतु आचार्य ने सहर्ष उसका स्वागत किया। स्वयं उसकी सेवा शुश्रूषा की, औषधोपचार किया। महापुरुषों का विभूतिमत्व ही है कि वह अच्छा भी हो गया। उसके शरीर के धब्बे जाते रहे। उसके जीवन में मानो अपना जीवन डालकर शंकराचार्य ने उसको जीवन प्रदान किया। उसका नाम 'उदंक' रखा तथा उसे अपना शिष्य बना लिया। अपने समाज के गए-बीते लोगों के संबंध में भी उनके हृदय में कितना प्रेम था, कितना सौहार्द था। इसीलिए तो समाज उनका हो गया। वे समाज के सेवक बने तो समाज भी उनका सेवक बन गया।

प्रयाग के निवास काल में ही उनकी भारती यमुनाष्टक, प्रयागाष्टक, माधवाष्टक, लक्ष्मी-नृसिंह, पंचरत्न तथा वेदसार शिवस्तोत्र नामक कविताओं के रूप में प्रकट हुए। प्रयागाष्टक का एक-एक अक्षर शंकराचार्य की प्रयाग और यमुना के संबंध की श्रद्धा की ही मूर्ति है। इनके साथ जो हमारी प्राचीन स्मृतियाँ छिपी हुई हैं, वे इन अष्टकों को पढ़कर एकदम जाग्रत् हो जाती हैं तथा हृदय स्वाभिमान, श्रद्धा एवं भक्ति से अभिभूत हो जाता है।

प्रयाग में शंकराचार्य ने एक बड़ी विजय पाई, जिसका वर्णन किए बिना शंकराचार्य की प्रयाग यात्रा का वृत्तांत अधूरा ही रह जाएगा। यह विजय थी प्रतिष्ठानपुरी के प्रभाकराचार्य के ऊपर। प्रतिष्ठानपुरी गंगा के वाम तट पर बसी हुई है तथा प्राचीन काल में सोमवंशी राजाओं की राजधानी थी। प्रतिष्ठानपुरी में कुमारिल भट्ट का शिष्य प्रभाकराचार्य रहता था। प्रभाकर कहने को तो कुमारिल भट्ट का शिष्य था; किंतु उसने

---

3. अक्षयवट वर्तमान में इलाहाबाद में स्थित है। यमुना नदी के किनारे स्थित यह वृक्ष हज़ार साल पुराना है। मोक्ष की कामना के लिए इस वृक्ष से कूदकर नदी में छलाँग लगाना कभी प्रचलन में था। अतीत में इस वृक्ष को काटने और जलाने के कई उल्लेख मिलते हैं। लेकिन हर बार यह फिर से हरा-भरा हो जाता है।

कर्मकांड में भी अपना नया ही मार्ग निकाल रखा था। कर्मकांड को वह जीवन का सार सर्वस्व समझता था। स्वामी शंकराचार्य स्वयं उसके पास गए। इतने बड़े महापुरुष को स्वयं उससे मिलने के लिए आया हुआ देखकर प्रभाकराचार्य गर्व से फूल गया। उसका दिमाग आसमान पर चढ़ गया। वह समझने लगा कि अवश्य ही वह कोई महान् व्यक्ति है, जिससे शंकराचार्य जैसे पुरुष मिलने आते हैं। उसने सोचा कि अब तो वे मेरे यहाँ आ ही गए हैं; उनको जीतकर शिष्यों समेत अपने मत में दीक्षित कर लूँगा। किंतु चौबे जी गए थे छब्बे होने वहाँ दुबे ही रह गए। गए तो थे शंकराचार्य को जीतकर शिष्य बनाने, वहाँ स्वयं ही हारकर शिष्य बन गए। यही नहीं, उसका समस्त अग्रहार शांकरमत में दीक्षित हो गया।

प्रभाकर को जीतने में केवल शंकर के ज्ञान ने ही नहीं अपितु एक घटना ने भी बहुत सहायता की, जिसका प्रभाकर के जीवन से घनिष्ठ संबंध था। प्रभाकर के पृथ्वीधर नाम का एक पुत्र था। पाँच वर्ष की अवस्था से ही बोलना-चालना बंद कर दिया था। योगी की भाँति शांत चित्त से बैठा रहता था। प्रभाकर ने अनेक प्रयत्न किए, औषधोपचार करवाए, किंतु कोई परिणाम नहीं हुआ। स्वामी शंकराचार्य ने देखा कि पृथ्वीधर में समझ और ज्ञान का अभाव नहीं है, यद्यपि उसकी विक्षिप्त की सी अवस्था है। इसका कारण था कि अपनी सुप्त भावनाओं के प्रकटीकरण का अवसर नहीं मिलता था। कोई उससे प्रेम से बोलता नहीं था और न उसे समझाने का प्रयत्न करता था। शंकराचार्य ने उससे अत्यंत आत्मीयता से बातें कीं। बालक तो प्रेम का भूखा होता है, वह हृदय की पहचान जानता है। अत: इनके निकट आ गया। आचार्य ने धीरे-धीरे सरल प्रश्न करते हुए उसके मन की गूढ बातों को निकाल लिया। मालूम हुआ, उसके मन में तो वेदांत के गूढ सिद्धांत पहले से ही जमे बैठे हैं। उसको भला इतने घोर कर्मकांडी के घर में कैसे शांति मिलती? शंकराचार्य के सामने अपना हृदय खोलकर उसने शांति लाभ किया। शंकराचार्य ने उसको अपना शिष्य बना लिया तथा 'हस्तामलक' नाम दिया। क्योंकि उसका संपूर्ण ज्ञान हाथ में रखे हुए आँवले के समान सुस्पष्ट था।

11

कुमारिल भट्ट

प्रतिष्ठानपुरी में प्रभाकराचार्य को अपने मत में दीक्षित करके शंकर स्वामी ने पूर्व मीमांसकों के एक वर्ग को तो अपनी ओर मिला लिया था, किंतु अभी भी उनमें बहुत बाक़ी थे। इस वर्ग की विशेषता यह थी कि इनमें अपनी प्राचीन परंपरा का प्रेम पूर्ण रूप से होता था। वेदों के प्रति इनकी अमिट श्रद्धा थी; राष्ट्र के संबंध में असीम भक्ति थी। धार्मिक कट्टरपन भी इनमें ख़ूब देखने को मिलता था। गुरु तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार में जीवन खपा देने वाले कुमारिल की स्मृति प्रयाग में अभी भी ताजी थी। स्वामी शंकराचार्य भली-भाँति जानते थे कि कुमारिल ने ही बीहड़ जंगलों को काटकर उनके लिए मार्ग साफ़ किया है। बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, शूरसेन आदि प्रांतों में बौद्धों को उखाड़ फेंकने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता था तो वह कुमारिल भट्ट को ही। उन्हीं के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप चारों ओर फिर वैदिक धर्म का बोलबाला हो रहा था। फिर भी वैदिक धर्म अभी भी जनता का धर्म नहीं बन पाया था। पिछली शताब्दी के संस्कार इतने गहरे थे कि उनको मिटाया नहीं जा सकता था। आचार्य शंकर बैठे-बैठे इसी समस्या पर विचार कर रहे थे कि एकाएक उनके मुख से निकल गया, ''काश, कुमारिल आज तुम होते!'' कुमारिल जैसे अद्वितीय विद्वान् तथा अथक परिश्रम करने वाले सहायक के रूप में शंकराचार्य कितने वेग से अपना कार्य पूर्ण कर लेते थे। आज उनको उसका अभाव खटक रहा था। आचार्य के उद्गार पास में बैठे हुए उदंक की समझ में नहीं आए। उसने विनयपूर्वक पूछा, ''किसको स्मरण किया आचार्य? ये कुमारिल कौन हैं?''

''अरे कुमारिल को नहीं जानते, उदंक?'' आचार्य ने तनिक क्षुब्ध होकर कहा।

उदंक शांत था। केवल उसकी दृष्टि जिज्ञासा भाव प्रकट कर रही थी।

''हम लोगों के मार्ग से जिस महापुरुष ने समस्त बाधाओं को दूर किया, हम

उसको न जानें, यह हमारा दुर्भाग्य ही है उदंक!'' आचार्य ने कहा। उदंक को मन-ही-मन अपने अज्ञान पर और उससे भी अधिक उस जिज्ञासु वृत्ति पर, जिसके कारण उसका अज्ञान प्रकट हो गया, दुःख हो रहा था।

आचार्य ने फिर कहा, ''कुमारिल पिछली शताब्दी में पूर्व मीमांसा के एक उद्‌भट विद्वान् हो गए हैं। उनके पास केवल विद्या और बुद्धि ही नहीं, एक राष्ट्रप्रेमी का हृदय भी था। चारों ओर धर्म का ह्रास देखकर उनका हृदय हाहाकार कर उठता था। नास्तिकों के अनाचार को देखकर उनको मर्मांतक वेदना होती थी। परंतु दुःख और दुरवस्था को देखकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने वाले वे नहीं थे। उनके जीवन में भाग्यवादियों की निष्क्रियता नहीं थी। वे कर्मयोगी थे, उद्योगी थे, पुरुषार्थ करना जानते थे। दुःखित अंतःकरण ने उनके उद्योग को दृढ निश्चय का पुट दिया। धर्म स्थापना की लालसा ने उनको कष्ट सहने का सामर्थ्य प्रदान किया। वेदों के पतन से दुःखित और चिंताग्रस्त राजकुमारी के वचन 'को वानु वेदानुद्धरिष्यति' अपने जीवन में सुने थे, वे सतत उनके कानों में गूँजते रहते थे। ये शब्द उनको शांत नहीं बैठने देते थे। वे उनको निरंतर कर्म करने के लिए प्रेरित करते रहते थे। मानो सिर पर कोई प्रेत सवार हो गया हो।''

उदंक दत्तचित्त होकर सुन रहा था। आचार्य ने देखा, वे तनिक रुके और फिर बोले, ''कुमारिल ने वेद विरोधियों को नष्ट करने का निश्चय कर लिया। बौद्ध उनकी आँखों में शूल की तरह खटकते थे। उन्हें उनका विनाश करना था। शत्रु के रहस्य का ज्ञान करके उसे सहज में परास्त किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने छद्‌मवेश धारण करके वेद विरोधी बौद्ध धर्म की शिक्षा पाने के लिए एक मठ में प्रवेश किया। कितना अधिक था उनका त्याग और कितना अधिक था उनका संयम, जिससे कि वे अपने जीवन से भी प्रिय धर्म की कटु से भी कटु आलोचना सहज भाव से सुनते रहते थे। किंतु वेदना कहाँ तक दबाई जा सकती है? अग्नि को कब तक बंद रखा जा सकता है। एक दिन वह फूट ही पड़ी। बौद्ध गुरु के मुख से वेदों की निंदा सुनकर हृदय फूट पड़ा; वह रोया और इतना रोया कि अंत में दो बूँद आँसू ढुलक ही तो पड़े। घर से निकाले हुए व्यक्ति की भाँति उन दो आँसुओं ने भी भेद खोल दिया, अहिंसा की डींग मारने वाले बौद्धों ने उनके प्रति हिंसा की, उनके प्राण लेने का निश्चय किया, किंतु प्राणों के बदले एक आँख देकर वे वहाँ से बच निकले।''

उदंक के मुख पर शोक और हर्ष के सहानुभूतिसूचक भाव स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। आचार्य का भी एक बार तो बौद्धों के कुकृत्य पर मन उद्दीप्त हुआ, किंतु सहज रूप से उसे दबाकर वे उसी प्रकार शांतचित्त से कहते गए।

कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बौद्धों की छिपी दुर्भावनाओं, उनकी अराष्ट्रीय वृत्तियों का उन्हें ज्ञान हो गया था। अतः अब तो उन्हें राष्ट्र

में फैला हुआ यह विष अत्यधिक पीड़ा देने लगा। उन्होंने संपूर्ण भारत में घूम-घूमकर बौद्ध धर्म का खंडन और बौद्ध धर्म के प्रतिक्रियास्वरूप कर्मकांड का प्रतिपादन करना आरंभ कर दिया। नास्तिकवाद हाहाकार कर उठा। उसका तो कोई ईश्वर भी नहीं था, त्राता भी नहीं था, जो उसकी इस विपत्ति में सहायता करता। जहाँ कहीं बौद्धों के पास राजशक्ति थी, वहाँ राजशक्ति से उनको दबाना चाहा। परंतु स्वतंत्र आत्मा की आवाज़ को कोई भी दानवी शक्ति नहीं बंद कर सकती। छल-प्रपंच निर्भीकता का गला नहीं घोंट सकते। कुमारिल सब आपत्तियों से पार हो गए। उल्टे अपने आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा और अकाट्य तर्कों के आधार पर राजा के सामने ही बौद्धों को परास्त किया। तर्क के सहारे पाँव न टिकते देख बौद्धों ने इंद्रजाल और हाथ की सफाई का आश्रय लिया। उसमें भी जब उनको आड़े हाथों लिया तो वे भीगी बिल्ली बनकर बैठ गए। काँटे को काँटे से निकालना होता है, अतः कुमारिल ने भी बौद्धों को परास्त करने के लिए स्थान-स्थान पर चमत्कार आदि का प्रदर्शन करके अपना पलड़ा भारी रखा।

उदंक को कुमारिल की विजय-गाथा सुनकर मन-ही-मन प्रसन्नता हो रही थी।

"किंतु उदंक! यह सब करते हुए उनकी आत्मा उनको सदैव कुरेदती रहती थी कि उन्होंने छद्मवेश धारण करके गुरु के यहाँ शिक्षा पाई, यह उन्होंने पाप किया।"

"इसमें क्या पाप हुआ, आचार्य!" उदंक बीच में ही बोल उठा।

"सच में तो कोई पाप नहीं हुआ, उदंक!" आचार्य ने कहा, परंतु कुमारिल कर्मकांडी थे। वे भूल गए कि ध्येय की भलाई-बुराई से साधन की भलाई-बुराई का निर्णय होता है, साधन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अतः उन्होंने प्रायश्चित्त करने का निश्चय किया और इसी प्रयाग की तपोभूमि में तुषानल में प्रवेश करके अपने शरीर को भस्म कर दिया। वे बहुत कुछ कर गए, परंतु और भी बहुत कर सकते थे।

आचार्य और उदंक दोनों ही तनिक उदास हो गए। कुछ देर बाद उदंक बोला, "अब शेष कार्य हम पूरा करेंगे, आचार्य!"

आचार्य ने सहमति-सूचक सिर हिलाया। कुछ देर शांत रहे और फिर बोले, "कुमारिल का शिष्य मंडन मिश्र मिथिला में रहता है। वह बड़ा विद्वान् है। यदि उसका सहयोग प्राप्त होगा तो पूर्व मीमांसावादी सब लोगों का सहयोग प्राप्त हो जाएगा। वही आजकल उनका मुखिया है। अब यहाँ से मिथिला चलना होगा।"

12

मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ

आचार्य शंकर पूर्व की ओर चलकर मगध पहुँचे। मगध पुराने दिनों की याद दिला रहा था। पाटलिपुत्र के खँडहर मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त और अशोक का गुणगान कर रहे थे। गुप्तकाल का वैभव अभी भी इधर-उधर बिखरा पड़ा था। प्रयाग में जो सम्राट् समुद्रगुप्त का शौर्यस्तंभ रूप में सीना ताने खड़ा था, उसी की कोमल एवं संवेदनापूर्ण अंत:करण की झलक मगध में दिखाई देती थी। धर्मद्रोहियों तथा राष्ट्र के शत्रुओं को जिस कर ने कठोरता एवं क्रूरतापूर्वक दमन किया, उसी कर से झंकृत वीणा से जो स्वर माधुरी निकली, वह हिंदू हृदय की सहज प्रवृत्ति की अभिव्यंजना करती हुई आज तक मगध के कानों में गूँज रही थी। इसीलिए तो भवभूति के मुख से निकल पड़ा, 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।' मगध इस उक्ति की साक्षात् प्रतिमा ही था।

शंकराचार्य मंडन मिश्र से मिलने के लिए अकेले ही गए थे, अपने शिष्यों का दल उन्होंने पीछे ही छोड़ दिया था। शिष्य समूह के भारी जमघट का कोई मंडन मिश्र पर प्रभाव थोड़े ही होने वाला था। आचार्य ने नगर में पहुँचकर मंडन मिश्र के घर का पता कुएँ पर पानी भरने वाली एक दासी से पूछा। दासी ने निम्न श्लोकों में उत्तर दिया—

स्वत: प्रमाणं परत: प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौक: ॥ 1 ॥

फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽज:
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौक: ॥ 2 ॥

जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ 3 ॥[4]

जिसके द्वार के पंजरस्थ तोता और मैना इस प्रकार संस्कृत में चर्चा करते हों, वहाँ अवश्य ही दिन भर तत्त्वचर्चा ही होती रहती होगी, जिसके कारण पक्षी भी उन शब्दों तथा वाक्य समूहों का वैसा ही उच्चारण करने लग गए थे—कितना उद्भट विद्वान् था, मंडन मिश्र! दासी के मुख से इस उत्तर को सुनकर उनके आनंद का ठिकाना न रहा। वे सोचने लगे कि जिसके दास-दासी, तोता-मैना तक देववाणी संस्कृत में बातचीत करते हों, उस प्रकांड पंडित का सहयोग प्राचीन परंपरा, देववाणी तथा वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने में कितना उपयोगी होगा। ऐसे महापुरुष से मिलने के लिए वे आतुर हो उठे। वे अपना हृदय खोलकर उसके सम्मुख रख देना चाहते थे तथा उनको विश्वास था कि उनके मन की व्यथा तथा धर्म की भावनाएँ देखकर मंडन मिश्र उनका हुए बिना नहीं रहेंगे। वे एक क्षण भी नहीं रुके और उस दासी के साथ सीधे मंडन मिश्र के घर पहुँच गए।

अपने आगमन की सूचना देने और मिलने के लिए रुकने के शिष्टाचार में समय खोने लायक धीरज उनमें न रहा। वे तो धड़धड़ाते हुए अंदर पहुँच गए, मानो अपने ही घर में हों। वे तो किसी भी हिंदू के घर को दूसरे का घर नहीं समझते थे। फिर मंडन मिश्र तो उनके समान ही वैदिक धर्म के प्रेमी थे, उनके घर को कैसे अपना नहीं समझते! मंडन मिश्र उस समय श्राद्ध कर्म कर रहे थे। श्राद्ध के समय किसी भी संन्यासी की उपस्थिति वर्ज्य है। अतः इस नवागंतुक एवं अपरिचित संन्यासी को बिना पूछे-ताछे ही अंदर आया देखकर उनकी त्योरियाँ चढ़ गईं। उन्हें क्या मालूम था कि उनके युग का सबसे महान् व्यक्ति उनके सामने खड़ा है। उनको क्रुद्ध देखकर स्वामी शंकर ने शांत एवं मृदुल शब्दों में कहा, "क्षमा कीजिए मिश्र! एक ही मार्ग के यात्रियों का एक-दूसरे पर क्रोध कैसा?"

"कैसा एक मार्ग संन्यासी?" मंडन मिश्र ने न समझने के कारण कुछ खीजते हुए घृणा मिश्रित स्वर में कहा, "एक तो बिना पूछे गृह में प्रवेश किया और ऊपर से यह पहेली बुझौवल?"

"पहेली नहीं है मंडनाचार्य! दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि हम दोनों एक ही वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का प्रयत्न करने वाले एक ही मार्ग के अनुयायी हैं।"

---

4. (1) जिसके द्वार पर पिंजरे में बैठे तोता और मैना यह चर्चा करते हों कि वेद स्वयं प्रमाण है अथवा वेदों को दूसरों का प्रमाण चाहिए; (2) कर्मफल देने वाले होते हैं अथवा फल के दोष क्या हैं; (3) संसार नित्य है या अनित्य, उसी को आप मंडन मिश्र का घर समझिए।

शंकराचार्य ने दृढतापूर्वक कहा।

वैदिक धर्म का नाम सुनकर मंडन मिश्र का क्रोध तनिक शांत हुआ। फिर भी शंकराचार्य का व्यवहार उनकी समझ में नहीं आ रहा था। इसीलिए वे बोले, ''वैदिक धर्म की बातें तो ख़ूब करते हो किंतु व्यवहार तो बौद्धों जैसा ही है। वैदिक धर्म में संन्यास कहाँ है? और फिर संन्यासी की श्राद्ध कर्म में उपस्थिति घोर वेद विरोधी कृत्य है यति!''

''यही सब बातें तो करने आपके पास आया हूँ द्विजश्रेष्ठ! और...'' इतने में उपस्थित ब्राह्मणों में से एक ने उठकर शंकराचार्य को प्रणाम किया और मंडन मिश्र से बोला, ''भगवान् को धन्यवाद दीजिए मिश्र! आपके सम्मुख स्वामी शंकराचार्य खड़े हैं।''

स्वामी शंकराचार्य का नाम सुनकर मंडन मिश्र सकपका गए। अपने व्यवहार पर उनको लज्जा आने लगी। ''क्षमा कीजिए आचार्य!'' वे बोले, ''अपने-अपने सिद्धांत हैं, आपका मार्ग हमें मान्य नहीं है।''

स्वामी शंकराचार्य ने देखा कि मंडन मिश्र इस समय श्राद्धकर्म में लगे हुए हैं, देश और धर्म के संबंध में बातचीत करने योग्य चित्तवृत्ति नहीं है। अतः शांत स्वर में बोले, ''आप श्राद्धकर्म से निवृत्त हो लीजिए। फिर दोनों मिलकर विचार करेंगे कि कैसे आज की स्थिति में देश और धर्म का कार्य किया जा सकता है।'' यह कहकर वे बाहर चले गए।

मंडन मिश्र ने यथाविधि श्राद्ध किया और ब्राह्मणों को भोजन कराया, दक्षिणा दी और विदा किया। स्वामी शंकराचार्य के निवास-भोजन आदि का प्रबंध किया। उनके शिष्य भी तब तक वहाँ आ पहुँचे। महिती के निवासियों में भी आचार्य के आगमन की वार्त्ता फैल चुकी थी। उनके झुंड आचार्य के दर्शन को आने लगे।

तीसरे पहर मंडन मिश्र और स्वामी शंकराचार्य आपस में शास्त्रार्थ करने बैठे। यह शास्त्रार्थ क्या था, देश के दो विद्वान्, दो देशभक्त अपने राष्ट्र की समस्याओं का हल ढूँढ़ने के लिए बैठे थे, मन में सदिच्छा और सद्‌भावना लेकर। एक-दूसरे को हराने की इच्छा नहीं थी, अपने मत पर डटे रहने का दुराग्रह नहीं था; विपक्षी को नीचा दिखाने के लिए सबकुछ करने की तैयारी नहीं थी। वहाँ तो थी एक-दूसरे को समझने की उत्कंठा, सत्य की खोज करने की जिज्ञासा और उस सत्य मार्ग पर चलने की अभिलाषा। मंडन मिश्र की पत्नी भारती ने, जो स्वयं विदुषी थी, मध्यस्थ का आसन ग्रहण किया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो महिष्मती ही तीर्थराज प्रयाग बना हुआ था। एक ओर तो भगवान् शंकर की जटाओं से स्रवित गंगा की भाँति शंकराचार्य के मुख से शुद्ध ज्ञानमार्ग की धवल गंगा-धारा का प्रवाह था तो दूसरी ओर तमाम तरु-पुंज तमाच्छन्न तरणि-

तनुजा के समान प्राची के सूर्य, यज्ञयागादि के पुरस्कर्ता, प्रकांड पंडित तथा प्रचंड कर्मकांडी मंडन मिश्र की धूमिल वाणी की नील यमुना-धारा प्रवाहित होती थी। इन दोनों के बीच में सरस्वती का अवतार भारती तो उपस्थित थी ही। इस तीर्थराज प्रयाग के त्रिवेणी-संगम पर स्नान करके अपने चित्त को निर्मल करने के लिए अनेक नर-नारी उपस्थित थे। यह प्रवाह कई दिनों तक चलता रहा, पर यहाँ तो सारांश से ही संतोष करना होगा।

पहले स्वामी शंकराचार्य ने ही कहा, "मिश्र प्रवर! आज की देश की दशा आपसे छिपी नहीं है। यह बात सत्य है कि भट्ट पादाचार्य कुमारिल ने अपना जीवन-सर्वस्व इस धर्म की सेवा में लगा दिया; जीवन का एक-एक क्षण वैदिक धर्म की पुनः स्थापना और वेद विरुद्ध धर्मों के खंडन में ही बिताया। उसमें उन्हें सफलता भी मिली; किंतु आज भी तो बौद्ध धर्म उत्तर-पश्चिम प्रांतों में विद्यमान है तथा इस राष्ट्र के लिए आपत्तियों का कारण बना हुआ है। आओ, हम दोनों मिलकर इन राष्ट्र विरोधियों को समाप्त करें; संपूर्ण भारतवर्ष में हिंदू धर्म का प्रचार करें तथा भट्टपाद के अधूरे कार्य को पूरा करें, उनकी आत्मा को शांति दें।"

"ठीक है शंकराचार्य!" मंडन मिश्र बोले, "वेद विरोधी धर्म का तो नाश होना ही चाहिए तथा वैदिक धर्म की स्थापना भी होनी चाहिए। यह तो मैं भी चाहता हूँ; किंतु केवल प्रतिक्रियात्मक आधार पर तो हम एक साथ नहीं आ सकते। आप जिस धर्म का प्रचार कर रहे हैं, वह तो वैदिक धर्म नहीं है। जब घर-घर में होने वाले हवन और अग्निहोत्र से अरुण आकाश धूमिल हो जाएगा, वेद मंत्रों की स्वर लहरी वायुमंडल को पवित्र कर देगी, तब कहीं होगा वैदिक धर्म का प्रचार। आपके पंचायतन के देवताओं का और आपके वेदांत का उसमें स्थान कहाँ है, आचार्य?"

शंकराचार्य ने यह आलोचना सुनी और शांत भाव से बोले, "मैं वैदिक युग के स्वप्न देख सकता हूँ। वेदपाठी तथा कर्मकांडी ऋषि-मुनियों का ही रक्त मेरी नसों में प्रवाहित होता है। सच में वे दिन भी कितने सुंदर रहे होंगे, जब सारे देश में यज्ञयागादि की भरमार थी, सब ही मार्ग पर चलने वाले तथा एक ही देवताओं के प्रीत्यर्थ यज्ञ-हवन करने वाले थे। परंतु मंडनाचार्य! यज्ञ, हवन, संध्या, उपासना आदि सब मन को शुद्ध करने के, क्षुद्र भावनाओं को निकालकर मन में उच्च भावनाएँ भरने के साधन मात्र हैं, वे साध्य तो नहीं हैं। साधन जीवन नहीं है, ध्येय ही जीवन है।"

"तब आप क्या समझते हैं कि यज्ञयागादि का प्रचार किए बिना आर्यों की प्राचीन प्रथाओं का पुनः पालन किए बिना ही धर्म का उद्धार हो जाएगा?" मंडन मिश्र ने पूछा।

"क्यों नहीं हो जाएगा!" शंकर स्वामी ने कहा, "साधन तो देश कालानुसार बदला करते हैं। किसी देश और काल में गेहूँ खाकर शरीर स्वस्थ रहता है, तो किसी में

चावल खाकर, ग्रीष्म ऋतु में शीत-वस्तुओं के उपयोग की आवश्यकता होती है, तो शीत में उष्णता-प्रधान वस्तुओं की। यदि वैदिक धर्म की आत्मा जीवित रही, वह जयिष्णु और सहिष्णु मनोवृत्ति का सुंदर समन्वय बना रहा, यदि प्राचीन परंपरा से संबंध बना रहा तो वैदिक धर्म भी बना रहेगा। बाह्य बातों के होते भी यदि आत्मा नष्ट हो गई तो वैदिक धर्म भी नष्ट हो जाएगा।''

''तो क्या वे पुराने दिन लौटकर नहीं आ सकते?'' मंडन ने दुखित सा होकर पूछा।

''गया हुआ समय लौटकर नहीं आता, मिश्र! गंगा की धारा को कितना भी प्रयत्न करें, एक बार मैदान में आने पर लौटाकर पहाड़ पर नहीं ले जा सकते। राष्ट्र आगे बढ़ चुका है। पिछले एक हज़ार वर्ष में इसके ऊपर कितने ही संस्कार हुए हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए इसने अनेक प्रकार के प्रयत्न किए हैं, अपनी सुप्त शक्तियों को जगाकर अनेक दिशाओं में लगाया है और वहाँ पर किया हुआ पुरुषार्थ इसकी अपनी संपत्ति बन गई है; राष्ट्र की स्फूर्ति का केंद्र बन गई है, उसको छोड़ा नहीं जा सकता है। अपनी शक्तियों के विनियोग की दिशा कई बार हमारे अनुसार नहीं, शत्रुओं के अनुसार निर्णीत हुई है। उन्होंने जिस दिशा से आक्रमण किया, हमने उसी दिशा में प्रतिकार किया। वे जिस दिशा में दुर्बल दिखे, हमने उसी दिशा में प्रत्याक्रमण किया। नदी का मार्ग नदी की इच्छा पर नहीं, धरातल की समतलता पर निर्भर है। हाँ! उसका एक ध्येय, उसके जीवन की प्रवृत्ति उसका धर्म समुद्र से मिलना है, उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि किसी ने रोकने का प्रयत्न भी किया, तो उस दुर्मूढ़ को नष्ट होना पड़ेगा। हमारे राष्ट्रीय जीवन का भागीरथी प्रवाह भी पिछली सहस्राब्दी में वैदिक जीवन के हिमालय से नीचे उतरकर पौराणिक जीवन के मध्य देश की समतल भूमि पर इधर-उधर चक्कर लगाता हुआ समुद्र की ओर आगे बढ़ा है। आज गंगा की गड़गड़ाहट न सुनाई दे, तो दुःख मनाने का कारण नहीं है, शांत कल-कल ध्वनि भी गंगा की ही है। पिछले हज़ार वर्ष में अपने बदले स्वरूप के कारण हमको भय खाने का कोई कारण नहीं है। शिशु की सुकुमारता का स्थान यदि युवक की बलिष्ठ कठोरता ने ले लिया हो, तो न तो बालकपन की कोमलता के लिए रोने का कारण है और न बाह्योपकरणों से उसे उत्पन्न करने की आवश्यकता है। हज़ार वर्षों में हमने जिन प्रवृत्तियों का विकास किया है, वे न तो नष्ट की जा सकती हैं और न उनको नष्ट करने की आवश्यकता ही है। जिन मानचिह्नों का हमने विकास किया; जिनकी रक्षा करने के निमित्त हमारे राष्ट्र के वीरों ने अपने प्राणों की बाजी लगाई, क्या उन मानचिह्नों को आज हम नष्ट हो जाने देंगे?''

मंडन मिश्र इस आवेशपूर्ण वक्तव्य को सुनकर जरा सँभलकर बैठ गए और बोले, ''किसी भी भ्रमपूर्ण आदर्श को लेकर उसके लिए त्याग करना और त्याग की दुहाई

देकर उस भ्रम से चिपके रहना कहाँ तक युक्तिसंगत है, आचार्य? आदर्श के लिए किया हुआ त्याग उसको सत्य नहीं बनाता। आदर्श तो स्वतः सत्य होता है। भ्रष्ट मार्ग पर चलने में जो परिश्रम हुए हैं, उसी के कारण हेय मार्ग श्रेय नहीं हो सकता और न विद्वान् के लिए वह प्रेय ही होना चाहिए।'' मंडन मिश्र का स्वर अंत में उत्तेजित हो उठा।

''आप सत्य कहते हैं, मिश्रप्रवर!'' आचार्य शंकर ने शांतिपूर्वक कहा, ''त्याग, आत्माहुति और बलिदान का तो तभी मूल्य है, जब वे किसी सत्य आदर्श की प्राप्ति के लिए किए गए हों। अन्यथा वे हमारी भयंकर भ्रांति को और भी भयंकर बना देते हैं। हुतात्मा के प्रखर प्रकाश से जन-साधारण की आँखें चौंधिया सकती हैं, जिसके कारण वह प्रकाशित वस्तु के स्वरूप का ठीक-ठीक निर्णय न कर पाए, किंतु जो विचारवान हैं, सूक्ष्मदर्शी हैं, वे तो इस प्रकाश में आदर्श के सत्यासत्य का और भी स्पष्ट रूप से ज्ञान कर सकते हैं। आपने विचारी पुरुष की भाँति इस त्याग के आवरण को हटाकर आदर्श की परीक्षा करने का विचार ठीक ही किया है।''

आचार्य शंकर को अपनी बात मानते हुए देखकर मंडन मिश्र मन-ही-मन मुदित थे तथा अपने विषय का आगे प्रतिपादन करने की इच्छा से बोले, ''ठीक है आचार्य! हमको सत्यादर्श की प्रतिष्ठापना का ही प्रयत्न करना चाहिए और वह तो आर्य पूर्वजों का वेद-विहित कर्मकांड का ही मार्ग हो सकता है। आइए, हम उसी में जुट जाएँ।''

''हाँ, मिश्रवर!'' आचार्य शंकर ने कहा, ''आर्यों के वैदिक मार्ग का ही हम अनुसरण करेंगे। उपनिषदों की ज्ञान-गंगा की धवलधारा का आदि स्रोत, अनंत रत्नों के भंडार, पृथ्वी के मानदंड शैलराज हिमवंत के समान अमित ज्ञान के आगार, ज्ञानलोक के मानदंड अपौरुषेय वेदों ही में हैं। गगनचुंबी गिरिराज की उपत्यकाओं में तपस्या करते हुए, उसके शैलश्रृंगों के साथ ऊँचा उठते-उठते ज्ञानाकाश को चूमकर जिन वेदांत सूत्रों की रचना की गई, क्या वे वेद विरुद्ध हैं? क्या वे महर्षि बादरायण आर्यपथ के पथिक नहीं थे? व्यामोहोद्‌भूत अर्जुन की अकर्मण्यता को नष्ट करके उसमें पुनः पुरुषार्थ का प्रकर्ष करने वाली श्रीमद्‌भगवद्‌गीता क्या वेदविहित नहीं है? ज्ञान, कर्म और भक्ति की इस त्रिवेणी संगम पर अवगाहन करके किसके पाप नहीं धुल जाएँगे। गत सहस्राब्दी में जिस धर्म का विकास किया है, वह वैदिक धर्म ही है, जिस आदर्श पर चले हैं, वह वैदिक आदर्श ही है, मंडनाचार्य।''

''यह तो सब सत्य है आचार्य! किंतु बौद्धों की तरह यज्ञ-हवन छोड़कर जो पूजा-अर्चा चलाई है, वह क्या वैदिक पद्धति है?'' मंडन मिश्र ने कुछ-कुछ मानते हुए कहा।

आचार्य शंकर ने उत्तर दिया, ''यह पद्धति बौद्धों की नहीं है, मंडनाचार्य! और न बौद्धों के कारण यज्ञ-हवन हमने छोड़े हैं, यज्ञ-हवन आदि बाह्य कर्मकांड के साथ-साथ अंतरात्मा के साक्षात्कार की प्रवृत्ति हमको बौद्धों से पहले भी अपने जीवन में

दिखाई देती है। यदि बौद्ध धर्म का उदय नहीं हुआ होता तो भी हम इन सब पद्धतियों का विकास करते। बाह्य यज्ञ के स्थान पर आत्मयज्ञ का उत्तम आदर्श तो उपनिषद् और ब्राह्मण स्वयं रख गए हैं। भक्ति की प्रेरणा सनातन प्रेरणा है और उसी का विकसित रूप आज हमको जनसाधारण की पूजा आदि की पद्धति में मिल रहा है। हाँ, उसको स्वरूप देना तथा उसमें काट-छाँट करना हमारा काम है। वह वैदिक पद्धति ही है। घर-घर में होने वाली शिव की पूजा के पीछे क्या आपको वैदिक रुद्र की स्तुति नहीं सुनाई देती?

भागवतधर्मी वासुदेव के पुजारी भी तो विष्णु की ही आराधना करते हैं। पुराणों और उप-पुराणों में भी तो वैदिक ऋषियों की महिमा गाई गई है। जिन राजाओं के गौरव-गान से हमारे सुतों ने गगन-मंडल को गुँजाया, वे वैदिक धर्मावलंबी ही तो थे। क्या इस सहस्राब्दी में भारत के जनसमुदाय को पूर्व परंपरा से संबद्ध नहीं रखा? उसके मन में अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न की है। इस परंपरा को तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यह भारतीय मस्तिष्क का विकास है, आसिंधु-सिंधुपर्यंत भारतभूमि की कोटि-कोटि संतानों को माता का दिया हुआ स्तन्य है तथा उससे परिपुष्ट सत्पुत्रों की माता की उपासना विधि है, आराधना है, इसी सहस्राब्दी में विकसित राष्ट्र के अंत:करण-चतुष्टय की भाँति अपने चारों धाम की कल्पना क्या छोड़ी जा सकती है? हम उसको नहीं छोड़ सकते। जनसाधारण उसको नहीं छोड़ेगा, क्योंकि उसमें वह मातृभूमि का स्वरूप देखता है।

प्रजापति दक्ष के यज्ञ में स्वाभिमान की रक्षा करने के निमित्त आत्माहुति देने वाली सती के शव के अंग-अंग आज संपूर्ण भारत में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। शाक्तों के उन तीर्थ स्थानों पर आज भी, जिनकी आँखें हैं, वे दक्ष प्रजापति के यज्ञ की उठती हुई ज्वाला देख सकते हैं। उन ज्वालाओं से प्रकट माता की मूर्ति के सम्मुख किसका मस्तक नहीं झुक जाएगा। बौद्ध धर्म की अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को इन्हीं राष्ट्रीय कल्पनाओं ने रोका है, मंडनाचार्य! इनको छोड़कर राष्ट्र का कल्याण कैसे हो सकेगा?'' स्वामी शंकराचार्य रुके। मंडन मिश्र मुग्ध मन से सुन रहे थे। आचार्य ने फिर कहना प्रारंभ किया, ''यदि हमारा यह विकास परकीयों के अनुकरण स्वरूप होता, हमारी आत्मनिर्भरता, आत्माभिमान और आत्मविश्वास को नष्ट करने वाला होता, हमारे अंदर आत्मगौरव को प्रज्वलित न करता, प्राचीन परंपरा को छिन्न-विच्छिन्न करता तथा अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का जनक होता तो हम इसको समूल उखाड़ फेंकते, इसका तनिक भी मोह न करते, किंतु यह तो अपने पूर्वजों की परंपरा को ही पुष्ट करने वाला है, पूर्वजों के द्वारा वपन किए हुए बीज ने ही वृक्ष का रूप धारण किया है। बीज के पुराने स्वरूप को नष्ट हुआ देखकर शोक मनाने का कारण नहीं है, उसके परिवर्तित रूप को, विकसित रूप को पहचानें। वृक्ष में बीज को देखें। वृक्ष को ही पानी देने से पुन: फल और बीज मिलेंगे,

काटने से अथवा जड़ खोदने से अब बीज नहीं मिल सकता। आज का हिंदू धर्म अपने प्राचीन आर्यधर्म का ही विकसित स्वरूप है। आओ, इसे बढ़ाएँ। संपूर्ण भारत में अद्वैत का प्रचार करें। भारती संतति को एक सूत्र में ग्रथित करें।''

''तो क्या यज्ञ-हवन बिल्कुल ही नष्ट हो जाएँगे आचार्य?'' मंडन मिश्र ने कुछ खिन्न होते हुए पूछा। आचार्य शंकर की वाणी ने उनको जीत लिया था, किंतु मन पर पड़े हुए संस्कार ज़ोर मार रहे थे।

''नष्ट क्यों हो जाएँगे, मिश्र? यज्ञ का हमारे जीवन में स्थान है, वह महत्त्व का है, अत: उसको बनाए रखना ही होगा। हमारा संपूर्ण जीवन ही यज्ञमय होगा। आधिभौतिक शक्ति को जब आधिदैविक भावना का पुट दिया जाता है, तभी आध्यात्मिक दृष्टि उत्पन्न होती है। यही यज्ञ है। हमारे पास जो कुछ है, हम जो कुछ करते हैं, वह अपने जीवन के उपभोग के लिए नहीं किंतु मानव आदर्शों की प्राप्ति के लिए करते हैं। यही तो यज्ञीय भावना है। संसार में जो कुछ सत्य है, शिव है, वह सब भगवान् का ही आविष्कार है, जीवन की क्रियाओं को उसको समर्पित करना ही यज्ञ है, मिश्र प्रवर!'' आचार्य ने कहा।

''ठीक है आचार्य?'' मंडन मिश्र सँभलते हुए बोले, ''किंतु सिद्धांत का कोई व्यावहारिक स्वरूप भी होता है। आदर्श को प्राप्त करने के लिए साधन भी चाहिए; जीवन में इस प्रकार की यज्ञमयी दृष्टि बनाने के लिए उपयुक्त संस्कारों की भी आवश्यकता है। बिना इनके हम उसके उद्दिष्ट में सफल कैसे होंगे?''

''सत्य कहा मिश्र प्रवर?'' शंकराचार्य ने कहा, ''हम साधनरूप संस्कारों को नहीं छोड़ेंगे। हमारे यज्ञ-हवन आदि इसी रूप में बने रहेंगे। प्रत्येक पंच-यज्ञ करेगा, हमारे संपूर्ण धर्म कृत्यों में यज्ञ, हवन आवश्यक होंगे, जीवन के संपूर्ण संस्कार विधिवत् हवन यज्ञ द्वारा ही होंगे। इनका शुद्ध और सात्त्विक स्वरूप हमारा है, वह हमारा रहेगा। किंतु हम दुराग्रही नहीं हैं, मिश्र? यदि अन्य साधनों से भी उपर्युक्त भावना निर्माण हो सकती हो तो हमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए?''

मंडन मिश्र कैसे आपत्ति करते?

उनकी तूणीर में अब तर्क के तीर समाप्त हो चुके थे। शंकर स्वामी की सरस्वती में स्नान करके वे अपनी समस्त शंका-कुशंकाओं का समाधान कर चुके थे। परंतु उनकी महर्षि जैमिनि पर बड़ी श्रद्धा थी। उनका हृदय रुक-रुककर उन्हें पीछे खींच रहा था। अंत में उन्होंने कह ही तो डाला, ''आचार्य, आप कहते तो ठीक हैं। आपकी सब बातें मुझे मान्य हैं। किंतु महर्षि जैमिनि सरीखे विद्वान् क्या ये सब बातें नहीं सोच सकते थे? उनके मन में क्या देश और धर्म का प्रेम नहीं था?''

यह तर्क बड़ा टेढ़ा था। महर्षि की विद्वत्ता और देश-प्रेम में शंका नहीं की जा सकती थी और प्रत्यक्ष रूप से तो उनसे भिन्न मार्ग का अवलंबन करना ही पड़ रहा था। किंतु शंकराचार्य का शास्त्रों का ज्ञान कोई कम थोड़े ही था। उन्होंने महर्षि जैमिनि के ही वाक्यों को उद्धृत करके अपने मत का प्रतिपादन किया। किंवदंती तो यह है कि स्वयं महर्षि जैमिनि ने प्रकट होकर शंकराचार्य के मत की पुष्टि की। अब मंडन मिश्र ने अपने को आचार्य के चरणों में अवनत पाया और आचार्य ने भी आनंदाश्रु बहाते हुए उन्हें अपनाया। राष्ट्र की संवेदना से उनका हृदय तो पहले ही पूर्ण था, अब उनको निश्चित मार्ग भी मिल गया। वे शंकर के समान ही संन्यास धारण करके साथ चलने को तैयार हो गए।

शंकर स्वामी के विजय की चर्चा दूर-दूर फैल गई। बात की बात में लोग उनके मत में दीक्षित होने को तैयार हो गए, क्योंकि उन्होंने मंडनाचार्य जैसे उद्भट विद्वान् को अपना शिष्य बना लिया था। किंतु अभी तो शंकराचार्य को और लोहा लेना था।

13

भारती का समाधान

भारती ने अपने सामने अपने पति की पराजय देखी तथा प्रतिज्ञा के अनुसार उनको संन्यासी होते हुए देखा। उसके पति अवश्य हार गए थे किंतु स्वयं उसका अभी समाधान नहीं हो रहा था। पति और पत्नी के विचारों में अंतर हो तथा पति अपने विचारों के कारण संन्यास ले ले और पत्नी गृहस्थ धर्म का पालन करे, यह उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। अत: उसने भी स्वामी शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। वह बोली, ''आचार्य, आपने मेरे पति का तो मुँह बंद कर दिया है किंतु अभी आपने उनको पूर्णतया नहीं जीता है। पत्नी पति की अर्धांगिनी होनी है, जब तक आप मेरे साथ शास्त्रार्थ करके मुझे परास्त नहीं कर देते, तब तक तो उनका आधा भाग अविजित होने के कारण वे प्रतिज्ञानुसार संन्यासी नहीं हो सकते।''

भारती की यह ललकार सुनकर आचार्य भी कुछ सोच में पड़ गए। कुछ देर बाद उन्होंने कहा, ''यह तो ठीक है भारती। किंतु तुम्हारे साथ शास्त्रार्थ कैसे हो सकेगा? तुम तो स्त्री हो?''

यह सुनते ही भारती को एकदम आवेश आ गया। मानो उसका स्त्रीत्व का अभिमान जाग उठा था, किंतु अपने आवेश को दबाकर शांति के साथ कहा, ''स्त्री हूँ तो क्या हुआ आचार्य? स्त्री के क्या विचार नहीं होते? उसके मन में शंका-कुशंकाओं की आँधी नहीं उठ सकती? उसके पास भी मस्तिष्क है, हृदय है और फिर वह भी तो राष्ट्र का अंग है। उसका भी राष्ट्र के प्रति दायित्व है और उस दायित्व को निभाने का उसको भी अधिकार है।''

''यह तो मैं मानता हूँ देवि!'' आचार्य ने कहा, ''किंतु कुछ प्रचलित पद्धति का भी तो ध्यान रखना होगा?''

''आप प्रचलित पद्धति की दुहाई दें, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है, आचार्य!''

भारती ने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा। आगे फिर शांति के साथ बोली, ''और आचार्य, स्त्रियों के साथ क्या शास्त्रार्थ नहीं हुए हैं? गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद आपको ज्ञात नहीं है? गार्गी क्या पुरुष थी? और उसका शास्त्रार्थ भी किसी साधारण विषय पर नहीं किंतु आत्म के संबंध में हुआ था। जनक और सुलभा का शास्त्रार्थ तो प्रसिद्ध ही है। सुलभा भी कोई पुरुष नहीं थी। जनक और याज्ञवल्कय भी साधारण मनुष्य नहीं थे, किंतु अत्यंत प्रसिद्ध महात्मा थे। यदि ये महात्मा-गण स्त्रियों से विवाद कर सकते हैं तो आप मुझसे क्यों नहीं कर सकते?''

सरस्वती ने युक्ति और उदाहरणों से अपने पक्ष का समर्थन किया था। आचार्य के पास कोई उत्तर नहीं था। अंत में उनको वाद-विवाद करने के लिए सम्मति देनी ही पड़ी।

कहते हैं कि फिर उसी प्रकार सभा लग गई। इतने बड़े आचार्य से अपने पति के परास्त होने के बाद भारती शास्त्रार्थ करने को तैयार है, यह सुनकर चारों ओर से लोग कौतूहलवश आकर इकट्‌ठे हो गए। लोग तरह-तरह की धारणाएँ करने लगे। कोई कहता, ''अरे भारती क्या खाकर आचार्य से शास्त्रार्थ करने चली है? जिनके आगे काशी के पंडितों की नहीं चली, इतने बड़े मंडन मिश्र मुँह की खा गए, उनसे यह स्त्री होकर जीतेगी।'' कोई कहता, ''अरे भाई, भारती तो प्रत्यक्ष सरस्वती का अवतार है। आचार्य ने पंडितों को जीता होगा किंतु सरस्वती को कहाँ जीतेंगे। आचार्य अब अवश्य ही हार जाएँगे।'' इस प्रकार लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार तर्क करते थे।

भारती और शंकराचार्य का शास्त्रार्थ भी कई दिनों तक चला। भारती ने खोद-खोदकर तत्त्वज्ञान के एक-एक विषय को निकाला और उस पर ख़ूब चर्चा की। शंकराचार्य सहज भाव से उत्तर देते जाते थे। परंतु मन-ही-मन सोच अवश्य रहे थे कि अबकी बार पाला किसी अच्छे से पड़ा है। अपने मार्ग के संबंध में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा होने के कारण उनको किसी भी प्रश्न का उत्तर देने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी, जिसकी दृष्टि साफ़ है, उसको हरेक चीज साफ़ दिखाई देती है, फिर वह वस्तु अच्छी हो या बुरी हो, कठिन हो या कोमल हो, छोटी हो या बड़ी हो। इसी प्रकार जिसको अपने ध्येय एवं मार्ग का स्पष्ट ज्ञान है, जिसके सामने अपने जीवन की कल्पनाएँ स्पष्ट हैं, वह प्रत्येक विषय का सही और स्पष्ट उत्तर दे सकता है।

भारती जब सब विषयों पर चर्चा कर चुकी और शंकराचार्य ने भली-भाँति उत्तर दे दिया तो अंत में बोली, ''आपने सिद्धांत तो सब ठीक रखे हैं आचार्य; किंतु आपका माया, ब्रह्म तथा सर्वात्मैक्य का सिद्धांत संन्यासी के लिए ही सत्य हो सकता है। जो गृहस्थ है, जो संसार में रहता है, वह न तो आपके नैष्कर्म्य के सिद्धांत को मान सकता है और न वेदांत को ही अपने व्यवहार में ला सकता है। अतः मुझको इसमें

अव्यावहारिकता का दोष दिखाई देता है।''

आचार्य शंकर इसका क्या उत्तर देते? उन्होंने तो बचपन से ही संन्यास ले लिया था। संन्यास लेकर भी यद्यपि वे दुनिया से दूर नहीं भागे थे और न ही अपने जीवन में अव्यावहारिकता का ही प्रदर्शन किया, किंतु दुनिया जिसको दुनिया समझती है, उसमें तो उन्होंने सचमुच प्रवेश नहीं किया था। उनके सिद्धांत संन्यासियों के लिए ही नहीं अपितु जनसाधारण के लिए भी हैं। यह तो उनका दावा था और इसी दावे को भारती उखाड़ फेंकना चाहती थी। इस सबका उत्तर शब्दों में नहीं दिया जा सकता था; यह तो व्यवहार की बात थी और इसका उत्तर कार्य करके ही दिया जा सकता था। अत: आचार्य ने छह मास का समय माँगा, जिसमें वे वेदांत को व्यवहार में दिखा सकें।

किंवदंती तो यह कहती है कि भारती से विदा होकर वे जंगल में आए तथा वहाँ अपनी आत्मा को अपने शरीर से बाहर निकालकर एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश कराया। मृत राजा एकदम जीवित हो उठा। चारों ओर आनंद छा गया। महारानियों के दु:ख के आँसू आनंदाश्रु बनकर बहने लगे। प्रजा में चारों ओर हर्ष की लहर फैल गई। शंकराचार्य राजा के शरीर के द्वारा सब प्रकार राज-कार्य करने लगे तथा संसार का अनुभव लेने लगे। अब राजा पुराना राजा नहीं था, उसके जीवन में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता था। अब उसका जीवन महनीय हो गया था; राजा होते हुए भी वह सात्त्विक वृत्ति से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। राजकाज भी पहले से अधिक योग्यता से होता था। प्रजा की सुख-समृद्धि बढ़ रही थी। राजा के मंत्रियों ने जब यह परिवर्तन देखा तो उनको विश्वास हो गया कि अवश्य ही किसी महात्मा ने राजा के मृत देह में प्रवेश किया है। महात्मा की आत्मा फिर लौटकर अपने पूर्व शरीर में न जा सके, इसके लिए उन्होंने चारों ओर आदमी दौड़ाकर जहाँ भी कोई शव मिले, उसे जलाने की आज्ञा दे दी। राजपुरुष दौड़-धूप करके शव की खोज करने लगे।

स्वामी शंकराचार्य के शिष्य छह महीने तक उनके लौटने की बाट देखते रहे तथा उनके शव की रक्षा करते रहे। अब इतने दिन होने पर भी शंकराचार्य न लौटे तो उनको चिंता हुई तथा सोचने लगे कि अवश्य ही आचार्य राज्य के मोह में फँस गए हैं। अत: उनमें से दो शिष्य ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस राज्य में पहुँचे तथा लुक-छिपकर राजमहल में भी पहुँच गए। यहाँ राज-परिवार से परिवृत्त राजा बैठा हुआ, सब प्रकार के सुखों में मग्न और राज कार्य में लीन था। एक शिष्य ने एक श्लोक बनाकर सुनाया, जिसके द्वारा आचार्य को अपने कार्य तथा वास्तविक जीवन की याद दिलाई। बाक़ी लोग कुछ समझ नहीं पाए किंतु आचार्य की पूर्व स्मृति एकदम जाग उठी। उन्होंने प्राणायाम खींचा और दूसरे क्षण हँसता-खेलता राजा मृत्यु की गोद में लेट गया। चारों ओर फिर हाहाकार मच गया।

उधर राजपुरुष शव की खोज में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते शंकराचार्य के शव को पा गए थे। उन्होंने उसको जलाने के लिए चिता तैयार की तथा चिता पर शव को रखा। शिष्यगण हाहाकार कर उठे। इतने ही में शंकराचार्य एकदम आँख मलकर ओऽम् का उच्चारण करते हुए उठ बैठे। राजपुरुष डरकर भाग गए तथा शिष्यगण आनंद मनाने लगे।

परकाया प्रवेश के द्वारा सब प्रकार का अनुभव प्राप्त करके आचार्य लौटकर महिष्मती आए। भारती को अपने वेदांत का व्यावहारिक स्वरूप समझाया। उसका सब प्रकार से समाधान किया। सरस्वती का भी अंत:करण अब शंकारहित था। अत: उसने भी अपने पति के साथ-साथ संन्यास ले लिया तथा इस प्रकार सबके सब दिग्विजय के निमित्त आगे बढ़े। मंडन मिश्र और उनके अनेक शिष्य अब शंकराचार्य के साथ थे। किंतु अब मंडन मिश्र 'सुरेश्वराचार्य' थे।

14

विविधता में एकता

स्वामी शंकराचार्य को अब एक उत्कृष्ट कार्यकर्ता मिल चुका था। सहस्रों लोग उनके मत के अनुयायी हो गए थे। पर इतने से उनको संतोष कहाँ? वे तो संपूर्ण भारतवर्ष को एकात्मता का अनुभव कराना चाहते थे, संपूर्ण जन-समुदाय को अद्वैत का पाठ पढ़ाना चाहते थे। इस ध्येय की विशालता की तुलना में अभी उनका कार्य नगण्य ही था। किंतु उन्हें अपने कार्य पर तथा अपनी शक्तियों पर विश्वास था, भगवान् पर श्रद्धा थी। वे जानते थे कि उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी, इसीलिए सफलता-असफलता के संबंध में चिंता न करते हुए वे अपने कार्य में जुट गए, जो सर्वस्वार्पण करके अपने कार्य से एकरूप हो जाता है, जिसके जीवन की प्रत्येक कृति में उसका ध्येय और कार्य ही परिलक्षित होता है, उसे सफलता की बाट नहीं देखनी पड़ती, सफलता तो स्वयं उसके चरण चूमती है। स्वामी शंकराचार्य को भी अपने छोटे से जीवन में यही अनुभव हुआ।

महिष्मती से स्वामी शंकराचार्य दक्षिण की ओर चले। जिधर से वे निकल जाते, लोग उनके हो जाते। अनेकानेक देवी-देवताओं के पुजारी उनसे मिले। अपने-अपने, देवी-देवताओं को ही वे सर्वस्व समझते थे। स्वामी शंकराचार्य ने किसी भी देवता का खंडन नहीं किया। लोगों की श्रद्धा को नष्ट नहीं किया। श्रद्धा तो दैवी गुण है, उसको नष्ट करना एक सद्गुण को नष्ट कर देना है। अत: उन्होंने श्रद्धा को नष्ट न करते हुए केवल श्रद्धा का केंद्र बदल दिया। छोटे-छोटे देवी-देवताओं की पूजा अनंत ज्ञानमय परमपिता परमेश्वर की ही तो पूजा है। क्योंकि उसकी शक्ति सर्वत्र व्यक्त होती है; जड़-चेतन में वही रमा हुआ है। उन्होंने बताया कि हिंदू हृदय की एक प्रेरणा सब उपासना की विधियों के पीछे है, भिन्न-भिन्न पूजा पद्धतियों के पीछे उस परम दयामय भगवान् के प्रति एक ही कृतज्ञता की भावना है, जिसने हमको धन-धान्य, विपुला भूमि

तथा सब प्रकार का सुख-साधन प्रदान किया। सत्य को खोजने की प्रकृति के रहस्यमय व्यापार को समझने की एक ही प्रवृत्ति का परिणाम बाह्यत: दिखने वाली भिन्नता है। अपनी वैदिक परंपरा की रक्षा करने की एक अभिलाषा ने अपने राष्ट्रीय जीवन को स्वाधीन रखते हुए विकास की अत्युच्च अवस्था को प्राप्त कराने की एक ही महत्त्वाकांक्षा ने कहीं आदित्य उपासना का रूप लिया तो कहीं शक्ति-आराधना का, कहीं गणेश को ही आराध्य मानकर भारत के कोने-कोने में अष्ट गणपति के मंदिरों का सृजन किया। तो कहीं द्वादश ज्योतिर्लिंगों की स्थापना करके भारत-भूमि की परिक्रमा करने का प्रयत्न किया, कहीं वह भगवान् बाल्मीकि के आदिकाव्य के रूप में फूट पड़ी तो कहीं श्रीमद्भागवत की मधुर कथा से जन-समुदाय को विह्वल बना दिया, कहीं योगाभ्यास करते हुए वर्षों तक एक-एक आसन में व्यतीत करने वाले योगी उत्पन्न किए तो कहीं अपनी कठोर करवाल से क्रूरता का कपालोच्छेदन कर कृतांत को कृशता के कर से मुक्त करने वाले कापालिकों को कृतकृत्य किया, कहीं सरस्वती की सतत सेवा करने वाले साहित्यकारों के द्वारा सृष्टि को सीमित करने का श्रेय दिया तो कहीं अत्याचारों एवं अन्यायी आक्रमणकारियों की अनीक को असि के घाट उतारकर प्रजा पर कृपा दृष्टि करने वाले नृपतियों को राजलक्ष्मी का प्रसाद।

शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, आदित्योपासक आदि सबके सब एक ही शक्ति के उपासक हैं, उसी सहस्रानन, सहस्रबाहु, सहस्रपाद, सहस्राक्ष राष्ट्रपुरुष की भिन्न-भिन्न स्वरूप में पूजा करते हैं।

स्वामी शंकराचार्य के इस सदुपदेश के कारण लोगों को अपनी वस्तु न छोड़ते हुए भी बड़ी चीज मिल गई। जीवन की विशालता से, ध्येय की उच्चता, व्यवहार की महत्ता से उनका संबंध जुड़ गया। ऊपर चढ़ने की इच्छा लेकर ऊपर की सीढ़ी पर पैर रखने वाला स्वत: ही नीचे की सीढ़ी छोड़ देता है। नीचे की सीढ़ी की उसे याद ही नहीं रहती; उसे छोड़ने में उसको कष्ट नहीं होता। बस स्वामी शंकराचार्य ने इसी संपूर्ण जनसमुदाय को ऊपर उठाया। छोटे-छोटे ध्येय के गड्ढे में सड़ने वाले यात्री का संबंध विशाल राष्ट्र-गंगा से कर दिया; गंदगी स्वत: ही नष्ट होने लगी, जीवन में पवित्रता का प्रवेश होने लगा। हिंदू हृदय की जो असीम श्रद्धा अब तक देवी-देवताओं के छोटे-छोटे पात्रों में न समा सकने के कारण उफनकर दूसरों की आलोचना करती थी, उसको अब विशाल एकत्व के अद्वैत-सागर में स्थान मिला। हिंदू संस्कृति की बेल सहिष्णुता का पानी पीकर फिर से लहलहा उठी।

अनेकों विरोधी भाव लेकर स्वामी शंकराचार्य के पास आते किंतु उनके सामने आते ही उनका विरोध काफ़ूर हो जाता। इतने महान् विचारक, धर्म, विज्ञान, साहित्य, इतिहास और पुराणों के प्रकांड विद्वान्, राष्ट्र की आत्मा से एकात्म का अनुभव करने

वाले शंकराचार्य को भी लोग समझाकर अपने मत में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करते, अपने कार्य में संशोधन करने के अनेक सुझाव उनके सामने रखने की धृष्टता तक करते। किंतु स्वामी शंकर का मार्ग इतना सर्वांगपूर्ण था कि किसी के भी खींचतान की वहाँ गुंजाइश ही नहीं थी। लोग सीना ताने उनके सामने आते और अपना सा मुँह लेकर लौट जाते।

दक्षिण का भ्रमण करते-करते स्वामी शंकराचार्य काँची पहुँचे। काँची को दक्षिण का काशी कहा गया है। उत्तर की भाँति दक्षिण की, वह भी संस्कृति का केंद्र रही है। यह केवल संस्कृति और धर्म का ही केंद्र नहीं थी, अपितु सब प्रकार से धन-धान्य से भी परिपूर्ण थी। पल्लवों की राजधानी रहने का इसको सौभाग्य प्राप्त हो चुका था। अपने प्रखर प्रताप से महाराज पुलिकेशी की प्रतिमा को तिरोहित कर देने वाले सम्राट् नृसिंह वर्मन की कीर्ति से कांची आज भी कांतिमान थी। कांचीपुरी के बाजारों, ऊँचे-ऊँचे विमानगृहों, सीध और अट्टों में तथा राजमार्ग के तोरणों और प्राकारों में अनंत लक्ष्मी बरसती थी। सरस्वती के स्वर ने कांची को काशी बना रखा था। तो लक्ष्मी के विलास ने उसे पाटलिपुत्र का वैभव प्रदान किया था। कांची में स्वामी शंकराचार्य कुछ दिन रहे। चारों ओर उनकी विद्वत्ता की धूम मच गई थी। संपूर्ण दक्षिणपथ में उनकी वाणी गूँज गई थी। चारों ओर उनके अनुयायी-ही-अनुयायी दिखाई देते थे। मालूम होता था कि शंकराचार्य के जीवन का कार्य पूरा हो गया। किंतु शंकराचार्य जानते थे कि जन-समाज की स्मृति अल्प होती है। उनकी भावनाएँ जहाँ एक ओर क्षणिक आवेश में उत्ताल तरंगों की भाँति उठकर संपूर्ण संसार को परिप्लावित करने का प्रयत्न करती हैं, वहाँ तट से टकराकर चूर-चूर भी हो जाती हैं। फिर उनका चिह्न भी नहीं दिखाई देता। अतः ऐसा प्रबंध करना आवश्यक है, जिसमें कि जन-समाज के एकत्व की भावना युगों-युगों तक बनी रहे। समाज में जो एक विचार और एक व्यवहार की लहर आई है, वह सदैव बनी रहे; तभी तो समाज का संगठन सुदृढ होगा, शाश्वत होगा, नहीं तो पानी के बुलबुले की भाँति क्षणिक होकर नष्ट हो जाएगा। अतः उन्होंने समाज को स्फूर्ति देने वाले, उसके जीवन-स्रोत-स्वरूप, प्रत्येक की श्रद्धा के केंद्र 'मठ' की स्थापना·करने का विचार किया—मौजें मारने वाले महंत तथा चाटुकार चेलों की रंगस्थली नहीं, अपितु समाज के सच्चे सेवक, देश के कर्णधार, ज्ञानी, विद्वान्, निस्स्वार्थी, निस्पृही तथा दृढ-निश्चयी कार्यकर्ताओं को शिक्षित करके संपूर्ण देश में भेजने वाले स्थान के रूप में उन्होंने मठ स्थापित किए। कहते हैं कि कांची में ही उन्होंने पहला मठ स्थापित किया था। किंतु उनका स्थापित श्रृंगेरी मठ ही अधिक विख्यात है तथा आज तक चला आ रहा है। सुरेश्वराचार्य को उन्होंने श्रृंगेरी का सबसे पहला मठाधीश नियुक्त किया। दक्षिण को ज्ञान की दिशा देने वाला, उनको धर्म का पाठ पढ़ाने वाला, उनको धार्मिक तथा

सामाजिक व्यवस्था देने वाला उत्तर का मिथिला का ब्राह्मण सुरेश्वराचार्य हुआ। और उत्तर में जोशी मठ का आचार्य दक्षिण का ब्राह्मण नियुक्त किया गया। जीवन के एक-एक क्षेत्र में उन्होंने भारत की इस एकता को बनाए रखने का कितनी सावधानी से प्रयास किया था। इसीलिए तो चैतन्यमय भारत का आज भी अभिव्यक्त और अविच्छिन्न स्वरूप हमारा आराध्य बना हुआ है।

दक्षिण का कार्य समाप्त करके स्वामी शंकराचार्य ने फिर अपना मुख उत्तर की ओर मोड़ा। उनकी कीर्ति सुनकर राजा सुधन्व साथ हो लिया। अब शंकराचार्य का नाम चारों ओर फैल गया था। अत: वे जहाँ जाते, दर्शनों के लिए अपार जन-समूह टूट पड़ता। विशाल जन-सभाओं में व्याख्यान देना, भीड़ के भीड़ लोगों को अपने मत में दीक्षित करना उनका दैनिक कृत्य हो गया था। वे जब जनता के सामने व्याख्यान देने खड़े होते तो अपने भावों के ऊपर लच्छेदार शब्दों तथा भाषा की दुरूहता का आवरण नहीं चढ़ाते थे। वे तो सीधे-सादे शब्दों में अपने हृदयगत भावों को उनके सामने रखते। जनता जनार्दन के सम्मुख आत्मनिवेदन करते, वे अपना हृदय खोलकर उनके सामने रख देते और लोग खुली आँखों देखते कि उस हृदय में उनके लिए प्रेम है, देश के लिए तड़प है तथा धर्म-कार्य की लगन है। स्वार्थ खोजने को भी नहीं मिलता, दंभ कहीं दिखाई नहीं देता; अहंमन्यता आठ-आठ आँसू बहाती दिखती। उस हृदय में उनको अपना स्वरूप दिखता, अपने लिए स्थान मिलता और वे उनके हो जाते। अनेक मतावलंबी उनके पास आए पर उनके होकर रह गए। मध्यार्जुन में शैव मतावलंबियों से पाला पड़ा जो कि शिव को छोड़कर किसी की उपासना जानते ही नहीं थे। वैष्णवों से उनका घोर विरोध था तथा यह विरोध कई बार कलह का रूप ले लेता था। स्वामी शंकराचार्य ने उनका विरोध शांत किया। शिव का वास्तविक रूप उनको समझाया। उन्होंने बताया कि यदि शिव वास्तव में देवाधिदेव हैं, सर्वज्ञ हैं, तो वे अंतर्यामी, सर्वव्यापक, अनंत चैतन्ययुक्त परमब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकते। फिर तो वैष्णव भी उन्हीं शिव की पूजा करते हैं। केवल रूप भिन्नता के कारण बाह्य भेद दिखाई देता है। उसके कारण जिनको अपने आराध्य के सच्चे स्वरूप का ज्ञान है, उनको तो नहीं लड़ना चाहिए, अज्ञानी लड़ें तो बात दूसरी है। स्वामी शंकराचार्य का तर्क शिवभक्तों को मान्य हुआ। उनके हृदय से कलुषता दूर हुई तथा संपूर्ण समाज के शिव की कामना से हृदय परिपूर्ण हो गया।

मध्यार्जुन में भगवान् शिव की पूजा-अर्चना करके आचार्य ने विदर्भ की ओर प्रस्थान किया। विदर्भराज नल के आख्यान अब भी स्थान-स्थान पर उनको सुनने को मिलते थे। वहाँ भी अनेक उपासकों को उन्होंने परास्त किया। लक्ष्मी के उपासक केवल लक्ष्मी को ही आराध्य देव मानकर दिन-रात पैसा-पैसा की ही रट लगाए रहते थे।

स्वामी शंकराचार्य ने लक्ष्मी का वास्तविक उपयोग बताया कि लक्ष्मी के जीवन की धन्यता तो विष्णु की सेवा में है; शेषशायी भगवान् विष्णु के पैर दबाते रहना यही तो उनके जीवन भर का कार्य है। अत: यदि धन का उपयोग धर्म के लिए नहीं हुआ, देशसेवा में नहीं हुआ, भगवत कार्य के निमित्त नहीं हुआ तो धन कमाना व्यर्थ ही है। धन तो साधन है, साध्य नहीं। स्वामी शंकराचार्य के व्यक्तित्व और वाणी के प्रभाव ने उलूकवाहिनी के अनुचरों के तमाच्छन्न हृदय में भी प्रकाश कर दिया, उन्हें भी जीवन में कुछ शांति और समाधान का अनुभव होने लगा।

अपने ज्ञान के आलोक से दिग्दिगंत को आलोकित करते हुए, मार्ग की बाधाओं को अपने पुरुषार्थ से पदाक्रांत करते हुए जगन्नाथ धाम में पहुँचे। भारत के कोने-कोने से जगन्नाथ के दर्शनों को यात्री एकत्र थे। सब के सब अपने भेदभाव को भूलकर अत्यंत प्रेम के साथ मिलते तथा एक ही भक्तिभाव से भगवान् के सामने शीश नवाते। आज की भाँति तब भी यही परंपरा प्रचलित थी कि 'जगन्नाथ का भात, पूछो जात न पाँत।' छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, शिक्षित-अशिक्षित सबके सब एकरस होकर जब भोग पाते तब गर्जन करता हुआ समुद्र उच्च स्वर से भारतीय एकता की घोषणा करता हुआ सुदूर पूर्व तक चला जाता। महोदधि की इस अमृत वाणी ने ही तो अनेक भागों में विभक्त द्वैपायन सभ्यता और संस्कृति को एकता के सूत्र में ग्रंथित किया था। मातृभूमि की एकता का प्रभाव द्वीपांतरवासियों की एकता पर क्यों न पड़ता?

जिस प्रकार शृंगेरी और काँची में दक्षिण के लिए मठ की स्थापना की थी, उसी प्रकार जगन्नाथपुरी में भी पूर्व-प्रदेशों के मार्ग-दर्शन के निमित्त गोवर्धन मठ की स्थापना की। यहाँ से उसी भावना से प्रेरित होकर संन्यासी निकलते थे, जैसे शृंगेरी मठ से निकलते थे, और इसीलिए तो दक्षिण और पूर्व एक ही रंग में रँग गए।

पुरी से काशी होते हुए वे पश्चिम प्रांतों की दिग्विजय के निमित्त गए। जो हाल पूर्व में वही पश्चिम में। सूर्य तो जहाँ जाता है, वहीं आलोक करता है। अपने एकत्व के संदेश को सुनाते हुए वे द्वारकापुरी पहुँचे। देश-कल्याण की भावना से कदर्यता का कलंक सहन करके भी रण छोड़कर भागने वाले रणछोड़ की बसाई हुई द्वारका कृष्ण की देशभक्ति, धर्म भावना, एकराटत्व की महती आकांक्षा स्थापना की अत्युच्च कल्पना की साक्षी रूपी अभी खड़ी थी। बड़ा जोश लेकर पश्चिम समुद्र इन भावनाओं को कुचलने की इच्छा से उठता; किंतु तट से टकराकर चूर-चूर हो जाता; सिर पटककर रह जाता; रोता-चिंघाड़ता वापस लौट पड़ता, किंतु मातृभूमि की एकता को विदीर्ण न कर पाता। यहाँ भी स्वामी शंकराचार्य ने एक मठ की स्थापना की।

द्वारकापुर से आचार्य फिर उत्तर की ओर चल पड़े। अत्यंत भयानक मरुस्थल भी उनका मार्ग न रोक पाया। तप्तांश के उत्तप्त ताप से मरुकणिकाएँ लाल हो उठतीं, किंतु

आचार्य शंकर शांत चित्त से अपने पैर बढ़ाए जाते। शीत और ताप के प्रभाव से वे ऊँचे उठ चुके थे। मरुस्थल जल-भुनकर खाक हो जाता, परंतु उनके अंतर के ताप से बाजी ने मार पाता। सूर्य तो मुँह छिपाकर भागने की कोशिश करता, भूमि ठंडी पड़ जाती और शंकराचार्य आगे बढ़ जाते। इस भीषण मरुस्थल को पार करके पंचनद प्रदेश में पहुँचे, जहाँ कि पंजे की पाँच उँगलियों के समान पाँचों नदियाँ फैली हुई थीं। पंचनद के गर्भ में कितना अतीत छिपा हुआ है, कितनी घनी है उस अतीत की स्मृति कि मस्तिष्क के सामने एक के बाद एक चित्र इतने वेग से आते हैं कि उनको स्पष्ट करना भी कठिन हो जाता है। वैदिक सामगान की प्रतिध्वनि करती हुई सरस्वती जहाँ कलकल करती थी, यहाँ वेद विरोधी बौद्धों का बोलबाला देख शंकराचार्य क्षुब्ध हो उठे। पुरु के प्रचंड पौरुष का जहाँ विपाशा गुणगान करती थी, चंद्रगुप्त के शौर्य और चाणक्य की चतुराई के सामने जहाँ सिंधु भी झुक गया था, वहीं कुछ लोगों की अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों के कारण बाह्य आक्रमणकारियों का ताँता लगा रहे, यह वे सहन नहीं कर पाते थे। इन वेद विरोधियों को समाप्त करने का उनका निश्चय था तथा वास्तव में यहीं उनको यह अवसर प्राप्त हुआ था, अभी तक तो केवल हिंदुत्व में एकत्व निर्माण करने का, उनको संगठित करने का तथा अपनी शक्ति संचित करने का ही काम किया था। अब अंतरशक्ति के निर्माण के बाद बाह्य शत्रुओं की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया।

15

राष्ट्र, धर्म और संप्रदाय

स्वामी शंकराचार्य को अपने अभिलषित को पूर्ण करने के लिए अधिक दिनों तक नहीं ठहरना पड़ा। तक्षशिला पहुँचते-पहुँचते उनकी बौद्ध विद्वानों से मुठभेड़ हो ही गई। बौद्ध अपने को तर्क का प्रकांड पंडित समझते थे। उनको विश्वास था कि वे शब्दों की खींचतान करके तथा बाल की खाल निकालकर किसी भी बड़े-से-बड़े पंडित को अवश्य ही शास्त्रार्थ में हरा देंगे। शब्दार्थ की व्याख्या करते रहना, अपना वाग्वैभव प्रदर्शित करते रहना ही उनका काम रह गया था। आपस में भी वितंडा और वाद-विवाद ही चलता रहता था। फिर दूसरों को इस चक्कर में फँसाने से भला वे क्यों चूकते! किंतु स्वामी शंकराचार्य इस चक्कर में फँसने वाले नहीं थे। उनके सामने अच्छे-अच्छों की दाल गलना दुष्कर था। वे शब्दों के पीछे नहीं थे, व्यवहार के पीछे थे। सूखे तर्क का उन्होंने कभी सहारा नहीं लिया। इसीलिए नहीं कि वे तर्क करना नहीं जानते थे अथवा उनके सिद्धांत तर्कसम्मत नहीं थे। किंतु इसीलिए कि कर्मण्यता का पौधा तर्क की मरुभूमि में नहीं, किंतु भावना की उपत्यका में लहलहाता है, शब्दों का जंजाल तो व्यवहार को किंकर्तव्यविमूढ़ बना देता है। अत: शब्दाडंबर से वे कोसों दूर रहे।

बौद्ध मंडली इस प्रकांड पंडित से शास्त्रार्थ करने के लिए बड़ी सज-धजकर बैठी थी। वे पुन: एक बार सुनहले स्वप्न देखने लगे, जबकि प्रियदर्शी अशोक के राजत्व काल में चारों ओर बौद्ध-ही-बौद्ध दिखलाई देते थे। उन्हें विश्वास था कि शंकराचार्य को वे बौद्ध बना लेंगे। शंकराचार्य का व्यक्तित्व भी वे जानते थे। उनका कितना प्रभाव है, यह वे भी जानते थे। उनकी कल्पना थी कि उनके बौद्ध होने पर फिर एक बार संपूर्ण भारतवर्ष बौद्ध हो जाएगा। दोनों ओर मंडली जम गई। बौद्ध भिक्षुओं ने ही कथन प्रारंभ किया—

"आचार्य शंकर! आज हम लोगों के लिए अत्यंत आनंद का विषय है कि आप

जैसे महापुरुष हमारे बीच में उपस्थित हैं तथा सत्य को जानने की उत्कंठा से हमसे वार्त्तालाप करने को उद्यत हुए हैं। इस दुःख से भरी दुनिया में यदि शांति का कोई मार्ग हो सकता है तो वह भगवान् बुद्ध का ही मार्ग हो सकता है, जीव हिंसा से दूर रहिए, सेवा का आदर्श अपने सामने रखिए, वैदिक कर्मकांड के पचड़े में पड़कर अपने नैतिक जीवन को गर्हित न कीजिए तथा 'संघ शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि' का उच्चारण करके निर्वाण पद के अधिकारी बनिए।''

''आपके कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूँ, धर्मभिक्षु,'' स्वामी शंकर ने कहा, ''भगवान् बुद्ध मेरे ही पूर्वज थे। उनकी सहृदयता, मानव कल्याण की भावना, समाज के दुःख दूर करने की उत्कंठा, अपने ध्येय के लिए कठिन-से-कठिन जीवन व्यतीत करने की तैयारी, उनका तप, वैराग्य, शांत तथा जिज्ञासु वृत्ति किसके लिए अनुकरणीय नहीं होगी। वे तो हमारे राष्ट्र के महापुरुष थे। उनके सम्मुख प्रत्येक राष्ट्रभक्त नतमस्तक होगा। मुझे भगवान् बुद्ध से विरोध नहीं है, न उनके नैतिक आदर्शों से विरोध है। परंतु तनिक सोचो तो भिक्षु श्रेष्ठ, क्या आज हम उनके आदर्श का पालन कर रहे हैं? उनकी आत्मा की पुकार क्या हम आज सुन पा रहे हैं? अपने समाज के दुःख को देखकर ही तो वे दया से द्रवीभूत हुए थे। आज क्या उस समाज के सुख-दुःख की हम चिंता करते हैं? वह वृद्ध, जिसके जराग्रस्त विकंपित गात ने भगवान् बुद्ध के कोमल हृदय के कंपन को रोक दिया, कौन था? उसके शरीर में पुण्यमयी भारतभूमि के जो रजकण युवावस्था में इठलाते घूमते थे, वे ही तो वृद्धावस्था में माता की गोद में विलीन होने को मचल रहे थे। इसी जननी के कोटि-कोटि पुत्रों के जीवन को सुखी बनाने के निमित्त ही तो भगवान् बुद्ध ने घोर तपश्चर्या की, कठिन-से-कठिन कष्ट सहे तथा अंत में बुद्धत्व प्राप्त करके उन्हीं को ज्ञान का प्रकाश देते-देते अपना जीवन खपा डाला। आज तो मालूम होता है, उनकी भावना हमको छू भी नहीं गई है। हम अपनी इन आँखों से शक और हूणों के अत्याचार नहीं देखते? इन पाशविक कृत्यों को देखकर हमारा हृदय क्यों नहीं रोता? सूनी आँखों में क्या अपने इन बंधुओं के दुःख के लिए दो आँसू भी शेष नहीं रहे?''

''आचार्य, आप चाहते हैं कि बौद्ध धर्म का विश्व में प्रसार न हो? जंगली और असभ्य जातियों को सभ्यता का पाठ नहीं पढ़ाना चाहिए?'' एक भिक्षु एकाएक बोला तथा सबके सब प्रश्नसूचक भाव से शंकराचार्य को देखने लगे, मानो यह सबका ही प्रश्न था।

''क्यों नहीं करना चाहिए, भिक्षुवृंद,'' स्वामी शंकराचार्य ने ज़ोर देते हुए कहा, भगवान् के शब्दों को तो अवश्य ही लोक-लोक में पहुँचा देना चाहिए। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का अपना प्राचीनतम सिद्धांत है। उसके अनुसार अवश्य ही संपूर्ण मानव को ऊँचा उठाना है। किंतु भिक्षुवर, फूटा पात्र लेकर आज आप विश्व की प्यास बुझाने

चले हैं। स्वयं तमाच्छन्न होकर, स्नेहहीन दीपक से विश्व को आलोकित करना चाहते हैं। यह कैसी विडंबना है!''

''हम आपका अर्थ नहीं समझ पा रहे हैं, आचार्य।'' भिक्षु बीच में ही बोल उठे।

''क्या शक और हूणों के जीवन को हमने प्रकाशित नहीं किया?'' दूसरे भिक्षु ने पूछा।

''यही तो भ्रम है आपका।'' स्वामी शंकराचार्य ने कहा, ''शक और हूण बौद्ध धर्म में इसीलिए दीक्षित नहीं हुए कि उन्हें बौद्ध धर्म प्रिय था, अथवा उन्हें भगवान् बुद्ध से प्रेम था, या वे अपने जीवन को आलोकित करना चाहते थे। किंतु उन्होंने बौद्ध धर्म को अपनी राजनीति के चंगुल में फँसाया। उनके बौद्ध धर्म को स्वीकार करने पर तुमने समझा कि वे अपने हो गए।''

''क्यों परायों को नहीं अपनाना चाहिए, आचार्य?'' बीच ही में एक युवा भिक्षु बोल उठा।

''धैर्य रखो युवक,'' स्वामी शंकराचार्य ने कहा, ''परायों को ख़ूब अपनाओ, कौन रोकता है तुम्हें? किंतु पराये अपने बनें तब न। और फिर तुमने उनको अपनाया है या उन्होंने तुमको अपनाकर देश-बंधुओं से दूर करने का प्रयत्न किया है? इसी अपनेपन के कारण तो तुम उनके अत्याचारों में सहयोग देते रहे। कनिष्क ने बौद्ध धर्म का पुनः संस्कार भी किया और साथ ही भारत की स्वतंत्रता का गला भी घोंटता रहा। तुमने एक को देखा पर दूसरे की ओर ध्यान देना तो दूर रहा, उल्टे उसकी सहायता ही की।''

''उसने जो कुछ किया, एक धर्मप्रेमी के नाते किया। उसमें राजनीति की टाँग क्यों अड़ाते हैं, आचार्य?'' धर्मभिक्षु ने कहा।

''यह उसका धर्मप्रेम ही था, जो अश्वघोष को बलपूर्वक पाटलिपुत्र से पकड़कर लाया? शासक का कोई धर्म नहीं होता, भिक्षुवर,'' आचार्य शंकर ने आगे कहा, ''उसका तो एक ही धर्म है कि अपने शासन की जड़ें मज़बूत करना और उसके लिए ही वह सब प्रकार से प्रपंच रचता है। उसी के निमित्त इन शासकों के ये प्रपंच थे। वे जानते हैं कि यदि भारतवर्ष की प्राचीन परंपरा बनी रही, उसकी सामाजिक व्यवस्था बनी रही तो यह सदैव के लिए हमारे चंगुल में नहीं रह सकेगा। इसके विपरीत स्वतंत्रता की चाह को समाप्त करने का सबसे सरल मार्ग है—राष्ट्र की संस्कृति और सभ्यता का विनाश। आप उनके हाथ की कठपुतली बने तथा सब प्रकार से इस देश की व्यवस्था और परंपराओं को नष्ट करने का प्रयत्न किया। यदि ये परंपराएँ नष्ट हो गई होतीं तो भारत का भाग्यसूर्य सदा के लिए अस्त हो जाता, परंतु आज भी वह प्रखर तेज के साथ भासमान है। इसका श्रेय किनको है? उन्हीं प्राचीन परंपरा का अभिमान रखने वाले शकारि विक्रमादित्य को, नागवाकाटकों को, गंगों को, गुप्तों को, यशोधर्मन को,

यशोवर्मन को और हर्ष को। एक भी उदाहरण बताओ, जहाँ परंपराशून्य हृदय में स्वतंत्रता की अभिलाषा जगी हो।''

भिक्षु वर्ग सिर नीचा किए हुए चुप बैठा था। अपने किए पर संभवतया उसे पश्चात्ताप हो रहा था। शंकर स्वामी ने शांत भाव से फिर कहा, ''आपके सत्य सिद्धांत किसी को अमान्य नहीं हैं। भगवान् बुद्ध हमारे भी पूज्य हैं; दुनिया के दुःखों से हम भी तरना चाहते हैं; आपकी पूजा अर्चा तो भक्तिभाव के लिए प्रत्येक को आवश्यक है। आप में और हममें भेद कहाँ है? आप भी तो हिंदू हैं। फिर शास्त्रार्थ कैसा भिक्षुवृंद?''

''क्या कहा, हम बौद्ध नहीं, हिंदू हैं!'', एकाएक कुछ भिक्षु बोल उठे।

''हाँ, आप हिंदू हैं और बौद्ध भी, आप हिंदू हैं और वैष्णव भी, आप हिंदू हैं और शैव भी, आप सबकुछ हैं।'' शंकर स्वामी ने कहा।

''यह कैसा गोरखधंधा है आचार्य?'' भिक्षुगण कुछ फेर में पड़कर बोले।

''गोरखधंधा नहीं है बंधुवर,'' स्वामी शंकर ने स्नेहपूर्वक कहा, ''आप इस पुण्य-भूमि हिंदुस्थान के निवासी आर्यों की संतान हैं, प्राचीन परंपरा के मानने वाले हैं, राम और कृष्ण की संतान हैं, अतः हिंदू हैं। भगवान् बुद्ध की आत्मा का आपने साक्षात्कार किया है, अतः बौद्ध हैं। विष्णु के अवतार भगवान् बुद्ध के पुजारी होने के नाते वैष्णव हैं, और राष्ट्र के शिव की आराधना आपको शैव भी बनाएगी।''

''यह सब तो आप वेद की बातें बता रहे हैं, आचार्य?'' एक भिक्षु बोला।

''यदि आपकी बातें वेदों में मिल जाएँ तो उसमें आपको क्या आपत्ति होनी चाहिए?'' आचार्य ने हँसकर कहा और बोले, ''प्राचीनता के गौरव के लिए तो लोग तरसते हैं और आप अपने गौरव को नष्ट करने पर तुले हुए हैं।''

''नहीं आचार्य। हम कुछ नहीं करना चाहते।'' भिक्षु वर्ग एकदम बोल उठा।

''फिर क्या है। प्राचीन काल से हम सब एक ही प्रवाह के जलकण रहे हैं, उस सरिता का ही नाम आर्य है, हिंदू है। यही हमारा गौरव चिह्न है, मान-सम्मान का दाता है, आइए इसी के लिए हम अपनी संपूर्ण शक्तियाँ समर्पित करें। भगवान् ने सदा ही हमारी रक्षा की है, हमारे समाज का पालन किया है, इसको जीवन-शक्ति का दान दिया है। राजकुमार सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त करके ईश्वरीय स्वरूप का साक्षात्कार किया और अपने सदुपदेश से इस पुरातन समाज की वल्लरी को पल्लवित किया।

''वे निश्चित ही भगवान् विष्णु के अवतार थे। आइए, हम सब उनको नमस्कार करें। वह गया जहाँ बुद्ध ने आत्म-साक्षात्कार किया, हमारे लिए तीर्थस्वरूप है। वह स्थान हमारी परंपरा के प्रवाह को अवरुद्ध करने वाला न होकर उसको अजस्र गति दान करने वाला हो। उस पवित्र स्थान पर अपने प्राचीन जीवन और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा ही हमारे जीवन में उत्पन्न हो। अतः प्रत्येक भारतीय गया में ही पितृतर्पण करेगा, वहीं

पितृश्राद्ध करता हुआ अपने जीवन की संपूर्ण श्रद्धा अपने पूर्वजों के श्रीचरणों पर अर्पित करेगा।''

शंकराचार्य की घोषणा समाप्त हुई। चारों ओर 'हिंदू की जय', 'भगवान् बुद्ध की जय', 'वेदों की जय' का तुमुल घोष होने लगा। जयनाद से दसों दिशाएँ भर गईं। आचार्य शंकर ने शंख ध्वनि की, जिसके कर्ण-कुहरों में शंख का वह अमृतरव पहुँचा, वह कृतकृत्य हो गया, वही अपने आपको हिंदू कहने लगा।

आचार्य की विजय-कहानी चारों ओर फैल गई। राष्ट्रीयता की एक लहर उठी, उसमें लाखों बौद्धों ने अवगाहन किया, अपने मन के मैल को, संकुचित अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को धो डाला। अब उनका हृदय स्नेहपूर्ण तथा स्वच्छ था।

भारत की समन्वयात्मक संस्कृति की पुस्तक का एक नया परिच्छेद खुल गया। घर से रूठकर गए हुए बालक को आज स्वामी शंकराचार्य पुनः घर में ले आए। कितना हर्षपूर्ण रहा होगा वह दिन!

16

हिमालय की चोटियों पर

तक्षशिला से आचार्य शंकर कश्मीर की ओर चले गए। महर्षि कश्यप की भूमि कश्मीर के क्रोड़ में केवल कुंकुम क्यारियाँ ही नहीं, काव्य और कला भी क्रीड़ा करती थीं। अपने प्राकृतिक सौंदर्य से जहाँ वह नंदन-कानन को भी लजाती थी, वहाँ साहित्य और संस्कृति के शुद्ध एवं सरल द्योत की सुषमा के कारण स्वयं सरस्वती ही विराजती थी। श्रीनगर का शारदा मंदिर सुविख्यात था। अच्छे-अच्छे विद्वान् शारदा के चरणों में आकर शीश नवाते, उसके वरदहस्त की कामना करते किंतु उन्हें निराश होना पड़ता। युग-युगों से शारदा के मंदिर में कोई प्रवेश नहीं कर सका था। बिना शारदा का वरदान पाए कौन जगद्गुरु हो सकता था।

आचार्य शंकर शारदा का ध्यान किए हुए मंदिर की ओर बढ़ते जाते थे। प्रकृति-नटी ने साज-शृंगार करके उनको विमोहित करना चाहा; प्रस्फुटित पुष्पों ने हँसकर उनका स्वागत किया और दो बातें करनी चाहीं, कलियों ने चटककर धीरे से कान में अपना प्रेमभरा राग सुनाया और करस्पर्श की लालसा प्रकट की; अप्सराएँ सरोवरों में अपना स्वरूप देखने के बहाने उतर आईं, गंधर्व पक्षियों के स्वरों में गाने लगे, किंतु कोई भी आचार्य शंकर को रोक नहीं पाया। वे तो सत्य का साक्षात्कार कर चुके थे; भला संसार का असत्यमय रूप उनको कैसे आकृष्ट कर सकता था, चाहे वह चर्मचक्षुओं को कितना ही लुभावना क्यों न लगे। ध्येयवादी तरुण के समान वे अपने ध्येय-पथ पर आगे बढ़ते ही जाते थे। वे जानते थे कि निरंतर चलते रहने से ही अंतिम यश की प्राप्ति होगी। उनका धवल यश चारों ओर हिमानी चोटियों पर छा गया था। प्रातःकाल बालारुण की स्वर्णिम रश्मियाँ जब हिमाच्छादित शृंगों पर पड़ती थीं। केसर की क्यारियों की प्रतिच्छाया और आचार्य शंकर के दृढ निश्चय का तेज एक साथ हिमालय की चोटियों पर चमक उठता। उषा विदा होते-होते अपने कर से केसर का तिलक भारत के भाल पर

लगा जाती। शंकर आगे बढ़ते और भारतीय आत्मा का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक स्वरूप संपूर्ण दृश्य में नाच उठता।

आचार्य के श्रीनगर पहुँचते-पहुँचते चारों ओर के विद्वान् भी वहाँ पहुँच गए। शंकराचार्य की विजयपताका यद्यपि संपूर्ण भारत में फहरा चुकी थी, किंतु कश्मीर के शारदा-भक्त उनके समक्ष नतमस्तक होने को तैयार नहीं थे। शंकराचार्य ने सरस्वती का अवतार भारती को शास्त्रार्थ में जीता था। किंतु इस बहुश्रुत सत्य का मूल्य उनकी दृष्टि में कुछ नहीं था। उनको तो कान की अपेक्षा आँखों पर अधिक विश्वास था। आचार्य शंकर भी उनको अपने मत में दीक्षित किए बिना कैसे रहने देते? जब तक मस्तिष्क में विकार है, तब तक शेष शरीर के हृष्ट-पुष्ट होने से ही काम नहीं चलता और काश्मीर भारत का प्राकृतिक दृष्टि से ही नहीं, ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से भी मस्तिष्क ही था।

आचार्य शंकर मंदिर की ओर चले। अनेक विद्वान् वहाँ पर उपस्थित थे। वे सोचते थे कि अन्य विद्वानों की भाँति शंकराचार्य भी शारदा के मंदिर से निराश, दलितदर्प और नतमस्तक लौटेंगे। आचार्य के चरण ज्यों-ज्यों द्वार की ओर बढ़ते, त्यों-त्यों उपस्थित जन-समुदाय की उत्सुकता बढ़ती जाती। जिनको विश्वास था कि शंकराचार्य निश्चित ही असफल होंगे, उनकी प्रसन्नता भी मन-ही-मन बढ़ती जाती, क्योंकि वह क्षण जब शंकराचार्य नीचे गिरकर उनके ही स्तर पर आकर खड़े होंगे, निकट आता प्रतीत होता। शंकराचार्य द्वार पर पहुँचे; हाथ बढ़ाया, सैकड़ों हाथों ने उनका बढ़ता हुआ हाथ देखा। वह हाथ लौटा नहीं किंतु लोगों ने देखा कि उसने द्वार पीछे को ढकेल दिए, द्वार खुल गया और आचार्य ने सहज रूप में अंदर प्रवेश किया। चारों ओर शंकराचार्य की जय-ध्वनि होने लगी। उनके विरोधियों का मुँह लटक गया। जनता की हर्ष-ध्वनि आकाश-मंडल में ऊँची उठती जाती थी, किंतु विद्वानों के पैरों तले धरती खिसक रही थी और वे नीचे गिरते जाते थे।

शारदा की पूजा करके आचार्य शंकर बाहर निकले। जनता ने श्रद्धान्वित हृदय से उनके दर्शन किए। उनके मुख के चारों ओर एक अलौकिक प्रभा व्याप्त थी। उनके तेज से जनता ने अपने आपको सशक्त अनुभव किया। किंतु हिमाद्रि उनका तेज सहन न कर पाया, वह ग्लानि से गलने लगा। आचार्य शंकर ने उसी समय उपस्थित जनता को उपदेश दिया। भारतीय एकता और आत्मा की सत्यता का संदेश यहाँ भी सुनाया। अनेकानेक विद्वान् जो वहाँ इकट्ठे हुए थे, अब उनके भक्त हो गए थे; आचार्य ने उनको आदरपूर्वक अपने साथ लिया। वे जगद्गुरु थे, फिर भी विद्वानों का आदर करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। उनके इसी व्यवहार ने तो छोटे-बड़े सबको पाश में बाँध लिया था। माया की असत्यता का ढिंढोरा पीटने वाला सच में कितना मायावी था? उनके जीवन का विरोधाभास कई लोगों की समझ में नहीं आता और फिर वे उनके

जीवन के संबंध में भ्रमपूर्ण धारणाएँ बना लेते हैं।

शंकराचार्य कश्मीर में कुछ दिन रहे। जिस स्थान पर रहे, वह 'शंकराचार्य की पहाड़ी' के नाम से अभी तक प्रसिद्ध है। किंतु केवल एक पहाड़ी को ही शंकराचार्य की पहाड़ी कहना भूल होगी, क्योंकि जिस-जिस जगह उनके चरण गए, वह उनका है, भारत का है और वे चरण आसिंधु-सिंधु भारत के कण-कण का स्पर्श कर चुके थे।

17

ध्येय सिद्धि

संपूर्ण उत्तर और पश्चिम भारतीय संस्कृति की समन्वय-सुधा का पान कर चुका था। केवल सुदूर पूर्व का प्राग्ज्योतिष प्रांत ही ऐसा रह गया था, जहाँ अभी तक शंकर की शब्द-ध्वनि नहीं पहुँची थी। अत: आचार्य ने पूर्व की ओर प्रयाण किया। उनका शिष्य-वर्ग उनके साथ था। अनेकानेक नदियों को पार करते हुए वे प्राग्ज्योतिष पहुँचे। यहाँ पर शाक्य धर्म का बहुत प्रसार था। कामरूप का कामाख्या देवी का मंदिर आज की भाँति उस समय भी चारों ओर प्रसिद्ध था। दूर-दूर से यात्री देवी के दर्शनों को आते थे, किंतु शक्ति के शुद्ध और तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार करने के स्थान पर मंत्र-तंत्र के भँवर में फँसकर वाममार्ग के गर्त में डूब जाते। जीवन और राष्ट्र की वास्तविक शक्ति के स्थान पर ये तंत्रशक्ति के पीछे भागते और पथभ्रम हो ध्येय से दूर जा पड़ते।

भगवान् शंकर के चरण प्रक्षालन करके मानसरोवर ज्ञान और भक्ति का चरणोदक सिंधु और ब्रह्मपुत्र के द्वारा भारत को भेजता है। दोनों सरिताओं के बाहुपाश में जकड़ा भारत युग-युग से शिव की आराधना करता आ रहा था। पश्चिम को शिव का प्रसाद शुद्ध रूप से प्राप्त हुआ। इसीलिए वहाँ ज्ञान की निर्मल धारा प्रवाहित होती थी, किंतु पूर्व में मानसरोवर से निकली ब्रह्मपुत्र जब तिब्बत की पहाड़ियों में अपना वास्तविक स्वरूप भूलकर साँपी बन गई तो वह शिव के ज्ञान की थाती को भी शुद्ध न रख सकी। फलत: तिब्बत के तंत्रवाद से मिश्रित शाक्तवाद पूर्व में प्रचलित हुआ, उसमें ज्ञान की शुभ्र ज्योत्स्ना नहीं थी किंतु अज्ञान की हरीतिमा छिपी हुई थी, कुंकुम का स्वर्णिम एवं आह्लादकारी शीतल सौरभ नहीं था किंतु चाय की मटमैली एवं तापकारी मादकता थी। आचार्य शंकर ज्ञान के इस विकार को सहन नहीं कर पाए; विदेशी प्रभाव उनको भारतीय जीवन के लिए घातक प्रतीत हुआ और इसीलिए अपने जीवन की बाजी लगाकर भी उन्होंने उसका समूलोच्छेदन अपना कर्तव्य समझा।

कामरूप में आचार्य शंकर को बहुत कष्ट झेलने पड़े। वहाँ के शाक्तमतवादी

तंत्रवाद और वाममार्ग के वासनामय प्रभाव के कारण बुद्धिवाद को तिलांजलि दे चुके थे। जीवन की अनैतिकता जब धार्मिक आचार-विचार का आवरण पहनकर नैतिकता की बराबरी का दावा करने लगती है, तब सुधार का कार्य बहुत कठिन हो जाता है। पाप को पुण्य मानकर करने वाले व्यक्ति को पुण्य-मार्ग पर चलाना दुष्कर होता है। शाक्तमतवादियों के जीवन में वाममार्ग के प्रवेश के कारण श्रद्धा और भक्ति की शक्ति के साथ-साथ वासनाजनित दुराग्रह भी आ गया था। यह वासना राष्ट्र-जीवन को जर्जर किए हुए थी। संपूर्ण शरीर हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी पीठ में नासूर की तरह प्राग्ज्योतिष काम कर रहा था।

आचार्य शंकर दृढव्रती थे। अत: वे कार्य की दुष्करता के कारण पीछे हटने वाले नहीं थे। यहाँ के नेताओं और विद्वानों को उन्होंने हठवादी पाया। तर्क की तराजू पर तौलते हुए सदा ही डंडी मारना वे अपना कर्तव्य समझते थे। सत्य को देखकर भी वे नहीं देखना चाहते थे। आचार्य शंकर के तत्त्व बुद्धि-ग्राह्य और तर्क-सम्मत होने पर भी वे नहीं समझना चाहते थे। क्योंकि समझने से उनके स्वार्थ और नेतृत्व पर आघात होता था। धर्म की आड़ में जिन दुराचारों को व्यवहार में लाया गया था, उनके संस्कार जीवन पर पड़ चुके थे। इच्छाशक्ति इतनी निर्बल हो गई थी कि वह दुर्वृत्तियों पर विजय पाने में असमर्थ थी। ऐसे समय में अपने दुराचारों को धर्मोचित और न्यायोचित ठहराने का दुराग्रह करना ही अपने ऊँचे पद और नेतृत्व को बनाए रखने का एकमेव मार्ग रह गया था। आचार्य शंकर ने उनका यह दुराग्रह थोड़े ही दिन में पहचान लिया। इसीलिए उनके ऊपर प्रयत्न करके अपनी शक्ति को व्यर्थ करना उन्होंने उचित नहीं समझा। इसके विपरीत उन्होंने देखा कि साधारण जनता अधिक सात्त्विक मनोभाव रखती थी। उसके जीवन में वासना के संस्कार भी इतने दृढ नहीं थे तथा उसके समक्ष अहंकार और स्वार्थ का भी प्रश्न नहीं था। जीवन के कल्याण की बातें वह सहज रूप में समझ सकती थी। चाहे वह शब्दाडंबर और मोहक तत्त्वों की ऐय्याशी का शिकार बन गई हो, किंतु उससे समरस होकर उसकी कर्ता नहीं बनी थी। उसके जीवन में अभी भी लोक कल्याण की भावना थी।

साधारण जन की इस सच्ची भावना को देखकर भगवान् शंकर ने उनमें ही अपना कार्य किया। ज्ञान का सत्य-मार्ग उन्होंने उनको ही दिखाया। जीवन की जिस अपवित्रता के पीछे वे अंधे बनकर दौड़ रहे थे, उसका नग्न स्वरूप उनके सामने रखा, उनके सात्त्विक भावों को जगाया और आत्मा की सत्यता तथा भगवान् की सच्ची भक्ति का परिचय करवाया। जनसाधारण शंकराचार्य के उपदेशों की महत्ता को समझने लगा, उसको अपनी भूल सी मालूम होने लगी। भारतीय एकात्मता का ज्यों-ज्यों जनता साक्षात्कार करने लगी, त्यों-त्यों उसके जीवन में अपवित्रता के स्थान पर पवित्रता का उदय होने लगा।

जनता धीरे-धीरे शंकराचार्य के चारों ओर इकट्ठा होने लगी। उनके शिष्यों के सद्व्यवहार और सहानुभूति एवं प्रेमपूर्ण बरताव ने जनता के हृदय में अपना स्थान कर लिया। हृदय मस्तिष्क का द्वार है। अतः हृदय पर अधिकार होने पर मस्तिष्क पर अधिकार होने में भी देर नहीं लगी। स्वामी शंकराचार्य का शुद्ध वेदांततत्त्व प्राग्ज्योतिष के ग्राम-ग्राम और घर-घर की चर्चा का विषय बन गया। इतना ही नहीं, जनता ने उसको आचरण में लाना भी प्रारंभ किया।

जैसे-जैसे जनता की श्रद्धा शंकराचार्य की ओर होने लगी, वैसे-वैसे पुराने सशक्त नेताओं का सम्मान कम होने लगा। उनको मालूम हुआ कि उनके बनाए हुए महल की नींव से कोई ईंटें निकाल रहा है। उस महल के शिखर पर आसीन वे एकाएक किसी दिन जमीन चाटने लगेंगे, यह उन्हें स्पष्ट दिखने लगा। उनमें इतनी शक्ति और श्रद्धा तो थी नहीं कि शंकराचार्य के मुकाबले में वे जनता के समक्ष खड़े हों। अतः ईर्ष्यावश उन्होंने सत्यमार्ग का अवलंबन न करते हुए असत्य मार्ग का अवलंबन किया। कहते हैं कि एक दिन एक कापालिक के द्वारा उनके शिरोच्छेद का प्रयत्न किया गया, किंतु वह उनके शिष्यों की सतर्कता के कारण सफल न हो सका।

आचार्य शंकर बच तो गए किंतु अभिनव गुप्त उनको अपने मार्ग से हटाना ही चाहता था। उसने अनेक विधियाँ करके उनका अहित करने का प्रयत्न किया। प्राग्ज्योतिष के जलवायु का भी आचार्य के बलिष्ठ शरीर पर प्रभाव पड़ा, और उनको भगंदर रोग हो गया। रोग-ग्रस्त होने पर शिष्यों ने उनसे प्रार्थना की कि वे प्राग्ज्योतिष छोड़कर अन्य स्वास्थ्यकर स्थान पर चले जाएँ। किंतु आचार्य को यह मान्य नहीं था, क्योंकि अभी प्राग्ज्योतिष में उनका कार्य पूरा नहीं हुआ था। "भगवान् ने यह शरीर विशेष कार्य को पूर्ण करने के लिए दिया है," उन्होंने कहा, "कार्य के स्थान पर मैं शरीर की चिंता करने लगूँ तो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध होगा।"

शिष्यों के अनेक आग्रह करने पर भी वे चिकित्सा तक नहीं करवा पाए, क्योंकि इसका भी उन्हें अवकाश नहीं था। उनका कार्य अबाध गति से चलता रहा। धीरे-धीरे उन्होंने संपूर्ण पूर्व दिशा का भ्रमण कर लिया तथा चारों ओर अद्वैत का प्रचार किया।

उनका कार्य अब पूर्ण हो चला था। पद्मपाद की सेवा शुश्रूषा से उनका रोग धीरे-धीरे कम हो गया। माता के इस वाम अंग को वाम मार्ग के रक्त रोग से मुक्त करके संपूर्ण शरीर की भाँति कांतिमान कर दिया। इस अंतिम कार्य को करने के बाद उन्हें अनुभव होने लगा कि अब उनके जीवन का ध्येय उन्होंने प्राप्त कर लिया। अतः हिमालय में जाकर चिंतन, मनन और तपस्या का विचार किया।

18

महत्तत्त्व में विलीन

भारतीय जीवन में हिमालय का एक विशेष स्थान एवं आकर्षण है। उसके प्रति प्रत्येक भारतीय का सिर कृतज्ञता के भार से झुक जाता है। वह माता के संतरी के समान दृढता से खड़ा है, अनेक बर्बर जातियों ने उसके ऊपर प्रहार किए, चोटें खा-खाकर स्वयं पत्थर बन गया किंतु उनको अंदर नहीं आने दिया। उत्तर के शरीर को भी भेदने वाली बर्फानी वायु को स्वयं पी जाता है, अपने शरीर को हिममय बनाकर दधीचि के समान हमारी रक्षा करता है। उद्धत दक्षिण सागर मेघ बनकर भारत की सीमा को पार करने का असफल प्रयास करता है, किंतु वह इस प्रहरी से नहीं बच पाता, वह अनुनय-विनय करता है, आर्द्रता दिखाता है, चीखता है, चिल्लाता है, आँखें तरेरता है, आठ-आठ आँसू रोता है, किंतु इस पत्थर हृदय, प्रहरी का दिल नहीं पसीजता, हार मानकर सागर में पानी-पानी होकर लौट जाता है, और हिमालय सागर की धृष्टता के दंड-स्वरूप जल लेकर हमको दे देता है, स्वयं नहीं रखता। निदाघ में तप्तांशु के प्रचंड करों से जब संपूर्ण भारत भूमि जल उठती है और उसकी संतान शुष्क कंठ हो तड़फड़ाने लगती है, तब हिमालय ही अपने शरीर को गला-गलाकर हमको जलदान करता है। गंगा, यमुना और सिंधु अमृत-कलश लिए उसकी गोद से उतरकर हमको जीवन दान देती हैं। प्रभात के समय सुवर्ण रश्मियाँ जब हिमालय को स्नान कराती हैं तो वह उनकी सुवर्ण प्रभा को छीनकर अनंत रत्नों तथा नाना प्रकार की वीर्यवती औषधियों के रूप में हमको दे देता है। शंकराचार्य के हृदय में हिमालय का महत्त्व केवल इस सांसारिक दृष्टि से ही नहीं था, किंतु वे उसे अपने सत्य तत्त्वों का मूर्तिमंत प्रतीक देखते थे; संपूर्ण विश्व की समृद्धि वृद्धि करते हुए भी उससे अलिप्त, विरक्त, शांत और ध्यानस्थ कर्मयोगी के रूप में हिमाचल उनके सामने खड़ा था। वे उस वृत्ति को हृदय में धारण कर लेना चाहते थे। उनके लिए हिमालय त्रिविष्टप की पवित्र भूमि, अनेक तपस्वियों की तपोभूमि तथा पुरुषार्थियों की कर्मभूमि थी। भगवान् शंकर का वासस्थान उनके समान ही योगमय किंतु सर्वतोभावी, साम्य किंतु भीषण, शांत किंतु सिंहनाद परिपूर्ण, दयालु किंतु कठिन, अवघड़ दान देते हुए

भी अतिशय धनाढ्य, अनेक की मृत्यु का कारण होते हुए भी जीवनदाता, वल्कल धारण किए हुए भी दिगंबर, हिमांशुधारी होकर भी उग्र था। हिमालय की विशालता ने उनको आकृष्ट किया, उसकी उच्चता उनको बुला रही थी, मानो उसको वह मोक्ष की सीढ़ी बना लेना चाहते थे। वे हिमालय के गांभीर्य का पान कर लेना चाहते थे अथवा जगद्‌गुरु शंकराचार्य बिना हिमालय की जय किए कैसे दिग्विजयी कहलाते। हिमालय मस्तक ऊँचा किए खड़ा था, वे उसे बता देना चाहते थे कि उसके जीवन में भी विश्व का मानदंड बनने की शक्ति है। वे भी उसके समान महान् विशाल, गंभीर एवं अखंड कर्ममय संन्यस्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं अथवा जीवन में सदा गुरुता का भार लिए संसार में अपने शिष्यों के गुरुस्थान पर अवस्थित सदा बड़प्पन का ही अनुभव करने वाले शंकराचार्य हिमालय की गोद में आत्मसमर्पण के सुख का अनुभव करना चाहते थे। अपने परमगुरु भगवद् गौड़पादाचार्य के दर्शनों के निमित्त वे एक बार बदरिकाश्रम गए थे किंतु माता आर्यंबा के संदेश ने उनको शीघ्र ही बुला लिया। तब से वे हिमालय का प्रवास नहीं कर सके। यद्यपि महनीय हिमाद्रि की गुफाओं से गुप्ततम ज्ञान को खींचकर लाने के स्थान पर उन्होंने वही ज्ञान अपने मानस की गहन गुत्थियों को सुलझाकर प्राप्त किया था, किंतु इससे उनको संतोष नहीं होता था। हिमालय उनको जीवन भर बुलाता रहा था, अब भावना के इस प्रकार के मार्ग में कर्तव्य आड़े नहीं आता था। अत: उन्होंने बदरिकाश्रम की ओर प्रस्थान कर दिया।

आचार्य शंकर बदरिकाश्रम में अधिक दिन नहीं रह पाए। वहाँ से उन्होंने केदारनाथ की यात्रा की। पांडवों की स्वर्ग-यात्रा उनके सम्मुख थी। उन्हें भी भान होने लगा कि उसी मार्ग पर कोई उनको बुला रहा है। यह बुलाहट रोकी नहीं जा सकती थी। यम का हाथ किसने पकड़ा है। बस एक दिन आचार्य शंकर ध्यानमग्न हो समाधिस्थ हो गए। सब शिष्यगण देखते रह गए। वेदांत का तत्त्व जानते हुए भी उनका हृदय आचार्य के शरीर के लिए छटपटाने लगा; उनकी आँखें रोईं, किंतु हिमालय के शीत में गरम आँसुओं की बूँदों को हिम बनते देर नहीं लगी।

आचार्य शंकर भारतवर्ष के अवतारी महापुरुषों में से एक हैं। हमारे राष्ट्रजीवन की रचना में उनका बहुत बड़ा हाथ है। धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में उनका स्थान अत्यंत उच्च है। उनकी दी हुई प्रस्थानत्रयी सदा ही ध्रुवतारे सा काम करती रही है। उनके पश्चात् भी अनेक आचार्य हुए—उनके मत का संशोधन और संस्करण करने वाले तथा उनका विरोध करने वाले भी, किंतु प्रत्येक को प्रस्थानत्रयी का ही आश्रय लेना पड़ा है। प्रस्थानत्रयी से ही उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन किया। आत्मा की महनीयता भावों की शांतता, मस्तिष्क की दृढता तथा बुद्धि की तीक्ष्णता में वे अप्रतिम थे। उनके विचार उदात्त थे, उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। उनका तर्क सूक्ष्म तथा उनका तात्त्विक दृष्टिकोण सर्वग्राही था। इसमें कौन उनकी समानता करेगा? तात्त्विक गंभीरता और धार्मिक

भावुकता में वे भगवान् बुद्ध से भी दो पग आगे ही थे। उनका जीवनादर्श साहस और शक्ति से परिपूर्ण था, जिसने संपूर्ण समाज में जीवन और चेतना भर दी। उन्होंने समाज के भिन्न-भिन्न मत, तत्त्व और संप्रदायों की मूलभूत एकता को जिस प्रकार तर्क-शुद्ध और आकर्षक रूप में रखा तथा उनके द्वारा राष्ट्र की समस्याओं को जिस निष्पक्षता से सुलझाया, वह उन्हीं के लिए संभव था। उन्होंने अपनी टीकाओं द्वारा प्राचीन वाङ्मय के उस स्वरूप को प्रकट किया, जिसमें तत्कालीन समस्त विचारों की एकता नष्ट हो गई तथा प्रगतिवादी विचारों के प्रश्नों को उत्तर मिल गया। उनकी व्याख्या अत्यंत सरल, सरस तथा सुस्पष्ट है। उनके उपर्युक्त गुणों के कारण वे आज भी संसार के तत्त्वज्ञानियों के सिरमौर बने हुए हैं।

भारतीय राष्ट्र जीवन में भगवान् कृष्ण के पश्चात् उनका ही आविर्भाव राष्ट्र की मूलभूत एकता को व्यावहारिक स्वरूप देने में समर्थ हुआ। भगवान् कृष्ण ने गीता के द्वारा भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं में एकात्मता निर्माण करने का प्रयत्न किया तथा राष्ट्र की इस एकात्मता को धर्मराज युधिष्ठिर के चतुरंत साम्राज्य के रूप में स्थापित किया। आचार्य शंकर ने यद्यपि धर्मराज के समान किसी राजनीतिक महापुरुष को भारतीय एकता का प्रतीक नहीं बनाया किंतु राष्ट्र-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकता का निर्माण करके तथा उस एकता के संस्कारों को डालने वाली परंपरा को पुष्ट करके जो सांस्कृतिक जीवन की एकात्मता को शक्ति दी है, उसके कारण आज तक छिन्न-विच्छिन्न होने पर भी भारत आंतरिक एकता को सत्यसृष्टि में परिणत करने को लालायित है। अनेक में एक के अपने प्राचीन सिद्धांत को आचार्य शंकर ही आत्मिक, भौतिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपने अद्वैत के सिद्धांत का प्रतिपादन करके व्यावहारिक जगत् में लाए। यही सिद्धांत मानव मात्र की शांति और कल्याण का कारण होगा।

आचार्य शंकर के सिद्धांत और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारतवर्ष एक ओर तो रूढ़िवादी कर्मकांड और दूसरी ओर नास्तिकवादी जड़वाद के गर्त में गिरने से बच गया। आचार्य शंकर ने भारतवर्ष का उद्धार किया, हम भी अपने इस महान् राष्ट्र पुरुष के प्रति इससे अच्छी कौन सी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं कि उनके इस एकत्व के सिद्धांत को अपने जीवन में लाकर पुनरपि भारतवर्ष को उन्नत एवं वैभवशाली बनाएँ। बत्तीस वर्ष की आयु में इतना महान् कार्य करने वाले आचार्य शंकर के अखंड कर्ममय जीवन से हमारे जीवन को भी कर्म की स्फूर्ति प्रदान हो तथा अपने पुरुषार्थ, निश्चय, निष्ठा और त्याग के बल पर अद्वैत के सत्य सिद्धांतों के द्वारा संपूर्ण संसार को सच्ची शांति का सुख देकर उन्हें जगद्गुरु के वास्तविक पद पर आसीन कराए। यही है, उनका पुण्य स्मरण एवं उनकी सच्ची पूजा।

—पुस्तक, 1947

□

11

लोकमान्य की राजनीति

दीनदयालजी का यह प्रथम राजनीतिक आलेख है, जिसमें उनकी वांछित राजनीति का सांगोपांग दिशानिर्देश है।

'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।' इस ध्येयवाक्य की अनुभूति भारतीय जनता में कराने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की स्वतंत्र भारत में प्रथम जयंती है। वे हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम के महारथी थे। यद्यपि विजय का सेहरा उनके सिर पर न बँध सका तथा वे अपने जीवन में भारत को स्वतंत्र न देख सके, किंतु यह प्रत्येक को मानना पड़ेगा कि अपने नेतृत्व में भारतवर्ष को वे यहाँ तक ले आए थे कि स्वराज्य का उत्तुंग शिखर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा था। 1 अगस्त, 1920 को लोकमान्य का महाप्रयाण हुआ था। राष्ट्र की बागडोर महात्मा गांधी के हाथ में आई। जिस प्रकार 1920 से 1947 तक महात्माजी हमारे राष्ट्र के कर्णधार रहे हैं तथा इस काल को हम 'गांधी युग' के नाम से पुकार सकते हैं, उसी प्रकार उनके पूर्व 1905 से 1920 तक के काल को हम 'तिलक युग' नामकरण कर सकते हैं। वैसे तो लोकमान्य ने 1880 में ही सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश किया था, किंतु बहुत काल तक उनका कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा, यद्यपि उनका दृष्टिकोण प्रारंभ से ही राष्ट्रीय एवं अखिल भारतीय था। 1905 के बंग-भंग के आंदोलन[1] से उनका नाम और काम संपूर्ण भारतवर्ष में प्रसृत हो गया तथा वे भारतीय प्रगतिवाद के प्रतीक तथा ध्येयवादी तरुणों के आदर्श बन गए।

---

1. जॉर्ज कर्जन (1859-1925), भारत के वाइसराय (1899-1905) ने 1903 के अंतिम महीनों में चिटगाँव, डेक्का (अब ढाका) और मैमनसिंह (अब नासिराबाद)—तीनों वर्तमान बांग्लादेश में—बंगाल से अलग कर असम में मिलाने का सुझाव प्रस्तावित किया। इस योजना को बंग-भंग के नाम से जाना गया। आख़िरकार जुलाई 1905 में बंगाल को विभाजित कर दिया गया। पूरे देश में विरोध के चलते 1911 में बंगाल को फिर से एक कर दिया गया।

स्वतंत्रता-संग्राम के अनंतर

लोकमान्य तिलक का जन्म सन् 1856 में हुआ था। उनके जन्म के अगले वर्ष ही 1857 का प्रसिद्ध स्वातंत्र्य संग्राम छिड़ गया। स्वातंत्र्य-संग्राम के पीछे की भावना, उसकी असफलता तथा अंग्रेज़ों द्वारा स्वातंत्र्य-भावना को कुचलने के लिए किए गए अत्याचारों का अदृष्ट प्रभाव बाल मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रहा होगा। स्वातंत्र्य-युद्ध के पश्चात् ईसाई पादरियों ने चारों ओर धर्म-प्रचारक का कार्य जोर-शोर से प्रारंभ कर दिया था। राजनीतिक प्रगति रुक गई थी तथा संपूर्ण राष्ट्र के अंदर निराशा तथा निष्फलता की भावना प्रवेश कर रही थी। ऐसे समय में भारतवर्ष में अनेक महापुरुष हुए, जिन्होंने हमको हमारी उच्चता का ज्ञान कराया। हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व को जाग्रत् किया तथा उसका अभिमान हमारे हृदयों के अंदर उत्पन्न किया। संसार के राष्ट्रों में हमारा भी कोई स्थान है, हम भी दुनिया को ऋषियों का पवित्र संदेश दे सकते हैं तथा उसका भार हमारे ऊपर है, इस महान् कर्तव्य का भान हमको कराया। इन महापुरुषों में महर्षि दयानंद तथा स्वामी विवेकानंद के नाम तथा कार्य से सभी परिचित हैं। लोकमान्य तिलक का प्रारंभिक जीवन भी उक्त महापुरुषों के समकक्ष था। जो कार्य महर्षि दयानंद ने पंजाब में तथा स्वामी विवेकानंद ने बंगाल में किया, वही कार्य लोकमान्य ने महाराष्ट्र में किया। अंतर इतना ही है कि लोकमान्य ने कोई नया पंथ नहीं चलाया, कोई नवीन संस्था नहीं बनाई, क्योंकि वे इसके विरुद्ध थे। जिस प्रकार लाल, बाल और पाल की त्रिमूर्ति सन् 1905 के पश्चात् प्रसिद्ध थी,[2] उसी प्रकार दयानंद, विवेकानंद और तिलक 1905 के पहले कार्य कर चुके थे। महर्षि दयानंद और विवेकानंद अधिक दिन जीवित नहीं रहे किंतु तिलक ने दोनों युगों को मिलाने वाली कड़ी का कार्य किया।

तिलक की राष्ट्रनीति

लोकमान्य की राजनीति को समझने के पूर्व उनकी राष्ट्रनीति को समझना आवश्यक होगा। इसके लिए उनके पूर्व जीवन का विचार करना होगा, क्योंकि उस काल में उन्होंने अपना संपूर्ण ध्यान राष्ट्र के रचनात्मक कार्यक्रम की ओर ही लगाया था। वे प्रारंभ से ही यह मानते थे कि ग़ुलाम राष्ट्र के लिए स्वातंत्र्य-प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई ध्येय नहीं हो सकता है। किंतु इस ध्येय को सिद्ध करने के लिए योग्य साधनों की आवश्यकता भी वे भली-भाँति समझते थे। ठीक प्रकार के साधनों को जुटाए बिना ही

---

2. लाजपत राय 'लाला' (1865-1928) पंजाब से, बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) महाराष्ट्र से और बिपिन चंद्र पाल (1858-1932) बंगाल से थे। पाँच वर्ष (1905-10) की अवधि की इस त्रिमूर्ति को लाल-बाल-पाल कहा गया।

स्वतंत्रता के प्रयत्न किस प्रकार निष्फल होते हैं, यह वे वासुदेव बलवंत फड़के[3] के उदाहरण से स्पष्ट देख चुके थे। फड़के के सहयोगियों में उनके एक संबंधी भी थे। उनके द्वारा फड़के के कार्य का पूर्ण विवरण प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। वे तो यह मानते थे कि राष्ट्रीय चेतना के बिना तथा व्यक्ति-व्यक्ति में राष्ट्रीय गुणों का प्रादुर्भाव हुए बिना राष्ट्रोन्नति असंभव है। अत: उन्होंने सबसे पूर्व राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रयत्न किया।

शिक्षा द्वारा राष्ट्र निर्माण

इस उद्‍देश्य को सामने रखकर ही तिलक ने आगरकर और चिपलूणकर की सहायता से न्यू इंग्लिश स्कूल तथा डेक्कन एज्यूकेशन सोसाइटी की स्थापना की।[4] उसका उद्‍देश्य बताते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है, "हमने जनशिक्षा के इस कार्य को इस दृढ विश्वास के साथ लिया है कि मानव-सभ्यता के संपूर्ण साधनों में केवल शिक्षा ही ऐसा साधन है, जो पतित राष्ट्रों का भौतिक, नैतिक एवं धार्मिक उत्थान करके उन्हें शांतिपूर्ण क्रांति के मार्ग से ले जाकर अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों के समतल खड़ा कर सकता है।" इसी उद्‍देश्य को सामने रखकर उन्होंने एक वर्ष के पश्चात् 'केसरी' और 'मराठा' का प्रकाशन प्रारंभ किया। केसरी के अग्रलेखों ने सुप्त जनता में एकदम चेतना फूँकी थी। वे कितने उग्र तथा निर्भीक होते थे, इसका पता इसी एक बात से लग जाता। सन् 1882 में ही तिलक के ऊपर मुक़दमा चला तथा वे एक सौ एक दिन के लिए जेल भेज दिए गए। आज की भाषा में जिनको राजनीतिक बंदी कहा जाए, ऐसे लोकमान्य तिलक प्रथम बंदी थे। कांग्रेस के जन्म के पूर्व[5], जबकि बड़े-बड़े नेता 'भिक्षां देहि' की नीति के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते थे, उस समय तिलक जेल जीवन का अनुभव कर चुके थे। इतना ही नहीं, उन्होंने उस समय स्पष्ट कहा था, "प्रत्येक देश का समाजसेवी बंदीगृह के लिए जीवन भर का उम्मीदवार होता है।" *(A Public Servant is a life candidate for imprisonment.)* इस सत्य को समझने के लिए देश को कितने वर्ष रुकना पड़ा?

राष्ट्रीय उत्सवों का आयोजन

तिलक मानते थे कि समाज के अंदर समष्टि जीवन का भाव तथा अपने पूर्वजों के

---

3. वासुदेव बलवंत फड़के (1845-1883) भारत में ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ प्रथम स्वाधीनता आंदोलन के बाद हथियार प्रयोग करने वाले संभवत: पहले क्रांतिकारी थे।
4. गोपाल गणेश आगरकर (1856-1895) और विष्णु कृष्ण 'शास्त्री' चिपलूणकर (1850-1882) की सहायता से न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना 2 जनवरी, 1880 को और डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी की स्थापना 24 अक्तूबर, 1884 को हुई।
5. कांग्रेस की स्थापना 28 दिसंबर, 1885 को हुई।

प्रति श्रद्धा उत्पन्न किए बिना उन्नति संभव नहीं है। इस निमित्त उन्होंने गणपति तथा शिवाजी उत्सवों को सामूहिक रूप से मनाना प्रारंभ किया। इन उत्सवों के द्वारा उन्होंने समाज में सहकारिता एवं संगठन की भावनाओं को जन्म दिया। साथ ही अपने धर्म का प्रेम भी जाग्रत् किया, क्योंकि वे धर्म को राष्ट्र की आत्मा मानते थे तथा उसको जाग्रत् करना राष्ट्रोत्थान के लिए नितांत आवश्यक समझते थे। उन्होंने 'केसरी' में लिखा था, ''किसी भी सुधार का मुख्य उद्देश्य विशिष्ट राष्ट्रीयत्व का अभिमान जाग्रत् करना है। वह अभिमान हम कौन-सा रखें? निश्चित ही हिंदुत्व का। हमारे धर्म की कोई एक परंपरा है। उस परंपरा में जो ज्ञान है, वह अन्य धर्म के बराबर ही नहीं प्रत्युत उनसे श्रेष्ठ है, और यदि यह परंपरा हमने छोड़ दी तो हमारा कोई भी समान बंधन नहीं रह जाएगा, इस बात का हम सदा ध्यान रखें।''

राष्ट्रीय जागृति के लिए उनके किए हुए प्रयत्न तथा उसके फलस्वरूप जो वर्णन उनके समस्त वाङ्मय में मिलता है, उससे उनकी राष्ट्र-कल्पना का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

समाज-सुधार संबंधी दृष्टिकोण

लोकमान्य तिलक जिस समय राष्ट्रीय जागरण का कार्य कर रहे थे, उस समय उनके सहयोगी समाज सुधार के कार्य में लगे हुए थे। समाज का सुधार करने वाले इन महापुरुषों में देशप्रेम था तथा समाज की दुर्बलताओं को देखकर उनके मन में चिढ़ उत्पन्न होती थी, साथ ही वे चाहते थे कि कानून का सहारा लेकर भी समाज का कार्य किया जाए। तिलक उनसे सहमत नहीं थे। यहाँ तक कि उनके सहयोगी आगरकर से इस विषय पर मतभेद होने के कारण उनको संबंध विच्छेद भी करना पड़ा।[6] लोकमान्य का मत था कि परतंत्र राष्ट्र के सम्मुख सबसे प्रथम कार्य राष्ट्र को स्वतंत्र करना है। वे मानने को तैयार नहीं थे कि समाज की कुरीतियों के कारण ही हम परतंत्र हैं तथा पहले समाज का सुधार कर लिया जाए तो स्वराज्य स्वत: मिल जाएगा। वे तो कहते थे कि ब्रह्मदेश में हमारे यहाँ पाई जाने वाली सामाजिक कुरीतियाँ नहीं हैं, फिर भी वह परतंत्र क्यों है? इसका कारण उनमें समष्टि जीवन का अभाव तथा स्वतंत्रता के लिए बलिदान की कमी है। सुधारों का प्रश्न हमारे शासकवृंद हमको पथभ्रष्ट करने के लिए हमारे

---

6. गोपाल गणेश आगरकर और तिलक की सामाजिक सुधारों के संदर्भ में नीतियाँ एक-दूसरे से भिन्न थीं। आगरकर हिंदू धर्म के अनुष्ठान और अभ्यास में संपूर्ण बदलाव के पक्षधर थे। इसके लिए वह कानून की मदद भी लेना चाहते थे। जबकि तिलक इस संदर्भ में व्यावहारिक थे। वह शिक्षा को सामाजिक सुधारों का एकमात्र साधन मानते थे। वे भारतीय परंपराओं को ध्यान में रखकर बदलाव के पक्ष में थे। इन वैचारिक मतभेदों के चलते आख़िरकार अक्तूबर 1887 में आगरकर और तिलक का संबंध टूट गया।

सामने रख देते हैं। यह उनका बहाना मात्र है। अत: वे प्रथम सुधार और फिर स्वराज्य के पक्ष में नहीं थे। साथ ही समाज की इस प्रकार की कटु आलोचना भी उन्हें पसंद नहीं थी, क्योंकि यह तो उसी कार्य को करना था, जिसे कि ईसाई पादरी कर रहे थे। इससे समाज में आत्महीनता का भाव उत्पन्न होता था, जो कि समाज के आत्मविश्वास को ठेस पहुँचाता था। कानून के द्वारा समाज सुधार करने के तो वे बहुत ही विरोधी थे, क्योंकि इस प्रकार हमारे जीवन में परकीय शासकों को प्रवेश करने का अवसर प्राप्त होता था तथा ज्यों-ज्यों परकीय शासन के कानून के बंधन बढ़ते जाएँगे, त्यों-त्यों हमारे परतंत्रता के पाश भी बढ़ते जाएँगे। कानून का अर्थ जनता की स्वेच्छा नहीं होती तथा इच्छा के प्रतिकूल कार्य करने से कानून का अधिकार हमारे जीवन पर बढ़ता है।

व्यवहार द्वारा सुधार

इसका हम यह अर्थ न लगाएँ कि वे रूढ़िवादी थे तथा समाज-सुधार ही नहीं करना चाहते थे। यह बात नहीं है। उनमें समाज सुधार की तीव्र लगन थी तथा वे शेष लोगों से बहुत आगे बढ़े हुए थे, किंतु वे चाहते थे कि सुधार ऊपर से लादने के स्थान पर स्वयं समाज की इच्छा से होने चाहिए। इसके लिए समाज में शिक्षा, आत्मभाव की जागृति, आत्मीयता तथा प्रेम का व्यवहार, अपना भला-बुरा समझने का ज्ञान एवं इच्छित कार्य संपूर्ण संकट के होते हुए भी करने की शक्ति तथा दृढता चाहिए।

समाज में उपर्युक्त भावना उत्पन्न करना तथा स्वयं अपना आदर्श समाज के सम्मुख रखना ही वे सुधार का सर्वोत्तम उपाय समझते थे। स्वयं उन्होंने अपना व्यवहार उच्च एवं उदात्त रखा तथा अनेक सुधारवादियों की कोरी बातें और व्याख्यानों से अधिक समाज का सुधार किया। सम्मतिवय बिल का विरोध करते हुए भी उन्होंने अपनी पुत्रियों का विवाह पूर्ण वयस्क होने पर ही किया।[7] स्वयं समुद्रयात्रा को गए तथा अस्पृश्यता के संबंध में इतना तक कहा कि *If God were to tolerated untouchability; I would not recongnize him as God at all.* (यदि ईश्वर को अस्पृश्यता मान्य है तो मैं उसे ईश्वर ही नहीं मानूँगा)।

राष्ट्रीय आंदोलन का जनता में प्रवेश

सन् 1905 के पश्चात् बंगभंग आंदोलन ने तिलक को अखिल भारतीय नेता बना दिया। उसके बाद लाल, बाल और पाल की त्रिमूर्ति की प्रत्येक राष्ट्रभक्त पूजा करता था।

---

7. सम्मतिवय बिल, 1891 ब्रिटिश भारत में लड़कियों के विवाह की उम्र सीमा 10 साल से 12 साल करने से संबंधित था। लेकिन तिलक चाहते थे कि लड़कियों के विवाह की उम्र 14 और लड़कों के विवाह की उम्र 20 से कम न हो। वे अपनी इस बात पर अडिग रहे और अपनी बेटी को उन्होंने शिक्षा दिलवाई तथा उसका विवाह 16 साल की उम्र होने पर किया।

कांग्रेस में तिलक ने इससे पूर्व ही प्रवेश किया था, किंतु वहाँ अभी तक उनका अल्पमत ही था। कांग्रेस के नरमदल के नेता तिलक के उग्र विचार सहन नहीं कर पाते थे। वे लोग अभी तक अंग्रेज़ों की न्यायबुद्धि पर भरोसा रखते थे, उनके सामने अनुनय-विनय करके कुछ-न-कुछ प्राप्त कर लेना ही अपना ध्येय समझते थे। तिलक इस 'भिक्षांदेहि' नीति में विश्वास नहीं रखते थे। उनका कथन था कि बिना माँग किए तथा बिना उसके लिए लड़े कुछ भी नहीं मिल सकता। अत: वे कांग्रेस को केवल प्रस्ताव पास करने वाला संस्थान रहने देकर संपूर्ण जनता का प्रतिनिधत्व करने वाला संस्थान बनाना चाहते थे।

भारतीय राजनीति में उन्होंने जो प्रगति की, वह उनको दी हुई 'लोकमान्य' उपाधि से प्रकट होती है। इस शब्द से उनके विचार, उनके कार्य तथा उनके स्थान तीनों का पता चलता है। अब तक के नेता राजमान्य थे। उनको सरकार ने नेता बनाया था, उसने मान्यता दी थी, अत: उनका आश्रय स्थान सरकार ही था। वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सरकार की आड़ ही देखते रहते थे तथा उसके इशारे पर नाचना ही उनका एकमात्र राजनीतिक कार्य था। उनकी राजनीति सरकार की भ्रूभंगियों का निदर्शन करती थी, न कि जनता के हृदयों में उठने वाली भावनाओं और आकांक्षाओं का। तिलक ने राजनीति का केंद्र सरकार से हटाकर जनता में स्थापित किया। वे जनता की शक्ति का भरोसा करते थे, जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते थे तथा सेवा के बल पर जनता के हृदयों पर शासन करते थे। सरकार की कृपा अथवा अकृपा उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती थी, इसलिए जब उनके ऊपर राजद्रोह का मुक़दमा चला, तो सरकार से क्षमा माँगने की सलाह देने वाले मित्रों को उन्होंने लिखा, ''समाज में मेरा स्थान मेरे शील पर अवलंबित है। अत: इस प्रकार के मुक़दमों से भयभीत होना मुझे उचित नहीं है। यदि मैं इनसे डर गया तो फिर महाराष्ट्र में रहना और अंडमान में रहना समान ही है।''

वास्तविक लोकतंत्र

राजनीतिक नेताओं का ध्यान समाज की ओर आकर्षित करके उन्होंने वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना की। क्योंकि इस प्रकार बिना जनता को शिक्षित किए, उसकी संपत्ति और सहारा लिए आगे बढ़ना कठिन था। उनका दृढ विश्वास था कि जब तक हमारा स्वातंत्र्य आंदोलन जन आंदोलन नहीं होगा, तब तक उसमें पर्याप्त शक्ति एवं उग्रता नहीं आ सकेगी। इसी निमित्त उन्होंने देश में होने वाले प्रत्येक आंदोलन का इस दृष्टि से लाभ उठाया।

गुप्त आंदोलनों से अरुचि

गुप्त क्रांतिकारी आंदोलन के वे विरोधी थे, क्योंकि इन आंदोलनों से एक हुतात्मता

का आदर्श रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। एक बार एक देशभक्त विद्यार्थी ने अपने कमरे में लगे हुए विक्टोरिया के चित्र को फाड़ दिया। उस समय तिलक ने जो वाक्य कहे, वे संस्मरणीय हैं, 'अरे इस निरुपद्रवी कागज ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? दरवाज़े बंद करके विद्रोह करना अपने मन की शक्तिहीनता तथा क्लैव्य का प्रदर्शन है। हिम्मत हो तो पेशवा सदाशिव भाऊ[8] के समान घन की चोट से लंदन का तख्त तोड़कर पैरों तले रौंदने की महत्त्वाकांक्षा रखो। खैर, आज खुले मार्ग से प्रयत्नों का अतिरेक करने की शपथ ली तब तो तुम्हारा चित्र फाड़ने का आवेश मैं सच समझूँगा।'

प्रतियोगी सहकारिता

राजनीति में उनको गरमदल का नेता कहते हैं। किंतु उनके उग्र विचारों में भी वैधानिकता को स्थान था। उनके विचार प्रतियोगी सहकारिता के नाम से जाने जाते हैं। सन 1918 के महायुद्ध[9] के पश्चात् जब भारतवर्ष में नवीन सुधारों की घोषणा हुई, तब उन सुधारों के संबंध में भिन्न-भिन्न प्रकार के मत थे। अधिकांश उग्र मतवादी उनके विरोध में थे तथा सरकार से पूर्ण असहयोग करना चाहते थे। तिलक इस मत के नहीं थे। वे जानते थे कि सुधारों से भारतवर्ष की आकांक्षा का पूर्ण होना तो दूर रहा, उनसे आंशिक तुष्टि भी नहीं होती है, फिर भी वे कहते थे कि जो कुछ मिलता है उसे स्वीकार करो तथा आगे के लिए लड़ो। इसी को वे प्रतियोगी सहकारिता कहते थे। उनका कथन था कि राजनीति में प्रतिपक्षी अपनी इच्छा से अपने हाथ का अधिकार नहीं छोड़ता, जब छोड़ता है तो यही समझकर कि अब और कोई चारा नहीं है। इतनः ही नहीं, छोड़ते-छोड़ते भी उसमें अनेक बुराइयाँ उत्पन्न करके छोड़ता है। निरुपाय होकर प्रतिपक्षी ने जो दिया है, उसे लेकर अपने हित के संवर्धन के लिए उपयोग करना चाहिए तथा अपनी कुशलता, हिम्मत एवं पराक्रम से प्रतिपक्षी द्वारा उत्पन्न की गई बुराइयों को उल्टा उसी पर डाल देना ही प्रतियोगी सहकारिता है।

उन्होंने अपना यह स्पष्ट मत स्वयं मांटेग्यू के समक्ष कह दिया था। मांटेग्यू ने जब

8. सदाशिव राव 'भाऊ' (1730-?) मराठा योद्धा थे। इन्होंने 1746 में कर्नाटक में विद्रोही यामाजी शिवदेव को पराजित कर हिंदवी स्वराज्य स्थापित किया। 1760 में उदगीर, महाराष्ट्र के युद्ध में हैदराबाद के चौथे नवाब सलाबत जंग (1718-1763) के आक्रमण का प्रतिकार कर उसे हराया। पानीपत (हरियाणा) के तीसरे युद्ध (1761), जिसमें एक तरफ़ सदाशिव राव खुद मराठा सेना के मुख्य सेनापति थे और दूसरी ओर अफगानिस्तान में दुर्रानी साम्राज्य का संस्थापक, अहमद शाह दुर्रानी अथवा अब्दाली (1722-1772) था। इस युद्ध में भाऊ किसी कारण हाथी से उतरकर घोड़े पर सवार हो गए। देख न सकने के कारण सैनिकों ने उन्हें मरा समझ लिया और धैर्य छोड़कर भाग खड़े हुए। पानीपत के इस युद्ध में मराठा सेना की हार हुई। सदाशिव की मृत्यु को लेकर कई मत प्रचलित हैं। एक मत है कि वे शहीद हो गए थे। दूसरे मत के अनुसार वे रोहतक या सोनीपत या पानीपत (तीनों हरियाणा में) कहीं बस गए थे।

9. प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918)।

पूछा कि प्रस्तावित सुधार भारत के लिए समाधानकारक नहीं हुए तो आप क्या करेंगे, तो लोकमान्य ने एकदम उत्तर दिया कि जो मिलेगा, उस पर अधिकार करके बाक़ी के लिए आंदोलन करेंगे। उनकी यह स्पष्टोक्ति सुनकर मांटेग्यू ने कहा था कि उनके प्रश्न का अचूक उत्तर देने वाला एक ही व्यक्ति मिला।[10]

लोकमान्य के मार्ग से स्वराज्य

लोकमान्य की प्रतियोगी सहकारिता का उस समय लोगों ने विरोध किया तथा एक वर्ष में स्वराज्य लेने के पीछे पड़े। किंतु सन् 1921 के आंदोलन के पश्चात् कांग्रेस उन्हीं के बताए हुए मार्ग पर आ गई। सन् 1923 में ही स्वराज्य पार्टी के नाम पर कांग्रेस ने मांटेग्यू चेम्सफोर्ड चुनावों को कार्यान्वित किया। 1936-37 में प्रांतीय स्वायत्त शासन के आधार पर चुनाव लड़े तथा 1946 में वायसराय की कार्यकारिणी में प्रवेश करके आज की स्वतंत्रता प्राप्त की है।[11]

---

10. मांटेग्यू ने 17 नवंबर, 1917 से भारतीय राजनीतिक दलों और संस्थाओं से संवैधानिक सुधार के लिए उनका साक्षात्कार करना शुरू किया। तिलक और एनी बेसेंट के नेतृत्व में होम रूल लीग का प्रतिनिधि मंडल 26 नवंबर को मांटेग्यू से दिल्ली में मिला। अगले दिन के मध्याह्न-भोजन पर तिलक की मांटेग्यू से फिर मुलाक़ात हुई। इस मुलाक़ात पर मांटेग्यू लिखते हैं, '*मध्याह्न भोजन के बाद हम तिलक से मिले, जो ऐसे राजनीतिज्ञ थे, जिनका संभवत: भारत के किसी भी व्यक्ति पर सर्वाधिक प्रभाव था और वह अतिशय कठोर स्वभाव के थे। मुझसे मिलने दिल्ली आने वाला उनका जुलूस वास्तविक रूप में विजय की भावना से ओतप्रोत था। वह महान् पांडित्य और प्रशिक्षण के वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे। यह बिल्कुल स्पष्ट था कि वह किसी भी बात से संतुष्ट होने वाले नहीं थे, सिवाय उसके जो कांग्रेस की माँग है। उन्होंने कहा कि हम वह ले लेंगे, जो सरकार हमें देगी, लेकिन इससे हम संतुष्ट नहीं होंगे जब तक कि उसमें कम से कम कांग्रेस की माँगों को समाहित नहीं किया जाता।' (एडविन एस. मोंटेग्यू, ऐन इंडियन डायरी, लंदन, विलियम हेनीमैन, 1930, पृष्ठ 61)*
11. ब्रिटिश भारत में स्वराज की बात सर्वप्रथम तिलक ने 1906 में ही कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में कही। स्वराज के लिए उन्होंने एनी बेसेंट के साथ मिलकर 1916 में होम रूल आंदोलन की भी शुरुआत की। वहीं महात्मा गांधी ने पहली बार स्वराज लेने की बात 1921-1922 में असहयोग आंदोलन के दौरान रखी। उन्होंने एक साल में स्वराज का वादा किया। कांग्रेस में उनके आंदोलन के रवैये को लेकर मतभेद थे। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष चितरंजन दास और महामंत्री मोतीलाल नेहरू का मानना था कि विधान परिषदों का बहिष्कार करने के बजाय उनमें प्रवेश कर असहयोग किया जाए। इस प्रकार जनवरी, 1923 में चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू दोनों ने कांग्रेस से अलग होकर स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। पार्टी ने भारत के स्वराज्य के लिए प्रस्ताव पारित किया और 1923 के चुनावों में अभूतपूर्व सफलता हासिल की। इसके बाद भारत सरकार के अधिनियम 1935 के अनुसार 1936-37 में ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रांतों में चुनाव हुए, जिनमें कांग्रेस को 8 प्रांतों में सफलता मिली। लेकिन नवंबर 1939 में लिनलिथगो (भारत के वाइसराय 1936-1943) के भारत को द्वितीय विश्व युद्ध में संलग्न करने के निर्णय के विरोध में कांग्रेस के सदस्यों ने विधान परिषदों से इस्तीफा दे दिया। विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद 1946 के कैबिनेट मिशन प्लान के अनुसार अंतरिम सरकार का गठन किया गया। इस सरकार के 16 सदस्यों में अध्यक्ष भारत के वायसराय को बनाया गया और अन्य सभी सदस्य भारतीय थे।

'गीताधर्म'

आज की स्वतंत्रता हमने तिलक के बताए मार्ग से ही प्राप्त की है। जनता की शक्ति को प्रतियोगी सहकारिता ही हमारे प्रमुख साधन रहे हैं। आज जब हम स्वतंत्र हो गए हैं, तब आगे के कार्य की ओर ध्यान देना होगा और वह है राष्ट्र निर्माण का कार्य। इस कार्य में भी लोकमान्य तिलक हमारे मार्गदर्शक हो सकते हैं। उन्होंने स्वयं राजनीति में प्रवेश करने के पूर्व यह कार्य किया था और उनकी कौन सी दिशा थी, यह हम देख चुके हैं। आज भी हमको उसी दिशा में चलना होगा। उनका दृढ विश्वास था कि राष्ट्र के अंतर्गत धार्मिक भावना है। राष्ट्र की सच्ची शक्ति है, उसको जगाए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। उनके गीता-रहस्य में यह भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। जिस गीताधर्म की उन्होंने विवेचना की, वही उनका राष्ट्रधर्म है। उसके संबंध में लिखते हैं, "इस प्रकार सर्वतोपरि निर्भय एवं व्यापक होते हुए, वर्ण, जाति, देश आदि किसी का भी भेद न रखते हुए सबको एक माप से देने वाला तथा अन्य धर्मों के संबंध में सहिष्णुता दिखलाने वाला ज्ञान-भक्ति का युक्त गीताधर्म सनातन वैदिक धर्म का अत्यंत मधुर और अमृतफल है।" इस धार्मिक भाव को उन्होंने अखंड कर्ममय जीवन द्वारा देश में प्रसूत करने का प्रयत्न किया।

लोकमान्य का कार्य

लोकमान्य तिलक का जीवन देशभक्ति के लिए आदर्श जीवन है। उन्होंने अपनी संपूर्ण शक्ति देशहितार्थ लगाई। उनके पूर्व के देशभक्त, समाज-सेवा को अनावश्यक तथा मन बहलाने की चीज तथा खाली समय में करने का काम का समझते थे। लोकमान्य तिलक ने समाज सेवा को आत्मध्येय बनाया तथा अपना संपूर्ण जीवन उसके लिए लगा दिया। उनकी ध्येयनिष्ठा अध्यवसाय तथा लगन का ही परिणाम है कि उन्होंने देश के अंदर इतनी जागृति पैदा कर दी। इंग्लैंड में तरुण विद्यार्थियों के सम्मुख बोलते हुए उन्होंने स्वयं कहा, "जिस समय मैंने राजनीति में प्रवेश किया, उस समय 'स्वराज्य' शब्द मुँह से कहने की भी लोगों में हिम्मत नहीं थी। उन लोगों के द्वारा आज होमरूल की माँग कराने के लिए हमको कितनी अड़चनें पार करना पड़ी हैं, यह इस तरुण पीढ़ी को क्या मालूम?" निश्चित ही उन्होंने समाज के अंदर एक अपूर्व चेतना एवं जीवन उत्पन्न किया था।

हृदय की विशालता

उनकी विशालहृदयता आज प्रत्येक राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता के लिए अपनाने की चीज है। वे स्पष्टवादी थे। सामाजिक जीवन में उनका अनेकों ने विरोध

किया किंतु उनके हृदय में किसी के संबंध में द्वेषभाव नहीं था। आगरकर से सामाजिक जीवन में उनका ख़ूब द्वंद्व हुआ किंतु फिर भी दोनों एक-दूसरे को प्रेम करते थे तथा एक-दूसरे के लिए हृदय में श्रद्धा थी। अपनी मृत्यु के समय आगरकर ने यदि किसी को याद किया तो वह तिलक को तथा तिलक की उनके प्रति कितनी श्रद्धा थी, यह उनकी आगरकर को केसरी में दी गई श्रद्धांजलि के एक-एक शब्द से प्रकट होती है।[12] इसी प्रकार तिलक और गोखले में अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा थी, किंतु दोनों के अंतःकरण में परस्पर के लिए अत्यधिक आदर था। गोखले की मृत्यु के पश्चात् उनकी देशभक्ति का गुणगान यदि हृदय से किसी ने किया तो वह तिलक ने ही किया।[13] तिलक ने अपने से भिन्न मतवादी को कभी बुरा नहीं कहा। वे तो कहते थे कि भिन्न-भिन्न विचारसरणी और पक्ष राष्ट्र युद्ध के भिन्न-भिन्न मोर्चे पर एक-एक महारथी रहा तथा सबके मन में ऐक्य रहा तो कृति में बाह्यतः भिन्नता दिखने पर भी उनके कार्य का एक ही परिणाम राष्ट्र के लिए हितकारक होगा। यह विचार उनका केवल कहने के लिए ही नहीं था, किंतु स्वयं गोखले की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने राजनीतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। वे गोखले के स्थान की पूर्ति करने वाला व्यक्ति चाहते थे, किंतु उन्हें न मिल सका।

लोकमान्य का आदर्श जीवन

लोकमान्य आज भी हमारे सम्मुख आदर्श हैं। उनका व्यक्तित्व महान् था। वे अपने निश्चय में इतने दृढ थे कि उनको कोई डिगा नहीं सकता था तथा उनकी देशभक्ति इतनी उच्च थी कि उनको कोई खरीद नहीं सकता था। मांटेग्यू ने लिखा है, ''केवल एक भारतीय ऐसा है, जिसे हम किसी भी प्रकार के प्रभाव अथवा लालच से नहीं जीत सकते थे और वह तिलक है। बाक़ी को तो किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित कर सकते हैं।''

ऐसे महापुरुष ही राष्ट्र की संपत्ति होते हैं। क्या हम भारत जननी को संपत्तिशालिनी बनाएँगे?

—पाञ्चजन्य, श्रावण, कृष्ण 8, 2005 (जुलाई 29, 1948)

□

---

12. गोपाल गणेश आगरकर का निधन 17 जून, 1895 को हुआ।
13. गोपाल कृष्ण गोखले का निधन 19 फरवरी, 1915 को हुआ।

12

यात्रा से पूर्व

आज़ादी के आगमन के बाद स्वतंत्र भारत जब अपने संविधान निर्माण एवं योजनाओं पर विचार कर रहा था, तब दीनदयालजी ने यह निबंध लिखा।

15 अगस्त भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दिन है। उस दिन संपूर्ण भारत में स्वातंत्र्योत्सव मनाए गए। सहस्रों वर्षों की दासता के बंधन से मुक्ति का अनुभव किसको आनंदकारी नहीं होता। किंतु आनंद के क्षण थोड़े ही रहते हैं। आनंदोत्सव में मनुष्य एकबारगी अपने आपको भूल जाता है, वास्तविकता की कठोर धरती से उठकर कल्पनाकाश में सहज विचरण करने लगता है। हमने भी इस प्रकार आनंद मनाया और अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसकी अनुभूति रही। हरेक की अपनी-अपनी अवधि थी। किंतु अंत में सबको वास्तविकता की कठोर भूमि का स्पर्श करना ही पड़ा।

आज भी अनेक व्यक्ति कटु, दुःखद और उत्तरदायित्वपूर्ण वास्तविकता से मुँह छिपाना चाहते हैं। वे कल्पना के मधुमय संसार का ही आस्वाद लेने में मस्त हैं। यदि उनको कोई झकझोरकर सत्य संसार में लाने का प्रयत्न करता है तो उन्हें झुँझलाहट आ जाती है। यदि वास्तविक जगत् की कठिनाइयाँ उनके सामने कही जाती हैं तो वे समझते हैं कि स्वातंत्र्यानुभूति का महत्त्व कम करने का प्रयत्न किया जाता है अथवा स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले योद्धाओं की महत्ता को जनता की दृष्टि में नीचे गिराने का प्रयत्न किया जाता है। यह सत्य नहीं है। हाँ, अपनी वीरता और युद्धकौशल के लिए अप्रतिम ख्याति प्राप्त करने वाले शूरमा भी यदि मधुभुक् की भाँति कर्मचेतनाहीन हो आलस्यस्त हो जाएँ तो किसी-न-किसी यूलिसस को उन्हें घसीटकर कर्ममय जगत् में लाना ही पड़ेगा। देश सेवा का व्रत लेकर अनेक कष्ट सहने वाले और देश के लिए महान् बलिदान करने वाले देशभक्तों के प्रति इससे बड़ी और कौन सी श्रद्धांजलि हो सकती है कि उनकी कर्तव्य-

भावना को जीवित रखा जाए? जिस चाटुकारिता को उन्होंने अपने जीवन में स्थान नहीं दिया, आज वे नई पीढ़ी से उसकी कैसे अपेक्षा कर सकते हैं? अत: भारतीय जीवन की यथार्थ स्थिति का जब हम मार्गदर्शन करते हैं तो भारतीय स्वातंत्र्य के लिए युद्धरस्त वीरों के त्याग और बलिदान की परंपरा के प्रति हमारे मन में पूर्ण सम्मान का भाव है। उनकी भावनाओं के प्रति श्रद्धा है और उनकी देशभक्ति में विश्वास है, उनके अनुभव-पूत विचारों का मूल्य है और उनको हम सहज ही दृष्टि से ओझल नहीं होने देंगे। किंतु साठ वर्ष तक बराबर देखने का अभ्यास करते हुए अनुभवपूर्ण आँखें भी जब जाले के कारण स्पष्ट न देख सकें तो उस समय अच्छी दृष्टि वाले किसी भी युवक का यथास्थिति वर्णन, वृद्ध के प्रति धृष्टता नहीं अपितु सेवा और पूजा का ही भाव है।

15 अगस्त को अंग्रेज़ भारत छोड़कर गए हैं। उनका और हमारा दो सौ वर्षों से भी ऊपर का साथ रहा है।[1] इस बीच में उन्होंने हमारा बहुत कुछ बिगाड़ा-बनाया है, हमारे राष्ट्र-जीवन में अनेक विष बोए हैं। उनमें से अनेक फले और फूले हैं। आज हमारा राष्ट्र-जीवन उनके कारण विषाक्त हो गया है। उन्होंने अपनी सत्ता की जड़ें मज़बूत करने के लिए हमारा सांस्कृतिक, शारीरिक और आर्थिक ह्रास किया। हमारे शरीर और मन दोनों को दास बनाने के लिए अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाईं और उनको कार्यान्वित किया। आज अचानक वे हमको छोड़कर चले गए हैं। अपने जीवन को बनाने-बिगाड़ने की ज़िम्मेदारी अब हमारे ही ऊपर आ पड़ी है। इस ज़िम्मेदारी को हमें सँभालना होगा। हमें आज स्वयं अपने विकास की योजनाएँ बनानी होंगी और उनको संपूर्ण शक्ति लगाकर कार्यान्वित भी करना होगा।

योजनाएँ बनाना अत्यंत सरल मालूम होता है। कोई भी व्यक्ति तनिक भी कल्पनाशक्ति का सहारा लेकर योजना बना सकता है। ऐसी अनेक योजनाएँ बनी हैं और दो-चार दिन समाचार-पत्रों में स्थान पाकर वे विस्मृति के गर्त में समा गई हैं। अनेक को

---

1. 1577 में इंग्लैंड की रानी एलिजाबेथ I के अनुरोध पर समुद्री डाकू, फ्रांसिस ड्रेक (1540-1596) ने प्रशांत महासागर में स्पेनिश बेड़े को परेशान करने और उधर से दुनिया के परिभ्रमण के लिए प्लायमाउथ से जलयात्रा शुरू की। रानी की राजसभा में ड्रेक अकेला व्यक्ति नहीं था, जिसने दुनिया पर प्रभुत्व स्थापित करने की सोची। 1577 में जॉन डी (1527-1608 अथवा 1609) ने 'ब्रिटिश साम्राज्य' को व्यावहारिक बनाने की पहली छवि पेश की। तेईस साल बाद 1600 में रानी ने गवर्नर एंड कंपनी ऑफ मर्चेंट्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग विद द ईस्ट इंडीज को पंद्रह सालों के लिए अधिकार पत्र जारी किया। अगले 70 सालों में कंपनी ने मुग़ल बादशाहों की अनुमति से भारत और इंग्लैंड के मध्य व्यापार शुरू किया। 1670 में राजा चार्ल्स II (1630-1685) ने ईस्ट इंडिया कंपनी को पाँच अधिनियमों से 'दैत्याकार' रूप में बदल दिया : (I) कंपनी अपने सिक्के स्वयं ढाल सकती है; (II) अपनी सेना रख सकती है; (III) युद्ध लड़ सकती है; (IV) शांति-स्थापना; और (V) देशों पर अधिकार तथा अपने स्वयं के दीवानी और फौजदारी कानून लागू करना। लगभग 90 साल के बाद प्लासी की लड़ाई में रॉबर्ट क्लाइव की जीत ने कंपनी के सैन्य उपक्रम की शुरुआत की। आगे आने वाले सालों में कंपनी की सेना ने कई युद्ध लड़े और 1856 तक 70 प्रतिशत भारत ब्रिटिश कंपनी के अधिकार में आ गया था।

उनके निर्माताओं के हाथ में शक्ति होने के कारण कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया जाता है। उनके पीछे जन और धन की शक्ति लगाई जाती है, किंतु उनकी सफलता के कोई चिह्न नहीं दिखाई देते। कोटि-कोटि जन उत्साह और उमंग के साथ उनको व्यवहार में लाने के लिए उत्सुक नहीं दिखाई देते। अत: योजनाएँ बनाते समय हमको कुछ बातों को ध्यान में रखना होगा।

अपनी योजना के पीछे हम अपने देशवासियों की संपूर्ण कार्यशक्ति को खड़ा कर सकें, इसके लिए आवश्यक है कि उस योजना की जड़ उनके हृदयों में हो, उसका संबंध उनके जीवन के सारभूत तत्त्वों से हो। उनको वह अपनी मालूम हो और उसको कार्यान्वित करना उनको हितावह प्रतीत हो। हमारी आज की अधिकांश योजनाओं में कल्पनाशक्ति रहती है, अर्थनीति के गहन सिद्धांतों का समावेश रहता है, किंतु दुर्भाग्यवश उनमें भारतीयता नहीं रहती और इसीलिए वे भारत की भूमि में, भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदय में पनप नहीं पातीं। वे पाश्चात्य-विद्या-विभूषित कुछ विद्वानों की चर्चा का विषय मात्र बनकर समाप्त हो जाती है। अत: भारतीयता हमारी योजनाओं का सबसे प्रमुख गुण होना चाहिए। उसी से आत्मविकास संभव है और उसी के पीछे आत्मप्रेरणा से संपूर्ण देश खड़ा हो सकता है।

हमको आज भारतीयता की पूजा करनी है, किंतु भारतीय जीवन शून्य में तो अवस्थित है नहीं। वह मानव-जीवन का ही एक अंग है। अत: विश्व में होने वाली घटनाओं और चलने वाली विचार क्रांतियों से वह अपने आपको कैसे अछूता रख सकता है? उनका उस पर परिणाम होगा ही। अत: भारतीय जीवन का विचार करते समय हमको संसार-सागर को उद्वेलित करने वाली विचार-वीथियों को दृष्टिगत रखना ही होगा, अपनी तरणी हमको सागर की अवस्था का विचार करके ही निर्माण करनी होगी।

आज तो यातायात के साधनों ने दुनिया के देशों को एक-दूसरे के निकट ला ही दिया है, अत: एक-दूसरे पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता, किंतु अतीत में भी भिन्न-भिन्न देशों का इस प्रकार का संबंध रहा है। भारत का भी दुनिया के दूसरे देशों के साथ संबंध बहुत पुराने काल से रहा है। इस संबंध में जहाँ भौतिक जगत् की वस्तुओं के आदान-प्रदान से व्यापार वृद्धि हुई, वहाँ विचार जगत् में भी आदान-प्रदान हुए। हमने दुनिया को बहुत कुछ दिया और उससे बहुत कुछ लिया। जहाँ विश्वगुरु के नाते हमने दुनिया को शिक्षा दी, वहाँ एक जिज्ञासु के नाते हमने छोटे-बड़े किसी से भी ज्ञान प्राप्त करने में संकोच नहीं किया। हाँ, जो कुछ हमने सीखा, उसको अपना बना लिया। यह स्वाभाविक परंपरा चलती रही, इसमें भारतवर्ष किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं था।

पिछले एक हज़ार वर्ष में हमारे और दुनिया के इस संबंध में विकृति आ गई। हम ग़ुलाम हो गए। हमारा संबंध बाहर के देशों से समानता का नहीं रहा। दासता ने हमारी

शक्ति क्षीण कर दी। अब दुनिया के अन्य देशों के साथ सम्मानपूर्वक आदान-प्रदान नहीं रहा, अपितु उन्होंने ज़बरदस्ती हमको लूटा और बदले में दया के दानस्वरूप जूठन और भिक्षा दी। हमने लूट को रोकने के लिए शक्ति भर प्रयत्न किया और दया के दान को हमारे आत्मसम्मान ने ठुकराया। भिक्षा में भी कई बार विष ही दिया गया, अत: एक अविश्वास ने भी हमारे मन में जड़ जमा ली। हमने भारतीयता की रक्षा के लिए सर्वबाह्य विचारों का विरोध किया। किंतु हमारा संबंध तो बाह्य सत्ताओं से आया ही था, दुनिया में होने वाली विचारक्रांतियों का परिणाम हमारे ऊपर होना ही चाहिए, वह हुआ। शासक वर्ग ने भी हमारे अपनेपन को समाप्त करने के लिए अपनी संस्कृति और सभ्यता का बोझ हमारे ऊपर लादा और वह हमको अनिच्छा से ही क्यों न हो, करना ही पड़ा। इसी एक हज़ार वर्ष की विकृत अवस्था का परिणाम आज का भारतवर्ष है।

इस भारतवर्ष को आज हमें स्वरूप देना है। आज उसके स्व को जाग्रत् करना है। जो विकृति आ गई है, उसको दूर निकालकर फेंकना है। आज अपनेपन को पहचानकर दुनिया के साथ कंधे से कंधा मिलाकर हमको आगे बढ़ना है। जबसे हम अपने जीवन के स्वामी स्वयं न रहे, तब से संसार बहुत बढ़ चुका है। आज न तो हम लौटकर अपने पुराने स्थान से यात्रा प्रारंभ कर सकते हैं और न आज की विकृत अवस्था को ही प्राकृत अवस्था मानकर चल सकते हैं। हमारा सौभाग्य है कि दासता की लंबी अवधि में भी अपनी प्रकृति को व्यक्त करने वाले महापुरुष हुए हैं, फलत: आज हमारे जीवन में कितने ही विकार क्यों न आ गए हों, हमारी प्रकृति पूर्णत: आक्रांत होकर मरी नहीं है। हम अपनी इस प्रकृति की अखंडधारा को पहचानें। उसको शक्तिशाली करके विकृति की अस्वच्छता को प्रकृति की प्रवाहजन्य स्वच्छता से धो डालें और इस प्रकार शक्तिसंपन्न हो संसार के साथ आगे बढ़ें।

एक बात और! अपने इस विकास में आज भी हम पूर्ण स्वतंत्र नहीं हैं। संसार के अनेक देशों की वक्र दृष्टि हमारी ओर लगी हुई है। अत: हमको सावधानी रखनी होगी कि हम अपने जर्जर शरीर को रोगमुक्त करके जब तक स्वस्थ होकर खड़े हों, तब तक बीच में ही कोई हमारे ऊपर हावी न हो जाए। साथ ही संसार के अनेक देशों के साथ हमारे संबंध रहे हैं। हमें अनेक पुराने अप्राकृतिक संबंध तोड़ने पड़ेंगे, नवीन निर्माण करने होंगे। इसमें भी हम ध्यान रखें कि कहीं संबंध तोड़ते हुए हम किसी जीवन-तंतु को आघात न लगा लें और नवीन निर्माण करने में फिर से बंधन में न बँध जाएँ। चारों ओर की उत्ताल तरंगों और युद्ध पोतों के बीच से अपनी जर्जर नौका से संसार सागर पार करना है। कार्य कठिन है, किंतु करना ही होगा। इसकी सफलता, योग्यता और नेतृत्व की कसौटी है और उसी पर भावी भारत का भाग्य निर्भर है।

—पाञ्चजन्य, श्रावण, कृष्ण, 15, 2005 (अगस्त 5, 1948)

□

13

तुलसी के प्रति राष्ट्र की श्रद्धांजलि

लखनऊ में गोस्वामी तुलसीदासजी की पुण्यतिथि पर श्रावण शुक्ल सप्तमी को मेन मार्केट मंदिर, गणेशगंज में विराट् आयोजन के साथ सहस्त्रों लोगों ने श्रद्धांजलि अर्पित की। कीर्तन, भजन तथा चौपाई पाठ के अनंतर अटल बिहारी वाजपेयी ने तुलसीदास पर सुंदर कविता सुनाई। तत्पश्चात् दीनदयालजी का भाषण हुआ। अंत में श्री स्वामी योगानंदजी महाराज के संक्षिप्त प्रवचन के अनंतर सभा विसर्जित हुई। दीनदयालजी का वक्तव्य।

कुछ विद्वानों ने खोज निकाला है कि श्रावण शुक्ल सप्तमी तुलसीदासजी का मृत्यु दिवस है, जन्मदिवस नहीं। हमें जन्मदिवस ही मनाना चाहिए, क्योंकि गोस्वामीजी ने जिस हिंदू धर्म को जाग्रत् करने का प्रयत्न किया, वह जगत् को जीवन का संदेश देने वाला है। साथ ही गोस्वामीजी जैसे महापुरुष तो सदा अमर रहने वाले हैं।''

तुलसीदासजी ने हमें तब चेतना दी, जब हम आत्मसम्मान खो रहे थे। उस राष्ट्रीय कहे जाने वाले अकबर ने हिंदू धर्म और संस्कृति के ह्रास का पूरा प्रयत्न किया था। यदि वह हिंदू-मुसलिम ऐक्य का निर्माणकर्ता होता तो राणा प्रताप को नष्ट क्यों करना चाहता।

—पाञ्चजन्य, श्रावण, शुक्ल, 2005 (अगस्त 12, 1948)

□

14

144

दीनदयालजी साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे। यह उनका प्रथम व्यंग्यात्मक आलेख है।

बचपन में गाँव की पाठशाला में पढ़ते समय छुट्टी के पहले मुहानी होती थी। एक विद्यार्थी खड़ा होकर गिनती और पहाड़े कहता था और शेष सब दोहराते थे। उस समय 16×9 ही हमको सबसे प्रिय लगता था तथा उसको हम लोग बड़े लहजे के साथ कहते थे 'सोलह नम्मा चालारे चवाल सौ'। शेष सब संख्याओं को उनके साधारण नाम से क्यों कहा जाता था, इसका रहस्य जानने की हमने कभी चिंता नहीं की। किंतु यह सत्य है कि इसको दोहराने में आनंद ख़ूब आता था। एक कारण तो यह हो सकता है कि इसमें छुट्टी के आनंद की कल्पना छिपी हो, क्योंकि सोलह नम्मा के बाद ही सोलह दहाई एक सौ साठ कहते ही मुहानी समाप्त हो जाती थी और हम सब अपना-अपना बस्ता, जिसको कि पहले से ही बाँधकर-सँभालकर रख दिया जाता था, उठा घर की ओर दौड़ पड़ते थे, फिर चाहे स्कूल से निकल रास्ते भर खेलते-खाते (आम की अमिया) घर रात होते-होते ही पहुँचते। 'सोलह नम्मा चालारे चवाल सौ' को धीरे-धीरे मस्ती से कहकर दिन भर की थकान भी निकल जाती थी। किंतु इसमें एक ख़राबी थी, इसकी लंबाई तथा शेष सब संख्याओं की भिन्नता के कारण पंडितजी का, जो कि हमारी मुहानी के समय या तो सीधा बाँधते रहते थे या गाँव के किसी व्यक्ति से बातें करते रहते थे, ध्यान अवश्य आकर्षित हो जाता था और फिर कभी वे दुबारा मुहानी की या किसी पहाड़े विशेष को कहने की आज्ञा दे देते थे। शायद इसीलिए पंडितजी ने 'एक सौ चवालीस' का नामकरण 'चालारे चवाल सौ' कर दिया हो, क्योंकि यह तो हम

शपथपूर्वक कह सकते हैं कि यह नाम हमको पंडितजी ने ही बताया था।

आगे विद्यार्थी जीवन में चलकर 144 के और भी अनेक गुण मालूम हो गए, एक सौ चवालीस 18×8, 24×6, 36×4 तथा 12×12 भी होता है, किंतु जो आकर्षण 16×9 में है, वह आज तक किसी में नहीं मिला।

बाल्य जीवन में 144 ने जो महत्ता प्राप्त कर ली थी, वह आज तक बनी हुई है, किंतु अरुचि और विकर्षण का ही भाव है। अंकगणित का 144 सामाजिक जीवन में बड़ा बलशाली हो गया है। आजकल तो भारतीय जनता 144 से भली-भाँति परिचित हो गई है तथा कोई भी सामाजिक कार्यकर्ता न होगा, जो कभी-न-कभी 144 के चपेटे में न आ गया हो या आते-आते न बच गया हो। यदि आप अब तक न समझे हों तो यह है भारतीय दंड विधान की धारा 144।

भारतवर्ष के प्रथम लॉ मेंबर मैकाले के दिमाग की उपज धारा 144 है।[1] देखने में बड़ी सीधी-सादी तथा शब्दों में भी बड़ी मधुर है, हाँ वे मधुर शब्द रसगुल्ले की तरह गोल-गोल हों तो आश्चर्य ही क्या, क्योंकि अंग्रेज़ का संपूर्ण कानून ही गोल-मोल रहता है। इसमें अपनी इच्छानुसार खींचतान करने की स्वतंत्रता रहती है। धारा 144 आपकी मूलभूत स्वतंत्रताओं पर बंधन लगाने के लिए पैदा हुई है, यद्यपि वह बंधन जनहित और जनता की शांति के लिए अथवा उसका नाम लेकर ही लगाया जा सकता है। किंतु जनता के इस हित का निर्णय कोई न्यायाधीश, पंचायत अथवा धारा सभा नहीं करती अपितु जिले का डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट या पुलिस कमिश्नर ही करता है।

---

1. थॉमस बैबिंगटन मैकाले (1800-1859) ने 7 दिसंबर, 1834 को अपने एक पत्र में लिखा, '*मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था के बचाव में मात्र एक तर्क प्रस्तुत किया गया है। यह स्वीकार किया जाता है कि बंगाल की प्रेस को लंबे समय से व्यावहारिक स्वतंत्रता से वंचित रखा गया है और इस स्वतंत्रता के हनन के मामले में सरकार को कुछ और नहीं सिर्फ़ अति आपात स्थिति ही सही साबित कर सकती है। लेकिन ऐसा कहा जाता है कि ऐसी आपात स्थिति पैदा हो सकती है और ऐसी परिस्थिति में साम्राज्य को संरक्षित करने के लिए सरकार को सख्त, त्वरित और निर्णायक उपाय लागू करने की शक्ति अपने हाथ में लेनी चाहिए। लेकिन जनता के विभिन्न वर्गों पर जो व्यापक शक्तियाँ संसद् ने शक्ति परिषद् में गवर्नर जनरल और आपात स्थिति में अकेले गवर्नर जनरल को ही दे रखी हैं, जब हम उन शक्तियों के बारे में सोचते हैं तो पाते हैं कि इस तर्क को थोड़ा ही महत्त्व देने की संभावना बनती है। दुनिया में किसी भी सरकार के पास असामान्य खतरों से निपटने के लिए पहले से असामान्य उपाय करने के तरीके मौजूद नहीं हैं। पाँच लोग आधे घंटे में साथ लाए जा सकते हैं, जिनका विचार विमर्श गोपनीय होगा, जो ऐसी किसी जंजीर से नहीं बँधे हैं, जिसकी वजह से कानून बनाने में विलंब होता है, एक ही बैठक में भारत में पूरी प्रेस को प्रतिबंधित करने का कानून बना सकते हैं। इस बात को सामने लाया जाएगा कि जब भी राज्य की सुरक्षा के लिए ज़रूरत होगी, सरकार बहुत ही तेजी और ऊर्जा के साथ ऐसी शक्ति से हस्तक्षेप करेगी, जिस पर प्रश्न नहीं लगाया जा सकता। लेकिन हमें शांतिपूर्ण समय में अपने आक्रामक तरीकों से परहेज करना होगा और जिन्हें हमने स्वतंत्रता प्रदान की है, उनकी आँखों में निरंकुश और अत्याचारी शासन का उत्सव प्रदर्शित करने से बाज आना होगा।*'

(जॉर्ज ओटो ट्रेवलियान, द लाइफ एंड लेटर्स ऑफ लॉर्ड मैकॉले, लंदन, लांगमैंस, 1909, पृष्ठ 283)

किंवदंती है कि शासन के लिए इतनी उपयोगी एवं अमूल्य धारा का ज्ञान शासक वर्ग को बहुत दिनों तक नहीं रहा। (मैकाले की आत्मा निश्चय ही अपने अनुगामियों को कोसती होगी) सन् 1921 में जब सत्याग्रह-संग्राम छिड़ा तो कानूनी समस्या पैदा हुई कि इसको कैसे रोका जाए, आर्डिनेंस बन सकते थे और बने भी, किंतु स्थायी कानून की धारा आवश्यक थी। इस समय कहा जाता है कि (कहाँ तक सत्य है?) तत्कालीन लॉ मेंबर सर तेजबहादुर सप्रू ने सरकार को सुझाया कि धारा 144 का उपयोग हो सकता है। शासक वर्ग की मनचाही हो गई। हर एक मजिस्ट्रेट के हाथ में अधिकार आ गया कि वह किसी भी कार्य को धारा 144 के अंतर्गत रोक दे, अथवा ग़ैर कानूनी घोषित कर दे। तब से जो धारा केवल कानून की किताबों की शोभा बढ़ा रही थी, चारों ओर उपयोग में आने लगी।

अंग्रेज़ चले गए किंतु उनका कानून बाक़ी है और उसके साथ ही धारा 144 भी बाक़ी है। इतना ही नहीं, आज तो धारा 144 कम-से-कम बड़े नगरों के तो जीवन का अंग बन गई है। आए दिन अखबारों में कहीं-न-कहीं धारा 144 लागू करने की घोषणा पढ़ सकते हैं। एक अवधि समाप्त होते ही दूसरी लग जाती है और दूसरे के बाद तीसरी। कुछ स्थान पर तो अधिकारियों ने यह नियम ही बना रखा है कि धारा 144 बराबर लगाए रखना चाहिए। इसलिए अब कोई जानने का प्रयत्न नहीं करता कि धारा 144 लागू है अथवा नहीं, क्योंकि वह मान लेता है कि लागू होगी ही। अखबारों में निकालने और डौंडी पीटने की आवश्यकता होने पर भी यह धारा बिना इन झंझटों के भी विशेष संकट या अशांति की स्थिति में अथवा संकट या अशांति की स्थिति कहकर जिला मजिस्ट्रेट के दफ्तर में भी लागू की जा सकती है। आज के शासन का यह किस प्रकार अंग बन गई है, उसके संबंध में एक घटना कही जाती है। एक स्थान पर सार्वजनिक सभा हो रही थी। अकस्मात् वहाँ के मजिस्ट्रेट उस ओर से निकले। उनकी सभा होते देख कुछ आश्चर्य हुआ और उसके आयोजकों को बुलाकर पूछा कि धारा 144 लगे रहने पर सभा किसकी आज्ञा से की गई। एक बार तो आयोजक भी दंग रह गए किंतु उन्होंने नम्रतापूर्वक बताया कि धारा 144 की अवधि तो दो दिन पूर्व समाप्त हो गई तथा उसकी पुनरावृत्ति का उन्हें तो ज्ञान नहीं है। तब कहीं मजिस्ट्रेट महोदय को पता लगा कि सचमुच दो दिन पूर्व धारा 144 की अवधि बीत चुकी थी तथा वे फिर से घोषणा करना भूल गए थे। पहला काम दफ्तर पहुँचकर यही किया गया कि धारा 144 की घोषणा कर दी। वे चाहते तो उसी समय धारा 144 की घोषणा करके सभा को समाप्त करवा सकते थे, किंतु ऐसा करना उन्होंने उचित नहीं समझा।

आजकल धारा 144 को केवल सातत्य ही नहीं प्राप्त हुआ है किंतु उसका सीमा क्षेत्र भी बढ़ गया है। यदि उसे सर्वशक्तिमान का दूसरा स्वरूप कहा जाए तो अत्युक्ति

नहीं होगी। साधारणतया धारा 144 के अंतर्गत चार आदमियों से अधिक का किसी सार्वजनिक स्थान पर एकत्र होना ही रोका जाता था, किंतु अब तो सब प्रकार की आज्ञाएँ धारा 144 के अंतर्गत दी जाने लगी हैं। जिस प्रकार जन-सुरक्षा कानून के अंतर्गत किसी को भी पकड़ा जा सकता है, उसी प्रकार धारा 144 के अंतर्गत किसी भी कार्य के करने से जन समाज को रोका जा सकता है। सभा न करने, भाषण न देने तथा ध्वनिवर्धक यंत्र का प्रयोग न करने और लाठी आदि हथियार लेकर न चलने की आज्ञाएँ तो धारा 144 के अंतर्गत साधारण हैं। इसके द्वारा आप किसी भी व्यक्ति का आना-जाना रोक सकते हैं। पाकिस्तान से आने वाले और पाकिस्तान जाने वाले, हैदराबाद आने-जाने वाले लोगों को धारा 144 ही रोकती है, धारा 144 के अंतर्गत ही आने पर उन्हें पुलिस को रिपोर्ट करनी पड़ती है। इस धारा के अंतर्गत आप ईंट-पत्थर इकट्ठा नहीं कर सकते और न अपने घर की छत पर जोर-जोर से बोल सकते हैं। आपको पतंग का शौक हो तो धारा 144 से सावधान रहिए, क्योंकि कभी भी धारा 144 आपको कन्ने से काट ही नहीं देगी, किंतु हवालात की हवा भी खिला देगी। आपकी जीप के गियर और इंजन कितने भी अच्छे क्यों न हों, धारा 144 की धार में वे भी न टिक पाएँगे। सरदारजी को कृपाण पर कितना ही नाज क्यों न हो किंतु धारा 144 में उसकी भी लंबाई कम करनी पड़ेगी। आप स्थानीय स्वराज्य की दुहाई देते हुए म्युनिसिपैलिटी के मेंबर हैं तो क्या, आपके ऊपर भी धारा 144 अंकुश रखती है तथा आपको कोई भी प्रस्ताव पेश करने से रोका जा सकता है। किसी भी राह चलती स्त्री को छेड़ना नैतिक या अन्य कानून की दृष्टि से वर्जित हो या न हो किंतु धारा 144 आपको इस अशोभनीय कार्य से अवश्य रोक सकती है। गरज यह है कि जैसे मनुष्य में कवि की पहुँच सब स्थानों पर मानी गई तथा कहा गया है कि 'जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि' वैसे किसी भी कार्य को सार्वजनिक रूप से रोकने के लिए धारा 144 लगाई जा सकती है तथा किसी को भी बंदी बनाने के लिए जन-सुरक्षा कानून की धारा 3 बनी है। (144 के अंकों को जोड़कर वर्गमूल निकाल लीजिए)।

धारा 144 के लिए न तो प्रांतीय सरकार की आज्ञा की आवश्यकता है और न उसकी संकट की स्थिति की घोषणा की। यह तो केवल मजिस्ट्रेट की चेरी है और उसकी भ्रू-भंगियों पर नाचती रहती है। पब्लिक-सेफ्टी एक्ट के ख़िलाफ़ जनमत हो सकता है, उसको काला कानून कहकर उसके विरुद्ध आवाज़ उठाई जा सकती है। किंतु धारा 144 के विरुद्ध यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि धारा 144 भंग करने पर वह अपने 44 साथियों को और बुलाकर दंड-विधान की धारा 188 के अंतर्गत आपको न्यायालय में घसीटकर ला सकती है। यह दूसरी बात है कि आपने चाहे घूमने जाते समय हाथ में छड़ी लेकर ही उसका मान भंग किया हो अथवा साल भर तक

आपका मुक़दमा पेश न हो पाए और हवालाती बनकर जेल की मेहमानी उड़ाते रहें। पब्लिक सेफ्टी एक्ट का विरोध किया जा सकता है, क्योंकि वह नया है किंतु धारा 144 के विरुद्ध कौन आवाज़ उठा सकता है। वह तो मैकाले का वरदान लेकर जगत् में अवतीर्ण हुई है।

हमारी सार्वजनिक जीवन-धारा को रुद्ध करने वाली धारा 144 धीरे-धीरे पब्लिक से बढ़कर प्राइवेट क्षेत्रों में भी प्रवेश कर रही है। मायाविनी अवसर पड़ने पर अनेक रूप धारण कर लेती है। क्या स्वतंत्रता के इस युग में जब जन समाज भाषण स्वातंत्र्य आदि के लिए लालायित है, लेखन स्वातंत्र्य आदि के लिए लालायित है, इस सर्वग्राहिणी धारा का कुछ स्वरूप निश्चित होगा? क्या अंग्रेज़ों के साथ-साथ हम इस धारा को मैकाले के देश में नहीं भेज सकते?

—पाञ्चजन्य, भाद्रपद, शुक्ल 7, 2005, (सितंबर 9, 1948)

□

15

राजनीतिक आय-व्यय

यह दीनदयालजी का द्वितीय व्यंग्यात्मक लेख है। इसके बाद उनके ज्ञात साहित्य में इस प्रकार के निबंध नहीं मिले हैं।

दीवाली के मौसम पर उद्योग में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपना आय-व्यय देखता है, पुराना खाता ठीक करता है, जाँच-पड़ताल करके बंद कर देता है तथा आगे के लिए नया खाता खोलता है। इससे उसे अपनी सच्ची स्थिति का ज्ञान हो जाता है कि उसको कितना लेना-देना है। अपनी इस स्थिति और पूँजी का अंदांजा लगाकर ही अगले वर्ष का कारोबार और उसका विस्तार निश्चित किया जाता है। इसी के आधार पर नई योजनाएँ बनाई जाती हैं।

राजनीतिक क्षेत्रों में हमने उद्योग आरंभ किया। उसके आय-व्यय का निरीक्षण करना भी बीच-बीच में आवश्यक है। हमारे नीतिज्ञ भी कह गए हैं कि

क: काल: कानि मित्राणि को देश: कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहः॥

अर्थात् हमको बार-बार इस बात का विचार करना चाहिए कि कौन सा देश है? कौन मित्र हैं? काल क्या है? हमारा आय-व्यय क्या है? हम कौन हैं तथा हमारी शक्ति क्या है? इन बातों का निरंतर विचार करने वाला ही सदा विजयी एवं सफल होता है। आइए, हम भी इन बातों पर विचार करें अथवा वाणिज्य-शब्दावली में कहें कि अपने आय-व्यय का निरीक्षण करें।

भारतवर्ष का कारोबार बहुत पुराना है। दुनिया में सब लोग अच्छी तरह व्यापार करना नहीं जानते थे, तब से भारत में उद्योग चल रहा है। अपनी उत्पत्ति तथा उनकी

विशेषताओं के लिए वह बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहा है, इसलिए इसकी साख बहुत ही मूल्यवान रही। बहुत दिनों तक तो ज्ञान, विज्ञान, कला और कौशल आदि की उत्पत्ति पर एकाधिकार रहा और इस कारण वह दुनिया में सबसे अधिक धनवान ही नहीं, प्रतिभावान भी समझा जाता था। व्यापार में 'एक बात' इसका गुण था, जिसे इसने सत्य का ट्रेडमार्क दे रखा था, सहिष्णुता इसकी दूसरी विशेषता थी। इधर कुछ सदियों से कारीगरों और प्रबंधकों में मनमुटाव तथा भेदभाव होने के कारण इसकी साख गिर गई और वह विदेशियों के हाथ में भी चली गई, जिसने इसकी मशीनों को नष्ट करने और उनमें आमूल परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। फलत: उत्पत्ति भी गिर गई तथा इनके स्टैंडर्ड में भी फर्क आ गया।

कुछ वर्षों से इसका प्रबंध अपने हाथ में लेने की कोशिश हो रही थी। और वह प्रयत्न 15 अगस्त, 1947 को सफल हुआ। तब से तथा उससे कुछ वर्ष पहले से भी कुछ कम रूप में इसका प्रबंध इंडियन नेशनल कांग्रेस लि. की स्थापना सन् 1885 में हुई थी। पहले तो यह एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी थी, किंतु बाद में यह पब्लिक हो गई। इसके संचालक (Director) बीच-बीच में बदलते रहे हैं। अपने हाथ में प्रबंध लेने के पूर्व इसके डायरेक्टरों का कहना था कि हिंदुस्थान के शासन में बहुत सी बुराइयाँ हैं। यहाँ अत्याचार और भ्रष्टाचार का बोलबाला है। कामगारों की बुरी हालत है, उन्हें भर पेट रोटी नहीं मिलती और न बदन ढकने को कपड़ा। अगर उनके हाथ में प्रबंध आ गया तो वे सबको सुख, शांति, सम्मान और वैभव देंगे तथा दीनता और भुखमरी दूर हो जाएगी। अब प्रबंध उनके हाथ में है। यह आनंद की बात है। परंतु आज तक का आय-व्यय शेष सबके सामने है।

आय-व्यय पत्रक

[अधिक श्रावण कृष्ण 14, वि.सं. 2004 से कार्तिक शुक्ल 10, संवत् 2005 तक]

आय

1. भारत से अंग्रेज़ों की विदाई तथा भारतवर्ष को औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति।
2. प्रांतों एवं केंद्र में कांग्रेस सरकार की स्थापना। कांग्रेस के ही मंत्री, गवर्नर आदि की नियुक्ति तथा बड़ी-बड़ी तनख्वाहें।
3. कांग्रेस का बोलबाला।
4. होम गाड्र्स, प्रांतीय रक्षा दल तथा कांग्रेस सेवादल का निर्माण।
5. देशी रियासतों का भारतीय संघ में समाहार।
6. हैदराबाद समस्या का हल।

7. विदेश-विभाग से संबंधित अनेक लोगों की विदेशों में राजदूत के नाते नियुक्ति।
8. कांग्रेस के लोगों को पेंशन आदि सुविधाएँ।
9. पौंडपावना।

व्यय

1. भारत का विभाजन, पूर्ण स्वराज्य के आदर्शों का त्याग तथा देश में अंग्रेज़ विशेषज्ञों एवं कारीगरों का आगमन।
2. पंजाब, सिंध, सीमा प्रांत और बंगाल में लाखों हिंदुओं की हत्या, लूटमार, अग्निकांड आदि की दुर्घटनाएँ।
3. निर्वासितों की समस्या, पाकिस्तान में करोड़ों की संपत्ति जब्त।
4. पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपए का दान।
5. गांधीजी की हत्या।
6. संपूर्ण देश में पकड़-धकड़।
7. महाराष्ट्र आदि प्रांतों में लूटमार, अग्निकांड की घटनाएँ तथा अन्य प्रांतों में संघ के स्वयंसेवकों के विरुद्ध सब प्रकार के प्रदर्शन।
8. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अवैध घोषित करके निस्स्वार्थ देशभक्ति एवं संगठन की भावना पर आघात।
9. प्रांतीय रक्षा दल, होम गार्ड आदि पर अत्यधिक व्यय एवं उसके द्वारा आपंसी पार्टीबाजी।
10. कश्मीर समस्या।
11. प्रजामंडलों के तुष्टीकरण का प्रयत्न।
12. कम्युनिस्ट उपद्रव।
13. हैदराबाद में हिंदुओं पर अत्याचार तथा तज्जनित हानि।
14. लाखों रुपयों का अतिरिक्त ख़र्च।
15. अफ्रीका में भारतीयों की दुर्दशा।
16. संयुक्त राष्ट्र संघ में अफ्रीका के प्रश्न पर भारत की हार।
17. सुरक्षा समिति के चुनाव को नौ बार लड़कर यूक्रेन के पक्ष में नामजदगी वापिस लेना।
18. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा काश्मीर कमीशन की नियुक्ति और उसका रुख़।
19. गोवा की भारत विरोधी नीति।
20. नवीन कर (बिक्री कर आदि) मुद्रास्फीति, कम उपज, हड़तालें।

शेष

महँगाई, बाढ़, अन्न की कमी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, कांग्रेसीयता, जनसुरक्षा कानून, धारा 144, कंट्रोल पक्षपात, असंतोष, पार्टीबाजी।

1. यह व्यय सब भागीदारों की राय से होना चाहिए था, किंतु संचालकों ने राय न लेकर अनियमितता की।
2. इसके संबंध में अभी तक कुछ निश्चित नहीं हुआ, डर है कि यह भावना डूब न जाए। हिसाब बहुत ही अस्त-व्यस्त रूप में रखा गया है, अतः गबन आदि की बहुत कुछ संभावना है; इसीलिए बैलेंस शीट पूरी नहीं मिली है।

घिसाई

सत्य और अहिंसा, चरित्र, अनुशासन, योग्यता, भारतीयता।

—पाञ्चजन्य, कार्तिक शुक्ल 10, 2005, (नवंबर 11 ,1948)

□

16

चिति-2

'चिति' पर उनका प्रथम आलेख 1947 में 'राष्ट्रधर्म' मासिक के अंक 3-4 में प्रकाशित हुआ था (देखें पृ. 115)। यह दूसरा आलेख है, जो अंक 6 में प्रकाशित हुआ। संभवतः तब 'राष्ट्रधर्म' का नियमित प्रकाशन नहीं हो पा रहा था। यह लेख 1962 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र चिंतन' में भी संकलित है।

किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी चिति के कारण होता है। चिति के ही कारण उदयावपात होता है। भारतीय राष्ट्र के भी उत्थान और पतन का वास्तविक कारण हमारी चिति का प्रकाश अथवा उसका अभाव है। आज भारत उन्नति की आकांक्षा कर रहा है। संसार में बलशाली एवं वैभवशाली राष्ट्र के नाते खड़ा होना चाहता है। चारों ओर लोग इस ध्येय का उच्चारण कर रहे हैं तथा उसके लिए प्रयत्नशील भी हैं। ऐसी दशा में हमको अपनी चिति का ज्ञान करना आवश्यक है। बिना चिति के ज्ञान के प्रथम तो हमारे प्रयत्नों में प्रेरक शक्ति का अभाव रहने के कारण वे फलीभूत नहीं होंगे; द्वितीय मन में भारत के कल्याण की इच्छा रखकर और उसके लिए जी तोड़ परिश्रम करके भी हम भारत को भव्य बनाने के स्थान पर उसको नष्ट कर देंगे। स्वप्रकृति के प्रतिकूल किए हुए कार्य के परिणामस्वरूप जीवन में जो परिवर्तन दिखाई देता है, वह विकास के स्थान पर विनाश का द्योतक है और इस प्रकार 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' की उक्ति चरितार्थ होती है।

हमारे राष्ट्र जीवन की चिति क्या है? हमारी आत्मा का क्या स्वरूप है? इस स्वरूप की व्याख्या करना कठिन है; उसका तो साक्षात्कार ही संभव है, किंतु जिन महापुरुषों ने राष्ट्रात्मा का पूर्ण साक्षात्कार किया, जिनके जीवन में चिति का प्रकाश उज्ज्वलतम रहा है, उनके जीवन की ओर देखने से, उनके जीवन की क्रियाओं और घटनाओं का विश्लेषण करने से हम अपनी चिति के स्वरूप की कुछ झलक पा सकते हैं। प्राचीन काल से लेकर

आज तक चली आने वाली राष्ट्रपुरुषों की परंपरा के भीतर छिपे हुए सूत्र को यदि हम ढूँढ़ें तो संभवतया चिति के व्यक्त परिणाम की मीमांसा से उसके अव्यक्त कारण की भी हमको अनुभूति हो सके। जिन महान् विभूतियों के नाम स्मरण मात्र से हम अपने जीवन में दुर्बलता के क्षणों में शक्ति का अनुभव करते हैं। कायरता की कृति का स्थान वीरव्रत ले लेता है, उनके जीवन में कौन सी बात है, जो हममें इतना सामर्थ्य भर देती है? कौन सी चीज है, जिसके लिए हम मर मिटने के लिए तैयार हो जाते हैं? हमारा मस्तक श्रद्धा से किसके सामने नत होता है और क्यों?

वह कौन सा लक्ष्य है, जिसके चारों ओर हमारा राष्ट्र-जीवन घूमता आया है? अपने राष्ट्र के किस तत्त्व को बचाने के लिए हमने बड़े-बड़े युद्ध किए? किसके लिए लाखों का बलिदान हुआ? उत्तर हो सकता है, भारत की भूमि के लिए। किंतु भारत से तात्पर्य क्या जड़ भूमि से है? क्या हमने हिमालय के पत्थर और गंगा के जल की रक्षा की है? हमारे अवतारों ने किस हेतु जन्म लिया था? उनको हम भगवान् का अवतार क्यों कहते हैं?

उपर्युक्त अनेक प्रकार के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का यदि हम उत्तर दें तो हमको अपनी चिति का पता चल सकता है। हमारे शास्त्रकारों ने इसको 'धर्म' के नाम से पुकारा है। आज धर्म शब्द के भ्रमपूर्ण अर्थ प्रचलित हो गए हैं। अंग्रेज़ी के रिलीजन का पर्यायवाची मानकर तथा रिलीजन और दीन के नाम पर यूरोप तथा अन्य देशों में जो-जो अमानुषिक अत्याचार हुए हैं, उनका संबंध इसके साथ बैठाकर, लोग धर्म शब्द से चिढ़ने लग गए हैं। वे धर्म को नष्ट करने पर तुले हुए हैं अथवा उनमें जो नरम दल के हैं, वे धर्म को केवल व्यक्तिगत जीवन तक सीमित चाहते हैं। राष्ट्र और समाज का धर्म से वे कोई संबंध नहीं मानते। जहाँ तक 'धर्म' से उनका तात्पर्य रिलीजन से है, वे सही हो सकते हैं। किंतु धर्म का अर्थ तो व्यापक है और इस व्यापक अर्थ के पीछे जो भाव हैं, वे ही भाव भारत की कोटि-कोटि जनता में धर्म शब्द को सुनकर उत्पन्न होते हैं। आज राम और कृष्ण हमारे धर्म के महापुरुष कहे जाते हैं। क्या वे किसी की व्यक्तिगत संपत्ति हैं? कौन सा राष्ट्रभक्त उनकी स्मृति को भारत से मिटा देना चाहेगा? रामायण और महाभारत हमारे धर्म ग्रंथ हैं। क्या वे हमारे लिए अपठनीय हैं? क्या उनमें आज के राष्ट्र जीवन को प्रेरणा देने वाला कुछ भी नहीं है? हमारा धर्म हमको गंगा को पवित्र मानना सिखाता है, हमारा धर्म हमको चारों धाम की यात्रा द्वारा भारतभूमि की परिक्रमा करने को कहता है। क्या यह राष्ट्र भक्ति की उज्ज्वलतम भावना ही नहीं है?

हमारा धर्म हमारे राष्ट्र की आत्मा है। बिना धर्म के राष्ट्र जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता। भारतीय राष्ट्र न तो हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए भू-खंड से बन सकता है और न तीस करोड़ मनुष्यों के झुंड से। एक ऐसा सूत्र चाहिए, जो तीस करोड़ को एक-दूसरे से बाँध सके, जो तीस कोटि को इस भूमि में बाँध सके। वह सूत्र हमारा

धर्म ही है। बिना धर्म के भारतीय जीवन का चैतन्य ही नष्ट हो जाएगा, उसकी प्रेरक शक्ति ही जाती रहेगी। अपनी धार्मिक विशेषता के कारण ही संसार के भिन्न-भिन्न जन समूहों में हम भी राष्ट्र के नाते खड़े हो सकते हैं। धर्म के पैमाने से ही हमने सबको नापा है। धर्म की कसौटी पर ही कसकर हमने खरे-खोटे की जाँच की है। हमने किसी को महापुरुष मानकर पूजा है तो इसलिए कि उनके जीवन में पग-पग पर हमको धार्मिकता दृष्टिगोचर होती है। राम हमारे आराध्य देव बनकर रहे हैं और रावण सदा से घृणा का पात्र बना है। क्यों? राम धर्म के रक्षक थे और रावण धर्म का विनाश करना चाहता था। युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों भाई-भाई थे, दोनों राज्य चाहते थे, एक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा है तो दूसरे के प्रति घृणा।

केवल धर्म के भाव अथवा अभाव के कारण ही एक स्थान पर एक को बुरा मानते हैं तो दूसरे स्थान पर उसी को अच्छा कहते हैं। इसी के लिए देशद्रोही विभीषण परम वैष्णव हुआ और सुई के बराबर भी भूमि न देने को तैयार दुर्योधन विष्णुद्रोही गिना गया। एक ओर राजभक्ति को हमने माना है तो धर्म के लिए ही ऋषियों ने वेण को राज्यच्युत किया था। धर्म के लिए ही श्रवणकुमार अपने माता-पिता को कंधे पर लिए-लिए घूमा, धर्म के लिए ही प्रह्लाद ने हिरण्यकशिपु का विरोध किया। राम ने एक पत्नी-व्रत का पालन करके धर्म की रक्षा की तो कृष्ण ने अनेक विवाह करके उसी धर्म को निभाया। अपने इतिहास में अनेक ऐसे श्रद्धास्पद उदाहरण मिलेंगे, जिनमें इस प्रकार का विरोधाभास होगा, उनकी निराकृति केवल धर्म के भाव से ही संभव है।

हम अपने जीवन में धर्म को महत्त्व देकर ही प्रत्येक कार्य करते हैं। हमारा उठना-बैठना, सोना और खाना-पीना सबके पीछे धर्म का भाव रहता है। इसलिए स्मृति ग्रंथों में उनके संबंध में नियम दिए गए हैं। स्मृति-ग्रंथों को सभी धर्म-ग्रंथ मानते हैं। हमारा साहित्य लोक-कल्याण की धार्मिक भावना से ही प्रेरणा लेता है, कवि अपनी रचना 'स्वान्तः सुखाय' करते हुए भी अंतःकरण में आत्मा के साक्षात्कार की अनुभूति में सुख लेता हुआ धार्मिक प्रवृत्ति की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है। क्या कोई कवि भारत में हुआ है, जिसके काव्य के एक-एक पद में राष्ट्रात्मा की पुकार हो और वह धार्मिक भावना से परिपूर्ण न हो। हमारे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर (सूरदास), ज्ञानदेव, समर्थ (रामदास), चैतन्य और नानक कवि थे, साथ ही ऋषि और संत भी थे। हमारे धर्म को अपने आचरण में लाने वाले आदर्श महापुरुष थे। इसीलिए उनके शब्द राष्ट्र के शब्द हो गए हैं; उनकी वाणी युग-युग में राष्ट्र जीवन का संचार करती आई है।

हमारे राजनीतिज्ञ और आचार्यों ने भी राजनीति पर धर्म का पुट चढ़ाया है। शुक्राचार्य और चाणक्य धर्मविहीन राजनीति के पोषक नहीं थे। धर्महीन राजनीति का कोई अर्थ ही नहीं है। हमारे सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ धर्म समझकर किए या राजनीति समझकर? राणा प्रताप का अकबर से युद्ध राजनीति के क्षेत्र में आता है या धर्म के क्षेत्र

में? शिवाजी और गुरु गोविंद सिंह राजनीतिक नेता हैं या धार्मिक? दयानंद और विवेकानंद के कार्य का भारत की राजनीति और राष्ट्र पर क्या कोई प्रभाव नहीं है? गांधीजी के भारतव्यापी प्रभाव के पीछे उनका महात्मापन, उनका धार्मिकपन है या राजनीति? स्वदेशी आंदोलन में फाँसी के तख्ते पर गीता की प्रति लेकर चढ़ने वाले क्रांतिकारी वीरों में धार्मिक प्रेरणा थी या राजनीतिक? हम देखते हैं कि दोनों को अलग नहीं कर सकते।

हमारी राजनीति हमारी धार्मिक वृत्ति का ही परिणाम है, अपनी धार्मिकता की रक्षा करने की एक साधन-मात्र है। यह धार्मिक प्रवृत्ति हमारे राज्य में इतनी व्यापक है कि उससे कोई क्षेत्र अछूता नहीं रहता। वर्णाश्रम व्यवस्था समाज की एक प्रणाली है किंतु हमने इसको धर्म की वेशभूषा से सुसज्जित किया है। विवाह एक जीवन और समाज की आवश्यकता है, हमने इसको धर्मकृत्य माना है। संतानोत्पत्ति हम धर्म समझकर करते हैं और संतान भी माता-पिता की सेवा धर्म समझकर ही करती है। मरने के बाद श्राद्ध क्रिया भी धर्म मानकर की जाती है। यद्यपि इन सब कार्यों की तह में समाज रचना, जाति की सनातन परंपरा तथा राष्ट्रत्व है।

हम नित्य बड़े-बूढ़ों की वंदना करते हैं, यह हमारा धर्म है। हम नित्य स्नान करते हैं, यह गाँव का कोई भी व्यक्ति बताएगा कि उसका धर्म है। इसलिए कर्मकांडी लोग बीमारी की अवस्था तक में स्नान करते हैं। बिना स्नान नहीं रह सकते। बिना स्नान के भोजन न करना धर्म ही है। कुएँ पर जूते ले जाना अधर्म है। भोजन को स्वच्छतापूर्वक बनाना धर्म है। अपने-अपने घर में तुलसी हम धर्म समझकर ही रखते हैं, वह मलेरिया नाशक है, यह समझकर नहीं। स्वच्छता और स्वास्थ्य के सभी नियम धर्म बन गए हैं। हमारा कृषक बीज बोता है, उसके पीछे धर्म भावना छिपी है। धर्म भावना के कारण ही, चाहे आज वह विकृत क्यों न हो गई हो, बहुत स्थानों पर ब्राह्मण हल को हाथ नहीं लगाता है। विद्यार्थी गुरु की सेवा करता है, गुरु विद्यार्थी को पुत्रवत् मानता है, इन दोनों के पीछे धर्म की भावना है। जितने ही उदाहरण हम लें, सबमें हमें यह दिखाई देगा कि हमारी धार्मिक प्रवृत्ति रही है। जीवन के प्रत्येक कृत्य को हमने धार्मिक रंग में रँगा है और धर्म से प्रेरणा लेकर ही हमने अपने जीवन की रचना की है।

भारत का राष्ट्र जीवन युग-युग में भिन्न-भिन्न स्वरूप में व्यक्त हुआ है, किंतु उसके मूल में उसकी धर्म भावना रही है और इसीलिए अनेक विद्वानों ने कहा भी है कि भारत धर्मप्राण देश है। आज अपनी इस आत्मा की प्रेरणा को अचेतन से चेतन के क्षेत्र में लाने पर ही राष्ट्र जीवन में जो विकृति दिखाई देती है, जो विक्षुब्ध, संघर्षमय, अनिश्चितता की अवस्था है, वह दूर की जा सकती है।

—राष्ट्रधर्म, अंक 6, कार्तिक पूर्णिमा, 2005 (नवंबर 16, 1948)

☐

17

स्वतंत्र भारत का प्रस्तावित विधान

नई दिल्ली में भारत की प्रथम विधान परिषद् भारतीय विधान की रूपरेखा निश्चित करने में संलग्न है। इस विधान परिषद् की पृष्ठभूमि में हमारी स्वतंत्रता का इतिहास होने के कारण, जहाँ एक ओर इसका महत्त्व बढ़ जाता है, वहीं विधान निर्माण के रचनात्मक कार्य की क्षमता भी सीमित हो जाती है। आज जो स्वरूप विधान परिषद् ने ग्रहण किया है, उसके पीछे बहुत सी विचारधाराएँ, उनका संघर्ष तथा उनकी विजय और पराजय अंतर्निहित है। अत: विधान परिषद् का ठीक मूल्यांकन करने एवं उनके द्वारा संभावित विधान का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए संक्षेप में इसकी भूमिका का आकलन आवश्यक होगा।

मूलभूत सिद्धांत का उद्गम

वैसे तो 'स्वतंत्रता' शब्द में ही यह भाव छिपा हुआ है कि वहाँ का 'तंत्र', (जिसमें सीमित अर्थ में राजतंत्र का ही विचार किया जाता है) 'स्व' द्वारा निर्माण किया गया हो; किंतु इस निहित भाव का स्पष्ट शब्दों में प्रकटीकरण सन् 1928 तक नहीं हुआ था। 1928 में नेहरू कमेटी[1] की रिपोर्ट के आधार पर कांग्रेस ने यह बताया कि भारतवर्ष में भी भारतीयों के द्वारा देश के शासन के लिए विधान बनाया जा सकता है, जो कि सभी वर्गों को मान्य हो। इस विधान के अनुसार यद्यपि भारतीय स्वशासन का अंतिम लक्ष्य

---

1. मोतीलाल नेहरू (1861-1931) की अध्यक्षता वाली कमेटी ने 14 अगस्त, 1928 को नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित की। 28 अगस्त, 1928 में लखनऊ के सर्वदलीय सम्मेलन में कुछ बदलाव के साथ इसे 22 दिसंबर, 1928 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन (मोतीलाल नेहरू इस अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए) में विचार करने के लिए प्रस्तुत किया गया। मोहम्मद अली जिन्ना (1876-1948) ने इसका विरोध किया। अंततोगत्वा कांग्रेस ने दिसंबर 1929 लाहौर अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया।

औपनिवेशिक पद ही रखा था, फिर भी यह विधान भारतीयों के द्वारा ही बनाया गया था। इसके बनाने में न तो अंग्रेज़ों का हाथ था और न पार्लियामेंट में इसके ऊपर किसी प्रकार की बहस हुई थी। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि नेहरू कमेटी की रिपोर्ट किसी भी रूप में कार्यरूप में परिणत नहीं हुई, क्योंकि अंग्रेज़ सरकार भारत को स्वतंत्र करने के लिए तैयार नहीं थी। कांग्रेस ने भी नेहरू रिपोर्ट से आगे बढ़कर 'पूर्ण स्वराज्य' भारत का ध्येय रखा तथा उस 'पूर्ण स्वराज्य' का स्वरूप निश्चित करने के लिए एक विधान निर्मात्री परिषद् की माँग की। तब से यद्यपि अनेकानेक अंग्रेज़ों के बनाए हुए विधान एवं प्रस्ताव भारत में कांग्रेस द्वारा भी कार्यान्वित हुए किंतु उसकी विधानपरिषद् की माँग बराबर बनी ही रही। कांग्रेस का कथन था कि वयस्क मताधिकार पर चुनी हुई विधानपरिषद् के अतिरिक्त और किसी को भारत का विधान बनाने का अधिकार नहीं है। अत: विधानपरिषद् का विचार हमारे स्वातंत्र्य संग्राम के मूलभूत सिद्धांत के रूप में हमारे सम्मुख आया।

सारे भारत का प्रतिनिधित्व नहीं

आज की विधानपरिषद् कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के अनुरूप बनाई गई थी।[2] इसका चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर न होकर धारा सभाओं के सदस्यों द्वारा हुआ था, जो सदस्य स्वयं भी एक सीमित मताधिकार के आधार पर चुने गए थे। अत: यह सत्य है कि आज की विधानपरिषद् किसी भी प्रकार से संपूर्ण भारतीय जनता की प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती। सीमित मताधिकार तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन ही इस प्रतिनिधित्व के अभाव का कारण नहीं है अपितु यह बात भी है कि धारा सभाओं का चुनाव जिन घोषणाओं के आधार पर लड़ा और जीता गया, उनमें 'विधान' का प्रश्न नहीं था। अत: 'विधान निर्माण' की आवश्यकता और योग्यता की दृष्टि से अथवा 'विधान-निर्मात्री परिषद्' के निर्वाचन का 'अधिकार' देने की दृष्टि से धारा सभा के सदस्यों को मतदान का अधिकार नहीं दिया गया। किंतु इस तात्त्विक कमजोरी के रहते हुए भी पिछले चुनावों, उस समय की भारत की राजनीतिक स्थिति तथा समाज की मनोदशा का विचार करते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यदि वयस्क मताधिकार के

2. द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन में नव-निर्वाचित लेबर पार्टी की सरकार ने सितंबर 1945 में घोषणा की कि वह भारत में संवैधानिक निकाय बनाए जाने पर विचार कर रही है। 19 फरवरी, 1946 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली (1883-1967) ने भारत में संवैधानिक संरचना संबंधी जरूरी ढाँचे के निर्माण के लिए एक मिशन के गठन की घोषणा की। ब्रिटिश सरकार ने अपने इस क़दम का पालन करते हुए तीन सदस्यों का कैबिनेट मिशन 24 मार्च, 1946 को भारत भेजा। 16 मई, 1946 को मिशन ने एक श्वेत-पत्र जारी किया, जिसमें उन्होंने भारत के संविधान सभा के गठन सुनिश्चित करने की बात रखी और 9 दिसंबर, 1946 को संविधान सभा की पहली बैठक हुई।

आधार पर भी चुनाव होते तो आज की विधान निर्मात्री परिषद् से अधिक भिन्न परिषद् न बनती। गणनात्मक दृष्टि से उसका प्रतिनिधित्व चाहे बढ़ जाता किंतु गुणात्मक प्रतिनिधित्व अवश्य ही कम हो जाता, क्योंकि अनेक विद्वान् एवं दूसरे पक्ष के जिन लोगों को, कांग्रेस ने 'विधानपरिषद्' का सर्वदलीय प्रतिनिधित्व दिखाने के लिए चुनवा लिया है, वे संभवतया सब स्थान न प्राप्त कर पाते।

फिर भी आज विधानपरिषद् में कांग्रेस का कार्यक्षम ही नहीं अपितु इतना बहुमत है कि वह अपने विचारों के अतिरिक्त शेष सब विचारधाराओं की अवहेलना कर सकती है, और बहुत कुछ ऐसा हुआ भी है।[3]

कांग्रेस विसर्जित हो

फलतः इस बात की आशंका है कि विधान भारत के लिए न बनकर कांग्रेस के लिए बने तथा अपनी स्थिति एवं भविष्य में पदारूढ़ रहने की इच्छा और संभावना के अनुसार ही विधान की धाराओं का निर्माण हो। यह आशंका तभी निर्मूल हो सकती है जबकि विधान बनने के पश्चात् कांग्रेस अपने आपको विसर्जित कर दे तथा भारत में नवीन राजनीतिक दल इस विधान का कार्यान्वन करें। ऐसी दशा में विधान के निर्माण में कांग्रेस का कोई दलगत बोध नहीं रहेगा अपितु निस्स्वार्थ रूप से देश-हित का विचार करके विधान बनाया जा सकेगा। आज कांग्रेस ने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वालों का प्रतिनिधित्व किया था, अतः स्वतंत्रता प्राप्त करने एवं भारत का विधान बनाने के पश्चात् उसका कार्य स्वाभाविकतया समाप्त हो जाता है। चाणक्य और वाशिंगटन के समान उसका भी संन्यास ले लेना देश के लिए हितावह ही होगा।

विरोधाभास

जिस समय विधानपरिषद् का निर्माण हुआ था, उस समय वह सार्वभौम सत्ता नहीं थी, क्योंकि उसकी गतिविधि का नियंत्रण 'कैबिनेट-मिशन' ने अपने प्रस्तावों के द्वारा कर दिया था। किंतु इस बीच में जो घटनाएँ घटीं, जिनके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ तथा 15 अगस्त, 1947 को भारतीय स्वातंत्र्य बिल के अनुसार अंग्रेज़ भारत छोड़ गए, जिनके कारण आज विधानपरिषद् को सार्वभौम सत्ता प्राप्त हो गई है। यह सार्वभौमत्व चाहे प्रत्यक्ष रूप से घटनाचक्र एवं अंग्रेज़ों की कृपा से प्राप्त हुआ हो किंतु अप्रत्यक्ष रूप से लोकतंत्रीय शासन के पुरस्कर्ता होने के नाते तथा जनता के

---

3. संविधान सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए मतदान जुलाई 1946 में हुआ। ब्रिटिश भारत में 296 सीटें मतदान के लिए आवंटित की गईं। कांग्रेस को 212 सीटें मिली, वहीं मुसलिम लीग को मुसलिम क्षेत्रों के लिए आवंटित 78 सीटों में से 73 सीटें मिली।

प्रतिनिधित्व की इच्छा और दावा करने के कारण जनता से ही प्राप्त हुआ माना जाना चाहिए। किंतु विधानपरिषद् के संगठन में इस दृश्य से विरोधाभास प्रतीत होता है।

परिषद् अधूरी है

आज भी परिषद् में यहाँ एक ओर निर्वाचित सदस्य हैं तो दूसरी ओर देशी रजवाड़ों के मनोनीत सदस्य भी उपस्थित हैं। इतना ही नहीं तो भारत के अंगभूत कई संस्थाओं के वहाँ किसी भी प्रकार के प्रतिनिधि नहीं हैं। यद्यपि कश्मीर, हैदराबाद, भोपाल, पटियाला और पंजाब स्टेट्स भारत संघ में सम्मिलित हो गए हैं,[4] किंतु उनकी ओर से कोई भी प्रतिनिधि विधानपरिषद् में भाग नहीं ले रहा है। यह आवश्यक है कि इन प्रदेशों के प्रतिनिधि परिषद् में उपस्थित हों तथा विधानपरिषद् के अध्यक्ष का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इसका प्रबंध करे।

इसमें भी आश्चर्य की बात तो यह है कि भारत में एक सार्वभौम सत्ता प्राप्त विधानपरिषद् के होते हुए हैदराबाद और कश्मीर के लिए अलग विधानपरिषद् के वचन दे दिए गए हैं, जबकि सरकार की ओर से इस प्रकार का अधिवचन दिया जाना विधानपरिषद् के अधिकार क्षेत्र में अनुचित रूप से प्रवेश करना है। हमारी विधानपरिषद् संपूर्ण भारत के लिए् विधान बनाने के लिए संयोजित हुई है। अत: भारत का अंग बनने वाले प्रदेश का विधान बनाने का अधिकार उसी का है। यदि वह इस अधिकार को किसी समिति विशेष को देना चाहे तो दे सकती है। किंतु वह भी नहीं कर सकती है, दूसरा कोई नहीं, आज हमारी सेनाएँ कश्मीर में लड़ रही हैं, क्योंकि वह हमारी भूमि है; वे हैदराबाद में अपनी व्यवस्था कर रही हैं, क्योंकि हैदराबाद भारत का ही अंग है, तो फिर वहाँ की जनता को भारतीय स्वातंत्र्य का उपभोग करने तथा भारत का स्वरूप-निर्णय करने वाले विधान निर्माण करने के अधिकार से क्यों वंचित रखा जाता है?

जिस प्रकार भारत का विभाजन बिना विधानपरिषद् की सलाह के करा लिया गया तथा बाद में कांग्रेस दल का बहुमत होने के कारण वैधानिक आपत्ति मात्र से काम चल गया, उसी प्रकार विधानपरिषद् के सिर के ऊपर ये भी कुछ निर्णय दे दिए गए हैं।

आज की परिस्थिति

विधानपरिषद् के संगठन का विचार करने के पश्चात् आज की परिस्थिति का भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि इन दोनों की छाप निश्चित रूप से प्रस्तावित विधान

---

4. राज्यों का भारत में विलय—जम्मू और कश्मीर का भारत में विलय 26 अक्तूबर, 1947 को हुआ। 16 जून, 1949 को संविधान सभा में इस राज्य से चार सदस्य—शेख मोहम्मद अब्दुल्ला, मोतीराम बागड़ा, मिर्जा मोहम्मद अफजल बेग और मौलाना मोहम्मद सईद मसूदी शामिल हुए।

पर दिखाई देती है। आज भारत एक संकट और परिवर्तन की स्थिति से गुजर रहा है। अनेक शताब्दियों की दासता ने हमारे राष्ट्र जीवन को खोखला एवं राष्ट्रीय चरित्र को नष्ट कर दिया था; आज एकाएक इस जीवन को स्वस्थ एवं सफल बनाने का भार हमारे ऊपर आ पड़ा है। अंग्रेज़ जाते-जाते भी अपने राजनीतिक दाँव-पेंच से भारत को छिन्न-विछिन्न कर गए। विभाजन के साथ ही साथ देशी रियासतों, सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा प्रांतीय स्वशासन के नाम पर प्रांतीयता की समस्या हम लोगों के लिए खड़ी कर गए हैं। विघटनकारी शक्तियाँ, पंचमांगियों का बाहुल्य तथा दलगत स्वार्थों की वृद्धि राष्ट्र जीवन के लिए सतत संकट बनी हुई है। हमारा आर्थिक ढाँचा निर्बल है तथा सीसा कमीशन के निर्णय एवं विभाजन के फलस्वरूप सतत युद्ध की आशंका ही नहीं, यह तो स्थिति है। ऐसी अवस्था में संकटकालीन नियमों की आवश्यकता स्वाभाविक है। किंतु बढ़े हुए स्वार्थ, पदलिप्सा तथा दलगत स्वार्थों ने उन नियमों का और भी नग्न स्वरूप हमारे समक्ष रख दिया है। इस परिस्थति के परिणाम ही हम देखते हैं प्रस्तावित विधान में।

स्वतंत्र लोकतंत्रीय सत्ता *Independent sovereign republic* का आदर्श तथा विधानपरिषद् द्वारा उद्देश्य घोषित होने के पश्चात् भी *Democratic sovereign republic* कर दिया गया है, ताकि भारतवर्ष ब्रिटिश राष्ट्रसमूह के अंतर्गत रह सके।

एकात्मता पर आघात

प्रांतों तथा देशी राज्यों का एक ही नाम 'राज्य' देकर हिंदुस्तान को राज्यों का संघ घोषित किया है। इस प्रकार देशी 'राज्य' को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, किंतु इसमें भारत की एकात्मता पर भीषण कुठाराघात है, क्योंकि अनेक प्रांत एवं राज्य कहे जाने वाले संस्थान स्वाधीन नहीं हैं, वे तो भारत के ही अंग हैं।

आज तक के वातावरण तथा अंग्रेज़ों के संपर्क के कारण ही पार्लियामेंटरी पद्धति को स्वीकार किया गया है। परिणामतः डॉ. अंबेडकर के ही शब्दों में, ''स्थायित्व के स्थान पर उत्तरदायित्व को अधिक मान्यता दी गई है,'' जबकि किसी भी देश की उन्नति तथा भारत की स्थिति को देखते हुए स्थायित्व की अत्यधिक आवश्यकता है।

एकात्मक विधान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी 'प्रांतीय स्वशासन' का प्रभाव विधान के 'संघीय' स्वरूप पर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। एकात्मक तथा संघीय दोनों ही भावनाओं का सामंजस्य करने की इच्छा के कारण ऐसे विषय बहुत अधिक हो गए हैं, जिनमें केंद्र और प्रांतों को नियम बनाने के समान अधिकार हैं। फलतः द्विधा-शासन होगा, जो कि व्यवहार में काफी अड़चन उपस्थित करेगा।

अंग्रेज़ों के प्रत्येक विधान के अनुसार अल्पमतों को संरक्षण देकर अल्पमत की समस्या को भी बनाए रखा गया है। प्रस्तावित विधान के ऊपर संविधान परिषद् में जो

बहस हुई है, उसमें अधिकांश सदस्यों ने इस धारा की आलोचना की है।

इतना ही नहीं, ऐंग्लो-इंडियन के अधिकारों की तो विशेष रूप से चिंता की गई है। इनकी शिक्षण संस्थाओं को मिलने वाली सहायता तथा सरकारी नौकरियों में उनका आनुपातिक आधिक्य अगले 10 वर्षों तक उसी प्रकार बनाए रखा गया है। यह विशेष रियायत की गई है।

मूलभूत अधिकारों का वर्णन तो किया गया है, किंतु अपवादों के द्वारा उनको व्यवहार में अर्थहीन कर दिया गया है। अंतरिम सरकार तथा उसके पूर्व युद्धकालीन अंग्रेज़ सरकार ने जिन विशेषाधिकारों का उपयोग किया है, उन्हें मानो छोड़ना कठिन प्रतीत होता है। श्री के.टी. शाह[5] के शब्दों में विधान मालूम होता है, संकटकालीन स्थिति के लिए ही बनाया जा रहा है, जबकि सामान्य जीवन को ही ध्यान में रखकर विधान बनाना चाहिए था।

राज्य के लिए आदेशों *Directive principles* को भी विधान में स्थान दिया गया है। यह तो किसी चुनाव का घोषणा-पत्र ही प्रतीत होता है। इन सिद्धांतों को विधान में स्थान देने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता, विशेषकर जबकि उनका कोई कानूनी महत्त्व नहीं है।

नागरिकता यद्यपि एक ही रखी है, किंतु उसका अधिकार इतना सरल रखा है कि उसके अनुसार भारतवर्ष का धर्मशाला से अधिक मान नहीं रह जाता। विधान में उपर्युक्त दोनों के अतिरिक्त कुछ मूलभूत अभाव भी है। श्री कामथ[6] के शब्दों में विधान में अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, इंग्लैंड आदि सब देशों से उधार लिया गया है, किंतु भारत का कुछ भी नहीं है। वास्तव में तो स्वतंत्र भारत का विधान भारतीय परंपरा के अनुकूल ही होना चाहिए था। अपनी संस्कृति एवं विशेषताओं की अभिव्यक्ति जिस विधान के द्वारा हो तथा जो उस वातावरण को उत्पन्न करने में सहायक हो, जिसमें हम अपनी संस्कृति, साहित्य एवं परंपराओं का विकास कर सकें, वही विधान देश के लिए हितावह होगा तथा स्थायी भी होगा।

---

5. के.टी. शाह (1888-1953) संविधान सभा के बिहार प्रांत से सदस्य (1946-1950) थे। इन्होंने भारत के पहले राष्ट्रपति का चुनाव (1952) लड़ा और डॉ. राजेंद्र प्रसाद से हार गए।
6. हरी विष्णु कामथ (1907-1982) संविधान सभा के मध्य प्रांत एवं बेरार से सदस्य (1946-1950) थे। वे अस्थायी संसद् के भी संदस्य (1950-1952) रहे। कामथ लोकसभा के तीन बार सदस्य रहे : (I) पहली लोकसभा—1952-1957 में 1955 के उपचुनाव में होशंगाबाद से (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी); (II) तीसरी लोकसभा—1962-1967 होशंगाबाद से (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी); और (III) छठी लोकसभा—1977-1979 में होशंगाबाद (जनता पार्टी)।

भारतीयता का अभाव

विधानपरिषद् अथवा उसके द्वारा स्वीकृत विधान एवं नियमों में स्वत: कोई शक्ति नहीं होती, वह शक्ति तो उस देश की जनता से प्राप्त होती है। जिनका मूल जनगण की भावनाओं, आकांक्षाओं, मनोरचना, परंपरा एवं इतिहास में रहता है। इसी कारण इंग्लैंड का विधान अलिखित होते हुए भी स्थायी है। अत: अनुकरण के आधार पर बने हुए विधान में स्वतंत्रता की भावना संभव नहीं है। वह अपने ही बंधुओं द्वारा स्वीकृत होने पर भी जनसाधारण को भारस्वरूप अत: त्याज्य प्रतीत होगा, क्योंकि वह उसकी अंतरात्मा से मेल नहीं खाएगा। भारतीयत्व हमारे प्रत्येक कार्य की अंतरात्मा होना चाहिए, जिसका कि प्रस्तावित विधान में सर्वथा अभाव है।

हमारे इस कथन का यह तो तात्पर्य नहीं है कि विधान निर्माण में अन्य देशों ने जो प्रयोग किए हैं, उनसे हम लाभ न उठाएँ किंतु उन प्रयोगों और विचारों को अपने देश की स्थिति तथा परंपरा की पृष्ठभूमि में रखकर अपने राष्ट्र जीवन द्वारा आत्मसात् कर लेने पर ही प्रयोग में लाना चाहिए, अन्यथा शरीर में प्रविष्ट विजातीय द्रव्य जैसे रोग के कारण होते हैं, वैसे ही राष्ट्र शरीर में प्रविष्ट विदेशी विचारधाराएँ तथा पद्धतियाँ पतन का कारण होंगी।

ग्राम पंचायतों की अवहेलना

भारतीय परंपरा तथा आदर्शों का ध्यान न रखते हुए ही हमारी सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की इकाई ग्राम पंचायतों को बिल्कुल भुला दिया गया है। फलत: प्रस्तावित जनतंत्र में गुणात्मक प्रतिनिधित्व का अभाव है। व्यक्ति को इकाई मानकर सामूहिक दायित्व, सहकारिता तथा बड़े हित के लिए छोटे के समर्पण का जो भाव निर्माण होता है, वह नहीं हो सकेगा। सच्चे प्रजातंत्र तथा राष्ट्र के लिए जहाँ शक्तिशाली केंद्र की आवश्यकता रहती है, वहाँ विकेंद्रीकरण भी आवश्यक है, जिससे कि राज्य में एकाधिपत्य एवं निरंकुशता का जन्म न हो। प्रस्तावित विधान में एक ओर तो केंद्र को जितना शक्तिशाली होना चाहिए, उतना नहीं रखा गया है। स्वयं डॉ. अंबेडकर (डॉ. भीमराव अंबेडकर) ने इन बातों को स्वीकार किया है। इसकी और शक्ति का विकेंद्रीकरण प्रांतों तक, जो कि एक अप्राकृतिक इकाई है, सीमित रखा है। इसके फलस्वरूप प्रांतीयता की एवं विघटन की शक्तियाँ प्रबल हो रही हैं तथा होंगी। आज की सीमाओं का निर्धारण कभी प्राकृतिक रूप से नहीं हो सकता। भाषानुसार प्रांत रचना करने से भी दो भाषाओं का संसर्ग क्षेत्र सदा ही विवाद एवं संघर्ष का कारण बना रहेगा, अत: प्रांतों तक शक्ति का विकेंद्रीकरण लाभ के स्थान पर हानि ही करेगा। ग्राम पंचायतों को आधार मानने से न तो निरंकुशता का भय रहेगा, न प्रांतीयता का और न

व्यक्तिगत अहंकार की बुद्धि का। व्यक्ति को मतदान की प्रथम एवं अंतिम इकाई मानने के कारण जिस तत्त्व-ज्ञान का प्रतिपादन होगा, वह व्यक्तिपरक होगा, उपभोग प्रधान होगा तथा अधिकार लिप्सा को जाग्रत् करेगा। हमारे समष्टि जीवन, त्याग और कर्तव्य प्रधान जीवन के आदर्श समाप्त हो जाएँगे।

भारत का विधान एकात्मक हो, संघात्मक नहीं

भारत का विधान, जैसा कि कहा जा चुका है, एकात्मक होना चाहिए, संघात्मक नहीं। संपूर्ण भारत की एक आत्मा है; हमारा देश एक है, जिसकी सभ्यता, संस्कृति, परंपरा तथा इतिहास एक है। प्रत्येक प्रांत की अलग संस्कृति मानकर उसकी स्वतंत्र सत्ता मानना एक हानिकारक प्रारंभ होगा, जिससे कि देश की पूर्व खंडित सत्ता और भी खंड-खंड हो जाएगी।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखना होगा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू के अनुसार विधान लचीला है, जिससे कि परिवर्तित परिस्थिति के अनुरूप वह उपयोगी सिद्ध हो सके। आज की विधानपरिषद् के संगठन, उसकी दलगत अवस्था, उसकी मानसिक दशा, पिछली राजनीतिक अवस्था का मन पर स्वाभाविक परिणाम तथा हमारी शिक्षा-दीक्षा और उसका प्रभाव इन सब सीमाओं का ध्यान रखते हुए इस लचीलेपन को और भी अधिक आवश्यकता हो जाती है, किंतु साथ ही यह ऐसा भी न हो कि जो भी राजनीतिक दल सत्तागत हो, वही अपनी इच्छानुसार अपने हित के लिए विधान का संशोधन कर ले, आज का सत्तागत राजनीतिक दल यह न करे, इसके लिए विधान परिषद् के कार्य के अनंतर जैसा कि पहले बताया है, उसका विसर्जन आवश्यक है।

प्रस्तावित विधान में यद्यपि हिंदी को राष्ट्र भाषा माना है किंतु विधानपरिषद् ने इस प्रश्न को अभी टाल दिया है। सच में तो इस प्रश्न का निर्णय भी पहले ही होना चाहिए था, क्योंकि भाषा केवल विचारों का माध्यम ही नहीं, कई अंशों में उनकी जननी भी है तथा प्रभाव तो निश्चित ही करती है। हिंदी में स्वीकृत विधान निश्चित रूप से भारतीय आत्मा की अभिव्यक्ति करेगा, जबकि अंग्रेज़ी के विधान पर पश्चिम की छाप होना स्वाभाविक है। यह संसार के इतिहास में पहला अवसर है, जबकि एक स्वतंत्र देश का विधान विदेशियों की उस भाषा में बन रहा है, जो कि परतंत्रता का प्रतीक और बौद्धिक एवं सांस्कृतिक दासता का साधन रही है।

राष्ट्रभाषा के साथ-साथ राष्ट्रगीत का भी प्रश्न अभी पड़ा ही हुआ है। सत्य तो यह है कि राष्ट्र ध्वज, राष्ट्र भाषा तथा राष्ट्रगीत आदि के प्रश्न या तो विद्वानों की एक समिति के द्वारा निर्णीत होने चाहिए अथवा संपूर्ण देश का जनमत लेकर होने चाहिए। इन मूलभूत प्रश्नों पर किसी भी दल विशेष को मत देने का न तो अधिकार है और न

राष्ट्र के मान-सम्मान, उसके प्रति श्रद्धा तथा इन सबके परिणामस्वरूप उसकी शक्ति के लिए हितावह ही है।

प्रस्तावित विधान एक-एक धारा के अनुसार स्वीकृत होने जा रहा है। विधान-परिषद् के सदस्य एक पवित्र उत्तरदायित्व लेकर बैठे हैं। आज जो कुछ निर्माण करेंगे, उसके लिए वे भावी संतान के प्रति उत्तरदायी होंगे। अत: विधान स्वीकृत करते समय उन्हें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि

1. भारत की आत्मा का हनन न होने दें।
2. परानुकरण में बौद्धिक दासता के फंदे में न फँस जाएँ।
3. मानवीय अधिकारों तथा स्वातंत्र्य चतुष्ट्य को सुरक्षित रखें। भारतीय जनता के लिए सर्वतोभांवी विकास के मार्ग खुले रखें।
4. भारत को सर्वरूपेण शक्तिशाली बना दें।
5. विघटन की शक्तियों का विनाश करके भारतीय एकता की प्रतिष्ठापना करें।

—पाञ्चजन्य, मार्गशीर्ष कृष्ण 2, 2005 (नवंबर 18, 1948)

□

18

जीवन का ध्येय

विश्व का प्रत्येक प्राणी सतत इस बात का प्रयत्न करता रहता है कि उसका अस्तित्व बना रहे, वह जीवित रहे। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए वह दूसरे अनेक प्राणियों को अस्तित्वहीन करने का प्रयत्न करता रहता है तथा स्वयं उसको अस्तित्वहीन करने वाली शक्तियों से निरंतर अपनी रक्षा करता रहता है। विनाश और रक्षा के इन प्रयत्नों की समष्टि का ही नाम जीवन है। इन प्रयत्नों की भिन्नता ही भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवनों का कारण है तथा इनकी सफलता या असफलता ही विभिन्न प्राणियों के विकास या विकार का मापदंड है। मानव भी इस नियम का अपवाद नहीं है। आदिमानव की सृष्टि और तब से अब तक का इतिहास इन प्रयत्नों का ही इतिहास है। किंतु मनुष्य विश्व के प्राणियों से अधिक विकसित है। उसका अस्तित्व केवल प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही निर्भर नहीं करता किंतु उसके जीवन में भौतिकता के साथ-साथ आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का भी समावेश होता है। मनुष्य के जीवन का ध्येय श्वासोच्छ्वास तथा श्वासोच्छ्वास की क्रिया को बनाए रखना ही नहीं है, किंतु इससे भिन्न है। वह तो श्वासोच्छ्वास मात्र जीवन का साधन मानता है, साध्य नहीं। उसका साध्य तो उपनिषदों के शब्दों में है :

'आत्मा वा रे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निर्दिध्यासितव्यः।'

वह आत्मा की अनुभूति करना चाहता है, उसे समझना चाहता है; अपनी संपूर्ण क्रियाओं को उस अनुभूति के प्रति लगाता है।

हमारी प्रेरक शक्ति

यह आत्मा क्या है, जिसके लिए मानव इतना तड़पता है? इस संबंध में अनेक मतभेद हैं और इन्हीं मतभेदों के कारण विश्व में अनेक संप्रदायों की सृष्टि हुई है।

अनेक मनीषियों ने इस आत्मा को विश्व का आदि कारण, उसका कर्ता, धर्ता एवं हर्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी परब्रह्म परमेश्वर को ही माना है। उनका कथन है कि वही एकमेव शक्ति है। जो संपूर्ण विश्व को चला रही है तथा प्रत्येक प्राणी उस ओर ही बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है, वह उसी में मिल जाना चाहता है और इसलिए मानव का प्रयत्न उस परब्रह्म का साक्षात्कार ही है। उस परब्रह्म में ही पूर्णता होने के कारण 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' की पूर्णाभिव्यक्ति होने के क़ारण ही मनुष्य इन गुणों की ओर आकर्षित होता है तथा जीवन के हर क्षेत्र में इन गुणों की आंशिक अनुभूति करता हुआ पूर्ण साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहता है।

कुछ विद्वान् इस अदृश्य शक्ति में विश्वास न करते हुए केवल हृदय जगत् में ही विश्वास रखते हैं तथा उसमें भी मानव के विकास को (उसके सुख-साधन संपन्न जीवन को) ही परम लक्ष्य मानकर सुख की प्राप्ति के प्रयत्नों को ही मानव जीवन का एकमेव कर्तव्य समझते हैं। उनके विचारों में ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है अपितु यदि गहराई से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि मानव को एकता की अनुभूति तथा उसको सुखमय बनाने की इच्छा की प्रेरक शक्ति निश्चित ही दृश्य सृष्टि से भिन्न कोई सूक्ष्म तत्त्व है, जो इस दृश्य जगत् को परिव्याप्त किए हुए प्रत्येक प्राणी के अंत:करण में संपूर्णता को, एकात्मता की भावना उत्पन्न करती है। उस शक्ति को आप चाहे जो नाम दें किंतु यह निश्चित है कि उसकी ओर प्रत्येक मानव अग्रसर है तथा मानवता के कल्याण की भावना किसी स्वार्थ का परिणाम नहीं किंतु आत्मानुभूति की इच्छा का परिणाम है। अज्ञानवश मानव आत्मा के स्वरूप को संकुचित करने का प्रयत्न करता है किंतु सत्य का ज्ञान सतत अज्ञान पटल को भेदने के लिए प्रयत्नशील होता है।

अपनी प्रतिभा का विकास

संपूर्ण सृष्टि को एकात्मता के साक्षात्कार का ध्येय सम्मुख रखते हुए भी मानव अपनी प्रकृति के अनुसार ही उसकी ओर अग्रसर होता है। उसी प्रकार संसार के भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाला मानव भी संपूर्ण मानव की आंतरिक एकता की भावना रखते हुए तथा उसकी पूर्णानुभूति की इच्छा रखते हुए भी प्रकृति के साधनों एवं उनको अपने नियंत्रण में करके आगे बढ़ने के प्रयत्नों में अपनी एक विशिष्ट दिशा निश्चित कर लेता है, उसकी कुछ विशेषताएँ हो जाती हैं, उसकी अपनी निजी प्रतिभा का विकास हो जाता है। यद्यपि संपूर्ण पृथ्वी एक है, किंतु उसके ऊपर स्थित पर्वत, सागर, वन, उसके भिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की जलवायु और वनस्पति अपना प्रभाव उस प्रदेश के मानव पर डाले बिना नहीं रहते तथा उस विशिष्ट भू भाग के मनुष्य पूर्णानुभूति के प्रयत्नों में अपना विकास निश्चित दिशा में करते हैं। उनका अपना एक निजी स्वत्व हो जाता है, जो कि

उसी प्रकार की दूसरी इकाइयों से उसी प्रकार भिन्न होता है, जैसे कि एक ही सेना के विभिन्न अंग। आधुनिक युद्ध में जल, थल और वायु सेना जिस प्रकार अपनी-अपनी पद्धति से एक ही युद्ध को जीतने का प्रयत्न करती हैं, उसी प्रकार संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक ही मानवता की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। जल, थल और वायु सेना में कार्य करने में सैनिकों को अपनी विशेष प्रतिभा का विकास होता है तथा वे अपनी निजी पद्धति से शत्रु को पराजित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। तीनों सेनाओं में सामंजस्य रहना तो अच्छा है किंतु यदि किसी सेना के सैनिक अपनी पद्धति को ही सत्य मानकर दूसरी सेना के सैनिकों पर प्रभाव जमाने का प्रयत्न करें अथवा उसकी प्रतिभा को नष्ट करना चाहें तो उनका यह प्रयत्न अंतिम ध्येय की पूर्ति में बाधक होगा तथा आक्रमित सेना के सैनिकों का कर्तव्य होगा कि वे आक्रमणकारी सैनिकों से ही प्रथम युद्ध करके उनकी बुद्धि को ठिकाने पर ला दें। इसी प्रकार यदि किसी सेना के विशेष प्रभाव को देखकर अथवा किसी विशेष क्षेत्र में उनकी विजयों को देखकर अथवा आक्रमणकारी सेना की सामर्थ्य का अनुभव करते हुए कोई सेना अपनी पद्धति, अपने प्रयत्न तथा अपनी प्रतिभा को तिलांजलि देकर उस दूसरी सेना की विशेषताओं को और उसमें भी विशेषकर उसके बाह्य स्वरूप को अपनाने का प्रयत्न करती है तो वह तो स्वत: नष्ट हो ही जाएगी अपितु मानव की अंतिम विजय में भी अपना दायित्व नहीं निभा पाएगी।

आक्रमण वृत्ति

विश्व के अनेक राष्ट्रों का इतिहास उपर्युक्त उदाहरण की भावनाएँ ही परिलक्षित करता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशिष्ट पद्धति को सत्य समझने लगता है तथा अपने को ही एकमेव प्रतिभावान मानकर दूसरे राष्ट्रों पर अपनी पद्धतियों को लादने का प्रयत्न करता है। यदि यह प्रयत्न शांतिमय होता तो भी कुछ बात नहीं किंतु वह ज़बरदस्ती अपने सत्य को दूसरों के गले उतारना चाहता है। मानव के सुख और वैभव को भी वह अपने राष्ट्र के सुख और वैभव तक ही सीमित करके दूसरे राष्ट्रों के सुख और शांति को नष्ट करता है; उसके प्राकृतिक विकास में बाधा डालता है। फलत: एक राष्ट्र दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसे ग़ुलाम बना लेता है।

परतंत्र राष्ट्र का जीवन प्रवाह रुद्ध हो जाता है। उसके घटक किसी-न-किसी प्रकार श्वासोच्छ्वास तो करते रहते हैं किंतु वे अपने जीवन में सुख और शांति का अनुभव नहीं कर पाते। भौतिक दृष्टि से सुखोपभोग करने वाले व्यक्ति भी परतंत्रता का ताप़ अनुभव करते रहते हैं, क्योंकि उनका आत्मसम्मान नष्ट हो जाता है, उनकी भावनाओं पर ठेस पहुँचती है तथा उनकी प्रतिभा कुंठित होने लगती है, उनकी आत्मानुभूति का मार्ग बंद हो जाता है। युग-युगों से उनकी प्रतिभा ने प्रस्फुटित होकर

जिन विशेष वस्तुओं का निर्माण किया होता है, उसकी अवमानना होने लगती है तथा उनके विनाश का पथ प्रशस्त हो जाता है। उस राष्ट्र की भाषा, संस्कृति, साहित्य और परंपरा नष्ट होने लगती है, उसके महापुरुषों के प्रति अश्रद्धा निर्माण की जाती है तथा उसके नैतिक मापदंडों को निम्नतर ठहराया जाता है। उसके जीवन की पद्धतियाँ विदेशी पद्धतियों से आक्रांत हो जाती हैं तथा विदेशी आदर्श उसके अपने आदर्शों का स्थान ले लेते हैं। फलत: उस राष्ट्र के व्यक्तियों की दशा विक्षिप्त व्यक्ति के समान हो जाती है; अपनी प्रकृति, स्वभाव और प्रतिभा के अनुसार कार्य करने की सुविधा न रहने के कारण वे प्रगति के पथ पर अग्रसर होने से ही वंचित नहीं रह जाते अपितु पतन की ओर भी अग्रसर हो जाते हैं।

हमारी स्वतंत्रता

ऐसी दशा में उस राष्ट्र के घटकों का प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि विजेता राष्ट्र के प्रभुत्व को नष्ट करके अपने राष्ट्र को स्वतंत्र किया जाए। उस राष्ट्र की संपूर्ण शक्ति विदेशी राष्ट्र के प्रति विद्रोह की भावना लेकर खड़ी हो जाती है और अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अवसर प्राप्त होने पर स्वतंत्रता को प्राप्त करती है। विश्व के इस नियम के अनुसार भारतवर्ष ने भी अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा किया और अंत में एक राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ही ली।

15 अगस्त, 1947 को हमने एक मोर्चा जीत लिया। हमारे देश से अंग्रेज़ी राज्य विदा हो गया। उस राज्य के कारण हमारी प्रतिभा के विकास में जो बाधाएँ उपस्थित की जा रही थीं, उनका कारण हट गया, अतत: हम अपना विकास करने के लिए स्वतंत्र हो गए। अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खुल गया। किंतु अभी भी मानव की प्रगति में हमको सहायता करनी है। मानव द्वारा छेड़े गए युद्ध में जिन-जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हमने अब तक किया है, जिनके चलाने में हम निपुण हैं तथा जिन पर पिछली सहस्राब्दियों में जंग लग गई थी, उन्हें पुन: तीक्ष्ण करना है तथा अपने युद्ध कौशल का परिचय देकर मानव को विजयी बनाना है।

आज यदि हमारे मन में उन पद्धतियों के विषय में ही मोह पैदा हो जाए, जिनके पुरस्कर्ताओं से हम अब तक लड़ते रहे हैं, तो यही कहना होगा कि हम न तो स्वतंत्रता का सच्चा स्वरूप समझ पाए हैं और न अपने जीवन के ध्येय को ही पहचान पाए हैं। हमारी आत्मा ने अंग्रेज़ी राज्य के प्रति विद्रोह केवल इसलिए नहीं किया कि दिल्ली में बैठकर राज्य करने वाला एक अंग्रेज़ था, अपितु इसलिए भी कि हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में, हमारे जीवन की गति में, विदेशी पद्धतियाँ और रीति-रिवाज विदेशी दृष्टिकोण और आदर्श अडंगा लगा रहे थे, हमारे संपूर्ण वातावरण को दूषित कर रहे थे,

हमारे लिए साँस लेना भी दूभर हो गया था। आज यदि दिल्ली का शासनकर्ता अंग्रेज़ के स्थान पर हममें से ही एक, हमारे ही रक्त और मांस का एक अंश हो गया है तो हमको इसका हर्ष है, संतोष है; किंतु हम चाहते हैं कि उनकी भावनाएँ और कामनाएँ भी हमारी भावनाएँ और कामनाएँ हों। जिस देश की मिट्टी से उसका शरीर बना है, उसके प्रत्येक रजकण का इतिहास उसके शरीर के कण-कण से प्रतिध्वनित होना चाहिए; तीस कोटि के हृदयों की समष्टिगत भावनाओं से उसका हृदय उद्वेलित होना चाहिए तथा उनके जीवन के विकास के अनुकूल, उनकी प्रकृति और स्वभाव अनुसार तथा उनकी भावनाओं और कामनाओं के अनुरूप पद्धतियों की सृष्टि उसके द्वारा होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो हमको कहना होगा कि अभी भी स्वतंत्रता की लड़ाई बाक़ी है। अभी हम अपनी आत्मानुभूति में आने वाली बाधाओं को दूर नहीं कर पाए हैं।

सब प्रकार स्वतंत्र हों

अंग्रेज़ी राज्य के चले जाने के बाद आवश्यक है कि हमारा देश आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता का अनुभव करे। जब तक भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से परमुखापेक्षी है तथा भारत की तीस कोटि संतान को आर्थिक उन्नति का समान अवसर प्राप्त नहीं है, जब तक उनकी उन्नति के द्वार खुले नहीं हैं तथा उसके साधन प्रस्तुत नहीं हैं, तब तक भारतवर्ष विश्व की प्रगति में कदापि सहायक नहीं हो सकता। न तो वह जीवन के सत्य का साक्षात्कार कर सकेगा और न मानव की स्वतंत्रता का ही।

आर्थिक स्वाधीनता के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता की भी आवश्यकता है। आत्मानुभूति के प्रयत्नों में जिन सामाजिक व्यवस्थाओं एवं पद्धतियों की राष्ट्र अपनी सहायता के लिए सृष्टि करता है अथवा जिन रीति-रिवाजों में उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, वे ही यदि कालावपात से उसके मार्ग में बाधक होकर उसके ऊपर भार रूप हो जाएँ तो उनसे मुक्ति पाना भी प्रत्येक राष्ट्र के लिए आवश्यक है। यात्रा की एक मंजिल में जो साधन उपयोगी सिद्ध हुए हैं, वे दूसरी मंजिल में भी उपयोगी सिद्ध होंगे, यह आवश्यक नहीं। साधन तो प्रत्येक मंजिल के अनुरूप ही चाहिए तथा इस प्रकार प्रयाण करते हुए प्राचीन साधनों का मोह परतंत्रता का ही कारण हो सकता है, क्योंकि स्वतंत्रता केवल उन तंत्रों का समष्टिगत नाम है, जो स्वानुभूति में सहायक होते हैं।

सांस्कृतिक स्वतंत्रता

राष्ट्र की सांस्कृतिक स्वतंत्रता तो अत्यंत महत्त्व की है, क्योंकि संस्कृति ही राष्ट्र के

संपूर्ण शरीर में प्राणों के समान संचार करती है। प्रकृति के तत्त्वों पर विजय पाने के प्रयत्न में तथा मानवानुभूति की कल्पना में मानव जिस जीवनदृष्टि की रचना करता है, वह उसकी संस्कृति है। संस्कृति कभी गतिहीन नहीं होती अपितु वह निरंतर गतिशील रहती है। फिर भी उसका अपना एक अस्तित्व है, नदी के प्रवाह की भाँति। निरंतर गतिशील होते हुए भी वह अपनी निजी विशेषताएँ रखती है, जो उस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उत्पन्न करने वाले समाज के संस्कारों में तथा उस सांस्कृतिक भावना से जन्य राष्ट्र के साहित्य, कला, दर्शन, स्मृति शास्त्र, समाज रचना इतिहास एवं सभ्यता के विभिन्न अंगों में व्यक्त होती हैं। परतंत्रता के काल में इन सब पर प्रभाव पड़ जाता है तथा स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। आज स्वतंत्र होने पर आवश्यक है कि हमारे प्रवाह की संपूर्ण बाधाएँ दूर हों तथा हम अपनी प्रतिभा अनुरूप राष्ट्र के संपूर्ण क्षेत्रों में विकास कर सकें। राष्ट्रभक्ति की भावना को निर्माण करने और उसको साकार स्वरूप देने का श्रेय भी राष्ट्र की संस्कृति को ही है तथा वही राष्ट्र की संकुचित सीमाओं को तोड़कर मानव की एकात्मता का अनुभव कराती है। अतः संस्कृति की स्वतंत्रता परमावश्यक है। बिना उसके राष्ट्र की स्वतंत्रता निरर्थक ही नहीं, टिकाऊ भी नहीं रह सकेगी।

स्वार्थ का साधन नहीं

आज अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का उत्सव मनाते समय हम स्वतंत्रता के इन मूल्यों को समझें। स्वतंत्रता की कुछ व्यक्ति समूह के स्वार्थ सिद्धि का साधन बनाना, फिर वह व्यक्ति समूह तीस करोड़ का ही क्यों न हो, स्वतंत्रता को उसके महान् आसन से गिराकर धूल में मिलाना होगा। इस प्रकार के दृष्टिकोण से कार्य करने पर न तो स्वतंत्रता की हम अनुभूति ही कर पाएँगे और न हम विश्व की ही कुछ सेवा कर पाएँगे। अपितु इस प्रकार का स्वार्थी और अहंकारी भाव लेकर कार्य करने पर हम उसी इतिहास की पुनरावृत्ति करेंगे, जो कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर प्रभाव जमाने में निर्माण करता है। यहाँ पात्र भिन्न होंगे, वे एक ही राष्ट्र के घटक होंगे, पास-पास रहने वाले पड़ोसी होंगे और इसलिए उनके कृत्य और भी भयंकर हो जाते हैं तथा उसका परिणाम भी सर्वव्यापी विनाश हो सकता है। किंतु हमारा विश्वास है कि राष्ट्र की जीवनदायिनी शक्ति अपने सच्चे स्वरूप और कार्य को समझेगी तथा विनाश के स्थान पर विकास के मार्ग पर अग्रसर होती हुई, भारत की तीस कोटि संतानें अपने परम लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति तथा विश्वात्मा की अनुभूति कराएँगी।

—पाञ्चजन्य, भाद्रपद कृष्ण 9, 2006 (अगस्त 18, 1949)

□

19

मानव की स्थिति और प्रगति

मानव की स्थिति और प्रगति उसकी जयिष्णु और सहिष्णु प्रवृत्ति के सामंजस्य पर ही निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा दूसरों पर प्रभाव डालने की, उन पर विजय पाने की रहती है तथा अपने व्यक्तित्व को प्रभावी एवं विजयी बनाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। उसकी दौड़-धूप इसलिए होती रहती है, किंतु इस प्रकार की प्रबल आकांक्षा का परिणाम दूसरों का विनाश एवं इस प्रकार उनके द्वारा होने वाले सत्य के आविष्कार की संभावना भी समाप्त न हो, इसके लिए मानव ने यह भी आवश्यक समझा है कि वह दूसरों के मतों का आदर करे तथा उसे सत्य मानकर चले। इस भावना ने ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति को जन्म दिया है।

विश्व में भारतवर्ष अपनी चरम कोटि की सहिष्णुता की भावना के लिए प्रसिद्ध है। पश्चिम में सहिष्णुता की भावना को बहुत ही निकट भूत में अनुभव किया है तथा जनतंत्र के नाम पर उसका विकास करने का प्रयत्न किया है। फिर भी उसके जीवन में असहिष्णुता इतनी समा गई है कि सहिष्णुता का राग अलापते रहने पर भी किसी न किसी प्रकार असहिष्णुता प्रकट हो ही जाती है। अंग्रेज़ी, फ्रांसीसियों और डचों की साम्राज्यवादी भावनाएँ, एशिया के लोगों पर किए गए अत्याचार, ईसाई धर्म के अतिरिक्त सब धर्मों को ओछा मानकर उनके साथ किया हुआ व्यवहार, अंग्रेज़ों का श्वेत मानव का बोझा अफ्रीका में हब्शियों एवं अन्य अश्वेतों के लिए बनाए गए कानून, अमरीका में नीग्रो एवं रेड इंडियनों के प्रति किया गया बरताव तथा जर्मनी, इटली, रूस आदि देशों में उत्पन्न होने वाली फासिस्ट मनोवृत्ति एवं हर पच्चीस वर्ष के बाद युद्ध इसी असहिष्णु मनोवृत्ति के परिचायक हैं। आज भी पश्चिम में अपने से इतर जातियों के प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ है; आज भी वहाँ के विद्वान् यूरोप

और अमरीका को ही विश्व का केंद्र मानकर सारे संसार को उसके हितों के अनुसार नचाना चाहते हैं।

भारत में उसके विपरीत बहुत पहले ही सहिष्णुता की भावना का उदय हो चुका था। दो हज़ार मील लंबे और दो हज़ार मील चौड़े भारत की विविध रूपा प्रकृति ने सत्य का साक्षात्कार कराया। हमने विविधता में एकता की अनुभूति को और उसके परिणामस्वरूप सहिष्णुता की भावना को जन्म दिया। फलत: ज्ञान, कर्म और भाव तीनों ही क्षेत्रों में हमने अपनी सहिष्णुता की मनोवृत्ति का परिचय दिया है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का आदर्श समक्ष रखकर ज्ञान के क्षेत्र में निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत प्रतिपादन करके कर्म के क्षेत्र में तथा एक ही ब्रह्म के विविध रूप भिन्न देवताओं को मानकर भक्ति के द्वारा भाव के क्षेत्र में सहिष्णुता की भावना का विकास किया है। सहिष्णुता हमारे जीवन का अंग बन गई है।

आज पश्चिम का जीवन और उसका इतिहास ही प्रमुखतया अपने सम्मुख होने के कारण हमको अपनी सहिष्णुता की सहज प्रवृत्ति पर अभिमान होने लगा है। इतना ही नहीं, सहिष्णुता की भावना पर इतना ज़ोर दिया जाने लगा है कि जीवन की दूसरी आवश्यक प्रवृत्ति अर्थात् जयिष्णु प्रवृत्ति की ओर हमारा दुर्लक्ष्य हो गया है। फलत: सहिष्णुता का अर्थ हो गया है—महत्त्वाकांक्षा से हीन, दुनिया की हर जाति के सामने झुकते जाना और अपने स्वत्व एवं जीवन को बिल्कुल धूल में मिला देना। युद्ध चाहे वह आत्मरक्षार्थ ही क्यों न हो, हमारे लिए पाप कार्य हो गया है। सहिष्णुता अच्छा सिद्धांत है। इसके ऊपर इतना आग्रह हो गया है कि हम कोई भी व्यावहारिक चिंता नहीं कर रहे हैं।

वास्तव में सहिष्णुता के समान ही जयिष्णुता का सिद्धांत भी आवश्यक है। यदि यह कहा जाए कि जयिष्णुता अधिक आवश्यक है तो अनुचित नहीं होगा। बिना जयिष्णुता की भावना के कोई समाज न तो जीवित ही रह सकता है और न वह अपने जीवन का विकास ही कर सकता है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज केवल श्वासोच्छ्वास के लिए जीवित नहीं रहता, अपितु वह किसी आदर्श के लिए ज़िंदा रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उस आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की परिसमाप्ति भी कर देता है। आदर्शवादी व्यक्तियों ने ही सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलकर भी संसार को आगे बढ़ाया है। जिनके जीवन में अपने आदर्शों को विजयी बनाने की महत्त्वाकांक्षा है, वे ही संसार के निराशामय वातावरण से ऊपर उठकर कुछ कर पाते हैं तथा दूसरों के लिए प्रकाश-पुंज बनकर मार्गदर्शक हो जाते हैं। दुनिया के नए-नए देशों की खोज करने वाले, प्रकृति के गुह्यतम सिद्धांतों को ढूँढ़ निकालने वाले, ब्रह्म और जीवन के अभेद का साक्षात्कार करने वाले और दु:खी मानवों को शांति और सत्य का उपदेश देने वाले, सबके सब अपने जीवन में एक महत्त्वाकांक्षा लेकर आए और उसे

प्राप्त करने के निमित्त ही जीवन भर प्रयत्न करते रहे।

भारतवर्ष ने इस विजिगीषु वृत्ति का महत्त्व सदा ही समझा है और इसलिए विजयादशमी के त्योहारों की योजना की गई है। विजयादशमी हमारी विजयों का स्मारक तथा भावी विजयों का प्रेरक है। यह दिन हमको प्रतिवर्ष याद दिलाने आता है कि हमें दुनिया में विजय करनी है। हम पराजय के लिए अथवा उदासीन बनकर केवल 'आहार निद्रा भय मैथुनञ्च' तक ही अपने जीवन को सीमित करने के लिए नहीं, अपितु विजय के लिए पैदा हुए हैं।

विजय के लिए सीमोल्लंघन आवश्यक है। आज हमने अपने जीवन की सीमाएँ बना रखी हैं। स्वार्थ और अज्ञान के संकुचित दायरे में हमने कूपमंडूक के समान अपने जीवन को सीमित कर दिया है। हमें अपनी सीमाएँ तोड़नी होंगी। जो इन सीमाओं के बाहर नहीं जा सकता, वह विजय भी नहीं प्राप्त कर सकता। सीमोल्लंघन और विजय केवल सेना और शस्त्रास्त्रों से सजकर शत्रु के राज्य में कूच करके परास्त करने से ही नहीं होती अपितु विचारों और भावनाओं के जगत् में भी यह विजय प्राप्त की जा सकती है। इस जगत् में भी हमारे अनेक शत्रु हैं, जिनको पराजित करके हम अपनी विजय मना सकते हैं।

दुर्गा, रघु, राम और सिद्धार्थ के जीवन की घटनाएँ विजयादशमी के साथ संबद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक में क्षेत्रों की विभिन्नता होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति की एकता स्पष्ट है। अतः हमारे जीवन में उनकी सी एक ध्येयनिष्ठा तथा अपने जीवन से बाहर निकालकर आदर्श को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रही तो हम भी जीवन में विजय प्राप्त कर सकेंगे तथा सच्चे अर्थों में विजयादशमी मना सकेंगे।

—पाञ्चजन्य, विजयादशमी विशेषांक, 2006 (अक्तूबर 1, 1949)

□

20

राष्ट्र-जीवन की समस्याएँ

यह लेख 1962 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र चिंतन' में भी संकलित है।

भारत में एक ही संस्कृति रह सकती है; एक से अधिक संस्कृतियों का नारा देश के टुकड़े-टुकड़े करके हमारे जीवन का विनाश कर देगा। अत: आज लीग (मुसलिम) का द्विसंस्कृतिवाद, कांग्रेस का प्रच्छन्न द्विसंस्कृतिवाद तथा साम्यवादियों का बहुसंस्कृतिवाद नहीं चल सकता। आज तक एक-संस्कृतिवाद को संप्रदायवाद कहकर ठुकराया गया, किंतु अब कांग्रेस के विद्वान् भी अपनी गलती समझकर इस एक-संस्कृतिवाद को अपना रहे हैं। इसी भावना और विचार से भारत की एकता तथा अखंडता बनी रह सकती है, तभी हम अपनी संपूर्ण समस्याओं को सुलझा सकते हैं।

मनुष्य की अनेक जन्मजात प्रवृत्तियों के समान वह देशभक्ति की भावना को भी स्वभाव से ही प्राप्त करता है। परिस्थितियों एवं वातावरण के दबाव से किसी व्यक्ति में यह प्रवृत्ति सुप्त होकर विलीन प्राय हो जाती है। इस प्रकार विकसित देशप्रेम के व्यक्ति अपने कार्यकलापों की प्रेरणा अस्पष्ट एवं क्षीण भावना से न पाकर अपने स्वप्नों के अनुसार अपने देश का निर्माण करने की प्रबल ध्येयवादिता से पाते हैं। भारत में भी प्रत्येक देशभक्त के सम्मुख इस प्रकार का एक ध्येयपथ है तथा वह समझता है कि अपने पथ पर चलाकर ही वह देश को समुन्नत बना सकेगा। आज यह ध्येयपथ यदि एक ही होता तथा सब देशभक्तों के आदर्श भारत का स्वरूप भी एक ही होता, तब तो किसी भी प्रकार के विवाद का संघर्ष का प्रश्न नहीं था। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि आज भिन्न-भिन्न मार्गों से लोग देश को आगे ले जाना चाहते हैं तथा प्रत्येक का

विश्वास है कि उसी का मार्ग सही मार्ग है। अत: हमको इन मार्गों का विश्लेषण करना होगा और उसी समय हम प्रत्येक की वास्तविकता को भी समझ सकेंगे।

चार प्रमुख मार्ग

इन मार्गों को देखते हुए हमें चार प्रधान वर्ग दिखाई देते हैं—अर्थवादी, राजनीतिवादी, मतवादी तथा संस्कृतिवादी।

अर्थवादी : पहला वर्ग, अर्थवादी संपत्ति को ही सर्वस्व समझता है तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण में ही सब प्रकार की दुरवस्था की जड़ मानकर उसमें सुधार करना ही अपना एकमेव कर्तव्य समझता है। उसका एकमेव लक्ष्य 'अर्थ' है। साम्यवादी एवं समाजवादी इस वर्ग के लोग हैं। इनके अनुसार भारत की राजनीति का निर्धारण अर्थनीति के आधार पर होना चाहिए तथा संस्कृति एवं मत को वे गौण समझकर अधिक महत्त्व देने को तैयार नहीं हैं।

राजनीतिवादी : राजनीतिवादी दूसरा वर्ग है। यह जीवन का संपूर्ण महत्त्व राजनीतिक प्रमुखता प्राप्त करने में ही समझता है तथा राजनीतिक दृष्टि से ही संस्कृति, मजहब तथा अर्थनीति की व्याख्या करता है। अर्थवादी यदि एकदम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा बिना मुआवजा दिए ज़मींदारी उन्मूलन चाहता है तो राजनीतिवादी अपने राजनीतिक कारणों से ऐसा करने में असमर्थ है। उसके लिए इस प्रकार संस्कृति एवं मजहब का भी मूल्य अपनी राजनीति के लिए ही है, अन्यथा नहीं। इस वर्ग के अधिकांश लोग कांग्रेस में हैं, जो आज भारत की राजनीतिक बागडोर सँभाले हुए हैं।

मतवादी : तीसरा वर्ग मजहबपरस्त या मतवादी है। इसे धर्मनिष्ठ कहना ठीक नहीं होगा; क्योंकि धर्म मजहब या मत से बड़ा तथा विशाल है। यह वर्ग अपने-अपने मजहब के सिद्धांतों के अनुसार ही देश की राजनीति अथवा अर्थनीति को चलाना चाहता है। इस प्रकार का वर्ग मुल्ला-मौलवियों अथवा रूढ़िवादी कट्टरपंथियों के रूप में अब भी थोड़ा-बहुत विद्यमान है, यद्यपि आजकल उसका बहुत प्रभाव नहीं रह गया है।

संस्कृतिवादी : चौथा वर्ग संस्कृतिवादी हैं। इसका विश्वास है कि भारत की आत्मा का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृति ही है। अत: अपनी संस्कृति की रक्षा एवं विकास ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यदि हमारा सांस्कृतिक ह्रास हो गया तथा हमने पश्चिम के अर्थप्रधान अथवा भोगप्रधान जीवन को अपना लिया तो हम निश्चित ही समाप्त हो जाएँगे। यह वर्ग भारत में बहुत बड़ा है। इसके लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में तथा कुछ अंशों में कांग्रेस में भी हैं। कांग्रेस के ऐसे लोग राजनीति को केवल संस्कृति का पोषकमात्र ही मानते हैं, संस्कृति का निर्णायक नहीं। हिंदीवादी सब लोग इसी वर्ग के हैं।

मार्गों की प्राचीनता

उपर्युक्त चार वर्गों की विवेचना में यद्यपि हमने आधुनिक शब्दों का प्रयोग किया है। किंतु प्राचीन काल में भी ये चार प्रवृत्तियाँ उपस्थित थीं तथा इनमें से एक प्रवृत्ति को ही अपनाकर हमने अपने जीवन के आदर्श का मानदंड बनाया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही में चार प्रवृत्तियाँ हैं। धर्म संस्कृति का, अर्थ नैतिक वैभव का, काम राजनीतिक आकांक्षाओं का तथा मोक्ष पारलौकिक उन्नति का द्योतक था। इनमें से हमने धर्म को ही अपने जीवन का अंग बनाया है, क्योंकि उसके द्वारा ही हमने शेष सबको सधते हुए देखा है। इसीलिए जब महाभारत काल में धर्म की अवहेलना होनी प्रारंभ हुई, तब महर्षि व्यास ने कहा—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छ्रृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च सकिमर्थे न सेव्यते॥

अर्थ और काम की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति धर्म से होती है; इसीलिए धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'यतोऽभ्युदय: नि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:।' हमें धर्म के आधार पर इस एकता का अनुभव करते रहना चाहिए। अनेक अंगों को इकट्ठा करके शरीर की सृष्टि नहीं होती किंतु शरीर के अनेक अंग होते हैं और इसीलिए प्रत्येक अवयव अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए नहीं अपितु शरीर के अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता है। इसी प्रकार राष्ट्र के सभी अंगों को अपनी रूपरेखा राष्ट्रीय स्वरूप और हितों के अनुकूल बनानी चाहिए, न कि राष्ट्र को ही इन अंगों के अनुसार काटा-छाँटा जाए। संप्रदायों, प्रांतों, भाषाओं और वर्गों का तभी तक मूल्य है, जब तक वे राष्ट्र हितों के अनुकूल हैं, अन्यथा उनका बलिदान करके भी राष्ट्र की एकता की रक्षा करनी होगी।

प्रथम दृष्टिकोण में अनेक को सत्य मानकर एक की कल्पना का प्रयत्न है तो दूसरे में एक को सत्य मानकर अनेक उसके रूपमात्र हैं, जैसे नदी के जल में आवर्त-विवर्त तरंग आदि अनेक रूप होते हैं, किंतु उनका अस्तित्व नदी के जल से भिन्न और स्वतंत्र नहीं और न उनके समुच्चय का ही नाम नदी है। दु:ख का विषय है कि आज भी देश की बागडोर जिनके हाथ में है, वे प्रथम दृष्टिकोण से ही समस्त समस्याओं को देखते हैं। जब तक राजनीति की इस मौलिक भूल का परिमार्जन नहीं होगा, तब तक राजनीतिक भारत का निर्माण सुदृढ नींव पर नहीं हो सकता।

धर्मप्रधान भारतीय जीवन

भारतीय जीवन को धर्मप्रधान बनाने का प्रमुख कारण यह था कि इसी में जीवन के विकास की सबसे अधिक संभावना है। आर्थिक दृष्टिकोण वाले लोग यद्यपि आर्थिक समानता के पक्षपाती हैं, किंतु वे व्यक्ति की राजनीति एवं आत्मिक सत्ता को

पूर्णतः समाप्त कर देते हैं। राजनीतिवादी प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देकर उसके राजनीतिक व्यक्तित्व की रक्षा तो अवश्य करते हैं किंतु आर्थिक एवं आत्मिक दृष्टि से वे भी अधिक विचार नहीं करते। अर्थवादी यदि जीवन को भोगप्रधान बनाते हैं तो राजनीतिवादी उसको अधिकार प्रधान बना देते हैं। मतवादी बहुत कुछ अव्यावहारिक, गतिहीन एवं संकुचित हो जाते हैं। किसी-किसी व्यक्ति विशेष अथवा पुस्तक विशेष के विचारों के वे इतने ग़ुलाम हो जाते हैं कि समय के साथ वे अपने आपको नहीं रख पाते तथा इस प्रकार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। इन सबके विपरीत संस्कृति प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के केवल मौलिक तत्त्वों पर तो ज़ोर दिया जाता है। शेष बाह्य बातों के संबंध में प्रत्येक को स्वतंत्रता रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता है। संस्कृति किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के बंधन से जकड़ी हुई नहीं है! अपितु यह तो स्वतंत्र एवं विकासशील जीवन की मौलिक प्रवृत्ति है। इस संस्कृति को ही हमने धर्म कहा है। अतः जब कहा जाता है कि भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है तो इसका अर्थ मजहब, मत या रिलीजन नहीं, किंतु यह संस्कृति ही होता है।

भारत की विश्व को देन

हमने देखा है कि भारत की आत्मा को समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थनीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। विश्व को भी यदि हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्तव्य प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं, राजनीति अथवा अर्थनीति की नहीं। उसमें तो शायद हमको उनसे ही उलटे भीख माँगनी पड़े। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के स्थान पर त्याग, अधिकार के स्थान पर कर्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के स्थान पर विशाल सहिष्णुता प्रकट की है। इनके साथ ही हम विश्व में गौरव के साथ खड़े हो सकते हैं।

संघर्ष का आधार

भारतीय जीवन का प्रमुख तत्त्व उसकी संस्कृति अथवा धर्म होने के कारण उसके इतिहास में भी जो संघर्ष हुए हैं, वे अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिए ही हुए हैं तथा इसी के द्वारा हमने विश्व में ख्याति भी प्राप्त की है। हमने बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण को महत्त्व न देकर अपने सांस्कृतिक जीवन को पराभूत नहीं होने दिया। यदि हम अपने मध्ययुग का इतिहास देखें तो हमारा वास्तविक युद्ध अपनी संस्कृति के रक्षार्थ ही हुआ

है। उसका राजनीतिक स्वरूप यदि कभी प्रकट भी हुआ तो उस संस्कृति की रक्षा के निमित्त ही। राणा प्रताप तथा राजपूतों का युद्ध केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए नहीं था किंतु धार्मिक स्वतंत्रता के लिए ही था। छत्रपति शिवाजी ने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना गो-ब्राह्मण प्रतिपालन के लिए ही की। सिख-गुरुओं ने अपने युद्ध धर्म की रक्षा के लिए ही किए। इन सबका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि राजनीति का कोई महत्त्व नहीं था तथा राजनीतिक ग़ुलामी हमने सहर्ष स्वीकार कर ली थी; किंतु तात्पर्य यह है कि राजनीति को हमने जीवन में केवल सुख का कारण मात्र माना है, जबकि संस्कृति संपूर्ण जीवन ही है।

संस्कृतियों का संघर्ष

आज भी भारत में प्रमुख समस्या सांस्कृतिक ही है। वह भी आज दो प्रकार से उपस्थित है, प्रथम तो संस्कृति को ही भारतीय जीवन का प्रथम तत्त्व मानना तथा दूसरे यदि इसे मान लें तो उस संस्कृति का रूप कौन सा हो? विचार के लिए यद्यपि यह समस्या दो प्रकार की मालूम होती है, किंतु वास्तव में है एक ही। क्योंकि एक बार संस्कृति का जीवन को प्रमुख एवं आवश्यक तत्त्व मान लेने पर उसके स्वरूप के संबंध में झगड़ा नहीं रहता, न उसके संबंध में किसी प्रकार का मतभेद ही उत्पन्न होता है। यह मतभेद तो तब उत्पन्न होता है जब अन्य तत्त्वों को प्रधानता देकर संस्कृति को उसके अनुरूप उन ढाँचों में ढकने का प्रयत्न किया जाता है।

इस दृष्टि से देखें तो आज भारत में एक-संस्कृतिवाद, द्वि-संस्कृतिवाद तथा बहुसंस्कृतिवाद के नाम से तीन वर्ग दिखाई देते हैं। एक-संस्कृतिवाद के पुरस्कर्ता भारत में केवल एक ही भारतीय संस्कृति का अस्तित्व मानते हैं तथा अन्य संस्कृतियों का या तो अस्तित्व ही मानने को तैयार नहीं हैं या उसके लिए आवश्यक समझते हैं कि वह भारतीय संस्कृति में विलीन हो जाए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा कांग्रेस में श्री पुरुषोत्तमदास टंडन प्रभृति व्यक्ति इसी एक-संस्कृतिवाद के पोषक हैं।

द्वि-संस्कृतिवाद

द्वि-संस्कृतिवादी दो प्रकार के हैं। एक तो स्पष्ट तथा दूसरे प्रच्छन्न। एक वर्ग मानता है, भारत में स्पष्टतया दो संस्कृतियों का अस्तित्व है तथा उनको बनाए रखने की माँग करता है। मुसलिम लीगी इसी मत के हैं। ये हिंदू और मुसलिम दो संस्कृतियों को मानते हैं तथा उनका आग्रह है कि मुसलमान अपनी संस्कृति की रक्षा अवश्य करेगा। दो संस्कृतियों के आधार पर ही उन्होंने दो राष्ट्रों का सिद्धांत सामने रखा, जिसके परिणाम को हम पिछले दो वर्षों में भली-भाँति अनुभव कर चुके हैं। प्रच्छन्न द्वि-संस्कृतिवादी वे

लोग हैं, जो स्पष्टतया तो दो संस्कृतियों का अस्तित्व नहीं मानते, भूल से एक संस्कृति एवं एक राष्ट्र का ही राग अलापते हैं, किंतु व्यवहार में दो संस्कृतियों को मानकर उनका समन्वय करने का असफल प्रयत्न करते हैं। वे यह तो मान लेते हैं कि हिंदू और मुसलमान दो संस्कृतियाँ हैं, किंतु उनको मिलाकर एक नवीन हिंदुस्तानी संस्कृति बनाना चाहते हैं। अत: हिंदी-उर्दू का प्रश्न वे हिंदुस्तानी बनाकर हल करना चाहते हैं तथा अकबर को राष्ट्रपुरुष मानकर राष्ट्र के महापुरुषों के प्रश्न को हल करना चाहते हैं। 'नमस्ते' और 'सलामालेकुम' का काम ये 'आदाब अर्ज' से चला लेना चाहते हैं। यह वर्ग कांग्रेस में बहुमत में है। दो संस्कृतियों के मिलाने के अब तक असफल प्रयत्न हुए हैं किंतु परिणाम विघातक ही रहा है। मुख्य कारण यह है कि जिसको मुसलिम संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है, वह किसी मजहब की संस्कृति न होकर अनेक अभारतीय संस्कृतियों का समुच्चय मात्र है। फलत: उसमें विदेशीपन है, जिसका मेल भारतीयत्व से बैठना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। इसलिए यदि भारत में एक संस्कृति एवं एक राष्ट्र को मानना है तो वह भारतीय संस्कृति एवं भारतीय हिंदू राष्ट्र, जिसके अंतर्गत मुसलमान भी आ जाते हैं, के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।

बहु संस्कृतिवादी

बहु-संस्कृतिवादी वे लोग हैं, जो प्रांत की निजी संस्कृति मानते हैं तथा उस प्रांत को उस आधार पर आत्मनिर्णय का अधिकार देकर बहुत कुछ अंशों में स्वतंत्र ही मान लेते हैं। साम्यवादी एवं भाषानुसार प्रांतवादी लोग इस वर्ग के हैं। वे भारत में सभी प्रांतों में भारतीय संस्कृति की अखंड धारा का दर्शन नहीं कर पाते।

संस्कृति से भिन्न जीवन का आधार

उपरोक्त तीनों प्रकार के वर्गों का प्रमुख कारण यह है कि उनके सम्मुख संस्कृति-प्रधान जीवन न होकर मजहब, राजनीति अथवा अर्थनीति प्रधान जीवन की है। मुसलिम लीग ने अपने अमूर्त तत्त्व का आधार मुसलिम मजहब समझकर ही भिन्न मुसलिम संस्कृति एवं राष्ट्र का नारा लगाया तथा उसके आधार पर ही अपनी सब नीति निर्धारित की। कांग्रेस का जीवन एवं लक्ष्य राजनीति प्रधान होने के कारण उसने अंग्रेज़ों का मुक़ाबला करने के लिए तथा शासन चलाने के लिए सब वर्गों को मिलाकर खड़ा करने का विचार किया, जिसके कारण अप्रत्यक्ष रूप से वर्गों को मिलाकर खड़ा करने का विचार किया, जिसके कारण अप्रत्यक्ष रूप से यह भी द्वि-संस्कृतिवाद का शिकार बन गई। बहु-संस्कृतिवादी जीवन को अर्थप्रधान मानते हैं, अत: वे आर्थिक एकता की चिंता करते हुए सांस्कृतिक एकता की ओर से उदासीन रह सकते हैं।

एक राष्ट्र और एक संस्कृति

केवल एक-संस्कृतिवादी लोग ही ऐसे हैं, जिनके समक्ष और कोई ध्येय नहीं है तथा जैसा कि हमने देखा, संस्कृति ही भारत की आत्मा होने के कारण वे भारतीयता की रक्षा एवं विकास कर सकते हैं। शेष सब तो पश्चिम का अनुकरण करके या तो पूँजीवाद अथवा रूस की तरह आर्थिक प्रजातंत्र तथा राजनीतिक पूँजीवाद का निर्माण करना चाहते हैं। अत: उनमें सब प्रकार की सद्भावना होते हुए भी इस बात की संभावना कम नहीं है कि उनके द्वारा भी भारतीय आत्मा का तथा भारतीयत्व का विनाश हो जाए। अत: आज की प्रमुख आवश्यकता तो यह है कि एक-संस्कृतिवादियों के साथ पूर्ण सहयोग किया जाए। तभी हम गौरव और वैभव से खड़े हो सकेंगे तथा भारत-विभाजन जैसी भावी दुर्घटनाओं को रोक सकेंगे।

—राष्ट्रधर्म, अंक 9, शरद पूर्णिमा, 2006 (अक्तूबर 6, 1949)

□

21

मुट्ठी भर ज़मींदारों को बनाए रखने के लिए लाखों तरुण तपस्या नहीं कर रहे

14 नवंबर, 1949 को कुसुंभी में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थानीय शाखा द्वारा आयोजित सार्वजनिक सभा में दीनदयालजी का भाषण।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का विश्वास है कि सच्चे राम-राज्य की स्थापना अपने हृदय के अधर्म को नष्ट करके ही हो सकती है। हमारा कार्य राष्ट्र में प्रेम एवं कर्तव्य की भावना भरना है। सोशलिस्ट, कांग्रेसी तथा अन्य सभी दलों के लोग राष्ट्रप्रेम एवं कर्तव्य की भावना के आधार पर संघ में आ सकते हैं।

समस्त कठिनाइयों को पार करते हुए संघ अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है।

संघ पूँजीपति एवं ज़मींदारों को बनाए रखना चाहता है, इस प्रकार से सोचना निरी मूर्खता है। क्या केवल मुट्ठी भर ज़मींदारों को बनाए रखने के लिए ही देश के लाखों सुशिक्षित नागरिक रात-दिन सर्वस्व का त्याग कर कार्य करेंगे? हमारा कार्य किसी के भी विरोध में नहीं है और इसलिए मुसलमानों से द्वेष करने का प्रश्न ही नहीं उठता। संघ को सेना कहकर उस पर दिल्ली के तख़्त को हथियाने का आरोप लगाने वाले सेना का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते। अनुशासित जीवन का अर्थ सेना नहीं हुआ करता और स्वराज्य में दिल्ली के तख्त को लेने के लिए सेना की नहीं, चुनाव में जीतने की आवश्यकता है।

संघ समाज को सुखी और सम्मानित जीवन बिताते हुए देखना चाहता है। किंतु हम

अपने धर्म, संस्कृति तथा पूर्वजों के सम्मान को खोकर सुख की लालसा नहीं करते। इस प्रकार के सुखी जीवन के लिए एकता की परम आवश्यकता है। संघ लोगों को भाषा, वर्ण, वर्ग और प्रांत के क्षुद्र भेदों से ऊपर उठाकर देशप्रेम और कर्तव्य का पाठ पढ़ाकर, हिंदुत्व के बंधन में बाँधना चाहता है। भामाशाह[1] की भाँति प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के लिए सर्वस्व अर्पण करने की भावना रखे। गोग कुम्हार, सजना नाई और तुलाधार वैश्य की भाँति प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्य को करता हुआ नर में नारायण का दर्शन कर परम पद को प्राप्त करे। इसी से चोरबाजारी, घूसखोरी आदि बुराइयाँ दूर हो सकेंगी।

हमारे विरोधी भी हमारे भाई हैं और उनसे अधिक प्रेम का व्यवहार करते हुए हमें अपने कार्य को बढ़ाना है। कल के विरोधी आज ठीक हो गए हैं और आज के भूले हुए बंधु कल निश्चित रूप से ठीक हो जाएँगे।

—पाञ्चजन्य, मार्गशीर्ष शुक्ल 4, 2006 (नवंबर 24, 1949)

□

1. भामाशाह (लगभग 1542-1598) ने हल्दी घाटी के युद्ध में पराजित महाराणा प्रताप को अपनी संपत्ति दान की थी। ऐसा माना जाता है कि वह संपत्ति इतनी थी कि 25,000 सैनिकों का बारह वर्षों तक निर्वाह हो सकता था। इस राशि से महाराणा प्रताप ने पुनः सैन्य शक्ति संगठित की।

22

भारतीय संविधान पर एक दृष्टि

भारतीय संविधान सभा संविधान के तृतीय वाचन पर विचार कर रही है। इस अंतिम वाचन के पश्चात् सभा का कार्य समाप्त हो जाएगा और वह भंग कर दी जाएगी। 9 दिसंबर, 1946 को सभा का प्रथम अधिवेशन हुआ था और तब से लगभग तीन वर्ष तक अनेक अधिवेशनों के पश्चात् वह भारतवर्ष का विधान प्रस्तुत कर पाई है।[1] विधान क्या और कैसा है, इस पर विचार करने के पूर्व हमको संविधान सभा के निर्माण के कारण, उसके संगठन एवं उसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विचार कर लेना आवश्यक होगा, क्योंकि उनका प्रस्तुत विधान से घनिष्ठ संबंध है।

यदि यह कहा जाए कि आज की संविधान सभा मूल संविधान सभा से उसके संगठन में ही नहीं अपितु मानसिक स्थिति में भी भिन्न है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इतना ही नहीं, संविधान सभा को प्राप्त जनमत का आधार भी आज भिन्न हो गया है। संविधान सभा की माँग हमारी स्वतंत्रता के स्पष्टार्थ हैं कि हमारा नियमन करने वाला तंत्र 'स्व' द्वारा ही निर्मित होना चाहिए। इसलिए अंग्रेज़ों द्वारा दिए गए अनेक विधानों को हमने मूलतः इसी बिना पर ठुकराया कि वे ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा हमारे ऊपर लादे गए कानून हैं, जिसमें न तो हमारे हितों का ध्यान रखा जा सकता है और न वह हमारी प्रतिभा और प्रयत्नों का ही परिणाम है। अतः जब कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के अनुसार संविधान सभा के निर्माण की घोषणा की गई, तब हमारे सामने मुख्य प्रश्न संविधान सभा को परम सत्ताधारी बनाना था, क्योंकि कैबिनेट मिशन ने यह स्पष्ट नहीं किया था

1. संविधान सभा का पहला अधिवेशन 9-23 दिसंबर, 1946 के मध्य संपन्न हुआ। इसके बाद दस और अधिवेशन हुए। आख़िरी ग्यारहवाँ अधिवेशन 14-26 नवंबर, 1949 को हुआ। 24 जनवरी, 1950 को संविधान के सभी सदस्य फिर से एकत्र हुए और उन्होंने भारत के संविधान पर अपने हस्ताक्षर किए।

कि संविधान सभा द्वारा बनाए गए विधान का क्या भाग्य होगा—वह सीधा भारत पर लागू हो जाएगा अथवा उस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट की मुहर लगना आवश्यक होगा। हमारी माँग तो परम सत्तात्मक संविधान सभा की थी और इसलिए संविधान सभा का संगठन करते समय हमारे नेताओं और जनता के मन में जो भावना काम कर रही थी, वह थी कि संविधान सभा के सदस्य चाहे विधानशास्त्री न हों किंतु बनाए हुए विधान को मनवाने हेतु डटकर लोहा ले सकें। संविधान सभा का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष रीति से प्रांतीय धारासभाओं द्वारा हुआ था, जिनमें हमने स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ सकने की योग्यता वाले महारथी ही भेजे थे। फलतः संविधान सभा में कांग्रेस दल का ही बहुमत हो गया, क्योंकि कांग्रेस के मंच से ही भारत की जनता स्वतंत्रता का युद्ध कर रही थी।

'अल्पसंख्यक' लोगों के प्रति बरती गई ब्रिटिश नीति का प्रभाव भी संविधान सभा के संगठन और विकास पर पड़ा है। प्रथम, संगठन के समय तो कैबिनेट मिशन ने सभा की कार्रवाई की मोटी-मोटी रेखाएँ भी निश्चित कर दी थीं, जिनके अनुसार उसको तीन भागों में विभक्त होकर 'पंजाब-सीमांत सिंध', 'बंगाल-आसाम' तथा शेष भारत के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान बनाकर उन सब का एक संघीय विधान बनाना होता। इस दिशा में संविधान सभा का कार्य मुसलिम लीग की असहयोग[2] की नीति एवं उसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान और इंडिया नाम से भारत का दो उपनिवेशों में विभाजन करते हुए ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा 'इंडिया इंडिपेंडेस बिल' के पारित होने के कारण न हो सका। फलतः स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने वाली तथा मुसलिम लीग की अड़ंगेबाजी की नीति तथा अल्पसंख्यक के तुष्टीकरण के पीछे दौड़ने वाली संविधान सभा अगस्त सन् 1947 में स्वतंत्र भारत की संविधान सभा हो गई, जिसमें मुसलिम लीग महत्त्वहीन हो गई तथा जिसके ऊपर भारत की स्वतंत्रता को अमली जामा पहनाने वाला संविधान बनाने का भार आ पड़ा।

संविधान सभा ने विधान बनाया किंतु उसे अनेक बार अनेक प्रकार के संशोधन करने पड़े हैं। अंग्रेज़ों द्वारा छोड़े गए भारत का रेखाचित्र ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता जा रहा है, त्यों-त्यों संविधान का स्वरूप भी बदलता जा रहा है और इसलिए उसको अभी तक कोई

---

2. ब्रिटिश सरकार के अनुसार कैबिनेट मिशन प्लान का मकसद सामाजिक और राजनीतिक अवरोधों से उपजे गतिरोध को समाप्त करना था। लेकिन वह कांग्रेस और मुसलिम लीग को सामान्य अनुबंध तक लाने में असमर्थ साबित हुआ। कांग्रेस तो संविधान सभा में नए संविधान के निर्माण के लिए तैयार हो गई। मुसलिम लीग ने भी पहले तो मिशन के प्लान को स्वीकार किया, लेकिन स्वायत्त पाकिस्तान की माँग को दोहराते हुए उसने इसे अपनी स्थायी माँग बताया और अपनी स्वीकृति वापस ले ली। मुसलिम लीग ने संविधान सभा की प्रथम बैठक का बहिष्कार किया। अंततोगत्वा 31 जनवरी, 1947 को कराची में मुसलिम लीग की बैठक हुई, जिसमें संविधान सभा के गठन और उसकी प्रक्रिया का विरोध प्रस्ताव पारित किया। यहीं से भारत विभाजन की प्रक्रिया शुरू हो गई।

भी निश्चित संतोषजनक स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका है। अंग्रेज़ी काल में अल्पसंख्यकों को अत्यधिक महत्त्व देने एवं उनके अधिकारों की रक्षा का प्रश्न ही सदैव उपस्थित करने के कारण अल्पसंख्यक समिति[3] को एवं उसकी सिफारिशों को ही प्रारंभ में अधिक महत्त्व था, और हमारे विधान के प्रारूप में उनका विविध रूपों में समावेश भी किया गया था। किंतु उस समस्या के हल होते-होते हमने सब प्रकार के संरक्षण हटाकर केवल तथाकथित दलितवर्ग एवं पिछड़ी हुई जातियों के संबंध में ही कुछ संरक्षण रख छोड़े हैं। इसी प्रकार देशी राज्यों का प्रारंभिक चित्र भिन्न होने के कारण उनके संबंध में भिन्न रूप से विचार किया गया था किंतु आज जब कि वे सबके सब भारत में मिल गए हैं, उनका अस्तित्व प्राय: प्रांतों के समान ही रह गया है। यद्यपि इस विलीनीकरण एवं समानीकरण की दिशा में अभी और अधिक बढ़ना है। मुसलमानों की आत्मनिर्णय की माँग, उनके तुष्टीकरण की नीति तथा अंग्रेज़ों द्वारा दर्शित संघीय शासन पद्धति का मार्गानुसरण करने की इच्छा से प्रांतों को अधिकाधिक स्वतंत्रता देकर केंद्र के जिम्मे केवल चार वैदेशिक नीति, यातायात, अर्थ एवं रक्षा छोड़ने वाली संविधान सभा केंद्र को अधिकाधिक अधिकार देती जा रही है। 'मौलिक-स्वतंत्रताओं' के स्वर्णिम सिद्धांतों का गुणगान करने वाले नेताओं ने यद्यपि संविधान में इन स्वतंत्रताओं का उल्लेख अवश्य किया है, किंतु राज्य-संचालन की व्यावहारिक कठिनाइयाँ, जनता की भावनाओं और स्वतंत्रताओं को कुचलने की एकमेव योग्यता रखने वाली ब्रिटिश काल की नौकरशाही की विरासत एवं अपने दल का एकाधिपत्य बनाए रखने की इच्छा के परिणामस्वरूप सभी स्वतंत्रताओं को कुचलने के साधन भी उपस्थित कर दिए हैं। इसी प्रकार अपने प्रारंभिक काल में दोनों लिपियों में लिखी जाने वाली 'हिंदुस्तानी' का समर्थन करने वाली कांग्रेस का बहुमत होते हुए भी तीन वर्ष में संविधान सभा 'हिंदुस्तानी' के स्थान पर देवनागरी लिपि और हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने तक आ गई है, किंतु अभी भी वह अंग्रेज़ी को मोह नहीं छोड़ पाई है। ईश्वर के अस्तित्व को भी न मानने वाली सभा ने अंत में निश्चित किया है कि इच्छानुसार कोई व्यक्ति शपथ में 'ईश्वर' का उपयोग कर सकता है।

संविधान के उपर्युक्त थोड़े से उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि देश की बदलती हुई राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के कारण संविधान सभा के संगठन एवं उसके सदस्यों की मानसिक स्थिति में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होता जा रहा है, त्यों-त्यों संविधान के स्वरूप में भी परिवर्तन हो रहा है। अत: यह मानना होगा कि हमारे संविधान का विकास हो रहा है। इसीलिए संविधान सभा के प्रत्येक अधिवेशन पर

---

3. संविधान सभा में अल्पसंख्यकों की सलाहकार समिति के अध्यक्ष वल्लभभाई पटेल (1875-1950) थे। इसके अतिरिक्त संविधान सभा में अल्पसंख्यक उप-समिति का भी गठन किया गया, जिसके अध्यक्ष एच.सी. मुखर्जी (1887-1956) थे।

प्रारूप समिति द्वारा ऐसे नए प्रस्ताव उपस्थित कर दिए जाते हैं, जो कि संविधान में प्राय: मौलिक परिवर्तन कर देते हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि हमारा देश स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् धीरे-धीरे अपना स्वाभाविक रूप ग्रहण करता जा रहा है, अपने स्वरूप और आत्मा को पहचानता जा रहा है।

—पाञ्चजन्य, मार्गशीर्ष शुक्ल 4, 2006 (नवंबर 24, 1949)

□

23

भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल

यह लेख 1962 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र चिंतन' में भी संकलित है।

गत अर्ध शताब्दी की राजनीतिक हलचलों का परिणाम आज का भारतीय जीवन कहा जाए तो किसी भी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी। आज के जीवन से असंतुष्ट व्यक्ति का ध्यान पिछले राजनीतिक आंदोलनों का विश्लेषण करने की ओर भी स्वाभाविक रूप से देखा जा सकता है। उन आंदोलनों की सफलता या असफलता को न आँकते हुए तनिक गंभीरता से विचार करने पर यह दिखता है कि हमारी संपूर्ण राजनीति की भित्ति कुछ ऐसे तथ्यों पर खड़ी हुई है, जिनकी सत्यता के विषय में ही शंका उत्पन्न होती है। आज तक उन तथ्यों को स्वयंसिद्ध एवं सत्य मानकर चला गया है। हमारे बड़े-बड़े राजनीतिक महापुरुष ने अपनी संपूर्ण प्रतिभा और शक्ति को उन तथ्यों के आधार पर आंदोलन करने और राष्ट्र-चेतना उत्पन्न करके राजनीतिक मंतव्य सिद्ध करने में लगा दिया है। आज भी भारत के नव-निर्माण का स्वप्न देखने वाले अनेक मनीषी उन तथ्यों को वज्र-रेखा मानकर चलते हैं। उन तथ्यों से निकाले हुए परिणामों और उनकी समस्याओं के हल के संबंध में चाहे भिन्न-भिन्न दलों में झगड़ा हो, किंतु उन तथ्यों की सत्यता के संबंध में सब ही एकमत हैं। यह इसलिए नहीं कि उन्होंने उनको सत्य की कसौटी पर कसकर खरा पाया है अपितु इसलिए कि इस संबंध में उन्होंने कभी विचार नहीं किया। पृथ्वी को स्थिर मानकर सूर्य को उसके चारों ओर प्रदक्षिणा करता हुआ मानकर टोलेमी आदि विद्वानों ने अनेक सिद्धांतों की रचना की, किंतु कॉपरनिकस के आविर्भाव तक किसी को यह ज्ञान न हो सका कि उनके संपूर्ण ज्योतिष का आधार ही मिथ्या है।

भारतीय राजनीतिज्ञों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे भारत के भिन्न-भिन्न वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। उनके इस अस्तित्व को स्वीकार करके फिर वे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि यह अस्तित्व किसी प्रकार राष्ट्र के हितार्थ काम में आए। आज तक उनका संपूर्ण प्रयत्न इस प्रकार की भिन्न-भिन्न स्वतंत्र मानी हुई इकाइयों के बीच एकता और सामंजस्य स्थापित करने का ही रहा है। उनमें महत्तम समापवर्तक ढूँढ़ने का उन्होंने प्रयत्न किया है। किंतु संख्या में यह इतनी रूढ़ होती जाती है कि उनका समापवर्तक ही नहीं मिल पाता। किसी भी वर्ग के अस्तित्व को, जो अस्तित्व कि वास्तविक नहीं, संकट न पहुँचाते हुए बल्कि उनका संवर्धन ही करते हुए, आज तक के राजनीतिक प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया गया है और उसका परिणाम सदा ही असफलता हुआ है।

अंग्रेज़ों के राज्य-काल में हमने यह स्वीकार किया कि देश में मुसलमान, ईसाई आदि अनेक वर्ग हैं। उनके स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए ही राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकेगा। वास्तव में तो राष्ट्रीयता के स्तर पर उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना एक बड़ी भारी भूल है। क्योंकि मुसलमान एवं ईसाई आदि का वर्गीकरण मजहब के आधार पर है, जो राष्ट्रीयता से भिन्न वस्तु है। एक मजहब के मानने वाले अनेक राष्ट्रों के अंग हो सकते हैं और एक ही राष्ट्र में अनेक मजहब के मानने वालों का समावेश हो सकता है। राष्ट्रीयता यदि कोई शक्तिशाली प्रेरणा है तो उसके चेतना क्षेत्र में मजहब का प्रवेश नहीं होता। किंतु आज तक हमारा प्रयत्न यही रहा है कि इन वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानकर उनका एकीकरण करें—ऐसा एकीकरण, जिसमें किसी को कुछ भी न छोड़ना पड़े। मजे की बात यह भी है कि यह जो सबको मिलाकर एक निर्माण होने वाला है, उसकी भी स्पष्ट कल्पना किसी को नहीं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अनेक बार कहा है कि स्वतंत्र भारत का राज्य न हिंदू का होगा, न मुसलमान का होगा और न ईसाई का। प्रश्न आता है कि फिर किसका होगा? इसका उत्तर बहुत लोगों ने यह कहकर देने का प्रयत्न किया है कि वह 'हिंदुस्तानियों' का होगा, किंतु फिर झगड़ा आता है कि यह 'हिंदुस्तानी' कौन? इसमें किसका कितना समावेश होगा? और किस आधार पर होगा? क्या संख्या-बल के आधार पर या और किसी आधार पर? अभी तक हमने संख्या-बल का आधार माना है तथा जिस-जिस चीज को ये वर्ग अपना कहकर खड़े हुए हैं, उनको मिलाने का प्रयत्न किया है। अंग्रेज़ों से होने वाले सभी समझौतों तथा उस काल के सभी आंदोलनों में यही प्रश्न प्रमुख रहा है तथा उसका परिणाम 'पाकिस्तान' हुआ, यह मानने में किसी समझदार व्यक्ति को आपत्ति नहीं होगी।

इस प्रकार का वर्गीकरण केवल सांप्रदायिक आधार पर ही नहीं, भाषा और आर्थिक आधारों पर भी किया जाता है। आज हमारे सभी नेता यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक भाषा-भाषी वर्ग का एक स्वतंत्र अस्तित्व है। ऐसे अनेकों स्वतंत्र वर्गों को

मिलाकर समूचे भारत की रचना करनी चाहिए। इसी का परिणाम है हमारी 'इंडियन यूनियन' तथा उसका प्रस्तुत विधान है। इस कल्पना ने 'प्रांतीय स्वतंत्रता' नाम के सिद्धांत को जन्म दिया है। आज जब प्रांतों का एक भी अधिकार केंद्र अपने हाथ में लेता है, तो प्रांत के प्रतिनिधि प्रांतीय स्वतंत्रता की दुहाई देकर प्रांतों को म्युनिसिपैलिटी के समकक्ष बनाने के प्रयत्नों की निंदा करने लगते हैं। सांप्रदायिक स्वतंत्रता का परिणाम यदि पाकिस्तान हुआ है तो इस प्रांतीय स्वतंत्रता का परिणाम क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतलाएगा।

आर्थिक आधार पर भी स्वतंत्र वर्गों की कल्पना की जाती है। एक ज़मींदार तो दूसरा कृषक, एक पूँजीपति तो दूसरा मज़दूर एवं एक शोषक तो दूसरा शोषित, इस प्रकार का वर्गीकरण करके या तो एक को दबाकर दूसरे का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न होता है या अधिक-से-अधिक दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

उपर्युक्त सभी एवं ऐसे अनेक वर्ग, जिनको राजनीतिज्ञ कठोर सत्य मानकर चलते हैं, वास्तव में मिथ्या है। जब तक उनका अस्तित्व मानकर, उनको संतुष्ट करने की नीति अपनाकर उनके अहंकार और स्वार्थ की वृद्धि करते रहेंगे, तब तक राजनीति विपरीत दिशा में ही बहती रहेगी। सत्य तो यह है कि संपूर्ण भारत एक है तथा भारत की संपूर्ण संतान एक है और उसको इस एकता का अनुभव करते हुए रहना चाहिए। अनेक अंगों को इकट्ठा करके शरीर की सृष्टि नहीं होती किंतु शरीर के अनेक अंग होते हैं। इसलिए प्रत्येक अवयव अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए नहीं अपितु शरीर के अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता है। इसी प्रकार राष्ट्र के सभी अंगों को अपनी रूपरेखा राष्ट्रीय स्वरूप और हितों के अनुकूल बनानी चाहिए, न कि राष्ट्र को ही इन अंगों के अनुसार काटा-छाँटा जाए। संप्रदायों, प्रातों, भाषाओं और वर्गों का तभी तक मूल्य है, जब तक वे राष्ट्रहित के अनुकूल हैं, अन्यथा उनका बलिदान करके भी राष्ट्र की एकता की रक्षा करनी होगी।

प्रथम दृष्टिकोण में अनेक को सत्य मानकर एक की कल्पना का प्रयत्न है तो दूसरे में एक को सत्य मानकर अनेक उसके रूपमात्र हैं। जैसे नदी के जल में आवर्त-विवर्त तरंग आदि अनेक रूप होते हैं। किंतु उनका अस्तित्व नदी के जल से भिन्न और स्वतंत्र नहीं और न उनके समुच्चय का ही नाम नदी है। दुःख का विषय है कि आज भी देश की बागडोर जिनके हाथ में है, वे प्रथम दृष्टिकोण से ही समस्त समस्याओं को देखते हैं। जब तक राजनीति की इस मौलिक भूल का परिमार्जन नहीं होगा, तब तक राजनीतिक भारत का निर्माण सुदृढ नींव पर नहीं हो सकता।

—राष्ट्रधर्म, दिसंबर 5, 1949

□

24

लौकिक, धर्महीन, धर्मरहित, धर्मनिरपेक्ष, अधार्मिक, अधर्मी, निधर्मी अथवा असांप्रदायिक

यह लेख 1971 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र जीवन की दिशा' (संपादक : रामशंकर अग्निहोत्री, भानुप्रताप शुक्ल) में भी संकलित है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष को एक 'सेक्यूलर स्टेट' *(Secular State)* घोषित किया गया है, तब से यह शब्द लोगों की जबान पर इतना चढ़ गया है कि क्या बड़े-बड़े नेता और क्या गाँव-गाँव, गली-गली में बातचीत के स्वर को ऊँचा करके ही भाषण की हवस मिटाने वाले छुटभैये, सभी दिन में चार बार 'सेक्यूलर स्टेट' की दुहाई देकर अपनी बात मनवाने तथा दूसरों को उसके विरुद्ध बताकर गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सुनते-सुनते शब्द तो कानों में रम गया है, किंतु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि भारत सरकार, बोलने वाले नेता तथा सुनने वाली जनता 'सेक्यूलर' शब्द का क्या अर्थ समझती है? विधानपरिषद् में 'सेक्यूलर स्टेट' का नाम लेने पर जब एक सदस्य ने पं. जवाहर लाल नेहरू से 'सेक्यूलर स्टेट' का मतलब पूछा तो उन्होंने भी अर्थ बताने के स्थान पर सम्मानीय सदस्य को डाँटकर कोश देखने के लिए कहा। फलतः समस्या सुलझ नहीं पाई और आज भी लोग 'सेक्यूलर' शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं। सेक्यूलर के लिए भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त पर्यायों से यह भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। लौकिक, धर्महीन, धर्मरहित, धर्मनिरपेक्ष, अधार्मिक, अधर्मी, निधर्मी, असांप्रदायिक आदि अनेक शब्दों का 'सेक्यूलर' के पर्याय के रूप में प्रयोग होता है। निश्चित ही

उपर्युक्त सभी शब्द समानार्थक नहीं हैं। उनमें मतभिन्नता ही नहीं है अपितु वे विरोध की सीमा रेखा को भी स्पर्श कर जाते हैं। अपने राज्य के स्वरूप के संबंध में इतना वैषम्य वास्तव में हितावह नहीं है। अच्छा हो कि हम 'सेक्यूलर' शब्द के ठीक अर्थ समझ लें; कम-से-कम जिस अर्थ में हम भारत को 'सेक्यूलर स्टेट' बनाना चाहते हैं, उसका तो निर्णय कर ही लेना चाहिए।

रोमन साम्राज्य का विरोध

नेहरूजी के आदेशानुसार यदि डिक्शनरी का सहारा लिया जाए तो समस्या विशेष नहीं सुलझती, क्योंकि कोश में सेक्यूलर के अर्थ हैं *(Lasting for Ages, coming once in a century; wordly temporal)* अर्थात् सौ वर्षों में एक बार होने वाला लौकिक। इनमें से 'लौकिक' अर्थ सर्वसाधारण व्यवहार में आता है तथा स्प्रिचुअल *(Spiritual)* के विरोध में इसका प्रयोग होता है। 'सेक्यूलर स्टेट' की कल्पना के विकास के पीछे भी यही भाव है। क्योंकि 'सेक्यूलर स्टेट' की कल्पना का उदय पवित्र रोमन साम्राज्य *(Holy Roman Empire)* के विरोध में से हुआ है। यूरोप के सभी देश किसी समय रोम के पोप के अधीन थे। प्रत्येक देश का राजा पोप के नाम पर ही शासन करता था। किंतु धीरे-धीरे रोमन कैथोलिक मत और पोप दोनों या इनमें से किसी एक के प्रति अविश्वास और विरोध की भावना बढ़ने लगी। फलत: प्रोटेस्टेंट मत का जन्म हुआ तथा फ्रांस की क्रांति के कारण और उसके परिणामस्वरूप जनता के घोष 'समानता', 'स्वतंत्रता' और 'बंधुत्व' हुए। साथ ही राष्ट्रीयता ने बढ़ते हुए एवं ईसाई मत में अनेक चर्चों की स्थापना तथा ईसाई मत के सामान्य जीवन पर घटते हुए प्रभाव ने पवित्र रोमन साम्राज्य को विघटित करके ऐसे राज्य की कल्पना को जन्म दिया, जिसमें सभी मतों के मानने वाले नागरिकता के समान अधिकारों का उपयोग कर सकें तथा राज्य जनता के मत में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। लोगों की दृष्टि अधिकाधिक भौतिकवादी होने के कारण लोगों की दृष्टि में राज्य का महत्त्व केवल लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र रह गया है तथा आत्मासंबंधी सभी प्रश्नों की व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा पर छोड़ देना उचित समझा।

लौकिक और पारलौकिक

यूरोप में 'सेक्यूलर स्टेट' की कल्पना के विकास का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया है। स्प्रिचुअल और टेंपोरल (सेक्यूलर) दो भिन्न-भिन्न क्षेत्र करके राज्य की ओर केवल सेक्यूलर आवश्यकताओं की पूर्ति का भार देकर भी यूरोप का कोई राज्य मत विशेष के पक्षपात की नीति से मुक्त नहीं हो पाया है। इंग्लैंड का राजा अभी भी *Defender of the faith* (धर्म रक्षक) कहा जाता है तथा उसके लिए आवश्यक है कि वह मानने वाला प्रोटेस्टेंट ही हो। राज्य की ओर से गिरजे और पादरियों को वेतन और सहायता भी मिलती

है। अमरीका में भी प्रेसीडेंट के लिए शपथ लेते समय विशिष्ट धार्मिक विधि को पूरा करना आवश्यक है।

भारतवर्ष में वास्तविक रूप से तो राज्य की कल्पना के अंतर्गत लौकिक राज्य की ही कल्पना है। हमारे यहाँ धर्मगुरु को कभी राजा का स्थान नहीं मिला है। राजा स्वयं किसी भी मत का मानने वाला क्यों न हो, सदा सभी मतावलंबियों के प्रति न्याय और समानता का व्यवहार करता था। हाँ, आज के सेक्यूलरिज्म की कल्पना के अनुसार पक्षपात रहित रहने का अर्थ किसी की मदद न करना नहीं था, अपितु सबकी मदद करना था। अत: राज्य सब मतावलंबियों की समान रूप से सहायता करता था। इस सहायता के पीछे यह भाव निहित था कि प्रथम तो बिना पारलौकिक उन्नति के लौकिक उन्नति व्यर्थ है तथा दूसरे, राजा का कर्तव्य है कि प्रजा की सब प्रकार की उन्नति का प्रबंध करे। पारलौकिक क्षेत्र में यह प्रबंध सब मतों को समान सहायता देते हुए उनके आपसी संबंधों को सद्भावनापूर्ण बनाते हुए ही होता था। अत: किसी मत का राज्य न क़ायम करते हुए भी 'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयसप्राप्ति स धर्म:' की व्याख्या के अनुसार धर्म का विकास करते हुए धर्मराज्य की अवश्य ही स्थापना की जाती थी।

धर्म जीवन है

आज भारतवर्ष के नेतागण यद्यपि पश्चिमी आदर्शों को अपनाकर भावी भारत की रचना करना चाहते हैं। उसके अनुसार पश्चिम के अर्थ में 'सेक्यूलर स्टेट' का अर्थ 'लौकिक' राज्य ही लगाया जा सकता है, किंतु भारतीय जनता धर्मराज्य या रामराज्य की भूखी है। वह केवल लौकिक उन्नति में ही संतोष नहीं कर सकती। भारतीयता की स्थापना भी केवल एकांगी उन्नति से नहीं हो सकती। क्योंकि हमने लौकिक और पारलौकिक उन्नति को एक-दूसरे का पूरक ही नहीं, एक-दूसरे से अभिन्न माना है। किंतु पारलौकिक उन्नति के क्षेत्र में राज्य की ओर से किसी एक मत की कल्पना अनुचित होगी, अत: उसके द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना होगा जिसमें सभी मत बढ़ सकें तथा 'एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति' के सिद्धांत का पालन कर सकें।

फलत: हमारे राज्य के लिए 'लौकिक राज्य', 'सेक्यूलर स्टेट' का ठीक पर्याय होने पर भी मौजूद नहीं होगा। धर्म शब्द की उपर्युक्त परिभाषा एवं 'धारणद्धर्ममित्याहु: धर्मोधारयते प्रजा' आदि परिभाषाओं के अनुसार यह शब्द अंग्रेज़ों के रिलीजन *(Religion)* का पर्यायवाची न होकर उससे भिन्न है तथा व्यापक अर्थ वाला है। हमारे यहाँ बिना धर्म के तो किसी के भाव की, उसके अस्तित्व की ही कल्पना कठिन है। फलत: हम समझते हैं कि हमारा राज्य धर्म को तिलांजलि नहीं दे सकता। अत: अधार्मिक, धर्मनिरपेक्ष, धर्मरहित, धर्महीन, धर्मविरत आदि सभी शब्द न तो हमारे राज्य के आदर्श को ही प्रकट करते हैं और न 'सेक्यूलर स्टेट' का ठीक पर्याय ही हो सकते हैं।

मत और धर्म के भेद

अंग्रेज़ों के रिलीजन शब्द का पर्यायवाची शब्द यहाँ 'मत' है तथा एक 'मत' के मानने वाले को संप्रदाय कहा जाता है, जैसे शैव संप्रदाय, वैष्णव संप्रदाय तथा खिस्ती संप्रदाय आदि। निश्चित ही पहले और आज भी राज्य इनमें से किसी एक संप्रदाय का नहीं हो सकता। राज्य की दृष्टि तो सबके लिए ही समान होनी चाहिए। फलत: हम कह सकते हैं कि राज्य को सांप्रदायिक न होकर, असांप्रदायिक होना चाहिए। यही राज्य का सही आदर्श है। ऐसा राज्य किसी संप्रदाय् विशेष के प्रति पक्षपात या किसी के प्रति घृणा का व्यवहार न करते हुए भी जीवन की लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते हुए धर्मराज्य हो सकता है।

असांप्रदायिक कहें

'असांप्रदायिक' शब्द से राज्य के ठीक-ठीक आदर्श का ही बोध नहीं होता अपितु यह 'सेक्यूलर' के शाब्दिक नहीं तो पाश्चात्य व्यावहारिक अर्थ के भी बहुत निकट है। रूस को छोड़कर किसी राज्य ने कभी 'मत' को समाप्त नहीं किया। आज तो रूस में भी पूजा स्वातंत्र्य को मान लिया गया है। यद्यपि राज्य की ओर से किसी को कोई सुविधा नहीं मिलेगी। शेष सभी राज्यों में सभी संप्रदायों को अपने मत के द्वारा आत्मिक, शारीरिक स्वतंत्रता है। इंग्लैंड के राजा को छोड़कर शेष कहीं किसी संप्रदाय विशेष के प्रति पक्षपात नहीं है। अत: उन राज्यों को भी पवित्र रोमन साम्राज्य के विरोध में चाहे लौकिक समझा जाए, किंतु 'असांप्रदायिक' कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। 'असांप्रदायिक' शब्द के द्वारा हमारे नेताओं का अर्थ भी अधिक स्पष्ट होता है, क्योंकि आज 'सेक्यूलर' शब्द का प्रयोग केवल पाकिस्तान से, जिसने अपने आपको 'इसलामी राज्य' घोषित किया है, भिन्नता दिखाना ही है। भारत 'इसलामी राज्य' के समान किसी एक संप्रदाय का राज्य नहीं है, यही हमारे नेता प्रकट करना चाहते हैं और इसके लिए उन्होंने 'सेक्यूलर' शब्द को चुना है। आज यद्यपि सांप्रदायिक और राष्ट्रीय शब्दों का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण 'सेक्यूलर' शब्द का नाम लेकर रेडियो से गीता और रामायण आदि का पाठ बंद करना आदि अनेक कार्य कर दिए जाते हैं। फिर भी भारतीय राज्य का आदर्श घोषित करते समय हमारे नेताओं के मस्तिष्क में जो प्रधान धारणा रही, वह 'असांप्रदायिक' शब्द से ही अधिक व्यक्त होती है।

उपर्युक्त सभी कारणों में से असांप्रदायिक शब्द ही सेक्यूलर का निकटतम भाषांतर है और उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

—पाञ्चजन्य (1949)

□

25

संविधान का क्या करें?

यह लेख 1962 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्र चिंतन' में भी संकलित है।

कहते हैं कि एक काबुली ने एक साबुन वाले की दुकान से एक साबुन की बट्टी कलाकंद के भ्रम में खरीद ली और खाने लगा। मुँह में पड़ते ही साबुन का स्वाद तो मालूम हो गया किंतु फिर भी वह खाता ही रहा। इस पर किसी ने पूछा कि खान! क्या खाते हो? तो ख़ान ने तपाक से जवाब दिया, ''ख़ान खाता क्या है? अपना पैसा खाता है।'' बस यही बात आज अपने विधान के संबंध में एक साधारण भारतीय की मन:स्थिति के संबंध में कही जा सकती है।

हमने अनेक वर्षों से एक संविधान सभा की माँग की थी और चाहा था कि हमारे ऊपर कोई विधान बाहर से न लादा जाए, अपितु हम स्वयं अपने संविधान के निर्माता हों। सन् 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के विधेयक क़ी स्थिति में मज़दूर दल द्वारा की गई आलोचना का उत्तर देते हुए श्री होर[1] ने कहा था कि जिन कमियों के कारण मज़दूर दल के नेताओं को यह आशंका हो रही है कि कांग्रेस इस विधान को स्वीकार नहीं करेगी तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि कांग्रेस अपनी संविधान सभा के द्वारा स्वीकृत विधान के अतिरिक्त और किसी विधान को नहीं मानेगी। इन शब्दों में कांग्रेस की मान्यता की स्वीकृति के संबंध में की गई भविष्यवाणी चाहे सर्वांश में सत्य न निकली हो किंतु देशभक्ति के मूलभूत सिद्धांत का प्रतिपादन अवश्य हुआ है। स्वराज्य की भूख को सुराज्य से नहीं मिटाया जा सकता। इस सत्य के अनुसार ब्रिटिश पार्लियामेंट के द्वारा

1. सैमुएल होर, भारत के स्टेट सेक्रेटरी (1931-1935) थे।

बनाए गए विधानों का सबसे बड़ा दोष रहा था कि वे परकीय सत्ता के द्वारा निर्मित विधान थे और उसके विपरीत आज के भारत के संविधान का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसका निर्माण इस देश के ही कतिपय लोगों ने किया है और इसलिए इस संविधान को स्वीकार करना प्रत्येक देशभक्त का कर्तव्य हो जाता है। लगभग एक करोड़ रुपया व्यय करके 3 वर्ष की अवधि में यह संविधान तैयार हुआ है अत: 'ख़ान के पैसे' के समान उसे तो गले के नीचे उतारना ही होगा, फिर स्वाद चाहे जैसा हो।

अत: संविधान की पहली प्रतिक्रिया तो उसका पुरस्कार करने की होती है। पुरस्कार केवल इसलिए कि वह अपना है; और इसी भावना से इस देश की अधिकांश जनता इस ओर देखती है, क्योंकि 90 प्रतिशत अशिक्षित जनता को छोड़ दीजिए, शेष 10 प्रतिशत में से भी 9 ऐसे हैं, जिनको न तो यह पता है कि विधान क्या है और उसमें क्या-क्या है? न उनमें इतनी शक्ति ही है कि वह भविष्य के गर्भ में पैठकर कल्पना कर सके कि संविधान की विभिन्न व्यवस्थाओं का उनके जीवन पर क्या परिणाम पड़ने वाला है? वे इस ओर से उदासीन हैं। वे ही नहीं, जिनके ऊपर ग़रीब भारत की गाढ़ी कमाई के 45 रुपए रोज व्यय किए गए, ऐसे 45 रुपए रोज पानेवाले अनेक संविधान सभा के सदस्य भी इस ओर से यहाँ तक उदासीन थे कि कई बार तो गणपूरक की कमी के कारण सभा की कार्रवाई भी स्थगित कर देनी पड़ी। सर्वश्री कुंजरू[2], कामथ, शिब्बनलाल सक्सेना[3] प्रभृति कुछ अंगुलियों पर गिने जाने वाले सदस्यों को यदि छोड़ दिया जाए तो ऐसे थोड़े ही सदस्य होंगे, जिन्होंने अपने मस्तिष्क और मुख को संविधान के संबंध में कुछ भी कष्ट दिया हो। इसलिए जब कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि यह संविधान सभा आम़ चुनावों के आधार पर निर्मित न होने से सर्वसाधारण जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती तो विचार उठता है कि यदि आम चुनाव भी होते तो परिणाम क्या भिन्न होता? सिर्फ़ 'खान' की रकम अधिक खर्च हो जाती। सच में तो प्रारूप समिति[4] और दो-चार सदस्यों के अतिरिक्त और कोई भी इस सभा का सदस्य होता तो

---

2. हृदय नाथ कुंजुरू (1887-1978) भारत की संविधान सभा के संयुक्त प्रांत से सदस्य (1946-1950) थे। वे अस्थाई संसद् के सदस्य (1950-1952) भी रहे। कुंजुरू उत्तर प्रदेश से दो बार राज्य सभा के सदस्य (1952-1956 एवं 1956-1962) रहे।
3. शिब्बनलाल सक्सेना (1906-1984) भारत की संविधान सभा के संयुक्त प्रांत से सदस्य (1946-1950) थे। वे अस्थाई संसद् के सदस्य (1950-1952) भी रहे। उत्तर प्रदेश विधानसभा के 1937-1946, 1964-1967 के दौरान सदस्य रहे। शिब्बनलाल लोकसभा के चार बार सदस्य रहे : (I) पहली लोकसभा—1952-1957 में गोरखपुर पूर्व से (किसान मज़दूर प्रजा पार्टी); (II) दूसरी लोकसभा—1957-1962 में महाराजगंज, उत्तर प्रदेश से (स्वतंत्र); (III) पाँचवीं लोकसभा—1971-1977 में महाराजगंज (स्वतंत्र); और (IV) छठी लोकसभा—1977-1979 में महाराजगंज से (जनता पार्टी)।
4. 29 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने भारत के लिए संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए डॉ. भीमराव अंबेडकर (1891-1956) की अध्यक्षता में प्रारूप समिति का गठन किया।

भी यही संविधान बनता, जो आज बना है। यदि आम चुनाव भी होते तो अंतर नहीं पड़ता क्योंकि अशिक्षित लोकमत इससे भिन्न रूप में प्रकट नहीं हो सकता था।

किंतु पहली प्रतिक्रिया का जोश समाप्त होते ही संविधान की धाराओं का विचार करना पड़ता है और कल्पना करनी होती है, उससे होने वाले इष्ट या अनिष्टकर परिणाम की। लोकतंत्र के आदर्श के अनुसार वयस्क मताधिकार और पूर्णत: लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली तो अभिमान की वस्तु है, प्रगति का वह बिंदु है, जहाँ तक बड़े-बड़े सभ्य देश भी नहीं पहुँच पाए हैं। किंतु साथ ही आज की परिस्थिति में जनता में राजनीतिक क्षमता का अभाव, उसका गिरा हुआ नैतिक स्तर जिस पर वह तो क्या उसके नेता भी सहज भ्रष्ट हो सकते हैं। आत्माभिमान की कमी, एक हज़ार वर्ष की ग़ुलामी और निरंकुश शासन में रहते-रहते स्वशासन और लोकतंत्रात्मक परंपराओं से शून्य स्थिति, अंतर्बाह्य अशांति की अवस्था तथा अधिकारियों द्वारा लोकमत की उपेक्षा का प्रचलित भाव देखकर आशंका होती है कि इस आदर्श को हम व्यवहार में कहाँ तक उपयोगी बना सकेंगे। आज संपूर्ण जनता को अधिकार तो मिल गए हैं और उसके अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान में सब प्रकार की व्यवस्था भी की गई है। किंतु आज तो निर्माण का काल है, क्या अधिकार की भावना से यह निर्माण हो सकेगा? मेत्सिनी[5] ने तो कहा है कि 'अधिकार अपने नग्न रूप में विरोध का संगठन कर सकता है, ध्वंस कर सकता है, पर निर्माण नहीं कर सकता। कर्तव्य निर्माण करता है और समाज की सामूहिक शक्ति की एकता को स्थापित करता है।'

अत: अच्छा सिद्धांत रखने पर भी मालूम होता है कि इसका पुरस्कार करने पर कहीं भोली जनता को भ्रम में डालकर ध्वंस करने वाली शक्तियाँ ही आगे न बढ़ जाएँ। कांग्रेस की पार्टीबाजी तथा विभिन्न भेदों के आधार पर बनने वाली अनेक राजनीतिक पार्टियाँ इस आशंका को और भी पुष्ट करती मालूम होती हैं।

भारत को 'संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न' तो घोषित कर दिया है किंतु उसका यह प्रभुत्व रह सके, इसकी व्यवस्था भली-भाँति नहीं की गई है। देश में एक ही नागरिकता तथा केंद्र को पर्याप्त शक्ति देकर यद्यपि भारत की एकता को सुदृढ करने का प्रयत्न किया गया है, किंतु उसको विभिन्न राज्यों का संघ मानकर तो उस एकता के मूल पर कुठाराघात किया ही गया है। शरीर विभिन्न अंगों का समुच्चय नहीं अपितु शरीर के विभिन्न अंग हैं। संघीय कल्पना का परिणाम निश्चित ही भारत की एकता के लिए घातक होगा तथा देश में राष्ट्र-विरोधी भावनाओं को प्रश्रय मिलेगा। राज्यों के अधिकार की लड़ाई राष्ट्रीयता के अभाव में कभी भी भयानक स्वरूप धारण कर सकती है तथा

5. ज्यूसेप मेत्सिनी (1805-1872) के प्रयत्नों से इटली स्वतंत्र तथा एकीकृत हुआ।

आज भाषानुसार प्रांत-रचना की माँग के पीछे इस दुष्प्रवृत्ति की झलक स्पष्ट दिख रही है। भारत की संघीय कल्पना एक मौलिक भूल है, जिसका पुरस्कार किसी भी मूल्य पर नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त संविधान में अनेक ऐसी कमियाँ हैं, जिन्हें कोई भी देख सकता है। 1935 का इंडिया एक्ट अधिकांश ज्यों-का-त्यों संविधान में ले लिया गया है। फिर शेष बातों के लिए भी उसका आधार पश्चिम का ज्ञान ही रहा है। अमरीका की अध्यक्षात्मक और ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का विचित्र मेल बैठाने का प्रयत्न किया गया है। संसद् और राष्ट्रपति यदि विभिन्न दलों के हुए तो दोनों की खींचतान दुनिया के मजे की और देश के लिए संकट की चीज हो जाएगी। भारत के संविधान में भारतीयता का अभाव अनहोनी सी बात है, किंतु है अवश्य। देश के नाम, राष्ट्र भाषा आदि प्रश्नों के ऊपर जो निर्णय लिए गए हैं, वे राष्ट्र जीवन की मौलिक कल्पना की विकृति के ही परिचायक हैं।

फिर भारत के संविधान में इतनी बातों का समावेश किया गया है कि उसमें अधिकांश अनावश्यक हैं तो कई भावी पीढ़ी को जकड़ने वाली भी हैं। आज की सभी कल्पनाओं से भावी संतति को बाँध देना उसकी प्रगति में बाधा डालना है। फलत: ऐसे-ऐसे प्रतिबंध संविधान में सन्निहित हैं, जो किसी भी देश के विधान में ढूँढ़े से भी नहीं मिलेंगे। अध्यक्ष के चुनाव से लेकर साधारण कर्मचारी तक के संबंध में धाराएँ जोड़ दी गई हैं। फलत: संविधान में एक ओर तो अत्युच्च आदर्शों का संकल्प है, जिसमें समाज की आज की स्थिति का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया, तो दूसरी ओर निहित स्वार्थों के संरक्षण की व्यवस्था भी कर दी गई है। अच्छे नियमों के संबंध में कहा गया है कि *You do not enact a good law, but you grow it.* किंतु यहाँ तो संविधान के विकास का मार्ग ही बंद कर दिया गया है।

तो फिर क्या संविधान का बहिष्कार किया जाए? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है। जिस संविधान के द्वारा देश की भविष्य में निश्चित हानि होने वाली है, उसका पुरस्कार कैसे करें? किंतु इसी क्रम में यह विचार आता है कि यदि अपने ही लोगों द्वारा निर्मित संविधान का बहिष्कार किया गया तो एक गलत परंपरा निर्मित होगी, जिसमें भावात्मक के स्थान पर अभावात्मक एवं क्रियात्मक के स्थान पर प्रतिक्रियात्मक वृत्ति ही निर्माण होगी। फिर क्या संविधान का पुरस्कार करते हुए उसे समाप्त करने का प्रयत्न किया जाए, जैसा कि महात्माजी (मोहनदास करमचंद गांधी) ने सन् 1935 के एक्ट के संबंध में किया? किंतु बहिष्कार के लिए पुरस्कार भी ठीक नहीं, और इस बात का ही दावा किया जा सकता है कि आगे आने वाली संविधान सभा सर्वांगपूर्ण संविधान ही

बनाएगी, क्योंकि कोई संविधान पूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग है और वह है परिष्कार के लिए पुरस्कार। अपने उस्तरे के बेंट और छुरे को बारी-बारी से बदलवाकर 60 वर्ष तक एक ही उस्तरे को चलाने वाले नाई की भाँति हमारे संविधान का आमूल परिष्कार कहाँ तक संभव होगा। यह तो भविष्य ही बताएगा।

— राष्ट्रधर्म, माघ शुक्ल पूर्णिमा, 2006 (फरवरी 2, 1950)

□

26

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : कानपुर

यह मेरे लिए सौभाग्य का अवसर है कि आज आपके सम्मुख कुछ विचार रखने की आज्ञा हुई है। जो लोग यहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब एक महान् ध्येय को सामने रखकर आए हैं। वे अपने राष्ट्र का निर्माण करने की इच्छा से यहाँ आए हैं। इस प्रकार जो इतिहास का निर्माण कर रहे हों, युगों से चली आई इस राष्ट्र की परंपरा को भविष्य में भी अखंड बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील हों, उन महापुरुषों से दो शब्द कहना एक असाधारण सौभाग्य है।

हम लोग इसी दृष्टि से देखें। अपना कार्य साधारण नहीं। दस-बीस या हज़ार-दो हज़ार, लोग कहीं एकत्र हो गए, इतना ही अपना कार्य नहीं। अन्य संगठनों या संस्थाओं की तरह जिनके छोटे-मोटे ध्येय रहते हैं, जैसे शक्ति प्राप्त करके छोटी-मोटी इच्छाओं को पूर्ण करना, राजनीतिक स्वार्थों को पूर्ण करना आदि। ऐसी कोई छोटी-मोटी इच्छा लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्वयंसेवक कार्य नहीं करता। वह एक महान् ध्येय लेकर कार्य कर रहा है। अपने राष्ट्र जीवन को चिरंतन बनाने के लिए वह काम कर रहा है। उसका कार्य, उसके सब प्रयत्न, उसकी तपश्चर्या केवल इसलिए है कि हमारा राष्ट्र सुख और समृद्धि के साथ जीवित रहे। जिस ध्येय को हमारे ऋषि-मुनियों ने, मनीषियों ने, तत्त्ववेत्ताओं तथा राष्ट्र निर्माताओं ने राष्ट्र के सम्मुख रखा और इस राष्ट्र को दिशा दी, जब वह ध्येय हमारे सामने आता है तो प्रश्न उठता है कि आख़िरकार वह कौन तत्त्व हैं, जिनके आधार पर हमारे राष्ट्र का यह विशाल मंदिर खड़ा हुआ है।

आज हम तीस करोड़ हैं, पहले कुछ कम थे, दस वर्ष पूर्व पच्चीस करोड़ होंगे। परंतु सहस्रों वर्षों में इस समाज को जिसे हिंदू के नाम से जाना जाता है, उसे एकसूत्र में गूँधकर रखने वाली कौन सी वस्तु है, जिसकी हमें रक्षा करनी चाहिए? जिसके कारण

हम कह सकें कि हम हिंदू के नाते ज़िंदा है। जिसके कारण हम राष्ट्र के नाते रह सकें। राष्ट्र के नाते जीवित रहने का अर्थ यह नहीं कि वहाँ मनुष्य रहे। मनुष्य तो पहले भी रहते थे, आज भी हैं और सदैव रहेंगे। दुनिया के जो राष्ट्र समाप्त हो गए, वहाँ अब मनुष्य नहीं रहे, ऐसी बात नहीं। वहाँ आज भी मनुष्य रहते हैं। बेबिलोनिया में भी रहते हैं, फारस (ईरान) में भी रहते हैं। दो पैरों के हमारे समान ही खाने-पीने वाले मनुष्य रहते हैं। फिर भी हम कहते हैं कि मिस्र का पुराना राष्ट्र नहीं है, आज फारस का पुराना राष्ट्र नष्ट हो गया है। असीरिया और बेबीलोन की सभ्यताएँ जीवित नहीं हैं।

हम कहते हैं कि रोम और यूनान मिट गए। परंतु हमारी हस्ती नहीं मिटी। क्यों नहीं मिटी? कौन सी वस्तु थी, जिसके कारण हम कहते हैं कि हमारी हस्ती नहीं मिटी। यदि हम चाहते हैं कि भविष्य में भी हमारी हस्ती बनी रहे तो वह कौन सी वस्तु है, जिसे हमें ज़िंदा रखना पड़ेगा। इसके संबंध में थोड़ा सा विचार करना पड़ेगा। बाहर की बातें तो बदलती जाती हैं। मनुष्य तो बदलता जाता है। जो कल था वह आज नहीं। नया पैदा होता है। प्रतिदिन हमारे ही देश में सैकड़ों व्यक्ति जनमते और मरते हैं। आज से पचास हज़ार वर्ष पूर्व जो मनुष्य थे, वे आज नहीं। परंतु हम कहते हैं कि हिंदू समाज वहीं है। किस कारण? बहुत सी पद्धतियाँ, कार्य करने के तरीक़े, विचार करने के तरीक़े बदल गए। आज से हज़ारों वर्ष पूर्व हम लोग रथों पर बैठते थे, बहुत प्राचीन काल से हमारे बहुत से लोग वनों में रहते थे।

ऋषि-मुनि वल्कल पहनते थे, आज तो वैसा जीवन व्यतीत नहीं करते। उसमें बहुत कुछ परिवर्तन आ गया है। कभी वल्कलधारी ऋषि मिले, तो कभी गेरुवाधारी संन्यासी। अब दिनोदिन वे भी कम होते जा रहे हैं। सर्वसाधारण समाज तो हमारे जैसे कपड़े पहनता है। यदि ये सारी बाह्य वस्तुएँ बदलती जा रही हैं, मनुष्य समाज बदल गया, साम्राज्य नष्ट हो गए, नए साम्राज्य आए और वे भी नष्ट हो गए। कई बार हम परतंत्र हुए, वह परतंत्रता भी नष्ट हो गई। जिस भी दृष्टि से देखें हमारा जीवन बदलता जा रहा है। कभी यहाँ सूर्य वंशियों का राज्य था, कभी राम का, उसके बाद युधिष्ठिर का हुआ, फिर परीक्षित का आया, चंद्रगुप्त, अशोक, यशोवर्मन और हर्ष आदि तक अनेक छोटे-मोटे राजाओं के राज्य आए। बाहरी आक्रमणकारी आए, उनके राज्य भी स्थापित हुए। मुग़ल आए, अंग्रेज़ आए और अब वे भी चले गए। तो आने-जाने के बाद भी हम कहते हैं कि हिंदू आज भी ज़िंदा है। यहाँ तक कहते हैं कि हज़ारों वर्ष पूर्व जो हिंदू समाज था, वह आज भी जीवित है। जो राम के काल से चला आ रहा है, जो हरिश्चंद्र, व्यास और जो भगवान् बुद्ध और महावीर के काल से चला आ रहा है, वही हिंदू आज भी ज़िंदा है। यह हम बार-बार कहते हैं। वह कौन सी वस्तु है, जिसके कारण हम कहते हैं कि हिंदू ज़िंदा है? इस पर विचार करें, जो हिंदू समाज को नहीं

जानता अथवा प्रत्येक समाज का रहस्य अथवा प्रत्येक राष्ट्र के जीवन का रहस्य उसकी व्याख्या करना तो बड़ा कठिन है—एक शब्द में बताया जा सकता है, उसे आजकल की परिभाषा में 'संस्कृति' कहते हैं और जिसे प्राचीन काल की परिभाषा में 'चिति' कहते थे। संस्कृति के कारण ही हम ज़िंदा हैं।

जैसे मनुष्य ज़िंदा रहता है, क्यों? इसके संबंध में उपनिषदों में एक कथा आई है। एक बार यह प्रश्न उठा कि मनुष्य ज़िंदा क्यों रहता है? आँख, कान, नाक सब कहने लगे कि हमारे कारण ज़िंदा रहता है। इसके कारण प्रत्येक को अहंकार हो गया। इस अहंकार को मिटाने के लिए उन्हें बताया गया कि आँख फूट जाने पर भी मनुष्य ज़िंदा रहता है। बहरे और नकटे भी ज़िंदा रहते हैं, लँगड़े एवं लूले भी ज़िंदा रहते हैं। आँख, कान, नाक आदि इंद्रियाँ मनुष्य के लिए आवश्यक हैं। उनके कारण मनुष्य का जीवन नहीं। उसका जीवन प्राण या आत्मा के कारण है। सब इंद्रियाँ चली गईं और प्राण शेष रहा, तब भी मनुष्य जीवित रह सकता है। राष्ट्र बाहरी चीजों से मरता नहीं। वे आती-जाती रहती हैं। वे सब रहें तो अच्छा ही है। क्योंकि सब इंद्रियाँ रहने पर मनुष्य विकास कर सकता है, दुनिया में कार्य कर सकता है और वहाँ का आनंद उठा सकता है।

यदि वे इंद्रियाँ अच्छी प्रकार से कार्य कर रही हों। कोई यह कहे कि इनके कारण उसका जीवन है तो गलत है। इसी प्रकार राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंग आवश्यक रहते हैं। किसी भी राष्ट्र में रहने वाले समुदाय के पास राजनीतिक शक्ति होना, स्वतंत्रता होना आवश्यक है। क्योंकि स्वतंत्रता रहने पर वह अपनी इच्छानुसार योग्य विकास कर सकेगा। परंतु यह स्वतंत्रता उस राष्ट्र का जीवन नहीं। राष्ट्र का जीवन उसकी आत्मा है। स्वतंत्रता रही, पर आत्मा नहीं तो सब व्यर्थ। पिछली बार जेल में अपना एक स्वयंसेवक बीमार पड़ गया, जब वह मृत्युशय्या पर आ गया, तब जेल अधिकारियों ने उसे बाहर पटक दिया। वह स्वतंत्र तो हो गया, पर उस स्वतंत्रता का मूल्य क्या, जब उसके प्राण नहीं रहे! यदि स्वतंत्र होने के बाद भी राष्ट्र संस्कृति नष्ट हो जाए तो उस स्वतंत्रता से कोई लाभ नहीं हो सकता। अर्थ या वैभव की राष्ट्र को आवश्यकता है, पर तभी जब उसके प्राण जीवित हैं। शरीर के अंदर आत्मा है, ऊपर से कपड़े पहन लिए तो लाभ होगा। पर शरीर से आत्मा तो चली गई, पर ऊपर से बढ़िया कफन पहना दिया तो उस शरीर से कोई लाभ नहीं। जैसे अच्छे कपड़े ज़िंदा शरीर पर शोभा देते हैं, मरे शरीर पर उसका कोई उपयोग नहीं। उसी प्रकार जब राष्ट्र की आत्मा चली जाए, उसका सांस्कृतिक भाव मर जाए, तब अर्थ, वैभव, राजनीतिक शक्ति आदि बाह्य वस्तुएँ उसके लिए लाभकारी सिद्ध नहीं हो सकतीं।

राष्ट्र को जीवित रखने वाली, उसे सामर्थ्य प्रदान करने वाली, उसके प्रत्येक अवयव को चेतना देने वाली उसकी आत्मा ही होती है। संस्कृति होती है, जो मनुष्य के

अंदर उसकी इंद्रियों को चेतना और उसकी आत्मा देती है। यदि राष्ट्र की संस्कृति अनाहत है तो सब वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। संस्कृति है तो धन भी प्राप्त हो सकता है, संस्कृति है तो राजनीतिक शक्ति भी प्राप्त हो सकती है। राष्ट्र की संस्कृति है तो संसार में सम्मान भी प्राप्त हो सकता है। क्योंकि राष्ट्र को जीवन देने वाली वस्तु संस्कृति होती है।

यदि यह इतनी आवश्यक वस्तु है, यदि इसी के कारण हमारा समाज जीवित रह सकता है तो हम विचार करें कि आख़िर यह वस्तु क्या है? संस्कृति क्या है, यह हमें जानना चाहिए। बिना विचार किए वैसे ही होगा कि मन में कल्पना तो रखें पर उसका स्पष्ट ज्ञान न हो। इससे हम किसी निश्चित ध्येय पर न पहुँच सकेंगे। हम ठीक प्रकार से कार्य भी नहीं कर पाएँगे। हम राष्ट्र निर्माण के जिस कार्य में लगे हुए हैं, वह भी नहीं कर पाएँगे। इसलिए विचार नितांत आवश्यक है। थोड़ा सा हम सोचें। मैंने पहले ही कहा है कि संस्कृति की व्याख्या बड़ी कठिन है। परंतु क्योंकि यह हमारे जीवन के लिए आवश्यक वस्तु है, इसलिए कहा जा सकता है कि किसी भी समाज की संस्कृति उस भाव को कह सकते हैं कि जिसके कारण वहाँ से जन समुदाय में सामाजिक भावना रह सके। जिसके कारण समुदाय एकत्व का अनुभव कर सकता हो। जैसे कि आत्मा के कारण शरीर के सब अणु-परमाणु एकत्व का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य समुदाय के सब घटक जिस भाव के कारण एकता का अनुभव करते हों, वह उसकी संस्कृति है।

जिस भाव के कारण पृथकता उत्पन्न हो, मनुष्य एक-दूसरे से पृथक् हो जाएँ, विभेद उत्पन्न हो और ईर्ष्या-द्वेष बढ़ जाए, वह संस्कृति नहीं; असांस्कृतिक भाव है। सांस्कृतिक भाव वही है, जो एकता और साथ-साथ चेतना उत्पन्न करने वाला है। क्योंकि एकता तो छोटे-मोटे भाव भी उत्पन्न कर सकती हैं। चोरों के गिरोह में भी एकता रहती है, उनका भी गुट बन सकता है। पर वह गुट उसकी सच्ची एकता नहीं। दूसरे वह एकता स्थायी नहीं होती। यदि स्थायी रही तो भी उसमें चैतन्य नहीं होता। यदि दोनों बातें आ गईं, एकता और कर्म चेतना तो यह गुट बड़े समुदाय के लिए घातक सिद्ध होता है। घातक सिद्ध होने पर वह संस्कृति नहीं। संस्कृति भावना तो वही कही जा सकती है, जिससे कोई भी समुदाय अपनी एकता का अनुभव करे। चारों ओर दिखाई देने वाले चराचर विश्व के साथ एकता का अनुभव करे। उससे एकता का अनुभव कराते हुए अपने अंदर चेतना उत्पन्न करे। उस चेतना को उत्पन्न करते हुए अपने जीवन के निम्न स्तर से उठकर अधिक-से-अधिक जीवन की विशालता का अनुभव करे और आगे बढ़ता चला जाए।

हमने प्राचीन काल से एक तथ्य को स्वीकार किया है कि यह संपूर्ण विश्व भगवान् का ही स्वरूप है। इसी पर हमारे सारे जीवन का निर्माण हुआ है। आजकल

बहुत से लोग संस्कृति से अभिप्राय समझते हैं कि पुरानी चीजों की बात करना ही भारतीय संस्कृति है, नई चीजों की बात करना नहीं। वे बाह्य वस्तुओं में ही संस्कृति समझते हैं। जैसे मोटर में बैठने पर कोई कहे कि यदि आपको भारतीय संस्कृति के अनुरूप चलना है तो बैलगाड़ी में चलिए। मोटर अथवा बैलगाड़ी तो भारतीय संस्कृति नहीं है। संघ पर प्रतिबंध के समय कुछ स्वयंसेवक अपने प्रांत के एक प्रमुख नेता से मिलने गए तो उन्होंने कहा कि यदि आप सांस्कृतिक कार्य करते हैं तो बताइए, आपने कितने लोगों को संस्कृत पढ़ाई?

इसी प्रकार एक संपादक महोदय ने अपनी संपादकीय टिप्पणी में स्वयंसेवकों को सलाह दी कि यदि उन्हें सांस्कृतिक कार्य करना है तो उन्हें हिमालय में जाकर खोज करनी चाहिए; वहाँ तपस्या करनी चाहिए। वे यहाँ जीवन में क्यों लिप्त रहते हैं? संस्कृति के संबंध में ऐसी कितनी ही विकृत धारणाएँ भरी पड़ी हैं, बहुत लोग समझते हैं कि पुरानी बातें करना ही संस्कृति है और नई बातें करना संस्कृति के विरुद्ध कार्य करना है। इस प्रकार के विचार रखने वाले दोनों ही तरह के लोग हैं, भारतीय संस्कृति के विरोधी भी और प्रेमी भी। संस्कृति कोई अस्थायी भाव नहीं, प्राचीन काल में ही भारतीय संस्कृति थी, आज नहीं है, ऐसी बात नहीं है, संस्कृति सदैव रहती है। वह भाव जिससे एकता उत्पन्न हो, संस्कृति का है। यह भाव सदैव उत्पन्न हो सकता है। जिन साधनों से हम प्राचीन काल में एक होकर रहे, वे हमारी संस्कृति के साधन थे। उनके द्वारा हमने अपनी राष्ट्रीय एकता को अनुभव किया। किसी समय यज्ञ हमारी संस्कृति के आधार थे, उस यज्ञ के चारों ओर एकत्र होकर हम संस्कृति की एकता का अनुभव करते थे। हमारे ऋषि कहते थे—'संगच्छध्वम्', इस प्रकार के गान करके वे एकता और समानता के भाव उत्पन्न करते थे। यज्ञ हमारी संस्कृति का भाव उत्पन्न करने के साधन के रूप में हमारे सामने आए, इसलिए हमने कहा कि हमारी संस्कृति यज्ञमयी है।

समय के साथ-साथ वे यज्ञ तो समाप्त हो गए। स्थान-स्थान पर कीर्तन शुरू हुआ, उनमें जाकर पूजा करना, कीर्तन करना हमारा कार्यक्रम हो गया। साधु-संत जाकर उन मंदिरों में कथा-कीर्तन करते थे। उनके द्वारा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक एकता का सांस्कृतिक भाव उत्पन्न किया जाता था। भारतवर्ष के संपूर्ण जन समुदाय को वहाँ एकता का पाठ पढ़ाया जाता था। इसलिए हम कहते थे कि यह मंदिर और कीर्तन स्थान हमारी संस्कृति के साधन हैं। उन्हें हमने बड़े आग्रह से अपनाया और उनकी रक्षा भी की। इसी प्रकार समय-समय पर नए साधन बनते जाते हैं।

एकता की भावना की तरह-तरह से अभिव्यक्ति होती है। उस अभिव्यक्ति को सभ्यता कहते हैं, वह सदैव बदलती रहती है। प्राचीन काल में जो सभ्यता थी, वह आज नहीं है। यह तो गंगा के पवित्र प्रवाह का जल है। जो इस क्षण है, वह दूसरे क्षण नहीं।

कभी भी वही प्रवाह नहीं मिलेगा, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है, अपने साथ कितनी ही चीजें लेकर आगे निकल जाता है। परंतु गंगा का प्रवाह तो वही है। जिस गंगा को भागीरथ लाया था, आज भी वही गंगा है। इसलिए उसे भागीरथी कहते हैं। वह उतनी ही पवित्र आज भी है, जितनी पहले थी। जिस गंगा को भगवान् राम ने पार किया, जिसे पार करने में केवट ने उनसे उतराई ली, वही गंगा आज भी है। हम भी राम की तरह उसे पार कर सकते हैं। परंतु उसका वह पानी अब नहीं, किनारे के दृश्य नहीं, नगर नहीं, नावें नहीं, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ नहीं। परंतु इस सबसे गंगा नहीं बदली। उसी प्रकार संस्कृति नहीं बदलती। अंदर का भाव वही रहता है। बाह्य वस्तुएँ बदलती रहती हैं। वे साधन, जिनके द्वारा हम उस भाव की अभिव्यक्ति करते हैं, बदल सकते हैं, किंतु भाव वही रहता है। उसमें किसी प्रकार का मूल परिवर्तन नहीं होता।

बाहर की कितनी ही चीजें बदली जाती हैं। जैसे बच्चा जब बूढ़ा हो जाता है तो इसमें कितने ही बाह्य परिवर्तन हो जाते हैं। शरीर का आकार बढ़ जाता है, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, बाल सफेद हो जाते हैं और विचारों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है, परंतु हम कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है, जो साठ-सत्तर वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था। ऐसी कौन सी वस्तु है कि शरीर का एक-एक कण बदल जाता है। विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि शरीर के परमाणु प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं, परंतु व्यक्ति वही रहता है; हम उसी नाम से उसे पुकारते हैं। वही व्यक्ति उसके जीवन में रहता है, क्योंकि उसकी आत्मा वही है, जो बाल्यकाल में थी, उसी प्रकार से हज़ारों वर्ष से चली आने वाली हमारे राष्ट्र की आत्मा जब तक बनी हुई है, तब तक हम कहेंगे कि हमारा राष्ट्र ज़िंदा है, जिस क्षण वह आत्मा समाप्त हो जाती है, उसी क्षण हम कहेंगे कि हमारा राष्ट्र समाप्त हो गया। बाक़ी की सब चीजें चाहे जैसी थीं, रहें। राष्ट्र में बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ हों परंतु उनका कोई मूल्य नहीं, आज यदि हमें अट्टालिका न मिले और झोंपड़ी में ही रहें, तब यदि हमारी आत्मा जीवित है तो हम कहेंगे कि हम ज़िंदा हैं।

यह संस्कृति, जिसकी हम रक्षा करना चाहते हैं, एकता के भावों को उत्पन्न करने वाली हमारी संस्कृति के कुछ गुण हैं। जो गुण इतने दिनों में हम लोगों ने प्रकट किए, उन गुणों की यदि हमने रक्षा कर ली तो बाक़ी चीजों की रक्षा भी कर लेंगे। जैसे कि हमने कहा कि हमारी संस्कृति त्यागमयी है—वह सहिष्णुता का पाठ पढ़ाती है, अनेकता में एकता का पाठ पढ़ाती है; समन्वय और संयम का संदेश देती है, ऐसी अनेक बातें लोग भारतीय संस्कृति के बारे में कहते हैं और वे सत्य भी हैं। आज अपने देश में एक बहुत बड़ा वर्ग इन शब्दों को लेकर खड़ा हो गया है, जो कहता है कि हमको भी एकता सहिष्णुता और सत्य के आधार को लेकर चलना चाहिए। इस प्रकार वह वर्ग सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, समन्वय और मानवता आदि की बड़ी-बड़ी बातें लेकर चलता है

और कहता है कि इसके द्वारा हम भी तो भारतीय संस्कृति की सेवा कर रहे हैं, परंतु हमें देखना पड़ेगा कि शब्दों से कुछ नहीं होता। यदि ये सब गुण किसी बड़े भाव के पोषक हैं तो उनका मूल्य है।

जैसे कि क्षमा के संदर्भ में महाभारत का एक उदाहरण है। महाभारत का युद्ध समाप्य था। दुर्योधन भीम की गदा के प्रहार से घायल होकर रणभूमि में पड़ा था। उसकी हालत अत्यंत शोचनीय थी। वह अपने हाथ-पैर भी नहीं हिला सकता था। कौए और श्रृगाल आकर उसके मांसपिंड खींच-खींचकर ले जाते थे। उस समय अश्वत्थामा वहाँ आया, उसने दुर्योधन की दशा देखकर कहा कि ओह! भाग्य की कैसी लीला है, जो कभी इतना बड़ा सम्राट् था, जिसके कंपन से ही लोग काँप जाते थे। वह आज इस प्रकार भूमि पर पड़ा हुआ है और चील, कौए और श्रृगाल आदि भी उसकी प्रताड़ना कर रहे हैं। उसका तिरस्कार कर रहे हैं, यह कैसे हुआ? तो दुर्योधन ने कहा कि अरे ये चील-कौए क्या हैं? इन्हें तो मैंने क्षमा कर दिया। क्या वह सचमुच क्षमा है? यदि कोई शब्दों का जाल अपनाकर कहे कि हम भारतीय संस्कृति का कल्याण कर रहे हैं, उससे क्या होता है? अपने वस्त्र कहीं भी फेंक देना त्याग नहीं है। किसी ने चाँटा मार दिया तो शक्ति न होने पर चाँटें का उत्तर न देना तो अहिंसा नहीं कही जा सकती।

किसी ने कहा, संयम करना चाहिए। अपने पास खाने को है नहीं और भूखे मर रहे हैं, एकादशी चल रही है। तब यदि हम कहें कि संयम कर रहे हैं तो क्या वह संयम कहा जाएगा? संयम तो तभी कहा जा सकता है, जब हमारे पास भरपूर खाने को हो, पर हम बड़े काम के लिए उसे छोड़ दें। छोटी वस्तु को बड़ी वस्तु के लिए छोड़ देना ही त्याग कहा जा सकता है। ऊपर से नीचे उतरने के लिए छोड़ी तो त्याग का मूल्य नहीं। अनेकता को देखकर भी उसके अंदर की मूलभूत एकता को देखकर एकता के लिए प्रयत्नशील होना ही वास्तविक एकता का कार्य है। एकता को समझकर उसके प्रति मन में जब आदर और श्रद्धा के भाव उत्पन्न होते हैं, तब जो सहिष्णुता उत्पन्न होती है, उसे सहिष्णुता कहा जा सकता है। इस कथन में यदि वास्तविकता नहीं कि जाने दो भाई, यह कुछ बातें कह रहा है, शक्तिशाली भी है, इसकी बात काट दी तो चाँटें मार देगा, इसलिए आदर के साथ सुनो। यह सहिष्णुता नहीं है।

यह भाव हमारे अंदर किस प्रकार उत्पन्न हुआ? इसका एक ही कारण है, हमने संपूर्ण समाज को एवं मानव मात्र को यहाँ तक कि संपूर्ण चराचर विश्व को भगवान् की अभिव्यक्ति समझ माना कि संपूर्ण विश्व उस भगवान् का स्वरूप है। हर जगह भगवान् है, हर जगह कृष्ण है, यह समझकर हमने विशेष व्यवहार किया। अनेक गुणों को उत्पन्न किया, जिसके कारण हमारे अंदर एकता का भाव उत्पन्न होता है। जब हमने यह मान लिया कि सबकुछ उस भगवान् का व्यक्त स्वरूप है, तो यह स्वाभाविक प्रश्न खड़ा

होता है कि हम उस भगवान् का साक्षात्कार करें। उसे प्राप्त करने की इच्छा होने पर हम असमान दिखाई पड़ने वाले विश्व के साथ एकरूप होने का प्रयत्न करते हैं। उसमें लीन होने का प्रयत्न करते हैं। उसको अपने साथ ले जाने का प्रयत्न करते हैं। उसके साथ एकरूप तथा एकरस होने की भावना होने के कारण हम भगवान् को खोजते हैं। वह भगवान् आकाश में रहने वाला नहीं अपितु एक-एक व्यक्ति में रहता है। चराचर विश्व में व्याप्त है। उस भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा होने के कारण हमने एकता का अनुभव किया। उसके कारण यह सब भाव उत्पन्न हुए, जिन भावों ने हमारे जीवन को एक दृष्टि प्रदान की।

हमने यह माना है कि इस दुनिया का आदि और अंत नहीं, प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होती है। विनाश और रचना का क्रम निरंतर चलता रहता है। यह सब होता है, क्योंकि भगवान् अनादि है, अमर है और अजन्मा है। इसीलिए हमने विश्व का भी कोई आदि और अंत नहीं माना है। इस बराबर चलने वाली वस्तु को मानकर उसमें से एकता का अनुभव करने के कारण हमने अपने जीवन का भी कोई अंत नहीं माना। हम नहीं मानते कि हम एक दिन मर जाएँगे। हमने अपनी आत्मा की अमरता को स्वीकार किया है। यदि यह शरीर नष्ट हो जाएगा तो दूसरा शरीर लेंगे। आत्मा अमर होने के कारण हमारे जीवन में एक विशेष दृष्टि उत्पन्न हो गई कि यदि इस जीवन में रहना है तो इस प्रकार रहें, जिससे भावी जीवन की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध हो सकें। ऐसा न हो कि इस जीवन में तो बड़ा आनंद कर ले, पर दूसरा जीवन समांप्त हो जाए, जैसा कि पश्चिम में होता है। हमारे यहाँ भी ऐसे कुछ लोग थे जो इस जीवन के हो सबकुछ मानते थे। उनका सिद्धांत था—

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

जब तक जीना है सुख के साथ जिओ, ऋण लेकर घी पीकर दंड पेलो। देह भस्म हो जाने पर पुनर्जन्म किसने देखा है? आज भी दुनिया में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो इस जीवन के बाद दूसरा जीवन नहीं मानते हैं। ऐसे लोगों का यह स्वाभाविक सिद्धांत हो जाता है कि जब तक जिएँ सुख से जीएँ। अपने व्यक्तिगत जीवन को सुखी बनाने के लिए येन-केन-प्रकारेण जैसा चाहे सो करें। परंतु ऐसा दृष्टिकोण सही नहीं, हम इस जीवन के बाद भी एक दूसरा जीवन मानते हैं। हमारा यह विश्वास होने के कारण कि यह जीवन दूसरा जीवन तथा मानव मात्र का संपूर्ण जीवन मिलाकर उस एक भगवान् की अभिव्यक्ति है। हम प्रत्येक कार्य इस दृष्टि से करते हैं, जिससे अगले जीवन को भी सुखी बना सकें। और भगवान् की भी प्राप्ति हो, यही हमारा सांस्कृतिक दृष्टिकोण है।

जब तक यह दृष्टि बनी हुई है, तब तक हम कह सकेंगे कि हम लोग ज़िंदा हैं।

हमारी संस्कृति ज़िंदा है, जिस रोज यह दृष्टि समाप्त हो जाएगी, हम इस जीवन को ही सबकुछ मानकर उसे सुखी बनाने के लिए कार्य करने लगेंगे। उस दिन हम कहेंगे कि संस्कृति की दृष्टि से हम समाप्त हो गए। उसी दिन से आत्मा के नाते भी हम समाप्त हो जाएँगे। बाहर के किसी भी परिवर्तन से हम समाप्त हो जाएँगे तो बड़ी बात नहीं, जब तक यह दृष्टि ज़िंदा है, तब तक हमारे अंदर सहिष्णुता उत्पन्न होती है। यदि हम सबको एक मानते हैं तो हम यह भी मान लेते हैं कि मन के अंदर कहीं आत्मा है, इसलिए हमें बाहर के भेद नहीं दिखाई देते। यदि कुछ भेद रहे तो उनसे अंतर नहीं पड़ता, जैसे गंगा के जल में अनेक बातें रह सकती हैं। कहीं-कहीं बड़ी-बड़ी तरंगें, तो कहीं छोटी-छोटी लहरें, तो कहीं भयंकर गंगा। इन ऊपर के भेदों को देखकर कोई कहे कि कानपुर की गंगा में तो छोटी लहरें थीं, पर यहाँ काशी में तो बड़ी-बड़ी भँवरे हैं, इसलिए यह वह गंगा नहीं, दूसरी है। उसे हमें बताना होगा कि तुम्हारा ज्ञान सच्चा नहीं। बाहरी अंतर तो होते ही हैं, आदमी आदमी में अंतर के रहते हुए भी उसके अंदर की एकता व सभ्यता तो चलती है, वही सचमुच उस भाव को समझता है, तब अंदर के भावों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। यही भाव एकता के पोषक हैं, उससे सहिष्णुता और समन्वय का भाव उत्पन्न होता है।

अपने साथ रहने वाले व्यक्ति को मानते हैं कि वह मेरा ही साथी है, मेरा ही अंग है और उस व्यक्ति की सेवा भी करते हैं। तब हम उसके लिए ज़िंदा रहने की कोशिश करते हैं। जिससे यह भावना उत्पन्न होती है कि हम उसके लिए त्याग करें। त्याग के साथ संयम का भाव भी जाग्रत् होता है, क्योंकि संयम के बिना त्याग कहाँ? जिसके अंदर स्वार्थ है, जो इंद्रियों को ही सबकुछ समझकर इंद्रियलोलुप सा बन गया है। वह त्याग कैसे कर सकेगा? यह त्याग और संयम आदि के भाव एक-दूसरे के बाद उत्पन्न होते हैं। यदि ये भाव रहे और एकता को अनुभव करने का मूल भाव नहीं रहा तो उन गुणों का कोई मूल्य नहीं, किंतु इनका मूल भाव यही है कि बड़े भारी समुदाय को अपना समुदाय मानें। बाक़ी सब बातें तो ऊपर-ऊपर की हैं। जिस प्रकार हम तालाब में पानी भरकर पंखे से लहरें उत्पन्न करने लगें तो वह गंगा नहीं हो सकती, उसी प्रकार कुछ बाहरी बातें करने से कुछ नहीं होता। थोड़ा सा त्याग करके कुछ उपवास करके संयम करना आना चाहिए।

वह भाव रहना चाहिए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उसी एकता के भाव को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, परंतु वह एकता का भाव बिल्कुल व्यावहारिक होना चाहिए। कई बार लोग एकता के गलत अर्थ समझ लेते हैं। कहते हैं कि एक साधु महात्मा ने अपने शिष्य को आदेश दिया, सबमें भगवान् है, कुत्ते में भी, हाथी में भी और बंदरों में भी। इसलिए वे सब भी भगवान् हैं। शिष्य ने उस सिद्धांत को समझ लिया। तत्पश्चात् वह बाजार में गया, वहाँ दूसरी ओर से एक पागल हाथी आ रहा था। महावत ने

चिल्लाकर कहा कि यह पागल हो गया है, हट जाओ। सब हट रहे थे, कोई छत पर भाग रहा था, कोई गली में छिप रहा था। सब हाथी से बचने का प्रयत्न कर रहे थे। शिष्य ने देखा कि अरे यह तो भगवान् का ही स्वरूप है। मुझमें भी ब्रह्म, इसमें भी ब्रह्म। इसलिए हाथी जब वहाँ पहुँचा तो उसने उस ब्रह्म रूप शिष्य को उठाकर एक ओर पटक दिया। खैरियत यही हुई कि वह मरा नहीं। काफी चोट आई। वह लौटकर गुरु के पास पहुँचा और उनसे कहा कि महाराज, आपने तो बड़ा गलत उपदेश दे दिया। गुरु ने पूछा कि कैसे गलत उपदेश दे दिया मैंने? उसने कहा कि आपने बताया था कि सब जगह ब्रह्म है, परंतु इस ब्रह्म ने तो मेरी कमर तोड़ दी। गुरु ने पूरा किस्सा सुनकर कहा कि मैंने गलत उपदेश नहीं दिया, तूने यदि उस हाथी रूपी ब्रह्म की बात मानी तो उस महावत रूपी ब्रह्म की बात क्यों नहीं मानी?

यह सत्य है कि संपूर्ण मानवता और चराचर जीव मात्र की एकता का प्रयत्न होना चाहिए, परंतु इस एकात्मकता का यदि हम अव्यावहारिक रूप से उपयोग करें तो हमारा वह प्रयत्न सफल नहीं होगा। इसलिए प्राचीन काल से यह प्रयत्न किया गया है कि जहाँ हम इस संपूर्ण मानव समाज की एकता का प्रयत्न करें। वहाँ इसका भी प्रयत्न करें कि इसे व्यवहार में लाने के लिए इसका अनुभव करने के लिए, इसे सत्य सृष्टि में परिणत करने के लिए, इस सिद्धांत को मानने वाले बड़े भारी समाज की एकात्मकता का प्रथम अनुभव करें। उसके द्वारा हम समस्त विश्व की एकात्मकता का अनुभव करें। इसलिए हमारे यहाँ प्राचीन काल से इस देश के प्रति एक प्रबल देशभक्ति का भाव उत्पन्न करने का सदैव प्रयत्न किया गया है। हम अपना प्राचीन इतिहास देखें, प्राचीन परंपरा का अवलोकन करें, युगों से चली आने वाली पद्धतियों को देखें तो ये दोनों बातें हमें दिखाई देंगी। हमारे यहाँ तीर्थयात्रा धर्म का अंग समझकर की जाती है। अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति कराने वाले धर्म में यह आवश्यक समझा गया कि हम भारतभूमि की परिक्रमा कर लें। उस तीर्थयात्रा के अंदर आवश्यक समझा गया था कि हम गंगा में जाकर स्नान करें। उसमें गोता लगाकर अपने को पवित्र समझें। इस प्रकार भारत के कण-कण को पवित्र समझने की भावना हमारे धर्म में उत्पन्न की, केवल यह सोचकर कि जन-भक्ति और देश-भक्ति मानव एकता के स्वप्न को व्यावहारिक करने के लिए आवश्यक है। आत्मा भी तो शरीर में आकर ही कुछ काम कर सकती है, बाहर रहकर नहीं। इसी प्रकार मानव समाज की एकात्मकता का भाव, शुद्ध संस्कृति का भाव तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक एक विशिष्ट समुदाय उस भाव को लेकर न चले।

भारतीय संस्कृति में ये दोनों भाव आते हैं। समाज की एकात्मकता अनुभव करना यह सब भगवान् की ही अभिव्यक्ति है। इस एक भाव को स्मरण कर कार्य करना, दूसरा उस भाव को मानने वाले इस तीस करोड़ समाज तथा जिस देश में वह रहता है,

उस देश के प्रति अनन्य श्रद्धा और भक्तिभाव रखना तथा प्राचीन काल के चले आने वाले संपूर्ण जीवन के प्रति भी श्रद्धा रखना, यह भी एक आवश्यक तत्त्व है। इन दोनों तत्त्वों का सम्मिलित स्वरूप भारतीय संस्कृति है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ यह दोनों भाव उत्पन्न करता है। उसके कार्यक्रम हैं। उसकी कार्यपद्धति नई है। भले ही यहाँ पर हवन-यज्ञ नहीं होता हो, यहाँ पर शायद मंदिर नहीं दिखाई देते तथा कीर्तन नहीं सुनाई देता। यहाँ पर कबड्डी होती है और व्यायाम आदि अन्य कार्यक्रम होते हैं। परंतु इन सब कार्यक्रमों के सहारे इस देश के रहने वाले तीस करोड़ हिंदू समाज की एकात्मकता उत्पन्न करते हैं, इसलिए हम बार-बार कहते हैं कि हम लोग सांस्कृतिक कार्य के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं। इसलिए वे हमसे कहते हैं कि आपका सांस्कृतिक कार्य कैसा है? उन्हें संस्कृति की कल्पना स्पष्ट न होने के कारण वे उसके व्यक्त परिणामों को ही कारण समझते हैं। हम कारणों की चिंता नहीं करते। मूल चीज को लेकर चलते हैं कि तीस करोड़ हिंदू समाज एक है। हिंदू एक है, भारत के प्रति श्रद्धा रखने वाला इस समाज का एक-एक घटक मेरा ही बंधु है। यह अनन्य प्रेम और समष्टि जीवन का भाव ही तो संस्कृति है।

इस समष्टि जीवन के भाव के द्वारा ही हम ज़िंदा हैं। यदि यह चला गया तो हम नष्ट हो जाएँगे। यह तो वैसा ही होगा, जैसे आत्मा शरीर से चली जाए। जब तक कि तीस करोड़ की एका का भाव मौजूद है, तब तक हम जीवित हैं। जब तक इस तीस करोड़ हिंदू समाज और उसे उत्पन्न करने वाले इस देश के अनन्य समन्वय मौजूद हैं। उसके प्रति श्रद्धा है, तब तक हम ज़िंदा हैं - हमारा अस्तित्व जमा हुआ है। इसलिए जो कार्य इस एकता को उत्पन्न करता है, देश के प्रति वह कार्य सच्चे अर्थों में सांस्कृतिक कार्य है। वही सांस्कृतिक कार्य हम करते हैं। उसी के द्वारा राष्ट्र का निर्माण भी होगा।

हमारी आत्मा का स्वरूप सांस्कृतिक होने के कारण सांस्कृतिक कार्य करने से ही तथा समष्टि जीवन का भाव उत्पन्न करने से ही राष्ट्र का निर्माण होगा। अन्य बातों से नहीं। नारे लगाने से राष्ट्र का निर्माण नहीं होगा। रचनात्मक कार्यक्रम करने भर से न रचनात्मक कार्यक्रम होगा और न राष्ट्र निर्माण। रचनात्मक कार्य का अर्थ ही है, समाज की रचना करना। जिस प्रकार माला में एक सूत्र चलता है, जो सारी माला को बनाए रखता है। वैसा ही यह एक सूत्र लोगों के अंदर के भावों को एक बनाए रखने का है, वह सूत्र है हमारी संस्कृति। उस संस्कृति का यदि आज कोई स्रोत दिखाई देता है तो वह अपना संघ कार्य है, जो एक सूत्र उत्पन्न करता है; जो तीस करोड़ हिंदू समाज को साथ लेकर खड़ा है और जो समाज में संगठन निर्माण करता है। इस प्रकार राष्ट्र निर्माण करता है।

यदि केवल हमने एक बात कही कि हम तीस करोड़ हिंदू समाज का संगठन

करते हैं, उसी के लिए हमने आज तक प्रयत्न किया है। संगठन कहते ही त्याग स्वयं आकर सामने खड़ा हो जाता है। अपने यहाँ त्याग के संबंध में बड़े-बड़े बौद्धिक नहीं दिए जाते हैं। कभी ऐसा नहीं कहा गया है कि जाइए, सफाई आदि के रचनात्मक कार्यक्रम कराइए, त्याग तो संघ का स्वयंसेवक स्वयं सीख जाता है। संयम स्वयं आ जाता है, सहिष्णुता स्वयं आ जाती है, उनके जीवन के भेदभाव स्वयं मिट जाते हैं। उसने यह मूलभूत बात मान ली है कि हम तीस करोड़ हिंदू एक हैं, इसे अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करता है। यदि वह एक बात मान ले तो संस्कृति के सब गुण स्वयं जीवन में आ जाते हैं। उनके बारे में चिंता करने की आवश्यकता नहीं, यह चिंता करने की आवश्यकता है कि इस समाज को जो हमारे सारे भावों को लेकर खड़ा हुआ है, कैसे एक बनाए। जिस देश में रहते हैं, उसके प्रति अनन्य श्रद्धा रखें। यह दो भाव हम बराबर उत्पन्न करते रहे। इसके लिए संघ के कार्यक्रम हैं, जो यज्ञ और मंदिर के समान ही पवित्र है। अपना संघ स्थान उतना ही पवित्र है, जितना मंदिर। जिस प्रकार मंदिर में पूजा आदि होती है, उसी प्रकार संघ स्थान के कार्यक्रम हैं। अपनी प्रार्थना है उसमें भी वही पवित्रता है, वही भाव उत्पन्न किया गया है। वही राष्ट्र का एकत्व जाग्रत् होता है, जो उन प्राचीन साधनों ने कभी उत्पन्न किया था।

इन कार्यक्रमों के प्रति श्रद्धा रखते हुए यदि हमने कार्य किया तो हम देखेंगे कि हम राष्ट्र-निर्माण करते चले आ रहे हैं। आज स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद जिस राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकता है, वह तथा अपने राष्ट्र के जीवन को वैभवशाली एवं समृद्ध बनाने के प्रयत्न सफलतापूर्वक कर सकेंगे। यदिं वैभव न भी आया तो भी संतोष रहेगा कि हम ज़िंदा हैं, यदि ज़िंदा रहने के भाव को छोड़कर अपनी आत्मा को भूलकर आँखें बंद कर केवल वैभव के पीछे दौड़े तो संभव है कि वैभव तो हमारे हाथ लग जाए पर यह प्राण पखेरू उड़ जाए। इसलिए अपनी संस्कृति को छोड़कर उसके पीछे न दौड़ें, बल्कि भगवान् ने प्राचीन काल में जो कहा था, 'धर्मात् अर्थस्य कामस्य धर्मम···'?

अर्थात् धर्म से काम की पूर्ति होती है। हम उस धर्म के पीछे जाएँ। यदि वह हमारे पास है तो अर्थ और काम स्वयं हमारे पीछे आएँगे। उनकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं। एक बार बीज बो देने से फल स्वयं प्राप्त होता है। केवल बीज को पानी देते रहें, सींचते रहें, उस फल की कभी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, बीज की चिंता करनी चाहिए। उसी प्रकार हम संस्कृति की चिंता करें, राष्ट्र की एकात्मकता की चिंता करें, बाक़ी चीजें तो स्वयं आ जाएँगी। हम अपना यह कार्य निष्ठा के साथ करते रहेंगे।

— मई 20, 1950

☐

27

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : कानपुर

कल माननीय आप्टेजी ने हम लोगों के समक्ष संघ की प्रार्थना अथवा मंत्र की, जिसका उच्चारण हम प्रतिदिन करते हैं, व्याख्या की थी। संघ का स्वयंसेवक उस प्रार्थना का प्रतिदिन उच्चारण करता है और मनन भी करता रहता है। परंतु प्रत्येक मंत्र किसी गुरु से ही प्राप्त होता है, इसलिए जिस गुरु से हमें संघ का यह मंत्र प्राप्त हुआ, उसको भी आदर्श के नाते हम सदैव अपने सामने रखते हैं। भगवा ध्वज हमारा गुरु है, उसी से हमें यह मंत्र प्राप्त हुआ है।

भौतिक दृष्टि से देखने वाले उसे नहीं समझ सकेंगे। राष्ट्रभक्ति की अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा प्रार्थना में हुई है और वे सब आदर्श ध्वज में मूर्तिमंत हैं। यह ध्वज हमें उन्हीं शब्दों का संदेश देता है, जो हम प्रार्थना में दोहराते हैं। यह ध्वज हमारे राष्ट्र की समस्त भावनाओं का मूर्तिमंत प्रतीक है। यह पिछले दस-बीस वर्षों का नहीं, अपितु अनादिकाल से चला आ रहा है। उसका निर्माण किसी व्यक्ति अथवा कमेटी ने नहीं किया। वह हमारे युग-युगों से चली आने वाली संस्कृति और राष्ट्र का प्रतीक है। उसके जन्मकाल का पता नहीं, वैदिक मंत्रों में भी इस ध्वज का वर्णन है। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक अधिष्ठित इस राष्ट्र का मानबिंदु यह भगवा ध्वज है। जब हम वेदों को ईश्वर प्रणीत मानते हैं तो उसमें वर्णित ध्वज की आयु की विवेचना नहीं कर सकते।

इसे देखकर संपूर्ण राष्ट्र का चित्र सामने आ जाता है। इसका रंग कुछ पवित्र भावनाओं और गुणों को प्रकट करता है। उसके सामने मस्तक स्वयं नत हो जाता है। एक बार मैं गाड़ी से प्रयाग जा रहा था। मेले के दिन थे, गाड़ी खचाखच भरी थी। तिल रखने को स्थान नहीं। उस डिब्बे में एक मिलिटरी का सिपाही भी बैठा था। वह किसी को चढ़ने नहीं देता था। एक भगवा वस्त्रधारी साधु चढ़ा, सिपाही ने बड़े आदर से उसे

स्थान दिया। इस पर पास बैठा हुआ एक कॉलेज का छात्र बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसने सैनिक से कहा कि इतने शरीफ-शरीफ लोगों को स्थान न देकर तुमने इस फकीर को क्यों बैठाया? सैनिक ने कहा कि वह साधु है, उसके प्रति मुझे आदर है। इस पर विद्यार्थी ने कहा कि आजकल के साधु तो 'स्वादु' होते हैं। सैनिक ने कहा कि मुझे श्रद्धा साधु के प्रति नहीं, उसके वस्त्रों के रंग के प्रति है। यदि इस रंग के वस्त्र पहनकर कोई ढोंगी भी आ जाए तो मैं उसे स्थान दूँगा।

उस रंग के प्रति एक सैनिक के मन में भी श्रद्धा और आदर क्यों? यह भावना एक-एक व्यक्ति में व्याप्त है। वह आज भी विद्यमान है, भले ही लोगों ने कुप्रचार से अथवा कुकृत्यों से उस रंग को बड़ा बदनाम करने का प्रयत्न किया है। जरा शांत चित्त से विचार करें कि यह श्रद्धा कैसे जाग्रत् हुई? तर्क से कुछ निष्कर्ष निकालना कठिन है। एक बात सत्य है कि यह श्रद्धा उन लोगों के कारण उत्पन्न हुई, जिन्होंने इन आदर्शों को लेकर जीवन में सबकुछ त्याग दिया। यह श्रद्धा उन संन्यासियों के कारण जाग्रत् हुई, जिन्होंने नंगे पैरों संपूर्ण भारतवर्ष में घूम-घूमकर ज्ञान का प्रकाश फैलाया। आसेतु हिमाचल तीस कोटि हिंदू समाज को एक सूत्र में आबद्ध किया।

लोगों को आश्चर्य होता है कि वे यह सब कैसे कर सके, आज प्रत्येक व्यक्ति विश्वबंधुत्व की बातें करता है। जगह-जगह इसके लिए प्रयत्न भी होते हैं, पर सब विफल। अंत में एक संयुक्त राष्ट्र संघ नाम की संस्था संगठित की, पर उसका दृश्य क्या है? संभवतः उससे विभक्त और कोई संस्था नहीं। इस प्रकार यह एक महान् आश्चर्य की बात है। यह उस काल की घटना है, जबकि यात्रा के कोई साधन नहीं थे। उस काल में इन लोगों ने कैसे दो हज़ार मील लंबे-चौड़े देश में यह एकात्मकता निर्माण की। हिंदुस्थान के एक कोने से दूसरे कोने तक भी रेलगाड़ी से चले तो अड़तालीस घंटे से अधिक नहीं लगेंगे। हवाई जहाज से जाएँ तो दिन भर में दो चक्कर इधर से उधर लगा सकते हैं। इस प्रकार की सब स्थिति आज उत्पन्न हो गई है, पर उस समय हिंदुस्थान का एक चक्कर लगाने के लिए कई महीने लगते थे। उस समय भी संपूर्ण भारतवर्ष को एकता का पाठ पढ़ाया। इतने लंबे-चौड़े प्रदेश को एकता का पाठ पढ़ाकर उन्होंने एक आश्चर्यजनक घटना कर दी। हमें राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाने वाले ये साधु और संन्यासी ही थे, जो कि संपूर्ण भारतवर्ष का उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक भ्रमण करते थे। एक-एक गाँव में जाते थे, उन लोगों को जाकर उपदेश देते थे।

पंजाब में जाकर मद्रास की कहानी बताते थे, वहाँ के लोगों के रहन-सहन बताते थे। उसी प्रकार मद्रास में जाकर पंजाब की घटनाएँ सुनाते थे। संयुक्त प्रांत में जाकर जिसे आज उत्तर प्रदेश कहते हैं, वे सौराष्ट्र की कहानियाँ सुनाते। स्थान-स्थांन पर जाकर ये भारतभूमि की एकता और भारतभूमि का गुणगान करते हुए, यहाँ के तीर्थ

स्थानों का वर्णन करते हुए, उन कार्यों का जिसके कारण वे स्थान तीर्थ बने, पवित्र बने, वर्णन करते हुए, उस कृति का उल्लेख करते हुए और एक-एक व्यक्ति के अंदर उस भारतभूमि के प्रति उन्होंने श्रद्धा उत्पन्न की। उन्होंने गाँव-गाँव में जाकर कथा और कीर्तन के द्वारा एक-एक व्यक्ति के पास पहुँचकर अपने पूर्वजों का स्मरण दिलाकर उनके द्वारा किए हुए परिक्रमा का उल्लेख करके और हमारे रामायण और महाभारत को सुनाकर, पुराणों की गाथाओं को गा-गा करके हमारे अंदर हमारे पूर्वजों के प्रति एक श्रद्धा उत्पन्न की। हमारे जीवन के अंदर पूर्वजों का एक स्वाभिमान उत्पन्न किया। उन्होंने जो एक पराक्रम का जीवन व्यतीत किया था, वह पराक्रम का भाव हमारे भी अंदर उत्पन्न किया। हमारी भूमि से प्रेम, हमारे पूर्वजों से प्रेम की एक व्यवस्था उन्होंने दी। हमारे पराभव के दृश्य को उन्होंने बदल दिया। हमारी आत्मा का रंग उन्होंने बदला। उसी का हमने विकास किया। हमने जीवन का अनुभव किया। उनके ही प्रयत्नों के कारण तो हमने देखा कि संपूर्ण भारतवर्ष के अंदर हमारी एक दृष्टि उत्पन्न हो गई। हमारी रीति-नीति, हमारी स्मृतियाँ, हमारा व्यवहार, हमारे शास्त्र, हमारा इतिहास और हमारी परंपरा, एकता के रंग में रँग गईं। सबके अंदर एक ही भाव दिखाई देने लगा। उसका एकमेव कारण था कि ऐसी एकता को उत्पन्न करने वाले ऐसे महापुरुष साधु-संत महर्षि एक नहीं, हज़ारों की संख्या में थे, जो भारत में घूम-घूमकर हमारी राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ा रहे थे और इसी कारण हमने राष्ट्रीयता का अनुभव किया। उनके ही कारण आज हम गौरव के साथ कह सकते हैं कि प्राचीन काल से इस राष्ट्र के नाते हम ज़िंदा हैं। आज भी एक राष्ट्र के नाते ज़िंदा हैं। वे इस भगवा ध्वज को साथ लेकर जाते थे। इसका नाम उन्होंने भग्वद्ध्वज रखा। क्योंकि यह तो भगवान् का दिया हुआ ध्वज और इसमें भगवान् की भावनाएँ हैं। इसीलिए साधु और संन्यासी इसे साथ लेकर चलते थे। इसी रंग के कपड़े पहनकर जाते थे, क्योंकि वह राष्ट्रीय चिह्न इस नाते हमारे सामने था, उसका रंग राष्ट्र का प्रतीक था। संपूर्ण राष्ट्र को उन्होंने यह शिक्षा दी। यही नहीं, जिन आदर्शों को लेकर वे खड़े हुए थे, उन आदर्शों का प्रतीक भी यह परम पवित्र भगवा ध्वज है। जिस राष्ट्रीयता को उन्होंने अपने व्यवहार में अपनाया, जिस त्याग को वे अपने व्यवहार में लाया, जिस सेवा को उन्होंने व्यवहार में लाया, वे सब-के-सब भाव से विद्यमान थे।

जब हमने कहीं साधु-संन्यासी देखा, किसी को गेरुआ वस्त्र पहने देखा तो यही बात हमारे मन में आई कि यह वह व्यक्ति है, जो अपने सुख के लिए जीवित नहीं रहता। जो भोग-वासना के लिए ज़िंदा नहीं रहता किंतु वह दूसरों के लिए, परमार्थ के लिए, राष्ट्र के लिए ज़िंदा है। अस्तु उसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए जहाँ कहीं भी हमने राष्ट्रीयता की बात देखी या राष्ट्रीय चिह्न के नाते हमें कुछ

करना हुआ, तो हमने इस इस रंग को ही चुना और चुनकर हमने वहाँ इस ध्वज को लगा दिया, जो राष्ट्रीयता का प्रतीक है। यह राष्ट्र का द्योतक इस नाते हमारे सामने आ गया।

प्राचीन काल से ही यह चला आ रहा है। हर राष्ट्र की संस्कृति चिह्न विशेष के चारों ओर विकसित होती है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ यज्ञ होते थे, इन यज्ञों में चारों ओर हमारी संस्कृति का विकास हुआ। इन यज्ञों के चारों ओर बैठकर हमने सामूहिक जीवन का पाठ पढ़ा। इसके चारों ओर बैठकर हमने ज्ञान एवं अनुसंधान के पाठ पढ़े। अपने पुरुषार्थ को भगवान् के चरणों में अर्पित करना हमने यज्ञों से ही सीखा। इसीलिए हमारी संस्कृति यज्ञमयी कहलाई।

हम जहाँ भी जाते, यज्ञ करते थे। नवीन-नवीन क्षेत्रों को यज्ञ करके अपना बना लेते थे। इससे हमारी एक पद्धति बन गई। यदि आज भी हम अपना नया घर बनाते हैं तो गृह प्रवेश के समय यज्ञ करते हैं। यज्ञ के प्रतीक इस भगवा ध्वज को ही हमने सर्वत्र स्थापित किया। यज्ञ की ज्वालाओं का यह प्रतीक है। जहाँ यह ध्वज पहुँच गया, वह देश हमारा हो गया। यज्ञ की ज्वालाएँ सदैव ऊपर उठती हैं। यह ध्वज भी सदैव हमको ऊपर उठने का संदेश देता है। इस ध्वज को देखकर यज्ञ की भावनाएँ हमारे मन में आती हैं। यज्ञ के कारण त्याग की भावना हमारे मन में आती है। यज्ञ भी तो त्याग का ही एक स्वरूप है।

यज्ञ में केवल इतना ही नहीं होता है कि आग में थोड़ी सी आहुति डाल दी। वास्तव में इसके पीछे एक भावना है, ये आहुतियाँ त्याग का प्रतीक हैं। अपनी अच्छी-से-अच्छी चीज का हम त्याग करते हैं। कहते हैं 'इदं न मम'। यह मेरा नहीं है, इंद्र का है, यह अग्नि का है, यह प्रजापति का है, यह मेरा नहीं है। इस प्रकार हम सबकुछ भगवान् को अर्पित कर देते हैं। यह भगवद्भाव भी है तथा अपनत्व का भाव भी है। इसको ममत्व भी कह सकते हैं। भगवान् को अर्पित करने का भाव समाज के प्रति अपनत्व प्रकट करने का भाव है। मेरेपन या अहं भाव को मिटाकर 'वयं' के भाव को जगाने की यह पद्धति है।

महाभारत में एक अति प्रसिद्ध घटना है, जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया, उसमें अनेक प्रकार की दान-दक्षिणाएँ दी गईं। ब्राह्मणों को छककर भोजन करवाया गया। स्वर्ण से मंडित सींगों वाली गायों का दान दिया गया। युधिष्ठिर संतुष्टि के भाव से सोच रहे थे, बड़ा अच्छा यज्ञ हो गया। कथा में आता है कि उन्होंने देखा कि एक नेवला इधर-से-उधर चक्कर लगा रहा था, उसका आधा शरीर सोने का हो गया था, कुछ गैरिक रंग का, जैसा कि अपने ध्वज का है। आधा जैसा कि नेवले का प्रकृतितः होता है, वैसा था। उसको देखकर लोगों के मन में कौतूहल होने लगा, यह क्या हो रहा है। तब युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा कि यह क्या है? तो उन्होंने कहा कि यह अपने राजसूय यज्ञ

की परीक्षा कर रहा है। इसने एक यज्ञ देखा था, जिसमें इसका आधा शरीर सोने का हो गया था, आधा इसका शरीर अभी शेष है, इसलिए यह घूम रहा है कि यदि कहीं उतना ही अच्छा यज्ञ हो रहा हो, तो उसका शेष भाग भी सोने का हो जाए। किंतु लगता है, उसे यहाँ से निराश होकर लौटना पड़ेगा। सुनकर युधिष्ठिर को बहुत दुःख हुआ। उन्हें लगा, यदि यह यज्ञ भी अच्छा नहीं हुआ तो मेरा सारा प्रयत्न ही निष्फल गया। तब युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा, महाराज, वह कौन सा यज्ञ था, जिससे इस नेवले का आधा शरीर सोने का हो गया? मुझे भी कुछ बताइए।

कृष्ण ने कहा कि कहते हैं, एक अत्यंत दरिद्र ब्राह्मण परिवार था, भिक्षा माँगकर खाना ही उसका काम था, लेकिन वह धर्मनिष्ठ एवं बहुत कर्तव्यपरायण था। अपने स्वार्थ की चिंता करने वाला नहीं था। कहते हैं कि एक बार बहुत बड़ा अकाल पड़ा, भोजन मिलना कठिन हो गया था। बड़ी कठिनाई से वह ब्राह्मण परिवार थोड़ा सा अन्न जुटाकर लाया, उस अन्न के चार भाग किए, क्योंकि उस परिवार में वह स्वयं, उसकी स्त्री, पुत्र एवं पुत्रवधू, चार प्राणी रहते थे। जैसे ही उन्होंने भोजन करने की तैयारी की, वैसे ही वहाँ एक अतिथि आ गया। उस भूखे अतिथि ने भोजन की याचना की। अतिथि की सेवा करना तो गृहस्थ का सबसे प्रथम धर्म है। इसलिए ब्राह्मण ने कहा, मेरे बड़े भाग्य हैं, कोई अतिथि मेरे द्वार आया है। कहा, आइए बैठिए, मैं आपको अपना भोजन देता हूँ। बहुत देर तक तो उनमें यह विवाद होता रहा कि कौन पहले अपने हिस्से का भोजन अतिथि को दे। ब्राह्मण ने निर्णय दिया, मैं अपना भाग दूँगा। ब्राह्मणी ने कहा वाह! भूखा पति अपना हिस्सा दे दे और पत्नी जीवित रहे, यह कभी नहीं हो सकता। आप अपना हिस्सा न दें, मैं दूँगी। पुत्र ने कहा, माता-पिता को कष्ट में देखकर भी पुत्र जीवित रहे, यह तो पुत्र का धर्म नहीं है। अतः आप लोग अपना-अपना भाग खाइए, मैं अपना भाग अतिथि को दूँगा। पुत्रवधू ने कहा, सास-ससुर और पति की सेवा करना तो मेरा सौभाग्य है, इसलिए मैं अपना हिस्सा दूँगी।

कुछ देर विवाद के बाद एक हिस्सा अतिथि को दिया गया, मगर उससे अतिथि की तृप्ति नहीं हुई। दूसरा हिस्सा दिया, उससे भी नहीं हुई। तीसरा दिया, अंत में चौथा दे दिया, सब खा-पीकर उन्हें आशीर्वाद देते हुए अतिथि चला गया। उस आशीर्वाद से उनके प्राण तो बचने वाले नहीं थे, इसलिए वे पंचतत्त्व में विलीन हो गए। उसके पश्चात् कहते हैं कि वह नेवला उस स्थान से निकला, जहाँ उस अतिथि ने जूठे हाथ धोए थे। वहाँ की जल बूँदों के स्पर्श से उसका आधा शरीर सोने का हो गया। यह त्याग था। एक ध्येय के लिए, अतिथि की सेवा के लिए, इस महान् आदर्श को सामने रखकर उन्होंने सबकुछ बलिदान कर दिया। जो सच्चा एवं पूर्ण बलिदान था। यह सबसे महान् यज्ञ गिना गया। उन्होंने वहाँ किसी प्रकार की वेदी नहीं बनाई थी। बिना वेदी बनाए, बिना

घृत आदि की आहुति दिए हुए उन्होंने जीवन की आहुति देकर सबसे महान् यज्ञ और त्याग किया। इतना महान् कि जिसके आगे युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ ी फीका पड़ गया।

उस यज्ञ त्याग का प्रतीक परम पवित्र भगवा ध्वज हमारे सामने है। वह उन्हीं यज्ञ की ज्वालाओं का प्रतीक है। यह हमारे समक्ष आदर्श है, हम भी ऐसा ही जीवन व्यतीत करें। यह हमारे राष्ट्र की आत्मा का रंग है, यह हमारे राष्ट्रजीवन के आदर्शों को लेकर खड़ा है। हमारी संस्कृति के प्रतीक त्याग, सेवा, सहिष्णुता, कर्म, पुरुषार्थ एवं पराक्रम ही हमारे आदर्श हैं। ये सब भावनाएँ भगवा ध्वज के माध्यम से हमारे पास पहुँचती हैं। यज्ञ की ज्वालाएँ सदैव ऊपर ही उठती हैं, नीचे कभी नहीं जाती। कोई मूर्खतावश आग जलाकर नीचे कर दे तो उसका हाथ जल जाएगा, ज्वाला ऊपर की तरफ़ ही जाएगी। इस प्रकार यह ध्वज हमें बताता है कि हमारा राष्ट्र त्याग की भावनाओं से परिपुष्ट होता है, कभी नीचे नहीं जाएगा। सदैव ऊपर ही उठेगा, उसको यदि कोई नीचे गिराने का प्रयत्न करेगा, तो हो सकता है कि उसके हाथ जल जाएँ, उसे कुछ कष्ट सहना पड़े। यह तो स्वभावत: अपनी इच्छा के अनुरूप ऊपर ही उठता जाएगा। यह उत्कर्ष की भावना परम पवित्र भगवा ध्वज में निगडित है।

यह भगवा ध्वज हमको उस समय की याद दिलाता है, जब सूर्योदय होता है, उस समय हमारे ऋषि-महर्षि सूर्य की पूजा-अर्चना किया करते थे। वह अरुणिमा, जिससे सारा आकाश छा जाता था, उसे ही हमने अपने हृदय में रखा। उस रंग को लेकर हमने अपना ध्वज बनाया। वह सूर्य के समान उत्कर्ष करने वाला एवं प्रखर है। जब सूर्य की प्रखर किरणें हिमालय पर पड़ती हैं तब वह भी उन्हीं के समान दीप्तिमान हो जाता है, उसका भी वही स्वर्णिम रंग हो जाता है। उससे पिघल-पिघलकर जो भागीरथी निकलती है, पापियों को तारती है, सबको मोक्ष प्रदान करती है, सभी को लाभान्वित करती हुई बहती चली जाती है।

उसी प्रकार यह पावन ध्वज अपनी कीर्ति से अपनी प्रखर कांति से जो हिम के समान खड़े हैं, उनके अंदर उष्णता उत्पन्न करते हुए, भागीरथी को प्रवाहित करेगा, जो कि पतित-पावन होगा। मोक्षदायी भी होगा। भागीरथ की तपस्या के परिणाम के नाते ये सभी फलश्रुतियाँ होती हैं। इन्हीं भावनाओं का वाहक हमारा भगवा ध्वज है। हम इतिहास में देखते हैं कि इस ध्वज को हाथ में लेकर हमने सब प्रकार के कार्य किए। पर्वतों को भी लाँघकर इस ध्वज को लेकर हम लोग चीन गए, जापान गए, बर्मा गए, स्याम गए, फारस (ईरान) गए तथा मिस्र गए। कहाँ-कहाँ गए, कहना कठिन है। सूर्य के तेज की तरह चारों तरफ़ फैल गए।

वहाँ जाकर चारों ओर भारतवर्ष का ज्ञान, भारतवर्ष की संस्कृति, भारतवर्ष की

समरसता और भारतवर्ष के जीवन की विशेषता का प्रकाश फैला दिया। इसे लेकर हम कल्पना कर सकते हैं। कल्पना भी क्यों करें, यह सत्य तथ्य है। इतिहास का चित्र हम अपनी आँखों के सामने खींच सकते हैं। हमारे सम्राटों ने महान् साम्राज्यों का निर्माण किया। भारत को वृहद् भारत और वृहत्तर भारत बनाया। इस ध्वज के समक्ष हमने भारत की पूजा की। साम्राज्यों का निर्माण करने वाले सम्राटों के रथ पर और सेना के सामने यदि कोई ध्वज होता था, तो वह कोई दूसरा नहीं, अपना परम पवित्र भगवा ध्वज ही होता था।

इस ध्वज का संदेश सुनकर आर्य चाणक्य ने ज़ोर से घोषणा की थी—'किनत्वे आर्यस्य दास भाव', आर्य कभी दास नहीं हो सकता। इसी आधार पर चंद्रगुप्त ने सिकंदर से युद्ध किया था। इसे लेकर ही शकारि विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर उन्हें भारत भूमि से बाहर खदेड़ दिया था। इसी ध्वज को हाथ में लेकर स्कंदगुप्त ने हूणों से युद्ध किया था। यही वह स्वर्ण गैरिक ध्वज, गरुड़ध्वज भी था। भारत से बाहर जाकर बर्मा, स्याम आदि देशों में साम्राज्य का निर्माण किया।

ज्ञान के प्रतीक इसी ध्वज को लेकर ब्राह्मण बाहर गए, गुरु बनकर रहे। अग्रजन्मा इस ध्वज को लेकर संसार को शिक्षा देते रहे। हमारा क्षत्रियत्व पौरुष भी प्रकट हुआ, हमारे वैश्य संसार के कोने-कोने से खींचकर लक्ष्मी यज्ञ लेकर आए। यज्ञ शेषशायी विष्णु के लक्ष्मी ने यदि पैर दबाए, तो हमारे व्यापारिक जहाजों पर इसी ध्वज को लहराते हुए हमारा विश्वव्यापी विपणन हुआ। इसी आदर्श को लेकर हम दुनिया में दूर-दूर तक गए। क्योंकि इसका आदर्श केवल पारलौकिक उन्नति नहीं है, अपितु अभ्युदय एवं नि:श्रेयस दोनों है। इसका संदेश एकांगी नहीं, सर्वांगीण है। यदि पारलौकिक उन्नति वाले महापुरुष इसको लेकर आगे बढ़े तो समस्त ऐहिक सुख प्राप्त करने वाले तथा महान् साम्राज्यों का निर्माण करने वाले सम्राट् भी इसी को आदर्श मानकर आगे बढ़ते थे। उन्होंने इसी की छत्रच्छाया में बड़े-बड़े युद्ध जीते। जब हूणों से युद्ध चल रहा था, विक्रमादित्य जैसे सम्राटों ने इसी ध्वज का आश्रय लिया। जब यवनों की प्रबलता बढ़ी, और बाद में इसी केसरिया ध्वज को लेकर मेवाड़ की घाटियाँ रक्तरंजित हो गईं, तब हौतात्म्य के उज्ज्वलतम आदर्श स्थापित हुए। क्योंकि उन्होंने देखा कि केसरिया रंग या आग की लपटें दोनों एक सी ही हैं। वीर केसरिया वस्त्र पहनकर युद्ध करते-करते अपने बलिदान दे देते थे तथा वीरांगनाएँ जौहर-ज्वाला में कूद पड़ती थीं। अपनी देहों की लीला समाप्त कर स्वर्गारोहण करते थे। वीर माताओं ने देखा, जो रंग उनकी साड़ी का है, वही रंग केसरिया पताका का है तथा वही रंग अग्नि एवं उसकी आत्मा का भी है, वे सब एकात्म हो गए। इसी रंग की अग्नि में अपनी देह को भस्मीभूत करते हुए राष्ट्र के लिए अर्पित कर देती थी।

जब यह ध्वज हमारी आँखों के सामने आता है तो भारत का संपूर्ण इतिहास हमारे समक्ष साकार हो जाता है। संपूर्ण भारत का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। इस ध्वज को जब हम देखते हैं, सारी आध्यात्मिकता मूर्तिमंत होकर हमारे सामने खड़ी हो जाती है। वे समस्त घटनाएँ आँख के सामने आ जाती हैं, जिनसे हमने त्याग का परमोच्च आदर्श स्थापित किया था। राष्ट्र निर्माण का चित्र भी सामने आ जाता है, तिल-तिल जलकर महापुरुषों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन का निर्माण किया। स्वामी शंकराचार्य किसी अन्य ध्वज को नहीं, इसी ध्वज को लेकर सारे भारत में गए। इसी रंग के कपड़े पहनकर यही ध्वज हाथ में लेकर उन्होंने भारत की परिक्रमा की। समन्वय का पाठ पढ़ाया, एकता स्थापित की। बौद्ध मत के नाम पर पनाह पाते संपूर्ण राष्ट्र विरोधी तत्त्वों को समाप्त किया, राष्ट्रीयता की एक प्रबल लहर उत्पन्न की।

एक ओर राष्ट्र की रक्षा करने वाले महापुरुषों के अनेक उदाहरण सामने आते हैं तो दूसरी ओर इसी ध्वज को देखकर अपना उत्सर्ग करने वाले हुतात्माओं के उदाहरण सामने आते हैं। हमारी संस्कृति हमें त्याग एवं एकात्मता का मार्ग दिखाती है, इसी महान् संस्कृति का प्रतीक यह भगवा ध्वज है। केवल यह हमारे तीस करोड़ बंधुओं की बाह्य एकता का द्योतक नहीं है, उनके हृदय के भावों की भी एकता का द्योतक है। यह ध्वज केवल हमारे वर्तमान का नहीं, भूतकाल के हमारे वैभव का भी प्रतीक है, यह हमारी उन्नति के काल का भी द्योतक है, जब हमसे बहुत सी भूलें हुईं, यह ध्वज हमें उनका भी स्मरण करवाता है।

अवनति से उन्नति प्राप्त करने के लिए, उस अवनति के गड्ढे से निकलकर भारत को उत्कर्ष पर पहुँचाने के जो प्रयत्न हुए, वे चाहे बलिदानी महापुरुषों के प्रयत्न हों, चाहे छत्रपति शिवाजी महाराज जैसे नायकों के सफल प्रयत्न हों। इन सबका प्रतीक है परम पवित्र भगवा ध्वज। किसी अन्य ध्वज से ये भावनाएँ हमारे सामने नहीं आतीं। यह ध्वज हमने अपने सामने रखा है। इसके संदेश को सुनकर हम अपने जीवन का निर्माण करते हैं। जब तक इसके संदेश को हम सुनते रहेंगे, इसके आदर्श को गुरु बनाकर रखेंगे, तब तक हम देखेंगे हमारा संपूर्ण राष्ट्र शक्तिमान हो रहा है। हमारे मन में कोई दूसरी भावना प्रवेश ही नहीं कर सकती। जिस क्षण इस ध्वज के संदेश को भुला देंगे, ध्वज को भूल जाएँगे तथा केवल संगठनात्मक भावना लेकर कार्य करेंगे। इससे हम संभवतः स्वार्थ के वशीभूत भी हो जाएँगे। इसलिए मैं यदि कहूँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जो आज संघ में है और जो नहीं है, उनके मध्य कड़ी के रूप में खड़ा है। संघ संपूर्ण समाज का संगठन है, यह लाख-दो लाख या करोड़-दो करोड़ स्वयंसेवकों के लिए नहीं, तीस करोड़ के संपूर्ण समाज के लिए है।

इसको सत्य सृष्टि में परिणत करने वाली कड़ी यह भगवा ध्वज ही है, जिसको

हमने गुरु माना है। हम इसके आदर्श को लेकर चले हैं। जब तक यह हमारी दृष्टि में रहेगा, हम पथभ्रष्ट नहीं होंगे। हम इस आदर्श को लेकर अपने जीवन की रचना करेंगे, अपने कार्य का वेग बढ़ाएँगे, हमें डरने का कोई कारण नहीं। जो कार्य राष्ट्र के लिए विघातक हो, राष्ट्र को नीचे ले जाए, ऐसे काम तब तक संभव नहीं, जब तक इस ध्वज का आदर्श हमारे सामने है। हमारे सामने तो ध्येय का ध्रुवतारा अवस्थित है, जो हज़ारों वर्षों से वहीं स्थिर है। भगवा ध्वज भी हमारे आदर्श का वैसा ही ध्रुवतारा है, जो संदेश हमें आज सुनाई देता है, प्राचीनकाल में भी सुनाई देता था। वह दधीचि को सुनाई दिया, राम को सुनाई दिया, कुंभ को सुनाई दिया, उनके बाद आने वाले हर महापुरुष के माध्यम से आज तक हमें वही संदेश सुनाई दे रहा है, इसलिए हमने परम पवित्र भगवा ध्वज को अपना गुरु चुना, किसी व्यक्ति को नहीं।

हम किसी व्यक्ति का संदेश सुनकर नहीं तो इस ध्वज का संदेश सुनकर कार्य करते हैं। यदि कोई व्यक्ति आता है तो वह भी हमें अपना नहीं वरन् इसी का संदेश सुनाता है। इसलिए उन आदर्शों को लेकर हम कार्य करें। इस परम पवित्र भगवा ध्वज के उत्थान के लिए हमें अटल एवं सतत प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यदि हम सतत प्रयत्न करेंगे तो हम बहुत लोगों को पथभ्रष्ट होने से बचा लेंगे, आज उनके कानों में हमारे आदर्शों का नहीं वरन् विपरीत भावों का संदेश उड़ेला जा रहा है। यदि हम उन तक भगवा ध्वज का संदेश ले जाएँगे तो विपरीत भावों का उन पर असर नहीं होगा। वे हमारे राष्ट्र के पुण्य प्रवाह की धारा को बदल देना चाहते हैं, उनके मन विदेशियत से आक्रांत हैं। हमें तो उनको भी मुक्त करना है। लेकिन आज वे भारत बाह्य आदर्शों को ग्रहण कर भारत नष्ट हो जाए, इस भावना से काम कर रहे हैं। वे इस ध्वज को कभी नहीं सह सकते। वे इसमें तरह-तरह का परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि अच्छे-अच्छे विद्वानों का मत होने के बाद भी वे इसे राष्ट्रीय ध्वज नहीं मानेंगे। यदि वे इसे राष्ट्रीय ध्वज मान लेंगे तो फिर अन्यथा व्यवहार कैसे कर पाएँगे? इस संदेश को सुनकर भारत में बाह्य प्रेरणाएँ कैसे टिक पाएँगी? पराक्रम शून्यता कैसे चलेगी? इस संदेश को सुनकर अधिकारों की लालसा कैसे बढ़ेगी? इस संदेश को सुनकर धर्मविहीन भावनाएँ कैसे प्रबल होंगी?

इसलिए वे इस संदेश को ही बंद कर देना चाहते हैं, इसके प्रति लोगों के कान बंद कर दिए जाएँ, उन्हें बताया जाए कि इसका संदेश सुनना तो पाप है। ऐसे प्रयत्न किए गए कि कोई इस ध्वज का संदेश सुन पाए। उन्होंने कुछ जोड़-तोड़ का प्रतीक अपने सामने रख लिया है। वे भारतीय जीवन का संदेश नहीं सुन पाए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तो सदैव उन सच्चे आदर्शों को लेकर खड़ा हुआ है। जब संघ प्रारंभ हुआ, तब ध्वज का प्रश्न उठा। तब संघ ने तय किया कि वह अपना कोई ध्वज नहीं रखेगा, जो भारत की

परंपरा से चला आ रहा ध्वज है, उसी को अपना गुरु मानकर नत-मस्तक होगा। उसके आदर्श को ही सत्य सृष्टि में परिणत करेगा। हमारा समस्त पुरुषार्थ इसी के लिए है।

हम अपना प्रयत्न करते हुए, अपना पराक्रम जाग्रत् करते हुए, अपने जीवन की रचना आदर्शानुकूल करते हुए, केवल एक ही बात देखें कि यह जीवन इस परम पवित्र भगवा ध्वज के संदेश को संपूर्ण भारतवर्ष में फैलाने में सहायक हो रहा है या नहीं; इस संदेश को विश्व में फैलाने के लिए, अपने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के आदर्श को सत्य सृष्टि में परिणत करने के लिए जो विश्व शांति चाहिए, उसे प्राप्त करने के लिए मेरा प्रयत्न सफल हो रहा है या नहीं। इसके लिए मेरा जीवन उपयुक्त बन रहा है या नहीं। उसको उपयुक्त बनाने के लिए जो गुण इसके द्वारा प्रकट होते हैं, त्याग के गुण, पराक्रम के गुण तथा ऊर्ध्व गति के गुण, ये सब मेरे जीवन में आते जा रहे हैं या नहीं। क्या मेरे अंदर वह यज्ञ-भावना उत्पन्न हो रही है? या यह भावना उत्पन्न हो रही है कि मैं सबकुछ अपने पास रख लूँ या मैं भगवान् को अर्पित करके केवल प्रसाद रूप वस्तुएँ ग्रहण करूँ? यदि अपने आदर्श की भावनाएँ अपने भीतर आती गईं तो हम देखेंगे कि बाहर की जितनी प्रवृत्तियाँ हमें आतंकित करने के लिए आ रही हैं, वे हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगी। इसका संदेश सुनकर हम अपना पथ-प्रशस्त करेंगे। प्रातःकाल का प्रणाम केवल प्रतीक को नहीं, उसकी भावनाओं को किया हुआ होना चाहिए। इस पार्थिव ध्वज को एक स्थान पर गाड़कर खड़ा कर देने मात्र से इस ध्वज का उत्थान नहीं होगा, अपितु इस ध्वज की प्रतिभूति जब प्रत्येक हृदय में स्थापित होगी तब होगा। वह सौभाग्य का दिन जल्दी आए, यही मेरी प्रार्थना है।

— जून 2, 1950

□

28

स्वतंत्रता स्वयं साध्य नहीं, केवल साधन है

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहप्रांत प्रचारक के नाते मेरठ में दीनदयालजी का स्वयंसेवकों को संबोधन।

अब से प्राय: तीन हज़ार वर्ष पूर्व भारतवर्ष के जन-जीवन में कर्म, चेतना, क्रांति-भावना तथा महत्त्वाकांक्षाओं का उदय हुआ था और उस समय इस देश के समस्त समाज ने अपने-अपने क्षेत्र में उन महत्त्वाकांक्षाओं का प्रकटीकरण कला-कौशल तथा वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति, क्षात्रबल के विकास तथा ब्राह्मणों द्वारा स्याम, इंडोचायना, चीन और जापान आदि में ज्ञानदीप के प्रकाश का प्रसार करके वृहत्तर भारत में सांस्कृतिक साम्राज्य की स्थापना द्वारा किया था। वह हमारा स्वर्णयुग था।

कर्म, चेतना, जनजागरण और महत्त्वाकांक्षाओं के प्रकटीकरण की वह भावना भले ही कभी रुक गई हो, परंतु जाह्नवी की धारा के सदृश वह पुन: अब प्रकट हो चली है, और संसार की कोई शक्ति इस प्रवाह को अब रोक नहीं सकती।

स्वतंत्रता स्वयं साध्य नहीं, केवल साधन है। जेल से बाहर हुए आदमी के सदृश कुछ करने के लिए हमारे हाथ खुल जाते मात्र हैं, कुछ उत्तरदायित्व हमारे ऊपर आ जाता है। केवल देश के निर्माण करने के लिए भला या बुरा, जैसा भी हम चाहें, हमें स्वतंत्रता प्राप्त हुई है।

पुरुषार्थ चाहिए, नारे नहीं

आज देश में व्याप्त अभाव की पूर्ति के लिए हम सभी व्यग्र हैं। अधिकाधिक परिश्रम करने तथा *Do or Die* आदि के नारे भी सभी लगाते हैं। परंतु वस्तुत: नारों के

अतिरिक्त अपनी इच्छानुसार सुनहले स्वप्नों, योजनाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं के अनुकूल देश का चित्र निर्माण करने के लिए उचित परिश्रम और पुरुषार्थ करने को हममें से 95 प्रतिशत लोग तैयार नहीं हैं। जिसके अभाव में ये सुंदर-सुंदर चित्र शेखचिल्ली के स्वप्नों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। आज सारा देश इस शेखचिल्ली की प्रवृत्ति से ही ग्रसित है। वस्तुत: धन कमाने वाला ही उसका मूल्य समझ सकता है। कोई कुछ भी कहे आज देश में व्याप्त अधिकाधिक अधिकार प्राप्ति की प्रवृत्ति और स्वतंत्रता से कुछ लूट मचाने की इच्छा दिखती है। हमारी स्वतंत्रता जनसाधारण के पुरुषार्थ और पराक्रम से प्राप्त न होने के कारण ही ऐसा है और इसीलिए हममें कर्म-चेतना और देश के निर्माण के हेतु परिश्रम करने की भावना नहीं है।

साध्य, साधन का भ्रम

इस समय हम चौराहे पर खड़े हैं और देश तथा समाज के उत्थान के संबंध में निश्चित दृष्टि और प्रगति की एक दिशा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिन साधनों का हमने अब तक पालन किया है, उनका आगे भी पालन करना आवश्यक नहीं है। नवीन परिस्थितियों के अनुकूल अपने मार्गों तथा साधन में परिवर्तन करना ही योग्य है। स्वतंत्रता को साधारण समझने के कारण ही आज हमारी यह अवस्था है। परंतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्मुख कभी ऐसी समस्या अपनी निश्चित दिशा के संबंध में उपस्थित नहीं हुई। उसके संस्थापक ने आरंभ से ही अपनी दूरदर्शिता के कारण स्पष्ट दृष्टि हम सबको प्रदान की थी। सदैव से ली जाने वाली हमारी प्रतिज्ञा में संघ का ध्येय हिंदू राष्ट्र को स्वतंत्र कर, उसके धर्म, समाज तथा संस्कृति की रक्षा और सर्वांगीण उन्नति तथा राष्ट्र को परम वैभव के शिखर पर ले जाने के लिए अपने तन-मन-धन एवं सर्वस्व त्याग करने की रही है। इससे स्पष्ट है कि स्वतंत्रता हमारे लिए केवल साधन मात्र रही है, साध्य नहीं। देश के निर्माण में योग देने का हमें अब सुअवसर मिला है, इसका उपयोग करें और देश में स्वर्ण युग की अग्रदूतिका के रूप में उसी कर्म चेतना, क्रांति तथा महत्त्वाकांक्षा का निर्माण कर दें।

संघ चिरंतन तत्त्वों का उपासक

संघ पर बहुधा पुरातनवादी, प्रगति विरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया जाता है। यह सिद्धांत सर्वविदित है कि संसार में सदैव ही परिवर्तन हुआ करते हैं। वस्तुत: प्रत्येक वस्तु में क्षण-क्षण होने वाला यह परिवर्तन और नवीनता रमणीय है। परंतु 'जो वस्तु' परिवर्तित हुआ करती है, उसके जो तत्त्व जीवन के सत्य तत्त्व हैं, वे तो स्थायी हैं—नव-निर्माण हम भी चाहते हैं, परंतु इस नव-निर्माण के नाम पर अपने सत्य

तत्त्वों के मिटने को भी हम बरदाश्त नहीं कर सकते। "जीवन का अंत मृत्यु है, पचास वर्ष बाद आख़िर हमें मरना तो है ही; जीवन का वह अंतिम परिणाम प्राप्त करने के लिए हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिए।" इस प्रकार इजिप्ट के एक दार्शनिक का तर्क हमें मान्य नहीं। हम तो जब तक जीवित रहें, गौरवपूर्ण ढंग से जीवित रहना चाहते हैं। जीवन के सत्य तत्त्वों का विकास करने के प्रयास में होने वाले समस्त परिवर्तन हमें मान्य हैं। अपनेपन को संसार के सन्मुख व्यक्त करें तथा उसकी रक्षा, उन्नति और विकास के लिए हम कोई भी आधुनिकतम परिवर्तन स्वीकार करने को उद्यत हैं।

ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति सभी क्षेत्रों में अपने जीवन के विकास के लिए जो भी आवश्यक होगा, वह हम स्वीकार करेंगे। विजातीय होते हुए भी शरीर के पोषण के लिए आवश्यक अनेक तत्त्वों को शरीर की सामर्थ्य के अनुसार हम स्वीकार करते हैं। परिवर्तनशीलता के कारण शरीर का चमड़ा बदल जाता है, परंतु केवल नवीनता को ही आदर्श मानकर कृत्रिम तथा अस्वाभाविक उपायों द्वारा शरीर का ही परिवर्तन तो उचित नहीं। केवल मात्र नवीनता के ही पीछे चलकर तो हम अपने जीवन के सत्य तत्त्वों को खो देंगे, हमारा जीवन ही उससे नष्ट हो जाएगा। केवल नवीनता के ही पुजारी बनकर आवश्यक अथवा अनावश्यक सभी कुछ प्राप्त करने की धुन तो बिल्कुल उचित नहीं। हम नवीनता के विरोधी नहीं और न प्राचीनता के नाम पर रूढ़ियों और मृत परंपराओं के हम अंध उपासक हैं। मृत पिता या पितामह के शरीर को हम केवल पुराना होने के कारण उसको उठाकर रखने तथा उसकी उपासना करने के पक्ष में नहीं हैं, अपितु उसका आदरपूर्वक दाह संस्कार करके उसका अस्थि विसर्जन करेंगे।

नवीनता की इस धुन में अनेक अभारतीय तत्त्व और विचारधाराएँ हमारे देश में प्रविष्ट हो गई हैं। ऐसी प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन के लिए घातक हैं। केवल विजातीय तथा विदेशी होने के कारण ही हम इनका विरोध नहीं करते हैं। दूसरे देशों से प्रेम, सहकार्य और सद्भावना आदि अनेक अपने जीवन के लिए लाभप्रद बातें हम सोच सकते हैं।

व्यक्तिवाद और तानाशाही अवांछनीय

साम्यवाद तथा समाजवाद के सिद्धांत का आधार है, *"From every man according to his capacity and to every man according to his needs."* अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने सामर्थ्यानुसार कार्य करे और उसकी आवश्यकतानुसार उसे दिया जाए। परंतु इस सिद्धांत का अंतिम परिणाम प्रत्येक देश में तानाशाही होता है, क्योंकि यह मानव स्वभाव के प्रतिकूल बैठता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव से ही कार्य कम-से-कम करने का प्रयत्न करता है और आवश्यकताएँ अधिक बना लेता है। कानून से यह सिद्धांत लागू करने का यही परिणाम होता है और फिर इस सिद्धांत को

मानने वाले किसी भी देश में जनता से अधिकतम कार्य कराने और अपनी आवश्यकताएँ कम कराने के लिए तानाशाही ही आवश्यक विकल्प होता है। वस्तुत: उपरोक्त सिद्धांतानुसार देश की व्यवस्था भारतीय आदर्शों पर चलने से ही संभव है, जहाँ अंत:स्फूर्ति से ही अपनी इच्छाओं का दमन कर कम-से-कम आवश्यकताएँ रखने वाले को ही सम्मान प्राप्त होता है। भारतीय आदर्शानुसार एक कोपीनधारी संन्यासी, जिसकी आवश्यकताएँ नगण्य होती हैं और जो निरंतर अथक परिश्रम केवल समाज के ही हेतु करता है, सर्वाधिक सम्मानित माना जाता है। सम्मिलित भारतीय कौटुंबिक जीवन में भी हमें यही देखने को मिलता है कि सर्वाधिक कार्य करने वाला गृहस्वामी अपनी न्यूनतम आवश्यकताएँ रखता है और अन्य आश्रितों की ही आवश्यकता-पूर्ति की ओर ध्यान देना है। जीवन का ध्येय ही आवश्यकता-पूर्ति नहीं हो सकता। अपनी आवश्यकतानुसार जो हम चाहेंगे, वह ले लेंगे। हम स्वयं आवश्यकताओं के दास नहीं होंगे।

अमरीका और रूस आज क्रमश: व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद के प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद हमें अंत में पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना और उनके शोषण का पात्र बनाता है और रूस के सिद्धांत को मानने से मनुष्य का व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है। हम इन दोनों में समन्वय करके इनका मध्यवर्ती मार्ग अपनाना चाहते हैं, भारतीय विचारधारा ऐसे ही मार्ग को मान्य बताती है।

नवनिर्माण की भावना तथा जीवन के सत्य तत्त्वों को सदैव ही हम अभारतीय तत्त्वों से रक्षा करेंगे और इस प्रकार जीवन के समस्त क्षेत्रों में अपने सत्य तत्त्वों का विकास कर हम संसार को कुछ देने में समर्थ हो सकेंगे और देश के स्वर्ण युग को भी सन्निकट ला सकेंगे।

—पाञ्चजन्य, आश्विन कृष्ण 2, 2007 (सितंबर 28, 1950)

□

29

गांधीवाद का भविष्य

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर सरकार ने प्रतिबंध लगा रखा था। उसको तोड़कर किया हुआ सत्याग्रह भी वापस ले लिया गया था। संघ और सरकार के बीच वार्त्ता चल रही थी।[1] उन्हीं दिनों विद्यार्थियों के एक अधिवेशन में अध्यक्ष के नाते जाना पड़ा। स्वागत समिति के सभापति एक मँजे हुए कार्यकर्ता एवं पुराने कांग्रेसी थे; कांग्रेस में आज भी उनका ऊँचा स्थान है। फिर भी विद्यार्थी परिषद् द्वारा आयोजित उस अधिवेशन की स्वागत समिति का सभापतित्व उन्होंने स्वीकार कर लिया था। कई कांग्रेसियों ने उन्हें चेतावनी दी कि यह संस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की है तथा इससे संपर्क स्थापित करना सांप्रदायिकता होगी, किंतु उन्हें न तो सांप्रदायिकता की गंध ही दिखाई दी और न वे विद्यार्थी परिषद् को अस्पृश्य समझकर उससे दूर रह सके। स्वागत समिति के अध्यक्ष होने के कारण मुझे उनके आतिथ्य का भी सौभाग्य मिला और कुछ उनको निकट से जानने का भी। सरल हृदय व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने मुझे एक सलाह दी, जो कि

---

1. 30 जनवरी, 1948 को महात्मा गांधी की हत्या के बाद भारत सरकार ने 1 फरवरी, 1948 को माधवराव सदाशिवराव गोलवरकर 'श्री गुरुजी' सहित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अन्य प्रमुख लोगों को गिरफ़्तार कर लिया था। 4 फरवरी, 1948 को भारत सरकार ने संघ को प्रतिबंधित कर दिया। गुरुजी ने जेल से ही संघ का विसर्जन कर दिया। संघ का महात्मा गांधी की हत्या से कोई संबंध नहीं था। आख़िरकार न्यायालय के आदेश पर 6 अक्तूबर, 1948 को गुरुजी की रिहाई हुई, लेकिन संघ पर सरकारी प्रतिबंध जारी रहा। 17 अक्तूबर, 1948 को गुरुजी दिल्ली आए और गृहमंत्री सरदार पटेल से दो बार मिले। जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल से पत्र व्यवहार के बाद जब यह सुनिश्चित हो गया कि संघ से प्रतिबंध हटाने के लिए कोई बात संभव नहीं है तो उन्होंने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। 13 नवंबर, 1948 को उन्हें फिर से गिरफ़्तार कर लिया गया। 9 दिसंबर, 1948 को सत्याग्रह की शुरुआत हुई और 22 जनवरी, 1949 को सत्याग्रह समाप्त कर दिया गया। संघ का अपना लिखित संविधान भारत सरकार को सौंपने के बाद 12 जुलाई, 1949 को भारत सरकार द्वारा संघ से प्रतिबंध हटा दिया गया और अगले दिन गुरुजी को भी रिहा कर दिया गया।

उनकी दृष्टि से व्यावहारिक भी थी। उन्होंने कांग्रेसियों द्वारा किए गए अधिवेशन के विरोध का जिक्र किया और कहा कि आप अपने भाषण में चाहे जो कुछ कहें, किंतु एक बार महात्मा गांधीजी का नाम अवश्य ले दीजिएगा, फिर कांग्रेसी विरोध नहीं कर पाएँगे। मैंने उनको सलाह की व्यावहारिकता को तो सराहा किंतु उसके पालन का वचन न दे सका। मैंने उत्तर दिया, ''मैं गांधी के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ किंतु इस प्रकार प्रयोजन हो, या न हो, उनके नाम का उपयोग मेरी समझ में नहीं आता। भाषण में कोई विषय आ गया तो उनका नाम अवश्य आएगा, अन्यथा उस विद्यार्थी की भाँति जो रटे विषय को प्रश्नपत्र में न पूछे जाने पर भी कहीं-न-कहीं लिखने का हास्यास्पद और अलाभकारी प्रयत्न करता है, उनका नाम ज़बरदस्ती लाना अनुपयुक्त होगा।''

गांधीजी के नाम पर

मैं चाहे उनकी सलाह न मान पाया, परंतु आज भारत के अधिकांश व्यक्ति विशेषकर कांग्रेसजन उस मार्ग पर अवश्य चल रहे हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू से लेकर गाँव के साधारण कार्यकर्ता तक के भाषण और बातचीत में गांधीजी के नाम की दुहाई अवश्य ही दी जाती है। आश्चर्य यह है कि एक ही नाम की दुहाई दी जाने पर भी आपस में ख़ूब लड़ते हैं। नेहरूजी और सरदार पटेल दोनों ही अपने को गांधीवादी समझते हैं। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने चाहे जीवन भर गांधीजी से अनेक प्रश्नों के मतभेद प्रकट किया हो, किंतु आज वे भी मतभेद के प्रश्नों को एक ओर रखकर प्राकृतिक चिकित्सा जैसे साधारण विषय पर उनका अनुयायी होने का दावा करते हैं। कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में उनके प्रतिद्वंद्वी आचार्य कृपलानी तो अपने को गांधीजी का सच्चा अनुयायी बताते ही हैं और उन्होंने नासिक में ही विशुद्ध गांधीवाद के प्रचारार्थ एक संस्था को भी जन्म दिया है। कांग्रेसी ही नहीं, समाजवादी भी गांधीवाद की दुहाई देते हैं। यहाँ तक श्री गिडवानी ने तो गांधीजी का नाम लेकर पाकिस्तान के प्रति कड़े रुख़ का भी प्रस्ताव रखा। उन्होंने गांधीजी की मृत्यु के पूर्व की एक भेंट का जिक्र करते हुए बताया कि गांधी जी ने कहा कि यदि हमारी सेनाएँ कश्मीर के प्रश्न पर युद्ध कर सकती हैं तो सिंध में हिंदुओं पर होने वाले अत्याचार को रोकने के लिए भी युद्ध कर सकती हैं। अभिप्राय यह है कि आज गांधीजी का नाम लेते हुए भी भेद और फूट का बोलबाला है। स्पष्ट है कि गांधीवाद के अनुयायी ही उनकी इतिश्री कर रहे हैं।

गांधीवाद का भविष्य

गांधीजी के प्रति उनके अनुयायियों का यह व्यवहार साधारण है या असाधारण तथा गांधीजी और गांधीवाद का क्या भविष्य रहेगा, इस पर थोड़ा सा विचार करना

आवश्यक होगा। प्रत्येक महापुरुष और उसके अनुयायियों का संबंध बहुत कुछ श्रद्धा पर आधारित होता है। श्रद्धा का पोषण यदि ठीक से हुआ और आरंभिक श्रद्धा स्थायी निष्ठा में बदल गई, तब तो किसी भी महापुरुष की मृत्यु के पश्चात् न तो उसके सिद्धांतों की हत्या होती है और न उसके अनुयायियों में संघर्ष अवश्यंभावी है। राष्ट्र का जो भी महापुरुष आगे आता है, वह राष्ट्र के शाश्वत सिद्धांतों का समय विशेष की परिस्थिति के साथ समन्वय करके अपने जीवन को व्यावहारिकता के सहारे आदर्शवाद की ओर ले जाता है। उसके भक्त कई बार उन महापुरुष के जीवन में प्रभाव रखने वाली इन शक्ति और प्रतिशक्तियों को एवं उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया को नहीं देख पाते। उन्हें तो उन सबका इष्ट फल एवं अंतिम परिणाम ही दृष्टिगोचर होता है और उसी की श्रद्धायुक्त अंत:करण से वे पूजा करने लगते हैं। कारणों और क्रिया की ओर ध्यान न रखने से वे कार्य को ही सर्वस्व समझकर उसका अनुगमन अपना धर्म समझते हैं। अनुगमन की इस क्रिया में शक्ति की संचयिता (Conservation of energy) के सिद्धांत के अनुसार वे तर्क से काम लेना छोड़ देते हैं और केवल श्रद्धा के भरोसे ही बढ़ते जाते हैं। जब तक महापुरुष जीवित रहता है, वह परिस्थिति का ऊहापोह एवं विचार का कार्य स्वयं संपन्न कर लेता है तथा अपना निर्णय अनुयायियों को बढ़ा देता है, जिसका पालनमात्र ही उनका कर्तव्य रह जाता है। महापुरुष के निधन के बाद निर्णय का दायित्व भी अनुयायियों पर आ जाता है, विशेषकर जबकि उनका स्थान लेने वाला कोई न हो। स्पष्ट ही जीवन में कभी भी निर्णय लेने के अभ्यस्त न होने के कारण या तो वे इस कष्ट से बचने का प्रयत्न करते हैं और भिन्न परिस्थितियों में उनके द्वारा लिए गए निर्णय को ही श्रद्धा के साथ अपनाने का प्रयत्न करते हैं अथवा नौसिखिए बालक की भाँति तर्क का भोंड़ा प्रयोग करते हुए त्रुटिपूर्ण निर्णय कर लेते हैं, जिन्हें वे अपने नेता के नाम का लेबिल लगाकर सही ठहराने का प्रयत्न करते हैं। गांधीजी के अनुयायियों की भी इसी प्रकार की मानसिक अवस्था है। अधिकांश तो गांधीजी द्वारा परतंत्र भारत में, विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिपादित सिद्धांतों को ही सर्वस्व मानकर उन पर चलने का आग्रह करते हैं तो दूसरे आज की परिस्थिति में गांधी जी ने यह निर्णय लिया होता, ऐसा कहकर अपने पंगु तर्क उपस्थित करते हैं। निश्चित ही उभयपक्ष परिस्थिति और सत्य दोनों से दूर हैं और इसलिए वे जनसाधारण के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाते। जनता को आकर्षित करने के लिए गांधी नाम का उच्चार अवश्य किया जाता है, किंतु जनता जानती है कि उनके शब्दों के पीछे हृदय नहीं है।

व्यवहार पहले, सिद्धांत बाद में

गांधीजी के साथ यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है, क्योंकि उन्होंने कोई सिद्धांत

नहीं रखा अपितु जीवन का व्यवहार ही उपस्थित किया। अपने जीवन और व्यवहार को उन्होंने किसी सूत्र के साथ संबद्ध करने का प्रयत्न अवश्य किया, किंतु निकट परीक्षण से मालूम होगा कि उनके सामने व्यवहार पहले या सिद्धांत बाद में। उन्होंने अपने जीवन को सत्य के साथ प्रयोग ही कहा है और वास्तव में उनका जीवन प्रयोग ही था, प्रयोग का परिणाम नहीं। प्रयोगावस्था में अनेक मार्गों का परीक्षण करना होता है और अनेक गलतियाँ भी होती हैं। इनके जीवन में भी मार्गों की विविधता और हिमालय जैसी भूलें भरी हुई हैं, जिनको उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। प्रयोग कभी सिद्धांत का स्थान नहीं ले सकता और इसलिए लोग गांधीवाद को उनके जीवन में ही नहीं समझ पाए। आज तो समझने का प्रश्न ही नहीं उठता। विशुद्ध और विशिष्ट गांधीवाद के नाम से आज प्रचार के प्रयत्न चाहे जितने हों, किंतु यह मानना होगा कि गांधीवाद तो गांधीजी के ही साथ चला गया। सत्य और अहिंसा शाश्वत सिद्धांत हैं। उनका किसी वाद के साथ संबंध नहीं। हाँ, उनका प्रयोग उन्होंने राजनीति और राष्ट्रनीति में करने का प्रयास अवश्य किया, किंतु किसी ने उस प्रयोग को सिद्धांत के तौर पर नहीं स्वीकार किया बल्कि कोई चारा न होने पर नीति के तौर पर माना। स्वतंत्र होते ही उस सिद्धांत को उसी दिन तिलांजलि दे दी गई।

समय की माँग

अतः गांधी जयंती के दिन गांधीजी के नाम पर अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग न अलापते हुए और न तर्कशून्य होकर उनके जीवन के प्रयोगों में से ही किसी को परिणाम मानकर उसको मानने का आग्रह करते हुए हम उनकी देशभक्ति और मानव कल्याण की भावना मात्र को ग्रहण करें। अपितु अपनी प्रतिभा और तर्क से आज की परिस्थिति में हम किस प्रकार अपने देश और समाज का हित कर सकते हैं, इसका निर्णय करें और अपना जीवन उस व्यावहारिक मार्ग पर ढालें। इसी में राष्ट्र का हित है और यही गांधीजी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि हो सकती है। गांधी और गांधीवाद के नारों के पीछे पड़कर न्यायार्थसिद्धि अथवा लकीर के फकीर बनकर अंधश्रद्धा प्रकट करने के स्थान पर गांधीजी की अमर भावना का आदर करें और आज की परिस्थिति की पृष्ठभूमि में तर्क की कुंजी के जनमत को आकर्षित करने वाला व्यवहार-चित्र खींचें। उन चित्रों की एकता संभव है राष्ट्र में भी एकता ला सके।

—अक्तूबर 5, 1950

□

परिशिष्ट

भारत के पुण्यक्षेत्र

शक्तिपीठ

हिंदू धर्म के पुराणों के अनुसार जहाँ-जहाँ सती के अंग या शरीर के टुकड़े, धारण किए वस्त्र या आभूषण गिरे, वहाँ-वहाँ तीर्थ बन गए। यही तीर्थ शक्तिपीठ कहे जाते हैं। शक्तिपीठ शाक्त मत के अनुसार साधना के अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। ये तीर्थ पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में फैले हुए हैं।

देवी पुराण में 51 शक्तिपीठों का वर्णन है। यद्यपि देवी भागवत में 108 तथा देवी गीता में 72 शक्तिपीठों की चर्चा मिलती है। तंत्र चूडामणि में शक्तिपीठों की संख्या 52 बताई गई है। भारत-विभाजन के बाद इनमें से एक शक्ति पीठ पाकिस्तान में चला गया और 4 बांग्लादेश में। इनके अतिरिक्त 1 शक्तिपीठ श्रीलंका, 1 तिब्बत तथा 2 नेपाल में हैं। इस प्रकार आज के भारत में केवल 42 शक्तिपीठ हैं।

51 शक्तिपीठों का संक्षिप्त विवरण

1. किरीट शक्तिपीठ : पश्चिम बंगाल में हुगली नदी के तट पर लालबाग कोट पर स्थित है किरीट शक्तिपीठ। यहाँ सती माता का किरीट अर्थात् मुकुट गिरा था। यहाँ की शक्ति विमला अथवा भुवनेश्वरी तथा भैरव संवर्त हैं। कुछ विद्वान् मुकुट का निपात कानपुर के मुक्तेश्वरी मंदिर में मानते हैं।

2. कात्यायनी पीठ वृंदावन : उत्तर प्रदेश मथुरा जनपद स्थित वृंदावन में स्थित है कात्यायनी वृंदावन शक्तिपीठ। यहाँ सती का केशपाश गिरा था। यहाँ की शक्ति देवी कात्यायनी हैं। यहाँ माता सती 'उमा' तथा भगवान् शंकर 'भूतेश' के नाम से जाने जाते हैं।

3. करवीर शक्तिपीठ : महाराष्ट्र के कोल्हापुर में स्थित 'महालक्ष्मी' अथवा 'अंबाई का मंदिर' ही यह शक्तिपीठ है। यहाँ माता का त्रिनेत्र गिरा था। यहाँ की शक्ति 'महिषमर्दिनी' तथा भैरव क्रोधिश हैं। यहाँ महालक्ष्मी का निवास माना जाता है।

4. श्रीपर्वत शक्तिपीठ : यहाँ की शक्ति श्रीसुंदरी एवं भैरव सुंदरानंद हैं। कुछ विद्वान् इसे लद्दाख (जम्मू-कश्मीर) में मानते हैं, तो कुछ असम के सिलहट से 4 कि.मी. दक्षिण-पश्चिम स्थित जौनपुर में मानते हैं। यहाँ सती के 'दक्षिण तल्प' (कनपटी) का निपात हुआ था।

5. विशालाक्षी शक्तिपीठ : उत्तर प्रदेश, वाराणसी के मीरघाट पर स्थित है। यहाँ की शक्ति विशालाक्षी तथा भैरव कालभैरव हैं। यहाँ माता सती के दाहिने कान की मणि गिरी थी।

6. गोदावरी तट शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ आंध्र प्रदेश के राजमुंद्री ज़िले में गोदावरी नदी के तट पर अवस्थित है। यहाँ माता का बायाँ कपोल गिरा था। यहाँ की शक्ति विश्वेश्वरी तथा भैरव दंडपाणि हैं।

7. शुचींद्रम शक्तिपीठ : तमिलनाडु में तीन महासागर के संगम-स्थल कन्याकुमारी से 13 किमी दूर शुचींद्रम में स्थाणु शिव का मंदिर है। उसी मंदिर परिसर में यह शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती के ऊपरी दाँत गिरे थे। यहाँ की शक्ति नारायणी तथा भैरव संहार हैं।

8. पंचसागर शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ वाराणसी के निकट स्थित है। यहाँ माता के निचले दाँत गिरे थे। यहाँ की शक्ति वाराही तथा भैरव महारुद्र हैं।

9. ज्वालामुखी शक्तिपीठ : हिमाचल प्रदेश के काँगड़ा में स्थित है यह शक्तिपीठ, जहाँ सती का जिह्वा गिरी थी। यहाँ की शक्ति सिद्धिदा व भैरव उन्मत्त हैं।

10. हरसिद्धि शक्तिपीठ (उज्जयिनी शक्तिपीठ) : इस शक्तिपीठ की स्थिति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ उज्जैन के निकट शिप्रा नदी के तट पर स्थित भैरव पर्वत को, तो कुछ गुजरात के गिरनार पर्वत के सन्निकट भैरव पर्वत को वास्तविक शक्तिपीठ मानते हैं। अत: दोनों ही स्थानों पर शक्तिपीठ की मान्यता है। इस स्थान पर सती की कोहनी गिरी थी। अत: यहाँ कोहनी की पूजा होती है।

11. अट्टहास शक्तिपीठ : अट्टहास शक्तिपीठ पश्चिम बंगाल के लाबपुर (लामपुर) रेलवे स्टेशन वर्द्धमान से लगभग 95 किलोमीटर आगे कटवा-अहमदपुर रेलवे लाइन पर है, जहाँ सती का निचला होंठ गिरा था। इसे अट्टहास शक्तिपीठ कहा जाता है।

12. जनस्थान शक्तिपीठ : महाराष्ट्र के नासिक में पंचवटी में स्थित है जनस्थान शक्तिपीठ, जहाँ माता की ठुड्डी गिरी थी। यहाँ की शक्ति भ्रामरी तथा भैरव विकृताक्ष हैं। मध्य रेलवे के मुंबई-दिल्ली मुख्य रेलमार्ग पर नासिक रोड स्टेशन से लगभग 8 कि.मी. दूर पंचवटी नामक स्थान पर स्थित भद्रकाली मंदिर ही शक्तिपीठ है। यहाँ की शक्ति भ्रामरी तथा भैरव विकृताक्ष हैं।

13. कश्मीर शक्तिपीठ : कश्मीर में अमरनाथ गुफ़ा के भीतर हिम शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती का कंठ गिरा था। यहाँ सती महामाया तथा शिव त्रिसंध्येश्वर कहलाते हैं। श्रावण पूर्णिमा को अमरनाथ के दर्शन के साथ यह शक्तिपीठ भी दिखता है।

14. नंदीपुर शक्तिपीठ : पश्चिम बंगाल के बोलपुर (शांतिनिकेतन) से 33 किमी दूर सैंथिया रेलवे जंक्शन के निकट ही एक वटवृक्ष के नीचे देवी मंदिर है। यहाँ देवी का कंठ हार गिरा था। यहाँ की शक्ति नंदिनी तथा भैरव नंदिकेश्वर हैं।

15. श्रीशैल शक्तिपीठ : आंध्र प्रदेश की राजधानी हैदराबाद से 250 कि.मी. दूर कुर्नूल के पास श्रीशैलम है, जहाँ सती की 'ग्रीवा' गिरी थी। यहाँ की सती महालक्ष्मी तथा शिव संबरानंद हैं।

16. नलहाटी शक्तिपीठ : पश्चिम बंगाल के बीरभूम जिले में है यह शक्तिपीठ। यहाँ माता की उदरनली गिरी थी। यहाँ की शक्ति कालिका तथा भैरव योगेश हैं।

17. मिथिला शक्तिपीठ : यहाँ माता सती का बायाँ कंधा गिरा था। यहाँ की शक्ति उमा या महादेवी तथा भैरव महोदर हैं। इस शक्तिपीठ के स्थान को लेकर मतांतर हैं। मिथिला शक्तिपीठ के तीन स्थान माने जाते हैं। एक जनकपुर (नेपाल) से 51 किमी. दूर पूर्व दिशा में उच्चैठ नामक स्थान पर वन दुर्गा का मंदिर है। दूसरा बिहार के सहरसा स्टेशन के पास उग्रतारा और तीसरा समस्तीपुर के निकट जयमंगला देवी का मंदिर है। इन तीनों स्थानों को विद्वज्जन शक्तिपीठ मानते हैं।

18. रत्नावली शक्तिपीठ : रत्नावली शक्तिपीठ का निश्चित स्थान अज्ञात है, किंतु बंगाल पंजिका के अनुसार यह तमिलनाडु के मद्रास (चेन्नई) में कहीं है। यहाँ सती का दायाँ कंधा गिरा था। यहाँ की शक्ति कुमारी तथा भैरव शिव हैं।

19. अंबाजी शक्तिपीठ : यहाँ माता सती का उदर गिरा था। गुजरात में जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर स्थित माँ अंबाजी का मंदिर ही शक्तिपीठ है। मान्यता है कि इसी स्थान पर माता सती का ऊपरी होंठ गिरा था। यहाँ की शक्ति अवंती तथा भैरव लंबकर्ण है।

20. जालंधर शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ पंजाब के जालंधर में स्थित है। यहाँ माता सती का बायाँ स्तन गिरा था। यहाँ की शक्ति त्रिपुरमालिनी और भैरव भीषण के रूप में जाने जाते हैं। इसे त्रिपुरमालिनी शक्तिपीठ भी कहते हैं।

21. रामगिरि शक्तिपीठ : रामगिरि शक्तिपीठ की स्थिति को लेकर मतांतर हैं। कुछ विद्वान् मैहर स्थित शारदा मंदिर को शक्तिपीठ मानते हैं, तो कुछ चित्रकूट के शारदा मंदिर को। दोनों ही स्थान मध्य प्रदेश में हैं। यहाँ देवी के दाएँ स्तन का निपात हुआ था। यहाँ की शक्ति शिवानी तथा भैरव चंड हैं।

22. वैद्यनाथ का हार्द शक्तिपीठ : झारखंड के गिरिडीह जनपद में स्थित वैद्यनाथ का हार्द या हृदय पीठ शिव तथा सती के ऐक्य का प्रतीक है। यहाँ सती का हृदय गिरा था। यहाँ की शक्ति जयदुर्गा तथा भैरव वैद्यनाथ हैं।

23. बक्रेश्वर शक्तिपीठ : माता का यह शक्तिपीठ पश्चिम बंगाल के बीरभूम ज़िले में स्थित है, जहाँ माता का त्रिकूट (दोनों भौंहों के मध्य का स्थान) गिरा था। यहाँ की शक्ति महिषासुरमर्दिनी तथा भैरव बक्रनाथ हैं।

24. कन्याकुमारी शक्तिपीठ : तमिलनाडु में तीन सागरों—हिंद महासागर, अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी के संगम स्थल पर कन्याकुमारी का मंदिर है। यहीं भद्रकाली का शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती की पीठ गिरी थी। यहाँ की शक्ति शर्वाणी तथा भैरव निमिष हैं।

25. बहुला शक्तिपीठ : पश्चिम बंगाल के बर्दवान जनपद में स्थित है बहुला शक्तिपीठ, जहाँ सती के वाम बाहु का पतन हुआ था। यहाँ की शक्ति बहुला तथा भैरव भीरुक हैं।

26. भैरव पर्वत शक्तिपीठ : इस शक्तिपीठ की स्थिति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ उज्जैन के निकट शिप्रा नदी तट स्थित भैरव पर्वत को, तो कुछ गुजरात के गिरनार पर्वत के सन्निकट भैरव पर्वत को वास्तविक शक्तिपीठ मानते हैं। यहाँ माता सती की कुहनी का पतन हुआ था। यहाँ की शक्ति अवंती तथा भैरव लंबकर्ण हैं।

27. मणिवेदिका शक्तिपीठ : राजस्थान में अजमेर से 11 किलोमीटर दूर पुष्कर सरोवर के एक ओर पर्वत की चोटी पर स्थित है सावित्री मंदिर, जिसमें माँ की आभायुक्त, तेजस्वी प्रतिमा है तथा दूसरी ओर स्थित है गायत्री मंदिर। यह गायत्री मंदिर ही शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती के मणिबंध (कलाई) का पतन हुआ था। यहाँ की शक्ति गायत्री और भैरव सर्वानंद हैं।

28. प्रयाग शक्तिपीठ : तीर्थराज प्रयाग में माता सती के हाथ की अंगुली गिरी थी। यहाँ की शक्ति ललिता तथा भैरव भव हैं।

29. विरजा शक्तिपीठ : उत्कल (ओडीशा) में माता सती की नाभि गिरी थी। पुरी में जगन्नाथजी के मंदिर परिसर में स्थित विमला देवी का मंदिर ही यह शक्तिपीठ है। यहाँ की शक्ति विमला तथा भैरव जगत् हैं।

30. कांची शक्तिपीठ : तमिलनाडु में काँचीपुरम स्थित काली मंदिर ही शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती का कंकाल गिरा था। यहाँ की शक्ति देवगर्भा और भैरव रुद्र हैं।

31. कालमाधव शक्तिपीठ : कालमाधव में सती के वाम नितंब का निपात हुआ था। इस शक्तिपीठ के बारे में कोई निश्चित स्थान ज्ञात नहीं है। माना जाता है कि यह

मध्य प्रदेश में कहीं है। यहाँ की शक्ति काली तथा भैरव असितांग हैं।

32. शोण शक्तिपीठ : मध्य प्रदेश के अमरकंटक स्थित नर्मदा मंदिर भी एक शक्तिपीठ है। यहाँ सती के दक्षिण नितंब का निपात हुआ था। यहाँ की शक्ति नर्मदा तथा भैरव भद्रसेन हैं।

33. कामाख्या शक्तिपीठ : असम के कामरूप जनपद में गुवाहाटी के पश्चिम भाग में नीलाचल पर्वत पर स्थित शक्तिपीठ कामाख्या के नाम से सुविख्यात है। यहाँ माता सती की योनि गिरी थी। यहाँ की शक्ति कामाख्या और भैरव उमानंद हैं।

34. जयंती शक्तिपीठ : मेघालय की जयंतिया पहाड़ी पर है जयंती शक्तिपीठ। यहाँ माता के वाम जंघा का निपात हुआ था। यहाँ की शक्ति जयंती और भैरव क्रमदीश्वर हैं।

35. मगध शक्तिपीठ : बिहार की राजधानी पटना में स्थित पटनेश्वरी देवी को भी शक्तिपीठ माना जाता है, जहाँ माता की दाहिनी जंघा गिरी थी। यहाँ की शक्ति सर्वानंदकरी तथा भैरव व्योमकेश हैं।

36. त्रिस्तोता शक्तिपीठ : पश्चिम बंगाल के जलपाईगुड़ी जनपद अंतर्गत बोदागंज के निकट स्थित मैनागुड़ी में तीस्ता नदी के तट पर त्रिस्तोता शक्तिपीठ है। जहाँ सती के वाम-चरण का पतन हुआ था। यहाँ की शक्ति भ्रामरी तथा भैरव ईश्वर हैं।

37. त्रिपुरसुंदरी शक्तिपीठ : त्रिपुरा राज्य के राधा किशोरपुर ग्राम के निकट पर्वत पर यह शक्तिपीठ स्थित है। यहाँ माता सती का दक्षिण पद गिरा था। यहाँ की शक्ति त्रिपुर सुंदरी तथा भैरव त्रिपुरेश हैं।

38. विभाष शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ पश्चिम बंगाल के मिदनापुर में है। यहाँ माता सती का बायाँ टखना गिरा था। यहाँ की शक्ति कपालिनी और भैरव सर्वानंद हैं।

39. देवीकूप शक्तिपीठ : हरियाणा राज्य के कुरुक्षेत्र नगर में द्वैपायन सरोवर के पास कुरुक्षेत्र शक्तिपीठ स्थित है, जिसे श्रीदेवीकूप भद्रकाली पीठ के नाम से जाना जाता है। यहाँ माता सती का दाहिना टखना गिरा था। यहाँ की शक्ति सावित्री तथा भैरव स्थाणु हैं।

40. युगाद्या शक्तिपीठ : पश्चिम बंगाल में वर्धमान जनपद के क्षीरग्राम में स्थित है युगाद्या शक्तिपीठ। तंत्र चूड़ामणि के अनुसार यहाँ माता सती के दाहिने चरण का अँगूठा गिरा था। यहाँ की शक्ति हैं युगाद्या तथा भैरव क्षीर कंटक।

41. विराट शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ राजस्थान की राजधानी जयपुर से उत्तर में महाभारतकालीन विराट नगर के प्राचीन ध्वंसावशेष के निकट एक गुफ़ा में है। इसे भीम की गुफ़ा कहते हैं। यहीं के वैराट गाँव में शक्तिपीठ स्थित है, जहाँ सती के दाएँ पाँव की अंगुलियाँ गिरी थीं। यहाँ की शक्ति अंबिका तथा भैरव अमृतेश्वर हैं।

42. कालीघाट काली मंदिर : पश्चिम बंगाल कि राजधानी कलकत्ता के काली घाट स्थित काली माता का मंदिर ही यह शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती की शेष अंगुलियाँ गिरी थीं। यहाँ की शक्ति कलिका तथा भैरव नकुलेश हैं।

43. मानस शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ तिब्बत में मानसरोवर के तट पर है। यहाँ माता सती की दाहिनी हथेली गिरी थी। यहाँ की शक्ति दाक्षायणी तथा भैरव अमर हैं।

44. लंका शक्तिपीठ : श्रीलंका के उत्तरी प्रांत में एक स्थान है नैनातिवु। यहाँ स्थित श्री नागपूशानी अम्मन मंदिर भी एक शक्तिपीठ है। यहाँ सती का नूपुर गिरा था। यहाँ की शक्ति इंद्राक्षी तथा भैरव राक्षसेश्वर हैं।

45. गंडकी शक्तिपीठ : नेपाल में गंडकी नदी के उद्‌गमस्थल पर गंडकी शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती के दक्षिण गंड का पतन हुआ था। यहाँ की शक्ति गंडकी तथा भैरव चक्रपाणि हैं।

46. गुह्येश्वरी शक्तिपीठ : नेपाल में पशुपतिनाथ मंदिर से थोड़ी दूर बागमती नदी की दूसरी ओर गुह्येश्वरी शक्तिपीठ है। यह नेपाल की अधिष्ठात्री देवी हैं। मंदिर में एक छिद्र से निरंतर जल बहता रहता है। यहाँ माता सती के घुटने गिरे थे। यहाँ की शक्ति महामाया और भैरव कपाली हैं।

47. हिंगलाज शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रांत के हिंगलाज में है। हिंगलाज कराची से 144 किलोमीटर दूर उत्तर-पश्चिम दिशा में हिंगोस नदी के तट पर है। यहाँ माता सती का ब्रह्मरंध्र गिरा था। यहाँ की शक्ति कोट्‌टरी तथा भैरव भीमलोचन हैं। यहाँ एक गुफ़ा के भीतर जाने पर माँ आदिशक्ति के ज्योति रूप के दर्शन होते हैं।

48. सुगंधा शक्तिपीठ : बांग्लादेश के बरीसाल में सुगंधा नदी के तट पर स्थित उग्रतारा देवी का मंदिर ही यह शक्तिपीठ है। इस स्थान पर सती की नासिका का निपात हुआ था। यहाँ की शक्ति सुगंधा और भैरव त्र्यंबक हैं।

49. करतोया घाट शक्तिपीठ : यह स्थल भी बांग्लादेश में है। बोगड़ा स्टेशन से 32 किलोमीटर दूर करतोया नदी के तट पर यह शक्तिपीठ स्थित है। यहाँ माता सती का वाम तल्प गिरा था। यहाँ की शक्ति अपर्णा तथा भैरव वामन हैं।

50. चट्‌टल शक्तिपीठ : बांग्लादेश में चटगाँव से 38 किमी. दूर सीताकुंड स्टेशन के पास चंद्रशेखर पर्वत पर भवानी मंदिर है। यह भवानी मंदिर ही शक्तिपीठ है। यहाँ माता सती की दाहिनी बाँह गिरी थी। यहाँ की शक्ति भवानी तथा भैरव चंद्रशेखर हैं।

51. यशोर शक्तिपीठ : यह शक्तिपीठ बांग्लादेश के खुलना ज़िले के जैसोर नामक नगर में स्थित है। यहाँ सती की बाईं हथेली गिरी थी। यहाँ की शक्ति यशोश्वरी एवं भैरव चंड हैं।

सप्तपुरी

सप्तपुरी पुराणों में वर्णित सात मोक्षदायिका पुरियों को कहा गया है। इन पुरियों में काशी, कांची (कांचीपुरम), माया (हरिद्वार), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवंतिका (उज्जयिनी) की गणना की गई है।

'काशी काँची च माया यातवयोध्याद्वारातऽपि, मथुराऽवन्तिका चैता: सप्तपुर्योऽत्र मोक्षदा:';
'अयोध्या-मथुरामायाकाशी काञ्चि अवन्तिका, पुरी द्वारावतीचैव सप्तैते मोक्षदायिका:।'

पुराणों के अनुसार इन सात पुरियों या तीर्थों को मोक्षदायक कहा गया है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. अयोध्या : अयोध्या उत्तर प्रदेश में सरयू नदी के तट पर स्थित एक क़सबा है। भगवान् श्रीराम का जन्म यहीं हुआ था। यह हिंदुओं के प्राचीन और सात पवित्र तीर्थस्थलों में से एक है। अयोध्या को अथर्ववेद में ईश्वर का नगर बताया गया है और इसकी संपन्नता की तुलना स्वर्ग से की गई है। रामायण के अनुसार अयोध्या की स्थापना मनु ने की थी। कई शताब्दियों तक यह नगर सूर्य वंश की राजधानी रहा। इसे मंदिरों का शहर कहा जाता है। यहाँ आज भी हिंदू, बौद्ध, इसलाम और जैन धर्म से जुड़े अवशेष देखे जा सकते हैं। जैन मत के अनुसार यहाँ आदिनाथ सहित पाँच तीर्थंकरों का जन्म हुआ था।

2. मथुरा : पुराणों में मथुरा के गौरवमय इतिहास का विषद विवरण मिलता है। अनेक धर्मों से संबंधित होने के कारण मथुरा में बसने और रहने का महत्त्व क्रमश: बढ़ता रहा। ऐसी मान्यता है कि यहाँ रहने मात्र से लोग पापरहित हो जाते हैं तथा मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वराह पुराण में कहा गया है कि इस नगरी में जो लोग शुद्ध विचार से निवास करते हैं, वे मानव के रूप में साक्षात् देवता हैं। मथुरा में श्राद्ध करनेवालों के पूर्वजों को आध्यात्मिक मुक्ति मिलती है। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने मथुरा में तप करके नक्षत्रों में स्थान प्राप्त किया था। वराह पुराण में मथुरा की माप बीस योजन बताई गई है। इस मंडल में मथुरा, गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन आदि नगर, ग्राम एवं मंदिर, तड़ाग, कुंड, वन एवं अगणित तीर्थों के होने का विवरण है। इनका विस्तृत वर्णन पुराणों में मिलता है। गंगा के समान ही यमुना के गौरवमय महत्त्व का भी विशद वर्णन किया गया है। पुराणों में वर्णित राजाओं के शासन एवं उनके वंशों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

3. हरिद्वार : हरिद्वार उत्तराखंड में स्थित भारत के सात सबसे पवित्र तीर्थस्थलों में एक है। भारत के पौराणिक ग्रंथों और उपनिषदों में हरिद्वार को मायापुरी कहा गया है। हरिद्वार का अर्थ ही है, हरि तक पहुँचने का द्वार। सबसे पवित्र नदी गंगा के तट पर बसे इस शहर को धर्म की नगरी माना जाता है। सैकड़ों वर्षों से लोग मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य से इस पवित्र भूमि में आते रहे हैं। पवित्र नदी गंगा में डुबकी लगाकर अपने पापों का नाश

करने के लिए साल भर यहाँ श्रद्धालुओं का आना-जाना हमेशा लगा रहता है। गंगा नदी पहाड़ी इलाकों को पीछे छोड़ती हुई हरिद्वार से ही मैदानी क्षेत्र में प्रवेश करती है। उत्तराखंड क्षेत्र के चार प्रमुख तीर्थस्थलों का प्रवेशद्वार हरिद्वार ही है। संपूर्ण हरिद्वार में सिद्धपीठ, शक्तिपीठ और अनेक नए-पुराने मंदिर बने हुए हैं।

4. काशी : वाराणसी, काशी अथवा बनारस उत्तर प्रदेश का एक प्राचीन और धार्मिक महत्ता रखनेवाला शहर है। गंगा नदी के किनारे बसे वाराणसी का पुराना नाम काशी है। दो नदियों वरुणा और असि के मध्य बसा होने के कारण इसका नाम वाराणसी पड़ा। यह विश्व का प्राचीनतम बसा हुआ शहर है। यह शहर हज़ारों वर्षों से उत्तर भारत का धार्मिक एवं सांस्कृतिक केंद्र रहा है। संस्कृत पढ़ने के लिए प्राचीन काल से ही लोग वाराणसी आया करते थे। वाराणसी के घरानों की संगीत में अपनी ही शैली है।

5. कांचीपुरम : कांचीपुरम तीर्थपुरी दक्षिण की काशी मानी जाती है, जो चेन्नई से लगभग 68 किलोमीटर की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। कांचीपुरम को कांची भी कहा जाता है। यह आधुनिक काल में कांचीवरम के नाम से भी प्रसिद्ध है। अनुश्रुति है कि देवी के दर्शन के लिए ब्रह्माजी ने इस क्षेत्र में तप किया था। इसकी गणना मोक्षदायिनी सप्तपुरियों में की जाती है। कांची हरिहरात्मक पुरी है। इसके दो भाग शिवकांची और विष्णुकांची हैं।

6. अवंतिका : उज्जयिनी (उज्जैन) का प्राचीनतम नाम अवंतिका, अवंति नामक राजा के नाम पर था। इस जगह को पृथ्वी का नाभि देश कहा गया है। महर्षि संदीपन का आश्रम भी यहीं था। उज्जयिनी महाराज विक्रमादित्य की राजधानी थी। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में देशांतर की शून्यरेखा उज्जयिनी से प्रारंभ हुई मानी जाती है। इसे कालिदास की नगरी के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ हर 12 वर्ष पर सिंहस्थ कुंभ मेला लगता है। भगवान् शिव के 12 ज्योतिर्लिंगों में एक महाकाल इस नगरी में स्थित है।

7. द्वारका : द्वारका का प्राचीन नाम कुशस्थली है। पौराणिक कथाओं के अनुसार महाराजा रैवतक के समुद्र में कुश बिछाकर यज्ञ करने के कारण ही इस नगरी का नाम कुशस्थली हुआ था। बाद में त्रिविक्रम भगवान् ने कुश नामक दानव का वध भी यहीं किया था। त्रिविक्रम का मंदिर द्वारका में रणछोड़जी के मंदिर के निकट है। ऐसा लगता है कि महाराज रैवतक (बलराम की पत्नी रेवती के पिता) ने प्रथम बार समुद्र में से कुछ भूमि बाहर निकाल कर यह नगरी बसाई होगी। हरिवंश पुराण के अनुसार कुशस्थली उस प्रदेश का नाम था, जहाँ यादवों ने द्वारका बसाई थी। विष्णु पुराण के अनुसार, आनर्त के रेवत नामक पुत्र हुआ, जिसने कुशस्थली नामक पुरी में रह कर आनर्त पर राज्य किया। विष्णु पुराण से सूचित होता है कि प्राचीन कुशावती के स्थान पर ही श्रीकृष्ण ने द्वारका

बसाई थी—'कुशस्थली या तव भूप रम्या पुरी पुराभूदमरावतीव, सा द्वारका संप्रति तत्र चास्ते स केशवांशो बलदेवनामा'।

द्वादश ज्योतिर्लिंग

द्वादश ज्योतिर्लिंगों के संबंध में शिव पुराण की कोटि 'रुद्रसंहिता' में निम्नलिखित श्लोक दिया गया है—

सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्॥
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरम्॥ 1॥
परल्यां वैदयनाथं च डाकिन्यां भीमशङ्करम्॥
सेतुबन्धे तुरामेशं नागेशं दारुकावने॥ 2॥
वाराणस्यांच विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
हिमालये तु केदारं घुश्मेशं च शिवालये॥ 3॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरूत्थाय यः पठेत्॥
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति॥ 4॥

शिव पुराण के कोटिरुद्र संहिता में वर्णित कथानक के अनुसार भगवान् शिवशंकर प्राणियों के कल्याण हेतु जगह-जगह तीर्थों में भ्रमण करते रहते हैं तथा लिंग के रूप में वहाँ निवास भी करते हैं। कुछ विशेष स्थानों पर शिव के उपासकों ने महती निष्ठा के साथ तन्मय होकर भूतभावन की आराधना की थी। उनके भक्तिभाव के प्रेम से आकर्षित भगवान् शिव ने उन्हें दर्शन दिया तथा उनकी अभिलाषा भी पूरी की। उन स्थानों में आविर्भूत दयालु शिव अपने भक्तों के अनुरोध पर अपने अंशों से सदा के लिए वहीं अवस्थित हो गए। लिंग के रूप में साक्षात् भगवान् शिव जिन-जिन स्थानों में विराजमान हुए, वे हुए सभी तीर्थ के रूप में महत्त्व को प्राप्त हुए।

शिव द्वारा शिवलिंग रूप धारण

संपूर्ण तीर्थ ही लिंगमय है तथा सब कुछ लिंग में समाहित है। वैसे तो शिवलिंगों की गणना अत्यंत कठिन है। जो भी दृश्य दिखाई पड़ता है अथवा हम जिस किसी भी दृश्य का स्मरण करते हैं, वह सब भगवान् शिव का ही रूप है, उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है। संपूर्ण चराचर जगत् पर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् शिव ने देवता, असुर, गंधर्व, राक्षस तथा मनुष्यों सहित तीनों लोकों को लिंग के रूप में व्याप्त कर रखा है। संपूर्ण लोकों पर कृपा करने की दृष्टि से ही वे भगवान् महेश्वर तीर्थ में तथा विभिन्न जगहों में भी अनेक प्रकार के लिंग धारण करते हैं। जहाँ-जहाँ जब भी उनके भक्तों ने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका स्मरण या चिंतन किया, वहीं वे प्रकट होकर विराजमान हो

गए। जगत् का कल्याण करने हेतु भगवान् शिव ने स्वयं अपने स्वरूप के अनुकूल लिंग की परिकल्पना की और उसी में वे प्रतिष्ठित हो गए। ऐसे लिंगों की पूजा करके शिवभक्त सब प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। भूमंडल के लिंगों की गणना तो नहीं की जा सकती, किंतु उनमें कुछ प्रमुख शिवलिंग हैं।

शिव पुराण के अनुसार प्रमुख द्वादश ज्योतिर्लिंग इस प्रकार हैं, जिनके नाम श्रवण मात्र से मनुष्य का किया हुआ पाप दूर भाग जाता है—

1. **सोमनाथ :** प्रथम ज्योतिर्लिंग सौराष्ट्र में अवस्थित सोमनाथ का है। यह स्थान गुजरात प्रांत के काठियावाड़ के प्रभास क्षेत्र में है।

2. **मल्लिकार्जुन :** आंध्र प्रदेश के कुर्नूल ज़िले में कृष्णा नदी के तट पर श्रीशैलम पर्वत पर श्रीमल्लिकार्जुन विराजमान हैं। इसे दक्षिण का कैलाश कहते हैं।

3. **महाकालेश्वर :** तृतीय ज्योतिर्लिंग महाकाल या महाकालेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मध्य प्रदेश के उज्जैन नामक नगर में है, जिसे प्राचीनकाल में अवंतिका पुरी के नाम से भी जाना जाता रहा है।

4. **ओंकारेश्वर ज्योतिर्लिंग :** चतुर्थ ज्योतिर्लिंग का नाम ओंकारेश्वर है। इन्हें ममलेश्वर और अमलेश्वर भी कहा जाता है। यह स्थान भी मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में ही है। यह प्राकृतिक संपदा से भरपूर नर्मदा नदी के तट पर अवस्थित है।

5. **केदारनाथ :** पाँचवाँ ज्योतिर्लिंग हिमालय की चोटी पर विराजमान श्री केदारनाथजी का है। श्री केदारनाथ को केदारेश्वर भी कहा जाता है, जो उत्तराखंड में केदार नामक शिखर पर विराजमान है। इस शिखर से पूरब दिशा में अलकनंदा नदी के किनारे भगवान् श्री बद्री विशाल का मंदिर है।

6. **भीमशंकर :** छठवें ज्योतिर्लिंग का नाम भीमशंकर है, जो डाकिनी पर अवस्थित है। यह स्थान महाराष्ट्र में मुंबई से पूरब तथा पूना से उत्तर की ओर स्थित है, जो भीमा नदी के किनारे सह्याद्रि पर्वत पर है। भीमा नदी भी इसी पर्वत से निकलती है।

7. **विश्वनाथ :** काशी (वाराणसी) में विराजमान भूतभावन भगवान् श्री विश्वनाथ को सातवाँ ज्योतिर्लिंग कहा गया है। कहते हैं, काशी तीनों लोकों में न्यारी नगरी है, जो भगवान् शिव के त्रिशूल पर विराजती है।

8. **त्र्यबंकेश्वर :** आठवें ज्योतिर्लिंग को त्र्यबंक के नाम से भी जाना जाता है। यह नासिक ज़िले में पंचवटी से लगभग अठारह मील की दूरी पर है। यह मंदिर ब्रह्मगिरि के पास गोदावरी नदी के किनारे अवस्थित है।

9. **वैद्यनाथ :** नवें ज्योतिर्लिंग वैद्यनाथ हैं। यह स्थान झारखंड प्रांत के देवघर जनपद में जसीडीह रेलवे स्टेशन के समीप है। पुराणों में इस जगह को चिताभूमि कहा गया है।

10. नागेश : नागेश नामक ज्योतिर्लिंग दसवें हैं। यह गुजरात के बड़ौदा क्षेत्र में गोमती द्वारका के समीप है। इस स्थान को दारुका वन भी कहा जाता है।

11. रामेश्वर : ग्यारहवें ज्योतिर्लिंग श्रीरामेश्वर हैं। रामेश्वर तीर्थ को ही सेतुबंध तीर्थ कहा जाता है। यह स्थान तमिलनाडु के रामनाथम जनपद में स्थित है। यहाँ समुद्र के किनारे भगवान् श्रीरामेश्वरम् का विशाल मंदिर शोभित है।

12. घुश्मेश्वर : बारहवें ज्योतिर्लिंग का नाम घुश्मेश्वर है। इन्हें कोई घृष्णेश्वर तो कोई घुसृणेश्वर के नाम से पुकारता हैं। यह स्थान महाराष्ट्र क्षेत्र के अंतर्गत दौलताबाद से लगभग अठारह किलोमीटर दूर बेरूलठ गाँव के पास है। इस स्थान को शिवालय भी कहा जाता है।

भारत के चार धाम

भारत के चारों कोनों पर स्थित हिंदू धर्म की चार प्रमुख पीठों को ही चार धाम कहते हैं। चारधाम की स्थापना जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने की थी। इनमें तीन—बद्रीनारायण, द्वारका और पुरी वैष्णव मठ हैं, जबकि एक रामेश्वरम् शैव मठ है। भूगोल की दृष्टि से देखें तो ये चारों धाम मिलकर एक विशुद्ध चतुर्भुज का निर्माण करते हैं। इनमें उत्तर में स्थित बद्रीनारायण और दक्षिण में स्थित रामेश्वरम् एक ही देशांतर पर स्थित हैं, जबकि पूरब पुरी और पश्चिम में द्वारका एक ही अक्षांश पर अवस्थित हैं। इस प्रकार राष्ट्र के चारों कोनों पर स्थित ये मठ भारत की सांस्कृतिक सीमा भी निर्धारित करते हैं। विद्वानों का मत है कि इनकी स्थापना के पीछे आदि शंकराचार्य का उद्देश्य यही रहा होगा कि लोग उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों दिशाओं में स्थित इन धामों की यात्रा कर संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक विरासत को जानें-समझें। संभवतः इसीलिए प्रत्येक हिंदू के लिए चार धाम की यात्रा अनिवार्य कही जाती है।

1. पुरी (गोवर्धन पीठम्) : यह भारत के ओडिशा राज्य में बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित है। यहाँ वैष्णव संप्रदाय का मंदिर है, जो भगवान् विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण को समर्पित है। भगवान् श्रीकृष्ण को ही यहाँ जगन्नाथ के रूप में पूजा जाता है। यह भारत का अकेला मंदिर है, जहाँ भगवान् जगन्नाथ अपने अग्रज बलभद्र और भगिनी सुभद्रा के साथ पूजे जाते हैं। जगन्नाथ शब्द का अर्थ जगत् का स्वामी होता है। इस मंदिर का वार्षिक रथयात्रा उत्सव प्रसिद्ध है। इसमें मंदिर के तीनों मुख्य देवता—भगवान् जगन्नाथ, उनके बड़े भ्राता बलभद्र और भगिनी सुभद्रा, तीन अलग-अलग भव्य और सुसज्जित रथों में विराजमान होकर नगर की यात्रा को निकलते हैं। मध्य-काल से ही यह उत्सव अतीव हर्षोल्लस के साथ मनाया जाता है। इसके साथ ही यह उत्सव भारत के ढेरों वैष्णव कृष्ण मंदिरों में मनाया जाता है तथा यात्रा निकाली जाती है। यह मंदिर वैष्णव परंपराओं और संत रामानंद से जुड़ा हुआ है। यह गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के लिए विशेष

महत्त्व रखता है। इस पंथ के संस्थापक श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् की ओर आकर्षित हुए थे और कई वर्षों तक पुरी में रहे भी थे।

2. रामेश्वरम् (श्रृंगेरीशरदापीठम्) : पवित्र तीर्थ रामेश्वरम् तमिलनाडु के रामनाथपुरम् ज़िले में स्थित है। यह तीर्थ चार धामों में से एक है। यहाँ स्थापित शिवलिंग द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक माना जाता है। भारत के उत्तर में काशी की जो मान्यता है, वही दक्षिण में रामेश्वरम् की है। रामेश्वरम् चेन्नई से लगभग सवा चार सौ मील दक्षिण-पूर्व में है। यह हिंद महासागर और बंगाल की खाड़ी से चारों ओर से घिरा हुआ एक शंख आकार का एक सुंदर द्वीप है। बहुत पहले यह द्वीप भारत की मुख्य भूमि के साथ जुड़ा हुआ था, परंतु बाद में सागर की लहरों ने इस मिलानेवाली कड़ी को काट डाला, जिससे वह चारों ओर पानी से घिरकर टापू बन गया। भगवान् राम ने लंका पर चढ़ाई करने से पूर्व यहाँ पत्थरों के एक सेतु का निर्माण करवाया था, जिस पर चढ़कर वानर सेना लंका पहुँची और विजय पाई। बाद में राम ने विभीषण के अनुरोध पर धनुष कोटि नामक स्थान पर यह सेतु तोड़ दिया था। आज भी इस 48 कि.मी लंबे आदि-सेतु के अवशेष सागर में दिखाई देते हैं। यहाँ के मंदिर के तीसरे प्रकार का गलियारा विश्व का सबसे लंबा गलियारा है।

3. द्वारका (द्वारकापीठम्) : द्वारका गुजरात की देवभूमि द्वारका ज़िले में स्थित एक नगर तथा तीर्थस्थल है। यह चार धामों के साथ-साथ सप्तपुरियों में भी एक है। यह नगरी भारत के पश्चिम में अरब सागर के किनारे बसी है। धर्मग्रंथों के अनुसार इसे श्रीकृष्ण ने बसाया था। यह श्रीकृष्ण की कर्मभूमि है। आधुनिक द्वारका एक शहर है। क़सबे के एक हिस्से के चारों ओर चाहरदीवारी खिंची है, इसके भीतर ही कई भव्य मंदिर हैं। काफ़ी समय से जाने-माने शोधकर्ता पुराणों में वर्णित द्वारका के रहस्य का पता लगाने में लगे हुए हैं, लेकिन वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित कोई भी अध्ययन कार्य अभी तक पूरा नहीं हो सका है। 2005 में द्वारका के रहस्यों से परदा उठाने के लिए अभियान शुरू किया गया था। इस अभियान में भारतीय नौसेना ने भी मदद की। अभियान के दौरान समुद्र की गहराई में कटे-छँटे पत्थर मिले और यहाँ से लगभग 200 अन्य नमूने भी एकत्र किए, लेकिन आज तक यह तय नहीं हो पाया कि यह वही नगरी है या नहीं, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने बसाया था। श्रीकृष्ण मथुरा में उत्पन्न हुए, गोकुल में पले, पर राज उन्होंने द्वारका में ही किया। यहाँ श्रीकृष्ण की पूजा रणछोड़जी के रूप में होती है।

4. बदरीनारायण धाम (ज्योतिर्मठपीठम्) : बदरीनारायण धाम जिसे बदरीनाथ मंदिर भी कहते हैं, उत्तराखंड राज्य में अलकनंदा नदी के किनारे स्थित है। यह मंदिर भगवान् विष्णु के रूप बदरीनाथ को समर्पित है। यह चार धाम में से एक है। ऋषिकेश से यह 294 किलोमीटर की दूरी पर उत्तर दिशा में स्थित है।

भारत की सात पवित्र नदियाँ

हिंदुओं द्वारा स्नान एवं धार्मिक कृत्यों के समय यह श्लोक याद किया जाता है :

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

अर्थात् गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी इन सातों नदियों के जल का सद्प्रभाव इस जल में व्याप्त हो।

यह केवल इन सात पवित्र नदियों का धार्मिक महत्त्व ही नहीं, भारत की सीमाओं का विस्तार भी बताता है। इनमें गंगा, यमुना और सरस्वती उत्तर से पूरब तक, गोदावरी, नर्मदा और कावेरी पश्चिम से दक्षिण तथा सिंधु पश्चिम से उत्तर तक भारत की सीमाएँ निर्धारित करती रही हैं।

वेद शब्द संस्कृत भाषा के 'विद्' धातु से बना है 'विद्' का अर्थ है—जानना, ज्ञान इत्यादि। 'वेद' हिंदू धर्म के प्राचीन पवित्र ग्रंथों का नाम है, इससे वैदिक संस्कृति प्रचलित हुई। ऐसी मान्यता है कि इनके मंत्रों को परमेश्वर ने प्राचीन ऋषियों को अप्रत्यक्ष रूप से सुनाया था। इसलिए वेदों को 'श्रुति' भी कहा जाता है। वेद प्राचीन भारत के वैदिक काल की वाचिक परंपरा की अनुपम कृति है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी पिछले चार-पाँच हज़ार वर्षों से चली आ रही है। वेद ही हिंदू धर्म के सर्वोच्च और सर्वोपरि धर्मग्रंथ हैं। वेद के असल मंत्र भाग को संहिता कहते हैं।

'सनातन धर्म' एवं 'भारतीय संस्कृति' का मूल आधार स्तंभ विश्व का अति प्राचीन और सर्वप्रथम वाङ्मय 'वेद' माना गया है। मानव जाति के लौकिक (सांसारिक) तथा पारमार्थिक अभ्युदय हेतु प्राकट्य होने से वेद को अनादि एवं नित्य कहा गया है। अति प्राचीनकालीन महा तपा, पुण्यपुंज ऋषियों के पवित्रतम अंत:करण में वेद के दर्शन हुए थे, अत: उसका 'वेद' नाम प्राप्त हुआ। ब्रह्म का स्वरूप 'सत-चित-आनंद' होने से ब्रह्म को वेद का पर्यायवाची शब्द कहा गया है। इसीलिए वेद लौकिक एवं अलौकिक ज्ञान का साधन है। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' तात्पर्य यह कि कल्प के प्रारंभ में आदिकवि ब्रह्मा के हृदय में वेद का प्राकट्य हुआ।

वेद के प्रकार

ऋग्वेद : वेदों में सर्वप्रथम ऋग्वेद का निर्माण हुआ। यह पद्यात्मक है। यजुर्वेद गद्यमय है और सामवेद गीतात्मक है। ऋग्वेद में मंडल 10 हैं,1028 सूक्त हैं और 11 हज़ार मंत्र हैं। इसमें 5 शाखाएँ हैं—शाकल्प, वास्कल, अश्वलायन, शांखायन, मंडूकायन। ऋग्वेद के दशम मंडल में औषधि सूक्त हैं। इसके प्रणेता अर्थशास्त्र ऋषि हैं। इसमें औषधियों की संख्या 125 के लगभग निर्दिष्ट की गई है जो कि 107 स्थानों पर पाई जाती है। औषधि में सोम का विशेष वर्णन है। ऋग्वेद में च्यवन ऋषि को पुन: युवा करने

का कथानक भी उद्धृत है और औषधियों से रोगों का नाश करना भी समाविष्ट है। इसमें जल चिकित्सा, वायु चिकित्सा, सौर चिकित्सा, मानस चिकित्सा एवं हवन द्वारा चिकित्सा का समावेश है

सामवेद : चार वेदों में सामवेद का नाम तीसरे क्रम में आता है। पर ऋग्वेद के एक मंत्र में ऋग्वेद से भी पहले सामवेद का नाम आने से कुछ विद्वान वेदों को एक के बाद एक रचना न मानकर प्रत्येक को स्वतंत्र रचना मानते हैं। सामवेद में गेय छंदों की अधिकता है, जिनका गान यज्ञों के समय होता था। 1824 मंत्रों के इस वेद में 75 मंत्रों को छोड़कर शेष सब मंत्र ऋग्वेद से ही संकलित हैं। इस वेद को संगीत शास्त्र का मूल माना जाता है। इसमें सविता, अग्नि और इंद्र देवताओं का प्राधान्य है। इसमें यज्ञ में गाने के लिए संगीतमय मंत्र हैं, यह वेद मुख्यत: गंधर्व लोगो के लिए होता है। इसमें मुख्य 3 शाखाएं हैं, 75 ऋचाएँ हैं विशेषकर संगीतशास्त्र का समावेश किया गया है।

यजुर्वेद : इसमें यज्ञ की असल प्रक्रिया के लिए गद्य मंत्र हैं, यह वेद मुख्यत: क्षत्रियों के लिए होता है। यजुर्वेद के दो भाग हैं—

1. कृष्ण : वैशंपायन ऋषि का संबंध कृष्ण से है। कृष्ण की चार शाखाएँ हैं।

2. शुक्ल : याज्ञवल्क्य ऋषि का संबंध शुक्ल से है। शुक्ल की दो शाखाएँ हैं। इसमें 40 अध्याय हैं। यजुर्वेद के एक मंत्र में 'ब्रीहिधान्यो' का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अलावा, दिव्य वैद्य एवं कृषि विज्ञान का भी विषय समाहित है।

अथर्ववेद : इसमें जादू, चमत्कार, आरोग्य, यज्ञ के लिए मंत्र हैं, यह वेद मुख्यत: व्यापारियों के लिए होता है। इसमें 20 कांड हैं। अथर्ववेद में आठ खंड आते हैं, जिनमें भैषज वेद एवं धातु वेद, ये दो नाम स्पष्ट प्राप्त हैं।

छह शास्त्र : मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, वेदांत।

अठारह पुराण : ब्रह्म पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, पद्म पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, अग्नि पुराण, मार्कंडेय पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिंग पुराण, स्कंद पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड़ पुराण, ब्रह्मांड पुराण।

अखंडता के प्रतीक भारत के पुण्यक्षेत्र

अष्टविनायक

अष्टविनायक से अभिप्राय है आठ गणपति। यह आठ अति प्राचीन मंदिर भगवान् गणेश के आठ शक्तिपीठ भी कहलाते हैं, जो कि महाराष्ट्र में स्थित हैं। महाराष्ट्र में पुणे के समीप अष्टविनायक के आठ पवित्र मंदिर 20 से 110 किलोमीटर के क्षेत्र में स्थित हैं। इन मंदिरों का पौराणिक महत्त्व और इतिहास है। इनमें विराजित गणेश की प्रतिमाएँ स्वयंभू मानी जाती हैं, यानि यह स्वयं प्रगट हुई हैं। यह मानव निर्मित न होकर प्राकृतिक हैं। 'अष्टविनायक' के ये सभी आठ मंदिर अत्यंत पुराने और प्राचीन हैं। इन सभी का

विशेष उल्लेख गणेश और मुद्गल पुराण, जो हिंदू धर्म के पवित्र ग्रंथों का समूह हैं, में किया गया है। इन आठ गणपति धामों की यात्रा अष्टविनायक तीर्थ यात्रा के नाम से जानी जाती है। इन पवित्र प्रतिमाओं के प्राप्त होने के क्रम के अनुसार ही अष्टविनायक की यात्रा भी की जाती है। अष्टविनायक दर्शन की शास्त्रोक्त क्रमबद्धता इस प्रकार है—

1. श्री मयूरेश्वर मंदिर : यह मंदिर पुणे से 80 किलोमीटर दूर स्थित मोरेगाँव में है। मयूरेश्वर मंदिर के चारों कोनों में मीनारें हैं और लंबे पत्थरों की दीवारें हैं। यहाँ चार द्वार हैं। ये चारों दरवाज़े चारों युग सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग के प्रतीक हैं। इस मंदिर के द्वार पर शिवजी के वाहन नंदी बैल की मूर्ति स्थापित है, इसका मुँह भगवान् गणेश की मूर्ति की ओर है। मंदिर में गणेशजी बैठी मुद्रा में विराजमान है तथा उनकी सूँड़ बाएँ हाथ की ओर है तथा उनकी चार भुजाएँ एवं तीन नेत्र हैं। मान्यताओं के अनुसार यहाँ गणेशजी ने मोर पर सवार होकर सिंधुरासुर से युद्ध किया था। इसी कारण यहाँ स्थित गणेशजी को मयूरेश्वर कहा जाता है।

2. सिद्धिविनायक मंदिर : अष्ट विनायक में दूसरे गणेश हैं सिद्धिविनायक। यह मंदिर पुणे से करीब 200 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। समीप ही भीम नदी है। यह क्षेत्र सिद्धटेक गाँव के अंतर्गत आता है। यह पुणे के सबसे पुराने मंदिरों में से एक है। मंदिर करीब 200 साल पुराना है। सिद्धटेक में सिद्धिविनायक मंदिर बहुत ही सिद्ध स्थान है। ऐसा माना जाता है कि यहाँ भगवान् विष्णु ने सिद्धियाँ हासिल की थीं। सिद्धिविनायक मंदिर एक पहाड़ की चोटी पर बना हुआ है। जिसका मुख्य द्वार उत्तर दिशा की ओर है। मंदिर की परिक्रमा के लिए पहाड़ी की यात्रा करनी होती है। यहाँ गणेशजी की मूर्ति 3 फीट ऊँची और ढाई फीट चौड़ी है। मूर्ति का मुख उत्तर दिशा की ओर है। भगवान् गणेश की सूँड़ सीधे हाथ की ओर है।

3. श्रीबल्लालेश्वर मंदिर : अष्टविनायक में अगला मंदिर है श्री बल्लालेश्वर का। यह महाराष्ट्र के रायगढ़ जनपद अंतर्गत पाली गाँव में है। इस मंदिर का नाम गणेशजी के भक्त बल्लाल के नाम पर पड़ा है। प्राचीन काल में बल्लाल नाम का एक लड़का था, वह गणेशजी का परम भक्त था। एक दिन उसने पाली गाँव में विशेष पूजा का आयोजन किया। पूजन कई दिनों तक चलता रहा। पूजा में शामिल कई बच्चे घर लौटकर नहीं गए और वहीं बैठे रहे। इस कारण उन बच्चों के माता-पिता ने बल्लाल को पीटा और गणेशजी की प्रतिमा के साथ उसे भी जंगल में फेंक दिया। गंभीर हालत में बल्लाल गणेशजी के मंत्रों का जप कर रहा था। इस भक्ति से प्रसन्न होकर गणेश जी ने उसे दर्शन दिए। तब बल्लाल ने गणेशजी से आग्रह किया अब वे इसी स्थान पर निवास करें। गणपति ने आग्रह मान लिया।

4. श्रीवरदविनायक : अष्टविनायक में चौथे गणेश हैं श्रीवरदविनायक। यह मंदिर

महाराष्ट्र के रायगढ़ ज़िले के कोल्हापुर क्षेत्र में स्थित है। यहाँ एक सुंदर पर्वतीय गाँव है महाड़। इसी गाँव में है श्री वरदविनायक मंदिर। यहाँ प्रचलित मान्यता के अनुसार वरदविनायक भक्तों की सभी कामनाओं के पूरा होने का वरदान प्रदान करते हैं। इस मंदिर में नंददीप नाम का एक दीपक है, जो कई वर्षों से प्रज्वलित है। वरदविनायक का नाम लेने मात्र से ही सारी कामनाओं के पूरा होने का वरदान प्राप्त होता है।

5. चिंतामणि गणपति : अष्टविनायक में पाँचवें गणेश हैं चिंतामणि गणपति। यह मंदिर पुणे ज़िले के हवेली क्षेत्र में स्थित है। मंदिर के पास ही तीन नदियों का संगम है। ये तीन नदियाँ हैं भीम, मुला और मुथा। यदि किसी भक्त का मन बहुत विचलित है और जीवन में दु:ख ही दु:ख प्राप्त हो रहे हैं तो इस मंदिर में आने पर ये सभी समस्याएँ दूर हो जाती हैं। ऐसी मान्यता है कि स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने अपने विचलित मन को वश में करने के लिए इसी स्थान पर तपस्या की थी।

6. श्री गिरजात्मज गणपति : अष्टविनायक में अगले गणपति हैं श्री गिरजात्मज। यह मंदिर पुणे-नासिक राजमार्ग पर पुणे से करीब 90 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। क्षेत्र के नारायण गाँव से इस मंदिर की दूरी 12 किलोमीटर है। गिरजात्मज का अर्थ है गिरिजा यानी माता पार्वती के पुत्र गणेश। यह मंदिर एक पहाड़ पर बौद्ध गुफ़ाओं के स्थान पर बनाया गया है। यहां लेनयादरी पहाड़ पर 18 बौद्ध गुफ़ाएँ हैं और इनमें से 8वीं गुफ़ा में गिरजात्मज विनायक मंदिर है। इन गुफ़ाओं को 'गणेश गुफ़ा' भी कहा जाता है। मंदिर तक पहुँचने के लिए करीब 300 सीढ़ियाँ चढ़नी होती हैं। यह पूरा मंदिर ही एक बड़े पत्थर को काटकर बनाया गया है।

7. विघ्नेश्वर गणपति : अष्टविनायक में सातवें गणेश हैं विघ्नेश्वर गणपति। यह मंदिर पुणे के ओझर ज़िले में जूनर क्षेत्र में स्थित है। यह पुणे-नासिक रोड पर नारायण गाँव से जूनर या ओजर होकर करीब 85 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। प्रचलित कथा के अनुसार विघनासुर नामक एक असुर था, जो संतों को प्रताणित कर रहा था। भगवान् गणेश ने इसी क्षेत्र में उस असुर का वध किया और सभी को कष्टों से मुक्ति दिलवाई। तभी से यह मंदिर विघ्नेश्वर, विघ्नहर्ता और विघ्नहार के रूप में जाना जाता है।

8. महागणपति : अष्टविनायक मंदिर के आठवें गणेशजी हैं महागणपति। मंदिर पुणे के रांजण गाँव में स्थित है। यह पुणे-अहमदनगर राजमार्ग पर 50 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस मंदिर का इतिहास 9-10वीं सदी के बीच माना जाता है। मंदिर का प्रवेश-द्वार पूर्व दिशा की ओर है जो कि बहुत विशाल और सुंदर है। भगवान् गणपति की मूर्ति को माहोतक नाम से भी जाना जाता है। यहाँ की गणेशजी प्रतिमा अद्भुत है। प्रचलित मान्यता के अनुसार मंदिर की मूल मूर्ति तहख़ाने की छिपी हुई है। पुराने समय में जब विदेशियों ने यहाँ आक्रमण किया था तो उनसे मूर्ति बचाने के लिए उसे तहख़ाने में छिपा दिया गया था।

9. उच्ची पिल्लैयार मंदिर, रॉकफोर्ट : दक्षिण भारत का प्रसिद्ध पहाड़ी क़िला मंदिर तमिलनाडु राज्य के त्रिची शहर के मध्य पहाड़ के शिखर पर स्थित है। चोल राजाओं की ओर से चट्टानों को काटकर इस मंदिर का निर्माण किया गया था। यहाँ भगवान् श्री गणेश का मंदिर है। पहाड़ के शिखर पर विराजमान होने के कारण गणेशजी को 'उच्ची पिल्लैयार' कहते हैं। यहाँ दूर-दूर से दर्शनार्थी दर्शन करने के लिए आते हैं।

10. कनिपक्कनम विनायक मंदिर, चित्तूर : आस्था और चमत्कार की ढेरों कहानियाँ खुद में समेटे कनिपक्कम विनायक का यह मंदिर आंध्र प्रदेश के चित्तूर ज़िले में मौजूद है। इस मंदिर की स्थापना 11वीं सदी में चोल राजा कुलोतुंग चोल प्रथम ने की थी। बाद में इसका विस्तार 1336 में विजयनगर साम्राज्य में किया गया। जितना प्राचीन यह मंदिर है, उतनी ही दिलचस्प इसके निर्माण के पीछे की कहानी भी है। कहते हैं, यहाँ हर दिन गणपति का आकार बढ़ता ही जा रहा है। साथ ही ऐसा भी मानते हैं कि अगर कुछ लोगों के बीच में कोई लड़ाई हो, तो यहाँ प्रार्थना करने से वह लड़ाई ख़त्म हो जाती है।

11. मनाकुला विनायगर मंदिर, पांडिचेरी : भगवान् श्रीगणेश का यह मंदिर पांडिचेरी में स्थित है। पर्यटकों के बीच ये मंदिर आकर्षण का विशेष केंद्र है। प्राचीन काल का होने के कारण इस मंदिर की बड़ी मान्यता है। कहते हैं कि क्षेत्र पर फ्रांस के क़ब्ज़े से पहले का है यह मंदिर। दूर-दराज से भक्त यहाँ भगवान् श्रीगणेश के दर्शन करने आते हैं।

12. मधुर महा गणपति मंदिर, केरल : इस मंदिर से जुड़ी सबसे रोचक बात यह है कि शुरुआत में यह भगवान् शिव का मंदिर हुआ करता था, लेकिन पुरानी कथा के अनुसार पुजारी के बेटे ने यहाँ भगवान् गणेश की प्रतिमा का निर्माण किया। पुजारी का यह बेटा छोटा सा बच्चा था। खेलते-खेलते मंदिर के गर्भगृह की दीवार पर बनाई हुई उसकी प्रतिमा धीरे-धीरे अपना आकार बढ़ाने लगी। वह हर दिन बड़ी और मोटी होती गई। उस समय से यह मंदिर भगवान् गणेश का बेहद खास मंदिर हो गया।

13. गणेश टोक (गंगटोक) सिक्किम : गणेश टोक मंदिर गंगटोक-नाथुला रोड से करीब 7 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह यहाँ करीब 6,500 फीट की ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। इस मंदिर के वैज्ञानिक नजरिए पर गौर करें तो इस मंदिर के बाहर खड़े होकर आप पूरे शहर का नजारा एक साथ ले सकते हैं।

14. मोती डूँगरी गणेश मंदिर, जयपुर : मोती डूँगरी गणेश मंदिर राजस्थान में जयपुर के प्रसिद्ध मंदिरों में से एक है। यह मंदिर भगवान् गणेश को समर्पित है। लोगों की इसमें विशेष आस्था तथा विश्वास है। गणेश चतुर्थी के अवसर पर यहाँ काफ़ी भीड़ रहती है और दूर-दूर से लोग दर्शनों के लिए आते हैं। भगवान् गणेश का यह मंदिर जयपुर वासियों की आस्था का प्रमुख केंद्र है। इतिहासकार बताते हैं कि यहाँ स्थापित

गणेश प्रतिमा जयपुर नरेश माधोसिंह प्रथम की पटरानी के पीहर मावली से 1761 में लाई गई थी। मावली में यह प्रतिमा गुजरात से लाई गई थी। उस समय यह पाँच सौ वर्ष पुरानी थी। जयपुर के नगर सेठ पल्लीवाल यह मूर्ति लेकर आए थे और उन्हीं की देखरेख में मोती डूँगरी की तलहटी में गणेश जी का मंदिर बनवाया गया था।

भारत के प्रमुख सूर्य मंदिर

भारत में सूर्योपासना की परंपरा बहुत पुरानी है। वैदिक वाङ्मय में सूर्य को ऊर्जा के अक्षयस्रोत और तेजपुंज के रूप में देखा गया है। वेदों में भगवान् सूर्य को पृथ्वी पर समस्त जीवन का स्रोत तथा संरक्षक कहा गया है और इनकी स्तुति में असंख्य ऋचाएँ हैं। इस तरह देखें तो भारत में सूर्य पूजा की परंपरा सहस्राब्दियों पुरानी है। पुराणों में सूर्योपासना के कई संदर्भ पाए जाते हैं। रामायण में महर्षि अगस्त्य भगवान् राम को सूर्य की उपासना के क्रम में आदित्य हृदय स्तोत्र के पाठ के लिए कहते हैं। सूर्यार्चन का यह क्रम संपूर्ण भारत में हमेशा विद्यमान रहा है, इसका प्रमाण पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में प्रतिष्ठित सूर्य मंदिर हैं। जहाँ तक द्वादश सूर्य मंदिरों की बात है, इस संबंध में जिन मंदिरों का उल्लेख मिलता है, वे हैं—देवार्क, पुण्यार्क, उलार्क, पंडार्क, कोणार्क, अंजार्क, लोलार्क, वेदार्क, मार्कंडेयार्क, दर्शनार्क, बालार्क और चाणार्क। यद्यपि इनमें से अधिकतर के बारे में अब ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जनश्रुति के अनुसार इन सभी मंदिरों का निर्माण भगवान् श्रीकृष्ण एवं माता जांबवंती के पुत्र सांब ने करवाया था। पौराणिक मान्यता है कि श्री सांब को ऋषि दुर्वासा के शाप से कुष्ठरोग हो गया था। इससे मुक्ति के लिए उन्होंने लंबे समय तक सूर्यनारायण की तपस्या की। इससे प्रसन्न होकर सूर्यनारायण ने उनका रोग हर लिया। तदुपरांत भगवान् सूर्यनारायण के प्रति अपना आभार प्रकट करने के लिए सांब ने तीन स्थानों पर सूर्य मंदिरों का निर्माण कराया। ये स्थान हैं—कोणार्क, कालपी और मुलतान। इनमें कोणार्क में उन्होंने प्रातःकालीन सूर्य की प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाई, जबकि कालपी में मध्याह्नकालीन और मुलतान में सायंकालीन। मुलतान में स्वर्ण प्रतिमा वाले भव्य सूर्य मंदिर का वर्णन ह्वेनसांग ने भी किया है। सूर्य के प्रमुख मंदिरों का विवरण इस प्रकार है—

1. कोणार्क : यह सूर्य नारायण का सर्वाधिक प्रसिद्ध मंदिर है। पुरी ज़िले के अंतर्गत एक छोटे से क़सबे में बंगाल की खाड़ी के समुद्रतट पर मौजूद यह मंदिर ओडिशा की राजधानी भुवनेश्वर से केवल 65 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहाँ मूल मंदिर त्रेतायुगीन बताया जाता है, लेकिन वर्तमान निर्माण राजा नरसिंहदेव-प्रथम के समय में हुआ। यह यूनेस्को द्वारा घोषित विश्व धरोहरों में से एक है। यह स्थापत्य कला का एक अद्वितीय नमूना है। यहाँ हर साल कोणार्क नृत्य महोत्सव भी होता है। हालाँकि

अब मंदिर के मूल स्थापत्य के केवल भग्नावशेष ही शेष हैं, जिनकी देखरेख भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा की जाती है।

2. कालप्रियनाथ : यह मंदिर उत्तर प्रदेश के कालपी नामक क़सबे में है। जालौन ज़िले में स्थित कालपी कानपुर शहर से केवल 65 किलोमीटर की दूरी पर है। यहाँ कालप्रियनाथ के रूप में भगवान् सूर्य नारायण का भव्य मंदिर है। इस मंदिर का निर्माण कब हुआ, इस बारे में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, लेकिन ऐसा कहा जाता है कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक रहे महान् गणितज्ञ एवं ज्योतिर्विद् वाराहमिहिर यहीं से नक्षत्रमंडल का अध्ययन किया करते थे।

3. आदित्य सूर्य मंदिर : यह मुलतान (अब पाकिस्तान) में स्थित था। मुलतान का मूलनाम कश्यपपुर था, जो बाद में यहाँ सूर्य मंदिर स्थापित होने के कारण मूल स्थान हो गया और यही बदल मुलतान बन गया। यहाँ सांब ने भगवान् सूर्य की सायंकालीन प्रतिमा स्थापित कराई थी। यूनानी सेनापति स्कायलैक, जो 515 ई.पू. में इधर से गुज़रा था, ने यहाँ अत्यंत भव्य सूर्य मंदिर होने का ज़िक्र किया है। बाद में हेरोडोटस, ह्वेनसांग और अलबरूनी ने भी यहाँ के भव्य सूर्यमंदिर का वर्णन किया है। ह्वेनसांग ने यहाँ भगवान् सूर्य की प्रतिमा प्रतिष्ठित होने तथा साथ ही भगवान् शिव और भगवान् बुद्ध की प्रतिमाएँ होने का भी वर्णन किया है। इस मंदिर को मुसलिम आक्रांता महमूद गज़नवी ने सन् 1026 में नष्ट कर डाला।

4. सूर्य पहाड़ मंदिर : यह असम के ग्वालपाड़ा कसबे के निकट है। यहाँ एक वृत्ताकार प्रस्तर खंड पर सूर्य की 12 छवियाँ स्थापित हैं। पुराणों में सूर्य के 12 रूपों का वर्णन है, जिन्हें द्वादशादित्य कहा जाता है। कालिका पुराण के अनुसार सूर्य पहर आदिकाल से ही सूर्य का स्थान है। यहाँ भगवान् सूर्य के अलावा उनके पिता कश्यप और माता अदिति की भी प्रतिमाएँ स्थापित हैं।

5. सूर्यनार मंदिर : यह तमिलनाडु के कुंभकोणम में स्थित है। इस मंदिर परिसर में काशी विश्वनाथ और विशालाक्षी की प्रतिमाएँ भी हैं। इनके अलावा अन्य आठ ग्रहों—चंद्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु की प्रतिमाएँ भी यहाँ हैं।

6. सूर्य मंदिर, मोढेरा : भगवान् सूर्यनारायण का यह मंदिर गुजरात में है। मेहसाना से 25 किलोमीटर और राज्य की राजधानी अहमदाबाद से 102 किलोमीटर की दूरी पर स्थित यह मंदिर पुष्पावती नदी के तट पर है। इसका निर्माण सन् 1026 में सोलंकी राजवंश के शासक भीमदेव ने कराया था। इस मंदिर में अभी भी पूजा-पाठ होता है और यह भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की देखरेख में है।

7. कनकादित्य मंदिर : यह महाराष्ट्र के सिंधुदुर्ग ज़िले में कशेली नामक गाँव में है। यहाँ स्थापित सूर्य प्रतिमा गुजरात से लाई गई थी। यहाँ सूर्य मंदिर के अलावा महाकाली, सरस्वती और महालक्ष्मी के मंदिर भी हैं।

8. बेलाउर सूर्य मंदिर : यह मंदिर बिहार के भोजपुर ज़िले के बेलाउर गाँव में अवस्थित है। इसे बेलार्क, उलार्क और उलार सूर्य मंदिर भी कहा जाता है। इस मंदिर का निर्माण राजा सूबा ने करवाया था। बाद में बेलाउर गाँव में कुल 52 पोखरे (तालाब) का निर्माण करानेवाले राजा सूबा को राजा बावन सूब के नाम से पुकारा जाने लगा। राजा द्वारा बनवाए 52 पोखरों में एक पोखर के मध्य में यह सूर्य मंदिर स्थित है।

9. झालरापाटन सूर्य मंदिर : राजस्थान में झालावाड़ का जुड़वाँ शहर है झालरापाटन। शहर के मध्य स्थित सूर्य मंदिर यहाँ का प्रमुख दर्शनीय स्थल है। वास्तुकला की दृष्टि से भी यह मंदिर महत्त्वपूर्ण है। इसका निर्माण 10वीं शताब्दी में मालवा के परमार वंशीय राजाओं ने करवाया था। मंदिर के गर्भगृह में भगवान् विष्णु की प्रतिमा विराजमान है, इसीलिए इसे पद्मनाभ मंदिर भी कहा जाता है।

10. औंगारी सूर्य मंदिर : नालंदा का प्रसिद्ध सूर्यधाम औंगारी और बडगाँव के सूर्य मंदिर देश भर में प्रसिद्ध हैं। ऐसी मान्यता है कि यहाँ के सूर्य तालाब में स्नान कर मंदिर में पूजा करने से कुष्ठ रोग सहित कई असाध्य व्याधियों से मुक्ति मिलती है। ऐसा कहा जाता है कि इस मंदिर का निर्माण भी सांब ने करवाया था। इसे बकोणार्क सूर्य मंदिर भी कहते हैं।

11. ब्रह्मण्य देव मंदिर : यह मध्य प्रदेश के दतिया ज़िले में स्थित गाँव उनाव में है। इस मंदिर में भगवान् सूर्य की पत्थर की मूर्ति है, जो एक ईंट से बने चबूतरे पर स्थित है। जिस पर काले धातु की परत चढ़ी हुई है। साथ ही, साथ 21 कलाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले सूर्य के 21 त्रिभुजाकार प्रतीक मंदिर पर अवलंबित है।

12. रनकपुर सूर्य मंदिर : राजस्थान के रनकपुर नामक स्थान में अवस्थित यह सूर्य मंदिर, नागर शैली में सफ़ेद संगमरमर से बना है। भारतीय वास्तुकला का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता यह सूर्य मंदिर जैनियों के द्वारा बनवाया गया था, जो उदयपुर से क़रीब 98 किलोमीटर दूर स्थित है।

13. सूर्य मंदिर, राँची : राँची से 39 किलोमीटर की दूरी पर राँची-टाटा रोड पर स्थित यह सूर्य मंदिर बुंडू के समीप है। संगमरमर से निर्मित इस मंदिर का निर्माण 18 पहियों और 7 घोड़ों के रथ पर विद्यमान भगवान् सूर्य के रूप में किया गया है। 25 जनवरी को हर साल यहाँ विशेष मेले का आयोजन होता है।

14. दक्षिणार्क सूर्य मंदिर : यह मंदिर बिहार के गया नामक स्थान पर है। यहाँ सूर्य मंदिर गया के प्रसिद्ध विष्णुपाद मंदिर के निकट स्थित है। पूर्वाभिमुख सूर्य मंदिर के सामने ही सूर्य कुंड है। गर्भगृह के सामने एक विशाल सभा मंडप है, जिसमें बने स्तंभों पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा और सूर्य की सुंदर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इसके अलावा यहाँ सूर्य

के दो और मंदिर हैं। इनमें एक है उत्तरक मंदिर, जो उत्तर मानस मंदिर के समीप है और दूसरा है गयादित्य मंदिर, जो फल्गु नदी के तट पर अवस्थित है।

15. पुण्यार्क सूर्य मंदिर : यह बिहार में बाढ़ से करीब 13 किलोमीटर की दूरी पर है। कहा जाता है कि यह मंदिर भी सांब द्वारा स्थापित है। देश भर में स्थापित अधिकतर सूर्य मंदिर पोखर और तालाबों के किनारे हैं, जबकि पुण्यार्क सूर्य मंदिर को इकलौते सूर्य मंदिर माना जाता है जो कि गंगा नदी के तट पर अवस्थित है।

16. देव सूर्य मंदिर : यह बिहार के देव (औरंगाबाद ज़िला) में स्थित सूर्य मंदिर है। यह मंदिर पूर्वाभिमुख न होकर पश्चिमाभिमुख है। यह मंदिर अपनी अनूठी शिल्प कला के लिए प्रख्यात है। पत्थरों को तराश कर बनाए गए, इस मंदिर की नक्काशी उत्कृष्ट शिल्प कला का नमूना है। प्रचलित मान्यता के अनुसार इसका निर्माण स्वयं भगवान् विश्वकर्मा ने किया है। इस मंदिर के बाहर संस्कृत में लिखे श्लोक के अनुसार 12 लाख 16 हजार वर्ष त्रेतायुग के गुजर जाने के बाद राजा इलापुत्र पुरूरवा ऐल ने इस सूर्य मंदिर का निर्माण प्रारंभ करवाया था। शिलालेख से पता चलता है कि पूर्व 2007 में इस पौराणिक मंदिर के निर्माणकाल का एक लाख पचास हजार सात वर्ष पूरा हुआ। पुरातत्त्वविद् इस मंदिर का निर्माण काल आठवीं-नौवीं सदी के बीच का मानते हैं। कहा जाता है कि सूर्य मंदिर के पत्थरों में विजय चिह्न व कलश अंकित हैं। विजय चिह्न यह दरशाता है कि शिल्प के कलाकार ने सूर्य मंदिर का निर्माण कर के ही शिल्प कला पर विजय प्राप्त की थी। देव सूर्य मंदिर के स्थापत्य कला के बारे में कई तरह की किंवदंतियाँ हैं। मंदिर के स्थापत्य से प्रतीत होता है कि मंदिर के निर्माण में उड़िया स्वरूप नागर शैली का समायोजन किया गया है। नक्काशीदार पत्थरों को देखकर भारतीय पुरातत्त्व विभाग के लोग मंदिर के निर्माण में नागर एवं द्रविड़ शैली का मिश्रित प्रभाव वाली वेसर शैली का भी समन्वय बताते हैं।

17. कटारमल सूर्य मंदिर : कटारमल सूर्य मंदिर उत्तराखंड में अल्मोड़ा के 'कटारमल' नामक स्थान पर स्थित है। इस कारण इसे 'कटारमल सूर्य मंदिर' कहा जाता है। यह सूर्य मंदिर न सिर्फ़ समूचे कुमाऊँ मंडल का सबसे विशाल, ऊँचा और अनूठा मंदिर है, बल्कि उड़ीसा के 'कोणार्क सूर्य मंदिर' के बाद एकमात्र प्राचीन सूर्य मंदिर भी है। 'भारतीय पुरातत्त्व विभाग' द्वारा इस मंदिर को संरक्षित स्मारक घोषित किया जा चुका है। यह मंदिर नौवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ माना जाता है।

18. मार्तंड सूर्य मंदिर : यह जम्मू-कश्मीर में अनंतनाग से 9 किलोमीटर उत्तर-पूर्व दिशा में एक पठार पर स्थित है। ऐसा माना जाता है कि मार्तंड कश्यप ऋषि के तीसरे पुत्र का जन्मस्थान है। यद्यपि अब इस मंदिर के केवल अवशेष ही हैं, मुख्य मंदिर को

मुसलिम आक्रांताओं ने ढहा दिया, लेकिन खँडहर इस बात के साक्षी हैं कि कभी यह बहुत ही भव्य मंदिर रहा होगा। इसका निर्माण 7वीं से 8वीं शताब्दी के बीच सूर्यवंशी राजा ललितादित्य ने कराया था। इसमें 84 स्तंभ हैं, जो नियमित अंतराल पर रखे गए हैं। मंदिर को बनाने के लिए चूने के पत्थर की चौकोर ईंटों का प्रयोग किया गया है। खँडहर हो चुके इस मंदिर की ऊँचाई अब केवल 20 फुट रह गई है। आक्रांता सिकंदर बुतशिकन को इस मंदिर की दीवारें ध्वस्त करने में ही एक साल लग गया था।

19. बिरंचिनारायण मंदिर : बुगुडा-बुगुडा नामक क़सबा ओडीशा के गंजम ज़िले में है। यह ऐतिहासिक क़सबा ओडीशा के प्रमुख शहर बरहामपुर से केवल 70 किलोमीटर दूर है। यहाँ स्थित सूर्य मंदिर का निर्माण राजा श्रीकर भंजदेव ने सन् 1790 में कराया था। लेकिन यहाँ प्रतिष्ठित सूर्य प्रतिमा अत्यंत प्राचीन है। यह प्रतिमा मालतीगढ़ के खँडहरों से प्राप्त की गई थी। यहाँ अर्चन के लिए सूर्य की मुख्य प्रतिमा लकड़ी की बनी हुई है। यह सूर्य मंदिर पश्चिमाभिमुख है।

20. बिरंचिनारायण मंदिर, पलिया : ओडीशा के भद्रक ज़िले में पलिया एक गाँव है। यह भद्रक से 15 किलोमीटर दूर दक्षिण दिशा में है। यहाँ स्थापित सूर्य प्रतिमा के दोनों हाथों में दो कमलपुष्प हैं। स्थापत्य की दृष्टि से यह मंदिर 13वीं शताब्दी का बताया जाता है। इसका पुनरुद्धार 20वीं शताब्दी के आरंभ में के स्थानीय ज़मींदार ने कराया।

21. अरसावल्ली सूर्य मंदिर : अरसावल्ली आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम शहर का बाहरी हिस्सा है। इसका मूल नाम हर्षावल्ली है, हर्षावल्ली का अर्थ हर्ष का स्थान होता है। यहाँ स्थापित सूर्य मंदिर 7वीं शताब्दी में कलिंग शासक देवेंद्र वर्मा ने कराया था।

सात पर्वत

1. महेंद्र पर्वत
2. मलय पर्वत (नीलगिरि)
3. सह्याद्रि पर्वत
4. हिमालय पर्वत
5. रेवतक पर्वत (गिरनार)
6. विंध्याचल पर्वत
7. अरावली पर्वत

सात वन

1. दंडकारण्य
2. खंडकारण्य
3. चंपकारण्य
4. वेदारण्य
5. नैमिषारण्य
6. ब्रह्मारण्य
7. धर्मारण्य

पंच सरोवर

1. बिंदु सरोवर
2. नारायण सरोवर
3. पंपा सरोवर

4. पुष्पक झील सरोवर
5. मानसरोवर

सप्त द्वीप

1. जंबूद्वीप
2. प्लक्षद्वीप
3. शाल्मलद्वीप
4. कुशद्वीप
5. क्रौंचद्वीप
6. शाकद्वीप
7. पुष्करद्वीप

सप्त सागर

1. क्षीर सागर
2. दुधी सागर
3. घृत सागर
4. पायान सागर
5. मधु सागर
6. मदिरा सागर
7. लहू सागर

सप्त पाताल

1. अतल
2. वितल
3. नितल
4. गभस्तिमान
5. महातल
6. सुतल
7. पाताल

सप्त लोक

1. भूर्लोक
2. महर्लोक
3. भुवर्लोक
4. जनलोक
5. स्वर्लोक
6. तपोलोक
7. सत्पलोक (ब्रह्मलोक)

सप्त वायु

1. प्रवह
2. आवह
3. उद्वह
4. संवह
5. विवह
6. परिवह
7. परावह

□

संदर्भिका

ख

ग

फ

ब

य

व

श

ह

□□□

परिचय

भूमिका लेखक

श्री मोहन भागवत

चंद्रपुर (महाराष्ट्र) में 11 सितंबर, 1950 को जन्म। पशु विज्ञान में स्नातक। आपातकाल में भूमिगत रहकर कार्य किया। 1977 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक बने। 2009 से सरसंघचालक।

वह काल लेखक

श्री रामबहादुर राय

1 जुलाई, 1946 को गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में जन्म। 1969 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में स्नातकोत्तर। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् में सक्रियता से जुड़े रहे। बिहार में छात्र-आंदोलन की नेतृत्वकारी जमात में भी रहे। आपातकाल के दौरान मीसा के तहत जेल में बंदी रहे। बांग्लादेश की आजादी के आंदोलन में भी सक्रिय रूप से भाग लिया। 'जनसत्ता' के समाचार संपादक के रूप में 2004 में सेवानिवृत्त हुए। 'प्रथम प्रवक्ता' के संपादक रहे। 'शाश्वत विद्रोही आचार्य जे.बी. कृपलानी' सहित कई पुस्तकें प्रकाशित। 'पद्मश्री' से सम्मानित। संप्रति 'यथावत' के संपादक एवं 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र' के अध्यक्ष।

समर्पण परिचय लेखक

श्री रंगा हरि

5 दिसंबर, 1930 को कोच्चि (केरल) में जन्म। छात्र-जीवन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े। 1983 से प्रचारक। संस्कृत, कोंकणी, मलयालम, हिंदी, मराठी, तमिल, अंग्रेजी में लेखन एवं अनुवाद कार्य। कई विशिष्ट ग्रंथों का अनुवाद। अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का लेखन।

अनुसंधान एवं संपादन सहायक

श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

- श्री राजेश राजन
- डॉ. विकास द्विवेदी
- श्रीमती सुमेधा मिश्रा
- श्री देवेश खंडेलवाल
- श्री राम शिरोमणि शुक्ल
- डॉ. अरुण भारद्वाज

टंकण एवं सज्जा

- श्री प्रेम प्रकाश राय
- श्री राकेश शुक्ल
- श्री नरेंद्र कुमार
- श्रीमती दीपा सूद

डॉ. महेश चंद्र शर्मा

जन्म : राजस्थान के चुरू कस्बे में 7 सितंबर, 1948 को।

शिक्षा : बी.ए. ऑनर्स (हिंदी), एम.ए. एवं पी-एच.डी. (राजनीति शास्त्र)।

कृतित्व : 1973 में प्राध्यापक की नौकरी छोड़कर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक बने। आपातकाल में अगस्त 1975 से अप्रैल 1977 तक जयपुर जेल में 'मीसा' बंदी रहे। सन् 1977 से 1983 तक अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् में उत्तरांचल के संगठन मंत्री, 1983 से 1986 तक राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि के लिए 'दीनदयाल उपाध्याय का राजनैतिक जीवन चरित—कर्तृत्व व विचार सरणी' विषय पर शोधकार्य। 1983 से साप्ताहिक 'विश्ववार्ता' व 'अपना देश' स्तंभ नियमित रूप से भारत के प्रमुख समाचार-पत्रों में लिखते रहे।

सन् 1986 में 'दीनदयाल शोध संस्थान' के सचिव बने। शोध पत्रिका 'मंथन' का संपादन। 1986 से वार्षिक 'अखंड भारत स्मरणिका' का संपादन। 1996 से 2002 तक राजस्थान से राज्यसभा सदस्य एवं सदन में भाजपा के मुख्य सचेतक रहे। 2002 से 2004 तक नेहरू युवा केंद्र के उपाध्यक्ष। 2006 से 2008 तक भाजपा राजस्थान के अध्यक्ष। 2008-2009 राजस्थान विकास एवं निवेश बोर्ड के अध्यक्ष। 1999 से एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के अध्यक्ष। पंद्रह खंडों में प्रकाशित 'पं. दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के संपादक।
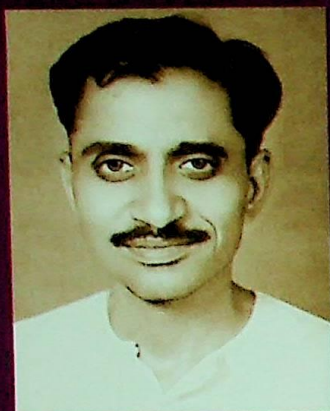
पं. दीनदयाल उपाध्याय का बचपन बहुत ही विकट स्थितियों में बीता, तो भी वे सदैव एक मेधावी छात्र के रूप में रेखांकित हुए। द्वि-राष्ट्रवाद की छाया ने जब भारत की आजादी की लड़ाई को आवृत्त कर लिया था, तब 1942 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माध्यम से उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन प्रारंभ किया। वे उत्तम संगठक, साहित्यकार, पत्रकार एवं वक्ता के नाते संघ-कार्य को बल देते रहे।

1951 में जब डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई, तभी उनका राजनीति में प्रवेश हुआ। देश की अखंडता के लिए कश्मीर आंदोलन, गोवा मुक्ति आंदोलन तथा बेरुबाड़ी के हस्तांतरण के विरुद्ध आंदोलन चलाकर उन्होंने भारत की राजनीति में स्वतंत्रता संग्राम के मुद्दों को जीवित रखा। भारत की अखंडता के लिए उनका पूरा जीवन लगा।

देश के लोकतंत्र को सबल विपक्ष की आवश्यकता थी; प्रथम तीन लोकसभा चुनावों के दौरान भारतीय जनसंघ एक ताकतवर विपक्षी दल के रूप में उभरा। वह विपक्ष कालांतर में विकल्प बन सके, इसकी उन्होंने संपूर्ण तैयारी की।

केवल तंत्र ही नहीं, मंत्र का भी विकल्प आवश्यक था। विदेशी वादों के स्थान पर उन्होंने एकात्म मानववाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं भारतीयकरण का आह्वान किया। 1951 से 1967 तक वे भारतीय जनसंघ के महामंत्री रहे। 1968 में उन्हें अध्यक्ष का दायित्व मिला। अचानक उनकी हत्या कर दी गई। उनके द्वारा विकसित किया गया दल 'भारतीय जनता पार्टी' ही देश में राजनैतिक विकल्प बना।